ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक-४७

पण्डितप्रवर आशाधर विरचित

धर्मामृत (सागार)

['ज्ञानदीपिका' संस्कृत पञ्जिका तथा हिन्दी टीका सहित]

सम्पादन-अनुवाद

सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

वीर नि० संवत् २५०४ : वि० संवत् २०३४ : सन् १९७८

प्रथम संस्करण : मूल्य अठारह रुपये

स्व. पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें
स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित
एवं
उनकी धर्मपत्नी स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन द्वारा संपोषित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

●

ग्रन्थमाला सम्पादक
सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री
डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन

●

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय : बी/४५–४७, कॅनॉट प्लेस, नयी दिल्ली–११०००१
मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–२२१००१

●

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७०, विक्रम सं० २०००, १८ फरवरी १९४४

भारतीय ज्ञानपीठ स्थापना 1944



मूल प्रेरणा
दिवंगता श्रीमती मूर्तिदेवी जी
मातुश्री श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन



अधिष्ठात्री
दिवंगता श्रीमती रमा जैन
धर्मपत्नी श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन

JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ GRANTHAMĀLĀ : Sanskrit Grantha No. 47

DHARMĀMṚTA (SĀGĀRA)

of

Paṇḍitapravara ĀŚĀDHARA

Edited with a Jñānadīpikā Sanskrit Commentary & Hindi Translation

by

Pt. KAILASH CHANDRA SHASTRI, Siddhantacharya

BHARATIYA JNANPITH PUBLICATION

VĪRA NIRVĀṆA SAṀVAT 2504 : V. SAṀVAT 2034 : A. D. 1978

First Edition : Price Rs. 18/-

BHĀRATĪYA JÑĀNPĪTHA

MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

FOUNDED BY

LATE SAHU SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE MOTHER SHRIMATI MURTIDEVI

AND

PROMOTED BY HIS BENEVOLENT WIFE

LATE SHRIMATI RAMA JAIN

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAINA ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL, PURĀṆIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRITS, SANSKRIT, APABHRṀŚA, HINDI, KANNAḌA, TAMIL, ETC., ARE BEING PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

ALSO BEING PUBLISHED ARE CATALOGUES OF JAINA-BHANDĀRAS, INSCRIPTIONS, ART AND ARCHITECTURE, STUDIES BY COMPETENT SCHOLARS AND POPULAR JAINA LITERATURE.

•

General Editors

Siddhantacharya Pt. Kailash Chandra Shastri
Dr. Jyoti Prasad Jain

•

Published by

Bharatiya Jnanpith

Head Office : B/45-47, Connaught Place, New Delhi-110001

•

Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam. 2470, Vikrama Sam. 2000, 18th Feb., 1944

प्रधान सम्पादकीय

जैनधर्म निवृत्ति प्रधान है, और निवृत्तिका मार्ग साधुमार्ग है। किन्तु सबके लिए साधुमार्गपर चलना सम्भव नहीं है, और साधुमार्गको अपनाये बिना मोक्षकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, तथा मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और प्रत्येक जीवको उसे प्राप्त करना उसका प्रधान कर्तव्य है। अतः प्रत्येक व्यक्तिको निवृत्तिमार्गका पथिक बनानेके लिए ही जैन धर्ममें गृहस्थ धर्म या सागार धर्मका उपदेश दिया गया है। सागार धर्मका उपदेश देते हुए पं. आशाधरजीने कहा है—'संसारके विषय-भोगोंको त्यागने योग्य जानते हुए भी जो मोहवश उन्हें छोड़नेमें असमर्थ हैं वह गृहस्थ धर्मका पालन करनेका अधिकारी होता है।' अतः गृहस्थाश्रम प्रवृत्तिरूप होते हुए भी निवृत्तिका शिक्षणालय है। त्यागकी भूमिका अपनाये विना गृहस्थाश्रम चल नहीं सकता। यदि माता-पिता सन्तानके लिए अपने स्वार्थोंका त्याग न करें तो सन्तानका लालन-पालन, शिक्षण आदि नहीं हो सकता। वे स्वयं कष्टमें रहते हैं और सन्तानको सुखी देखनेका प्रयत्न करते हैं। अपने परिवारकी तरह ही गृहस्थ देश, समाज और धर्मके लिए भी त्याग करता है। उसके बलिदानपर ही परतन्त्र देश स्वतन्त्र होते हैं और स्वतन्त्र देश समुन्नत होते हैं। उसके त्यागपर ही समाजके लिए शिक्षणालय, भोजनालय, औषधालय आदि निर्मित होते हैं। उसके त्यागपर ही मन्दिर, मूर्तियों, धर्मशालाओं आदिका निर्माण होता है। उसकी त्यागवृत्तिपर ही साधु-सन्तोंका निर्वाह होता है। इस तरह गृहस्थाश्रम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थोंका जनक है। किन्तु अर्थ और काम प्रधान होनेसे अधिकांश गृहस्थ उसीमें फँसकर रह जाते हैं और धर्मकी ओरसे विमुख होकर परम पुरुषार्थ मोक्षको भी भुला देते हैं और इस तरह अपना मनुष्य जीवन काम-भोगमें बिताकर इस संसारसे विदा होते हैं। उन्हें, 'मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, मेरा क्या कर्तव्य है'—इसका विचार ही नहीं आता।

पुराने शास्त्रकार कह गये हैं—खाना, सोना, डरना, कामसेवन करना ये सब प्रवृत्तियाँ मनुष्योंमें और पशुओंमें समान हैं, किन्तु दोनोंमें यदि अन्तर डालनेवाला है तो वह धर्म ही है। जो धर्मसे विहीन है वह पशुके तुल्य है। वह धर्म है सद्विचार और सदाचार। मानवकी ये ही दो विशेषताएँ हैं। और इन्हीं विशेषताओंके कारण मानव समाज आदरणीय है।

जिस तरह मनुष्य अपने प्रियजनोंके सम्बन्धमें सोचता-विचारता है उसी तरह अपने सम्बन्धमें भी विचार करना चाहिए कि 'मैं कौन हूँ? क्या यह जो भौतिक शरीर है यही मैं हूँ? किन्तु मर जानेपर भौतिक शरीर तो पड़ा रह जाता है, उसमें जानना-देखना, हलन-चलन आदि नहीं होता। तब यह सब जो इस शरीरमें नहीं होता वे क्या उसकी विशेषताएँ थीं जो अब इस शरीरसे निकल गया है? तब मैं क्या हूँ? इस शरीररूप तो मैं हूँ नहीं, क्योंकि शरीर अपनेमें अहंबुद्धि करनेमें असमर्थ है। और मैं अहंबुद्धिवाला हूँ। अतः जो अब इस शरीरमें नहीं है वही मैं हूँ, उसे ही जीव या आत्मा कहते हैं। उसीकी चिन्ता मुझे करना चाहिए।'

इस तरहके सद्विचारसे जब मनुष्य शरीरसे भिन्न अपनी एक स्वतन्त्र सत्ताका अनुभव करता है तब इस शरीर और इस शरीरसे सम्बद्ध वस्तुओंके प्रति उसकी आसक्तिमें कमी आती है और वह स्व और परके भेदको जानकर परकी ओरसे विरक्त और स्वकी ओर प्रवृत्त होता जाता है। परके प्रति अपने कर्तव्योंका

पालन करता है किन्तु कर्तव्यबुद्धिसे करता है, ममत्वबुद्धिसे नहीं। इस तरहके चिन्तन और अभ्याससे गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी उसकी वही स्थिति होती है जो जलमें रहनेवाले कमलकी है। ऐसा सद्गृहस्थ ही सच्चा धर्मात्मा होता है। उसका धर्म उसकी आत्मासे सम्बद्ध होता है, शरीरसे नहीं। उसका शरीर भी उसके इस आत्मधर्मका एक सहायक होता है। उसका और उससे सम्बद्ध वस्तुओंका वह पालन करता है, संरक्षण करता है; खाता है, पीता है, भोग भोगता है; व्यापार करता है, लोकाचार करता है। सब कुछ करता है किन्तु करते हुए भी नहीं करता; क्योंकि कर्तृत्वभावमें उसकी आसक्ति नहीं है। अतः वह अपनी शारीरिक आसक्तिसे प्रेरित होकर किसीको सताता नहीं है, अनुचित साधनोंसे धन संचय नहीं करता, व्यापार-व्यवहारमें असत्यका अवलम्बन नहीं लेता, काला बाजार नहीं करता। आय-व्ययका सन्तुलन रखता है। आवश्यकतासे अधिक संचय नहीं करता। परस्त्री मात्रको माता, बहन या बेटीके तुल्य मानता है। उसका यह जीवनव्यवहार न केवल उसे किन्तु समाजको भी सुखी करनेमें सहायक होता है। यही सच्चा गृहस्थ धर्म है। इसी गृहस्थ धर्मका पालन करनेकी प्रेरणा सागारधर्मामृतमें हैं। उसीको सम्यक्त्व, अणुव्रत आदि कहा है। धर्मका प्रारम्भ सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शनसे होता है। सम्यग्दृष्टि ही सच्चा धर्मात्मा होता है। जिसकी दृष्टि, श्रद्धा, रुचि या प्रतीति ही सम्यक् नहीं है वह साधु भी हो जाये, फिर भी धर्मात्मा कहलानेका पात्र नहीं है। जिसे शरीरादिसे भिन्न शुद्ध आत्मद्रव्यकी श्रद्धा है, रुचि है, प्रतीति है, भले ही वह अभी संसारमें फँसा हो किन्तु वह धर्मात्मा है, उसने धर्मके मूलको पहचान लिया है अतः अब वह जो कुछ करेगा वह उसीकी प्राप्तिके लिए करेगा। अब वह लक्ष्यभ्रष्ट नही हो सकेगा। अन्यथा संसार, शरीर और भोगोंमें आसक्ति रखते हुए उसका सारा व्रताचरण संसारको बढ़ानेवाला ही होगा, संसारको काटनेवाला नहीं। अतः धर्मका मूल सम्यक्त्व और धर्म चारित्र है। वह चारित्र अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप है। इनको गृहस्थ एकदेश पालता है और मुनि सर्वदेश पालता है।

असलमें तो अहिंसा ही जैन धर्मका आचार और विचार है। जो गृहस्थ सन्तोषपूर्वक जीवन-यापन करता है, सीमित आरम्भ और सीमित परिग्रह रखता है वही अहिंसक है। और ऐसे अहिंसक सद्गृहस्थ ही अहिंसक समाजकी रचना कर सकते हैं। जैन धर्म ऐसे अहिंसक समाजकी रचनाका ही आदर्श रखता है। किन्तु मनुष्यका लोभ और उसकी संग्रह वृत्ति उसे संचयी और लोभी बना देती है। इसीके साथ वह व्रतादिका पालन करके धनात्माके साथ धर्मात्मा भी बनना चाहता है। किन्तु धनात्मा धर्मात्मा नहीं हो सकता और धर्मात्मा धनात्मा नही हो सकता। यह गृहस्थ धर्मकी पहली सीख है। आचार्य गुणभद्र लिख गये हैं—

"शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः॥"

सज्जनोंकी भी सम्पदा शुद्ध—न्यायोपार्जित द्रव्यसे नही बढ़ती। नदियाँ स्वच्छ जलसे कभी भी परिपूर्ण नही देखी जातीं। अस्तु,

भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना जिन्होंने की थी, वे दानवीर साहू शान्तिप्रसाद भी स्वर्गवासी हो गये। उसकी अध्यक्षा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा रानी उनसे पूर्व ही दिवंगत हो चुकी है। यह हम लोगोंके लिए अत्यन्त दुःखद है। प्रसन्नता और सन्तोषकी बात यह है कि साहू श्रेयांस प्रसादने अध्यक्षपदका भार वहन किया है। हम लोग दिवंगत उदारमना साहूजीके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

कैलाशचन्द्र शास्त्री
ज्योतिप्रसाद जैन

प्रस्तावना

पं. आशाधर और उनके धर्मामृतको सर्वप्रथम प्रकाशमें लानेका श्रेय स्व श्री नाथूरामजी प्रेमीको है। उन्होंने ही स्व. सेठ माणिकचन्द हीराचन्द बम्बईकी स्मृतिमें स्थापित ग्रन्थमालाके मन्त्रीके रूपमें भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका सहित सागारधर्मामृतका संस्करण सवत् १९७२ में प्रकाशित किया था। उसका मूल्य आठ आना था। संवत् १९७२ में ही मैं स्याद्वाद महाविद्यालयमें प्रविष्ट हुआ था और अँगरेजीमें अच्छे नम्बर प्राप्त करनेके उपलक्ष्यमें मुझे सागारधर्मामृतका वह संस्करण पारितोषिक रूपमें प्राप्त हुआ था। तथा इन पंक्तियोंको लिखते समय भी वह मेरे सामने उपस्थित है। उसके पश्चात् सागारधर्मामृतके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए, किन्तु इतना सुन्दर, सस्ता, शुद्ध और आकर्षक संस्करण प्रकाशित नहीं हो सका।

सागारधर्मामृतके उक्त संस्करणके प्रकाशन वर्ष सन् १९१५ में ही पं कल्लपा भरमप्पा निटवेने अपने मराठी अनुवादके साथ कोल्हापुरसे एक संस्करण प्रकाशित किया। यह बृहत्काय संस्करण भी सजिल्द और आकर्षक था। इसमें भी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका दी गयी है। उसके प्राक्कथनमें पं. निटवेने लिखा था कि 'मैंने ज्ञानदीपिकासे स्थान-स्थानपर टिप्पण दिये है। वह ज्ञानदीपिका स्वतन्त्र रूपसे देनेको थी। किन्तु हमारे दुर्भाग्यसे सागारधर्मामृतकी प्राचीन पुस्तक आगमें भस्म हो गयी। दूसरी आज मिलती नहीं। सौभाग्यसे इस ग्रन्थके पुनः प्रकाशनका प्रसंग आया तो किसी भी तरह पंजिकाका सम्पादन करके प्रकाशित करनेकी बलवती आशा है।'

श्री निटवेके इस उल्लेखपर-से ज्ञानदीपिकाके उपलब्ध होनेकी आशा धूमिल हो गयी थी। किन्तु स्व. डॉ ए. एन. उपाध्येके प्रयत्नसे श्री जीवराजग्रन्थमाला शोलापुरसे सागारधर्मामृतकी एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई।

यह प्रति रूलदार फुलिस्केप आकारके आधुनिक कागजपर सुन्दर नागरी अक्षरोंमें एक-एक लाइन छोडकर लिखी हुई है। लिपिक बहुत ही कुशल और भाषा तथा विषयका भी पण्डित प्रतीत होता है। उसने जिस प्रतिसे यह प्रतिलिपि की है उसके 'पेज टु पेज' प्रतिलिपि की है और मूल प्रतिके पृष्ठ नम्बर भी देता गया है।

बीच-बीचमें कहीं-कहीं त्रुटित भी है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि जिस प्रतिके आगमें जलनेकी बात कही गयी है उसीपर-से यह प्रतिलिपि की गयी हो। हमें जो प्रति प्राप्त हुई उसमें भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकाकी भी प्रति है। दोनों अलग-अलग होनेपर भी हिली-मिली थी। हमने दोनोंको अलग-अलग किया तो हमें लगा कि जो प्रति जली उसीसे ये दोनों प्रतिलिपियाँ की गयी हैं। सौभाग्यसे भ. कु. च. को विशेष क्षति पहुँची और ज्ञानदीपिकाको कम। भ कु च. की प्रतियाँ तो सुलभ हैं किन्तु ज्ञानदीपिका दुर्लभ है।

उसी प्रतिके आधारसे हमने उसकी प्रेसकापी तैयार की। रिक्त पाठोंकी उनके आदि और अन्त अक्षरोंके आधारपर भ. कु. च. से पूर्ति की और उन्हें ब्रैकेटमें दिया है। ज्ञानदीपिका उद्धरणबहुल है। अतः जिन उद्धरणोंका आधार मिला उन्हें मूलके आधारपर शुद्ध किया है किन्तु जिनका आधार नही मिला, उन्हें यथासम्भव शुद्ध करनेकी कोशिश करके छोड़ दिया गया है।

प्रतिलेखकके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका। इस संस्करणमें उसी प्रतिके आधारसे ज्ञान-दीपिकाका प्रथमबार मुद्रण हुआ है और इस तरह एक अलभ्य-जैसे ग्रन्थका उद्धार हुआ है।

सागारधर्मामृत मूलकी एक शुद्ध हस्तलिखित प्रति श्री स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीके पुस्तकालय-में है। उसीके आधारपर सागारधर्मामृतके मूल श्लोकोंका संशोधन किया गया है। इससे कई ऐसे पाठोंका शोधन हुआ जिनकी ओर किसीका ध्यान नहीं था।

इस प्रतिमें ४३ पत्र हैं। प्रारम्भके दो पत्र नहीं हैं। लिपि सुन्दर और सुस्पष्ट है। प्रत्येक पत्रमें प्रायः दस पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्तिमें छत्तीस या सैंतीस अक्षर हैं। श्लोकोंके साथ उनकी उत्थानिका भी है। तथा टीकामें 'उक्तं च' करके जो उद्धृत पद्य हैं वे भी प्रत्येक श्लोकके आगे लिखे हैं। प्रत्येक श्लोकके प्रत्येक पदकी पृथक्तताका बोध करानेके लिए उसके अन्तमें ऊपरकी ओर एक छोटी-सी खड़ी पाई लगायी हुई है। प्रत्येक पत्रके ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर रिक्त स्थानोंमें टिप्पणके रूपमें टीकासे शब्दार्थ तथा वाक्य आवश्यकतानुसार दिये हैं। इस तरहसे यह प्रति बहुत ही उपयोगी और अत्यन्त शुद्ध है। अन्तमें ग्रन्थकार-कृत प्रशस्ति है। उसके अन्तमें लिपि प्रशस्ति है 'संवत् १५३६ वर्षे चैत्रवदि ५ श्री मूलसंघे नन्द्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्मनन्दिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्र-देवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री जिनचन्द्रदेवास्तच्छिष्य मुनि श्री रत्नकीर्तिस्तदाम्नाये पंडिल्यवालान्वये अजमेरागोत्रे साधु ईश्वरस्तद्भार्या सवीरी तत्पुत्राः साधु पदमा वील्हा-देल्हा-तोल्हा एतेषां मध्ये साधु देल्हाख्येन सभार्येन इदं शास्त्रं लिखाप्य कर्मक्षयनिमित्तं ज्ञानपात्राय मुनि श्रीरत्नकीर्तये दत्तं।

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात्सुखी नित्यं भेषजात् व्याधिनुत्पुमान् ॥

पं. आशाधर और उनका सागारधर्मामृत

धर्मामृतके प्रथम भाग अनगारधर्मामृतकी भूमिकामें ग्रन्थकार पं. आशाधर तथा उनकी कृतियोंके सम्बन्धमें प्रकाश डाला गया है। अतः यहाँ केवल सागारधर्मामृतके सम्बन्धमें ही प्रकाश डाला जायेगा।

पं. आशाधरने अपना जिनयज्ञकल्प वि. सं. १२८५ में रचकर समाप्त किया था। अतः उसकी प्रशस्तिमें जिन ग्रन्थोंका नाम दिया है वे उसके पूर्व रचे गये थे। उन्हींमें 'अर्हद्वाक्यरस' 'निबन्धरुचिर' धर्मामृत शास्त्र भी है। पं. आशाधरजीने स्वयं 'अर्हद्वाक्यरस'का अर्थ 'जिनागमनिर्यासभूत' अर्थात् 'जिनागमका निचोड़' किया है। और 'निबन्धरुचिर'का अर्थ 'स्वरचित ज्ञानदीपिका पंजिकासे रमणीय' किया है। अतः धर्मामृतके साथ ही उसकी ज्ञानदीपिका पंजिका भी उन्होंने रची थी। पंजिका उस टीकाको कहते हैं जिसमें श्लोकमें आगत पदोंकी व्युत्पत्ति आदि मात्र होती है, शब्दशः व्याख्यान नहीं होता। अतः ज्ञानदीपिका पंजिकासे धर्मामृतके श्लोकोंको समझनेमें पूर्ण साहाय्य न मिलनेसे एक ऐसी टीकाकी आवश्यकता थी जिसमें प्रत्येक श्लोकका अन्वयार्थ पूर्वक व्याख्यान हो और कुछ प्रासंगिक शास्त्रीय चर्चा भी निबद्ध हो। उसीके लिए पोरवाड़वंशके समुद्धर श्रेष्ठीपुत्र महीचन्द्रकी प्रार्थनापर सागारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका वि. सं. १२९६ में नलकच्छपुरके नेमिजिनालयमें रचकर पूर्ण हुई। महीचन्द्रने ही उसकी प्रथम पुस्तक लिखी। उसके पश्चात् वि. सं. १३००में अनगारधर्मामृतपर भी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका रची गयी। इस प्रकार ज्ञानदीपिकाके पश्चात् भव्यकुमुदचन्द्रिका रची गयी। यह बात उस टीकाके प्रारम्भिक मंगलश्लोकके पश्चाद्वर्ती श्लोकसे भी पुष्ट होती है। यथा—

"समर्थनादि यन्नात्र, ब्रुवे व्यासभयात् क्वचित्।
तज्ज्ञानदीपिकाख्यैतत्पञ्जिकायां विलोक्यताम् ॥"

अर्थात्—विस्तारके भयसे इस टीकामें यदि कहीं समर्थन आदि न कहा गया हो तो उसको ज्ञानदीपिका नामक पंजिकामें देखनेका कष्ट करें। इसीसे ज्ञानदीपिका उद्धरणप्रधान है। उसमें आशाधरजीने अपने कथनके समर्थनमें पूर्वाचार्यों और ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंसे सैकड़ों पद्य उद्धृत किये हैं। उनके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सागारधर्मामृत अपनेसे पूर्वमें रचे गये न केवल श्रावकाचारोंका किन्तु अन्य भी उपयोगी आगमिक और लौकिक ग्रन्थोंका निर्यासभूत है जैसा कि ग्रन्थकारने स्वयं कहा है।

सागार धर्मामृतके आधारभूत ग्रन्थ

सागारधर्मामृतसे पूर्वमें रचे गये श्रावकाचार सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—रत्नकरण्डश्रावकाचार, महापुराणके अन्तर्गत कुछ भाग, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, यशस्तिलकके अन्तर्गत उपासकाध्ययन, अमित गति श्रावकाचार, चारित्रसार, वसुनन्दिश्रावकाचार, पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका आदि। इन सभीका उपयोग आशाधरजीने किया है। और अपनी ज्ञानदीपिकामें उनसे अनेक उद्धरण दिये हैं।

सागार धर्मामृतका विशिष्ट विषय परिचय

१. प्रथम अध्याय—

प्रथम अध्यायका आरम्भ सागारके लक्षणसे होता है। जो अनादि अविद्यारूपी दोषसे उत्पन्न चार संज्ञा—आहार, भय, मैथुन, परिग्रहरूपी ज्वरसे पीड़ित हैं, निरन्तर स्वज्ञानसे विमुख हैं और विषयोंमें फँसे हैं, विषयासक्त हैं। वे सागार या गृहस्थ हैं।

सागारके इस लक्षणमें साधारणतया सभी गृहस्थोंका अन्तर्भाव हो जाता है। मगर गृहस्थोंमें तो सम्यग्दृष्टी और देशसंयमी भी आते हैं। अतः सागारके दूसरे लक्षणमें 'प्रायः' पद दिया है। 'प्रायः' का अर्थ होता है 'बहुत करके'। कामिनी आदि विषयों में 'यह मेरे भोग्य हैं' और 'मैं इनका स्वामी हूँ' इस प्रकारका ममकार और अहंकार उनमें पाया जाता है। चारित्रावरण कर्मके उदयसे सम्यग्दृष्टियोंमें भी इस प्रकारका विकल्प होता है। किन्तु जन्मान्तरमें रत्नत्रयका अभ्यास करनेके प्रभावसे इस जन्ममें साम्राज्यका उपभोग करते हुए भी तत्त्वज्ञान और देश संयममें उपयोग होनेसे जिन्हें नहीं भोगते हुएकी तरह प्रतीत होते हैं उनके लिए 'प्रायः' शब्दका प्रयोग किया है।

सम्यग्दर्शन—आगे सम्यक्त्वका माहात्म्य बतलाते हुए कहा है—अविद्याका मूलकारण मिथ्यात्व है और विद्याका मूलकारण सम्यग्दर्शन है। संज्ञीतिर्यंच पशु होकर भी सम्यक्त्वके माहात्म्यसे हेय और उपादेय तत्त्वको जानते हैं। किन्तु मनुष्य यद्यपि विचारशील होते हैं तथापि मिथ्यात्वके प्रभावसे हिताहितके विवेकसे रहित पशुओंकी तरह आचरण करते हैं। सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति पाँच लब्धिपूर्वक ही होती है। उसके बिना नहीं होती। अतः श्लोक छठे में पाँच लब्धियोंको बहुत संक्षेपमें कहा है। श्लोक बारहवेंमें सम्पूर्ण सागार धर्ममें निर्मल सम्यक्त्व, निरतिचार अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत और मरते समय विधिपूर्वक सल्लेखना गिनाये हैं। वस्तुतः इतना ही सागार धर्म है तथा श्रावकाचारोंमें इनका ही कथन प्रधानरूपसे पाया जाता है।

इसकी ज्ञानदीपिकामें आशाधरजीने रत्नकरण्ड और पुरुषार्थ सि.से श्लोक उद्धृत किये हैं। रत्नकरण्डमें सच्चे देव शास्त्र गुरुके तीन मूढ़ता और आठ मद रहित तथा आठ अंग सहित श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है और पु. सि में जीवाजीवादि तत्त्वार्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। इन दोनोंको ही उद्धृत करनेसे आशाधरजीका यही अभिप्राय है कि जीवाजीवादि तत्त्वार्थोंका तथा देव शास्त्र गुरुका यथार्थ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। दोनों पर श्रद्धान हुए बिना सम्यक्त्व नहीं होता; क्योंकि जीवाजीवादि तत्त्वोंका कथन तो देव ने ही किया है। उन्हींके मुखसे निसृत वाणीका संकलन शास्त्र में है और उन्हींके अनुयायी सद्गुरु होते हैं।

अतः एकके श्रद्धानमें दूसरेका श्रद्धान गर्भित ही है। फिर भी जो देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धा तो रखते हैं किन्तु जीवाजीवादि तत्त्वार्थोंके नामसे भी परिचित नहीं होते, वे अपनेको व्यवहारसे भी सम्यग्दृष्टी कहलानेकी पात्रता नहीं रखते। सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिए उनका भी श्रद्धान परमावश्यक है।

आशाधरजीने सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंके लिए पुरुषार्थ० के श्लोक उद्धृत किये हैं, रत्नकरण्ड० के नहीं। किन्तु फिर भी वे रत्नकरण्ड० से दो श्लोक उद्धृत करना नहीं भूले। वे श्लोक वास्तवमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं और वह भी आजके इस युगमें। उनका अर्थमात्र यहाँ दिया जाता है—

जो मनमें मानका अभिप्राय रखकर घमण्डसे चूर हो अन्य धार्मिकोंकी अवहेलना करता है, उनका तिरस्कार करता है वह अपने धर्मका ही तिरस्कार करता है; क्योंकि धार्मिकोंके बिना धर्म नहीं। अर्थात् धर्मके मूर्तिमान रूप तो धार्मिक ही हैं। अतः उनका तिरस्कार धर्मका ही तिरस्कार है। आज यही सब हो रहा है। कुछ लोगोंको धर्मका उन्माद चढ़ा है। धर्मके मिथ्या अभिनिवेशने उन्हें धर्मोन्मत्त बना दिया है, जो धर्म नहीं है, केवल उन्माद है। दूसरे श्लोकका अर्थ है—

अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्मकी परम्पराको छेदनेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि जिसमें अक्षर छूट गये हों, ऐसा मन्त्र विषकी वेदना को दूर नहीं कर सकता।

अतः आठ अंगसहित सम्यग्दर्शनको ही दर्शनविशुद्धि शब्दसे कहा गया है। आज व्रताचरणकी चर्चा तो जोरोंसे की जाती है किन्तु सम्यग्दर्शन और उसके अंगों तथा मलोंकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता। आचार्य समन्तभद्रके इस कथनको लोग भूल गये हैं—कि 'तीनों कालों और तीनों लोकोंमें सम्यक्त्वके समान कोई अन्य प्राणियोंका कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्वके समान अकल्याणकारी नहीं है।'

आज आचार्य अमृतचन्द्रजीके भी इस कथनको भुला दिया गया है—'उन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमेंसे सर्वप्रथम पूर्ण यत्नोंके साथ सम्यग्दर्शनकी उपासना करना चाहिए; क्योंकि उसके होनेपर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं।' सम्यक्चारित्रके बिना मोक्ष नहीं होता। यह तो हम सुनते हैं। किन्तु सम्यग्दर्शनके बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता, इसे कहनेवाले विरल ही हैं।

रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें चारित्रका प्रकरण प्रारम्भ करते हुए आचार्य समन्तभद्र महाराज कहते हैं—

"मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥"

'दर्शन मोहरूपी अन्धकारके दूर होने पर सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके साथ सम्यग्ज्ञानको प्राप्त हुआ साधु राग द्वेषको दूर करनेके लिए चारित्र धारण करता है।'

अतः दर्शनमोहकी उपेक्षा करके चारित्र धारण करना श्रेयस्कर नहीं है। अस्तु, असंयमी भी सम्यग्दृष्टीके कर्मजन्य क्लेश क्षीण होते हैं और संयमी भी मिथ्यादृष्टिका संसार अनन्त ही होता है। आशाधरजीने श्लोक १३ की भ. कु. च. टीकामें असंयत सम्यग्दृष्टीके सम्बन्धमें कहा है।

'जैसे कोतवालके द्वारा मारनेके लिए पकड़ा गया चोर जो-जो कोतवाल कहता है वह-वह करता है। इसी प्रकार जीव भी चारित्रमोहके उदयसे नहीं करने योग्य भावहिंसा, द्रव्यहिंसा आदि अयोग्य जानते हुए भी करता है, क्योंकि अपने काल में उदयागत कर्मको रोकना शक्य नहीं है। इससे यह भी बतलाया है कि सम्यक्त्व ग्रहणसे पहले जिसने आयुका बन्ध नहीं किया है उस सम्यग्दृष्टिके सुदेवपना और सुमानुषपनाके सिवाय समस्त संसारका निरोध हो जानेसे कर्मजन्य क्लेशमें कमी हो जाती है अर्थात् वह मरकर यदि मनुष्य है तो सुदेव होता है और देव है तो मरकर सुमानुष होता। यदि उसने सम्यक्त्व ग्रहणसे पूर्व नरक गतिका बन्ध कर लिया है और पीछे सम्यक्त्व ग्रहण किया है तो प्रथम नरकमें जघन्य स्थिति ही भोगता है। अतः उसके सम्यक्त्वके माहात्म्यसे बहुत-से दुःख दूर हो जाते हैं। इसलिए संयमकी प्राप्तिसे पूर्व संसारसे भयभीत भव्य जीवको सम्यग्दर्शनकी आराधनामें नित्य प्रयत्न करना चाहिए।'

इस असंयत सम्यग्दृष्टिको आशाधरजीने निश्चय सम्यग्दृष्टि कहा है—और कहा है कि वह यह श्रद्धा रखता है कि विषयजन्य सुख हेय है और आत्मिक सुख उपादेय है। वह अपनी निन्दा-गर्हा करता हुआ भी चारित्रमोहके उदयके परवश होकर इन्द्रिय सुख भोगता है और अन्य जीवोंको पीड़ा पहुँचाता है अर्थात् इन्द्रियसंयम और प्राणीसंयमसे रहित असंयत सम्यग्दृष्टि है।

इसी अव्रती किन्तु सम्यग्दर्शन मात्रसे शुद्ध असंयत सम्यग्दृष्टिके सम्बन्धमें आचार्य समन्तभद्रने अपने रत्नकरण्डमें लिखा है कि वह मरकर नारक, स्त्री, नपुंसक, तिर्यंच नहीं होता। नीचकुलमें जन्म नहीं लेता, विकलांग, अल्पायु, दरिद्री नहीं होता। आदि, अधिक क्या, सम्यक्त्वके बिना अनन्त संसार सान्त नहीं होता।

इस सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिए कोरा व्रताचरण आवश्यक नहीं है। आवश्यक है देवशास्त्र, गुरु और सप्ततत्त्वविषयक यथार्थ श्रद्धा। नरक और देवगतिमें व्रताचरण नहीं होता, फिर भी सप्त तत्त्वोंकी श्रद्धासे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है।

अष्टमूलगुणका धारण भी सम्यक्त्वपूर्वक ही होता है। सम्यक्त्वके बिना अष्टमूलगुण धारण करने-पर भी व्रती नहीं होता। देशव्रती पंचम गुणस्थानवर्ती होता है और असंयत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान-वर्ती होता है। सम्यक्त्वके बिना पाँचवाँ आदि गुणस्थान नहीं होता। अतः सम्यक्त्वपूर्वक ही अष्टमूलगुण यथार्थ होते हैं।

केवल मद्य-मांस आदिका त्याग करनेसे बुद्धि शुद्ध नहीं होती, बुद्धि शुद्ध होती है मिथ्यात्वके त्याग-पूर्वक सम्यक्त्वके ग्रहणसे। दूसरे अध्यायके १९वें श्लोकमें आशाधरजीने कहा है—

"यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधीः।
जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः॥"

इसकी टीकामें आशाधरजीने 'शुद्धधीः' का अर्थ किया है—'सम्यक्त्वविशुद्धबुद्धिः सन्'—अर्थात् सम्यक्त्वसे विशुद्धबुद्धि होकर जीवनपर्यन्तके लिए महापाप मद्यादिको छोड़कर उपनयन संस्कारवाला द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जिनधर्मके श्रवणका अधिकारी होता है। यही कथन पुरुषार्थसिद्धयुपायमें आया है—

"अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥"

यहा भी कर्ता 'शुद्धधियः' है। सम्यक्त्वसे विशुद्ध बुद्धिवाले जन इन आठोंको छोड़कर जिनधर्मकी देशनाके पात्र होते है। अतः यह अर्थ करना कि इन महापापोंको छोड़कर विशुद्ध बुद्धि हो गयी है जिनकी, ठीक नही है। यदि ऐसा अर्थ होता तो आशाधर अपनी टीकामें 'शुद्धधीः'का अर्थ 'सम्यक्त्वविशुद्धबुद्धिः' न करते।

वसुनन्दिश्रावकाचारमें भी पहली प्रतिमाका स्वरूप कहते हुए 'सम्मत्तविसुद्धमई' विशेषण दिया है, जो बतलाता है कि बुद्धिकी विशुद्धिका कारण सम्यक्त्व है, मात्र मद्यादि त्याग नहीं है। बहुत-से अन्य जन मद्य-मासका सेवन नही करते। किन्तु मात्र इतनेसे उन्हे 'शुद्धधीः' नहीं कह सकते। उसके लिए सम्यक्त्व अनिवार्य है, किन्तु सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिए मद्यादिका त्याग अनिवार्य नहीं है। सेवन नहीं करना और त्याग करना एक बात नही है। जैनोंमें हो मद्य-मांसका सेवन नहीं होता। यह उनका कुलक्रमागत धर्म है। किन्तु इसे त्याग शब्दसे नहीं कहा जाता। अभिप्रायपूर्वक नियम लेनेका नाम त्याग है। वह चतुर्थगुणस्थानमें नहीं होता, पाँचवेंमें होता है।

अतः असंयत सम्यग्दृष्टिका जो स्वरूप गोम्मटसार जीवकाण्डमें कहा है कि वह न इन्द्रियोंसे विरत होता है और न त्रस-स्थावर जीवोंको हिंसासे विरत होता है केवल जिनोक्त तत्त्वोंपर श्रद्धा रखता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है, वह यथार्थ है। आशाधरजीने इसीका अभिप्राय लेकर प्रथम अध्यायका १३वाँ श्लोक रचा है। और ज्ञानदीपिकामें अपने कथनके समर्थनमें उक्त गाथाको प्रमाण रूपसे उद्धृत भी किया है। अस्तु,

श्रावकके पाक्षिकादि भेद— आचार्य जिनसेनका महापुराण जैनोंके लिए महाभारत-जैसा है। जैसे महाभारतके शान्ति पर्वमें भीष्म युधिष्ठिरको राजधर्म आदिका उपदेश देते हैं उसी प्रकार आचार्य जिनसेनने चक्रवर्ती भरतके द्वारा बनाये गये ब्राह्मण वर्णको जो जैन धर्मका पालक त्यागीसमूह ही था, श्रावक धर्मका उपदेश कराया है। यह उपदेश ३८ से ४० तक तीन पर्वोंमें है। और उसे गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और कर्त्रन्वय क्रिया नाम दिया है। गर्भान्वय क्रिया तिरपन और दीक्षान्वय क्रियाएँ अड़तालीस हैं। तथा कर्त्रन्वय क्रियाएँ सात हैं। इन्हे उन्होंने सातवें अंग उपासकाध्ययनांगमें वर्णित बतलाया है।

इन क्रियाओंका कथन करनेसे पूर्व भरत महाराजने उन श्रावकोंको षट्कर्मका उपदेश दिया था। वे षट्कर्म है—इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम, तप। अर्हन्तोंकी पूजाका नाम इज्या है। उसके चार भेद हैं—सदार्चन या नित्यपूजा, चतुर्मुख पूजा, कल्पद्रुमपूजा, अष्टाह्निकपूजा। प्रतिदिन अपने घरसे गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि ले जाकर जिनालयमें जिनेन्द्रकी पूजा करना सदार्चन या नित्यपूजा है। तथा भक्तिपूर्वक जिनबिम्ब, जिनालय आदिका निर्माण कराना, उनकी पूजा आदिके लिए दानपत्र लिखकर ग्राम आदि देना भी नित्यपूजा है। अपनी शक्तिके अनुसार नित्य दानपूर्वक महामुनियोंकी पूजा भी नित्यपूजा है। महामुकुट-बद्ध राजाओंके द्वारा जो महापूजा की जाती है उसे चतुर्मुखपूजा और सर्वतोभद्र कहते है। चक्रवर्तियोंके द्वारा जगत्की आशा पूर्ण करके याचक जनोंको मुँहमागा दान देकर जो पूजा की जाती है वह कल्पद्रुमपूजा है। अष्टाह्निकपूजा तो प्रसिद्ध है। इसके सिवाय एक इन्द्रध्वजपूजा है जिसे इन्द्र करता है।

यह सब श्रावकका प्रथम कर्म इज्या है। विशुद्ध वृत्तिके साथ कृषि आदि करना वार्ता है। चार प्रकारका दान है—दयादत्ति, पात्रदत्ति, समक्रियादत्ति, अन्वयदत्ति। इन तीनके अतिरिक्त, स्वाध्याय, संयम और तप ये तीन कर्म हैं।

जहाँ तक हम जानते हैं महापुराणसे पूर्वके किसी ग्रन्थमें ये सब पूजाके भेद आदि उपलब्ध नही है। महापुराणके पश्चात् रचे गये पुरुषार्थ सिद्धचुपायमें तो इनकी कोई चर्चा नही है। सोमदेवके उपासकाध्ययनमें पूजाविधिका विस्तारसे वर्णन है किन्तु इन भेदादिका नहीं है। उसीमें इज्याके स्थानमें देवसेवा तथा वार्ताके स्थानमें गुरूपास्ति रखकर श्रावकके प्रतिदिनके षट्कर्म कहे हैं। यथा—

"देवसेवा गुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥"

महापुराणमें कर्त्रन्वय क्रियाओंका वर्णन करते हुए कहा है—

यह शंका हो सकती है कि जो असि, मषी आदि छह कर्मोंसे आजीविका करनेवाले जैन, द्विज या गृहस्थ हैं उनको भी हिंसाका दोष लगता है। परन्तु इस विषयमें हमारा कहना है कि आपका कहना यद्यपि ठीक है आजीविकाके लिए छह कर्म करनेवाले जैन गृहस्थोंको भी थोड़ी-सी हिंसाका दोष अवश्य लगता है। परन्तु शास्त्रोंमें उन दोषोंकी शुद्धि भी बतलायी है। उनकी शुद्धिके तीन अंग हैं—पक्ष, चर्या, साधन। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावसे वृद्धिको प्राप्त हुआ समस्त हिंसाका त्याग जैनोंका पक्ष कहलाता है। किसी देवताके लिए, किसी मन्त्रकी सिद्धिके लिए, अथवा औषधि या भोजनके लिए मैं किसी जीवकी हिंसा नही करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करना चर्या है। इस प्रतिज्ञामें यदि कभी प्रमादसे दोष लग जावे तो प्रायश्चित्तसे उसकी शुद्धि की जाती है। तथा अन्तमें अपना सब कुटुम्ब भार पुत्रको सौंपकर घरका परित्याग करना चर्या है। और आयुके अन्तमें शरीर, आहार और समस्त प्रकारकी चेष्टाओंका परित्याग कर ध्यानकी शुद्धिसे आत्माको शुद्ध करना साधन है। यह सब कथन सद्गृहित्व नामकी दूसरी क्रियाके अन्तर्गत आता है।

आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतके प्रथम अध्यायमें महापुराणके उक्त सब कथनको इस प्रकार निबद्ध किया है—

"नित्याष्टाह्निकसच्चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमैन्द्रध्वजा-
विज्याः पात्रसमक्रियान्वयदयादत्तीस्तपःसंयमान्।
स्वाध्यायं च विधातुमादृतकृषीसेवावणिज्यादिकः
शुद्धयाप्तोदितया गृही मललवं पक्षादिभिश्च क्षिपेत् ॥"

इसमें महापुराणमें उक्त पूजाके चार भेद, दानके चार भेद, तप, संयम, स्वाध्याय आते हैं। तथा कृषि, सेवा, व्यापार आदिमें लगे दोषोंकी शुद्धिके लिये पक्षादिको भी कहा है। इससे आगेके श्लोकमें पक्ष चर्या साधनका स्वरूप उक्त प्रकारसे ही कहा है। यह सब कथन सागारधर्मामृतसे पूर्व किसी भी श्रावकाचारमें या महापुराणके सिवाय अन्य किसी ग्रन्थमें हमारे देखनेमें नहीं आया।

इन्ही पक्ष चर्या तथा साधनके आधारपर आशाधरजीने श्रावकके पाक्षिक, नैष्ठिक तथा साधक भेद कहे हैं। ये तीन भेद भी इससे पूर्व नहीं मिलते। चामुण्डरायकृत चारित्रसारमें भी महापुराणमें प्रतिपादित इज्या, वार्ता आदि षट् कर्म कहे हैं किन्तु पक्ष चर्या साधनकी चर्चा उसमें नहीं है। और उनके आधार पर श्रावकके तीन भेद करना तो शायद आशाधरजीकी अपनी ही सूझबूझ है। वैसे तीनों भेद बहुत ही उपयुक्त हैं। जिसे जैनधर्मका पक्ष हो, अर्थात् जिसने जैनधर्म स्वीकार किया हो वह पाक्षिक है और जो उसमें निष्ठ है अर्थात् निरतिचार श्रावकधर्मका निर्वाह करता है वह नैष्ठिक है। एकादश प्रतिमा नैष्ठिकके ही भेद है। और जब नैष्ठिक मरणकाल उपस्थित होनेपर आत्मसाधना—समाधि पूर्वक मरण करता है तो वह साधक है। इस तरह पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक नाम सार्थक है। इन्हींका वर्णन आगेके अध्यायों में है।

२. द्वितीय अध्याय—

पाक्षिकका वर्णन—दूसरे अध्यायमें पाक्षिकका वर्णन कई दृष्टियोंसे महत्वपूर्ण है। पाक्षिकका मतलब होता है साधारण श्रावक या आम जैन जनता। उसका क्या कर्तव्य है, यह अन्य किसी भी श्रावकाचारमें वर्णित नही है और जनसाधारणको दृष्टिसे वही विशेष उपयोगी है।

उसके प्रारम्भमें कहा है—जो जिन भगवान्की आज्ञासे सासारिक विषयोंको त्यागने योग्य जानते हुए भी मोहवश छोड़नेमें असमर्थ है उसे गृहस्थ धर्म पालन करनेकी अनुमति है।

"त्यागने योग्य जानते हुए भी" को स्पष्ट करते हुए टीकामें कहा है कि अनन्तानुबन्धी राग आदिके वशीभूत होकर जो विषयोंको सेवनीय मानता है वह गृहस्थ धर्मके पालनका अधिकारीं नही है। ऐसी परिणति तो दूरकी बात है, आन्तरिक श्रद्धाका होना भी कठिन है। अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें इस प्रकारकी श्रद्धा होना संभव नही है। और उसके बिना सम्यक्त्वकी बात बहुत दूर है। फिर भी उक्त कषायके मन्द उदयमें मनुष्योंकी प्रवृत्ति त्यागकी ओर होती है। किन्तु वह त्याग संसारका अन्त करनेमें तभी समर्थ होता है जब उसके साथ सम्यक्त्व होता है। अतः पाक्षिकको भी सम्यग्दृष्टि होना चाहिये। उसके पश्चात् वह अष्ट मूलगुण धारण करता है।

अष्टमूल गुण—मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागको अष्टमूल गुण कहते है। इन अष्टमूल गुणोंके सम्बन्धमें मतभेद है और उसे भी आशाधरजीने लिखा है। वह लिखते है—

'हमने सोमदेवके उपासकाध्ययन आदिका अनुसरण करते हुए उक्त अष्टमूल गुण कहे हैं। और स्वामी समन्तभद्रने पाँच अणुव्रत और तीन मकारके त्यागको अष्टमूल गुण कहा है। तथा महापुराणमें पाँच अणुव्रत और द्यूत, मद्य, मांसके त्यागको अष्टमूल गुण कहा है'। उसके समर्थनमें उन्होंने चारित्रसारसे एक श्लोक भी दिया है जो चारित्रसारमें 'तथा चोक्तं महापुराणे' करके उद्धृत है। किन्तु महापुराणके मुद्रित संस्करणोंमें यह श्लोक नही पाया जाता। उसमें तो पाँच उदुम्बरोंके त्यागवाले ही अष्टमूल गुण मिलते हैं। यथा—

"मद्य-मांस-परित्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम् ।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात् सार्वकालिकम् ॥"—महापु. ३८।१२२।

इसमें मधुत्याग नहीं है। तथा हिंसादिविरतिको गिननेसे आठ हो जाते हैं। किन्तु द्यूतत्याग नहीं है। अतः महापुराणके नामसे उद्धृत उक्त श्लोक विचारणीय है। महापुराण, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, सोमदेव उपासकाध्ययन, पद्मनन्दि पंचविंशतिका, सागारधर्मामृत आदिमें पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागवाले ही अणुव्रत आते है। रत्नकरण्डमें ही पांच अणुव्रतवाले अष्टमूल गुण पाये जाते है। कहाँ पाँच अणुव्रत और कहाँ पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग, दोनोमें मोहर और कौड़ी जैसा अन्तर है। पाँच अणुव्रत तो नैतिकताके भी प्रतीक हैं। किन्तु पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग तो मात्र स्थूल हिंसाके त्यागका प्रतीक है। देखा जाता है कि आजका व्रती श्रावक खानपानकी शुद्धिकी ओर तो विशेष ध्यान देता है किन्तु भावहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहकी ओरसे उदासीन जैसा रहता है। मानो ये पाँचों व्रत उसके लिए अनावश्यक जैसे है। इससे व्रती श्रावकोंकी भी नैतिकतामें ह्रास देखा जाता है और उससे धर्माचरणकी गरिमा हीन होती जाती है। अतः पाँच अणुव्रतोंकी ओर ध्यान देना आवश्यक है।

मद्य, मांस, मधु—हिन्दू या वैदिक धर्ममें मद्य, मांस और मधुके सेवनका विधान है। यज्ञोंमें पशुवध होता था और हविशेषके रूपमें मांसका तथा मद्यका सेवन करना धर्म माना जाता था। अतिथि सत्कार तो मधुपर्कके विना होता ही नहीं था। मांसके सम्बन्धमें परस्पर विरोधी विचार मिलते है। धर्मशास्त्रका इतिहास भाग १, पृ ४२० पर मांस भक्षण पर लिखा है—'शतपथ ब्राह्मण (११।७।१।३) ने घोषित किया है कि मांस सर्वश्रेष्ठ भोजन है। साथ ही शतपथ ब्राह्मणने यह भी सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि मांसभक्षी आगेके जन्ममें उन्ही पशुओं द्वारा खाया जायेगा।'

धर्मसूत्रोंमें कतिपय पशुओं, पक्षियों एवं मछलियोंके मांस भक्षणके विषयमें नियम दिये गये है। प्राचीन ऋषियोंने देवयज्ञ, मधुपर्क एवं श्राद्धमें मांसबलिकी व्यवस्था दी है। मनु (५।२७-४४) ने केवल मधुपर्क, यज्ञ, देवकृत्य एवं श्राद्धमें पशुहननकी आज्ञा दी है। अन्तमें मनुने अपना यह निष्कर्ष दिया है कि मांसभक्षण, मद्यपान एवं मैथुनमें दोष नहीं है क्योंकि ये स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ है। कुछ अवसरों एवं कुछ लोगोंके लिए शास्त्रानुमोदित है किन्तु इनसे दूर रहनेपर महाफलकी प्राप्ति होती है।

शायद इन्हीं प्रवृत्तियोंको ध्यानमें रखकर जैनाचार्योंने मद्य, मांस, मधुके त्यागको ही जैनाचारका आधार माना है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें कहा है—

"त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये ।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥८४॥"

अर्थात्—जिन भगवान्के चरणोंकी शरणमें आये हुए मनुष्योंको त्रसहिंसासे बचनेके लिए मधु और मांस तथा प्रमादसे बचनेके लिए मद्य छोड़ना चाहिए।

इसमें मद्यपानमें त्रसघात न बतलाकर प्रमाद दोष बतलाया है। किन्तु उत्तरकालीन सब श्रावकाचारोंमें मद्यपानमें भी हिंसाका विधान मुख्यरूपसे किया है। पु. सि में कहा है—मद्य मनको मोहित करता है। मोहितचित्त मनुष्य धर्मको भूल जाता है। और धर्मको भूला हुआ जीव अनाचार करता है।

मधुमें तो त्रसहिंसा होती ही है। आजकल मधुमक्खियोंको पालकर उनसे मधु प्राप्त किया जाता है और उसे अहिंसक कहा जाता है। किन्तु ऐसा मधु भी सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि सेवन करने पर अहिंसक और हिंसकका भाव जाता रहता है।

आजकल पाश्चात्य सभ्यताके प्रचारके कारण कुलाचार रूपमें मद्य मांसका सेवन न करनेवाले जैन घरानोंके युवकोंमें भी मद्य मांसके सेवनकी चर्चा सुनी जाती है। उच्चश्रेणीकी पार्टियोंमें प्रायः मद्य मांस

चलता है और उनमें जो सम्मिलित होते हैं वे उनसे बच नहीं सकते। इसी प्रकार होटलोंमें खानपानका प्रचार बढ़ रहा है। वह सभ्यतामें आ गया है। और धन सम्पन्न स्त्री-पुरुष उसमें अपनी शान समझते हैं। इस तरह जैनोंमें भी मद्य मांस सेवनकी प्रवृत्तिको बल मिल रहा है। इसे रोकना आवश्यक है। अन्यथा जैनधर्मके आचारका मूल ही नष्ट हो जायेगा।

रात्रिभोजन—रात्रि भोजन तो बहुत अधिक प्रचलित हो गया है। विवाह-शादियोंमें रात्रिभोजन चल पड़ा है। अब दिनके खानेवाले बहुत ही कम रह गये हैं। रात्रिभोजन तो स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी हानिकर है किन्तु उसकी ओर भी अब कोई ध्यान नही देता। यह जैन होनेका एक चिह्न था। जैनका मतलब ही था रातमें भोजन न करनेवाला और पानी छानकर पीनेवाला। आज दोनों ही परम्पराएँ समाप्त हैं। लोग पानी छानना भी भूल गये हैं। कुओंका स्थान नलोंके ले लेनेसे भी इस प्रवृत्तिको बल मिला है। आजके लोग कहते हैं कि पुराने समयमें बिजलीका प्रकाश न होनेसे रातमें भोजनको बुरा कहा है; क्योंकि अन्धकारमें दिखायी नहो देता। किन्तु बिजलीका प्रकाश जितना तेज होता है उसमें उतने ही अधिक जीवजन्तु आते हैं। और वे सब भोजनमें गिरकर मनुष्योंका आहार बनते हैं। यह तो सूर्यका प्रकाश ही ऐसा है जिसमें क्षुद्र जीवजन्तु छिपकर बैठ जाते हैं। वह उन्हें आकृष्ट नहीं करता।

दिनमें भोजन करनेकी इतनी अच्छी व्यवस्था भी उठ रही है यह बहुत ही खेदकी बात है। रातमें अन्न भक्षण न करनेकी भी प्रवृत्ति अब उठ रही है। यद्यपि अन्नके स्थानमें सिंघाड़े आदिके व्यंजन खानेकी प्रवृत्ति भी कुछ प्रदेशोंमें है किन्तु अब उसमें भी कमी आ रही हैं।

आशाधरजी ने पाक्षिक श्रावकके लिए रात्रिमें पान इलायची आदि तथा जल और औषधोको लेनेकी छूट दी है जो उचित हो है। आशाधरजी ने वृद्ध आचार्योंके मतसे आठ मूलगुण अन्य प्रकारसे बतलाये है। वे है—

"मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन और पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग, जीवोंपर दया और छना जल तथा पंचपरमेष्ठीकी भक्ति।"

ये आठ मूलगुण ऐसे हैं जिनमें एक साधारण जैन गृहस्थके लिए उपयोगी सब आवश्यक आचार आ जाता है। आजके समयमें इन अष्ट मूलगुणोंके प्रचारकी बहुत आवश्यकता है। आचार्यों और मुनिगणोंको इस ओर ध्यान देना चाहिए और जो श्रावक जीवन भरके लिए इन आठ मूलगुणोंका पालन करे उसका ही आहार ग्रहण करना चाहिए।

जैनधर्मकी दीक्षा—पाक्षिक श्रावकका आचार बतलाते हुए आशाधरजी ने महापुराणमें प्रतिपादित दीक्षान्वय क्रियाका अनुसरण करते हुए जैनधर्मकी दीक्षा देनेका भी विधान किया है। ये क्रियाएँ आठ हैं— अवतार, वृत्तलाभ, स्थानलाभ, गणग्रह, पूजाराध्य, पुण्ययज्ञ, दृढ़चर्या और उपयोगिता।

दूसरे अध्यायके २१वें श्लोकमें इन आठों क्रियाओंको संक्षेपमें इस प्रकार कहा है—'अन्य मिथ्यादृष्टि कुलमें जन्मा हुआ व्यक्ति सबसे प्रथम धर्माचार्य या गृहस्थाचार्यके उपदेशसे जीवादि तत्त्वार्थोंका निश्चय करे। फिर श्रावकधर्म अष्टमूलगुण आदिको धारण करते हुए गुरुमुखसे पंचनमस्कार महामन्त्रको धारण करे। और अबतक जिन मिथ्या देवोंको पूजता था, उनको सदाके लिए विसर्जित कर दे। उसके पश्चात् द्वादशांग और चतुर्दशपूर्वसे उद्धार किये गये ग्रन्थोंका अध्ययन करनेके पश्चात् अन्य मतके भी शास्त्रोंका अध्ययन करे। और प्रत्येक मासकी दो अष्टमी ओर दो चतुर्दशीकी रात्रिमें रात्रिप्रतिमायोग धारण करके द्रव्य पाप और भाव पापका नाश करे।'

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यह जिन धर्मकी दीक्षाका विधान केवल द्विजाति— ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकुलमें जन्म लेने वालोंके लिए है क्योंकि उन्हें ही जिनमुद्रा धारण करनेका अधिकार है।

इस जैन धर्मकी दीक्षामें देशव्रत धारण करनेसे प्रथम तत्त्वार्थका निश्चय आवश्यक कहा है। क्योंकि तत्त्वार्थके निश्चयपूर्वक ही सम्यक्त्व होता है और सम्यक्त्वपूर्वक ही चारित्र धारणका विधान है। किन्तु आज उल्टी गंगा बह रही है। जिन्हे तत्त्वार्थका बोध भी नहीं, वे त्यागी और मुनि बनते हैं। और माना जाता है कि चारित्र धारण करनेसे सम्यक्त्व स्वतः प्राप्त हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि सात तत्त्वोसे अपरिचित भी व्यक्ति चारित्र धारण करके केवल बाह्य आचरणको ही यथार्थ धर्म मानकर, आत्मज्ञानसे अछूता ही रहा जाता है। ऐसोंके लिए ही कहा गया है—

"मुनिव्रतधार अनन्तवार ग्रैवेयक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान विना सुख लेश न पायो॥"

आत्मज्ञानके बिना समस्त व्रताचरण व्यर्थ है। व्रताचरण वही यथार्थ होता है जो संसारका अन्त करता है। और संसारका अन्त वही कर सकता है जो सम्यक्त्व प्राप्त करके अनन्त संसारको सान्त कर लेता है। जिसका संसार अनन्त है वह मुनिपद धारण करके भी अनन्त संसारका अन्त नहीं कर सकता। अतः व्रतधारण से पूर्व गुरुमुखसे तत्त्वार्थका स्वरूप निश्चित करके उसकी यथार्थ श्रद्धा आवश्यक है। उसके बिना जैनत्वकी दीक्षा अधूरी है।

इसके प्रकाशमें जब हम आज जैनकुलमें उत्पन्न होनेसे अपनेको जैन कहलाने वालोंको देखते है तो घोर कष्ट होता है। तत्त्वार्थका ज्ञान तो आजके अनेक त्यागियों और मुनियों तकको नहीं, फिर साधारण गृहस्थोंकी तो बात ही क्या है। अब तो जैन बालक नमस्कार मन्त्र तकसे अपरिचित पाये जाते है। उन्हे जैनधर्मकी दीक्षा देनेका कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। आज जैनेतर मिथ्यादृष्टियोंको जैनधर्मकी दीक्षा देनेसे प्रथम जैनमिथ्यादृष्टियोंको जैनधर्मकी दीक्षा देना आवश्यक है। उसके लिए उन्हे द्रव्यसंग्रह और रत्नकरण्ड श्रावकाचार ये दो ग्रन्थरत्न पढ़ाना ही चाहिए। इससे उन्हें तत्त्व और श्रावकाचार दोनोंका बोध हो सकेगा और तब वे जैन कहलाने के पात्र बन सकेंगे।

शूद्र का धर्माधिकार—आशाधर जी ने आचार आदि शुद्धिसे विशिष्ट शूद्रको भी ब्राह्मण आदि की तरह यथायोग्य धर्मक्रिया करनेका अधिकारी बतलाया है और उसके समर्थनमें सोमदेवसूरिके उपासकाध्ययन तथा नीतिवाक्यामृतसे उद्धरण दिये है। उपासकाध्ययन में कहा है कि दीक्षाके योग्य तो तीन वर्ण है किन्तु आहारदान चारो दे सकते है। नीतिवाक्यामृतमें कहा है—आचारकी निर्दोषता अर्थात् मद्य मासका सेवन न करना, उपकरण आदि की पवित्रता और शारीरिक विशुद्धि शूद्रको भी देव, द्विज और तपस्वियोंके परिकर्मके योग्य बनाती है। सागार धर्मामृत २।२२ में भी यही बात कही हैं। तथा माघ में यह भी कहा है कि कालादिलब्धिके अर्थात् धर्माराधनकी योग्यताके होनेपर जीव श्रावकधर्मका आराधक हो सकता है। अर्थात् जिन दीक्षाका पात्र नही होनेपर भी शूद्र श्रावकधर्मका पालन कर सकता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न चाण्डालको भी देवतुल्य कहा है। इसी तरह पद्म-पुराणमें व्रती चाण्डालको देवतुल्य कहा है। अहिंसाणुव्रतका पालन करनेवालोंमें भी यमपाल चाण्डाल प्रसिद्ध हुआ है।

हिन्दू धर्मशास्त्रके अनुसार भी शूद्रके दो भेद होते है—भोज्यान्न, जिनके द्वारा बनाया गया भोजन ब्राह्मण कर सके और अभोज्यान्न तथा सत्शूद्र और असत्शूद्र। प्रथम प्रकार में वे शूद्र आते है जो सद्-व्यवसाय करते है, द्विजातियोंकी सेवा करते है और मद्य मांसको त्याग चुके है। शूद्र वैदिक क्रियाएँ नहीं कर सकते हैं। उन्हें वेदाध्ययन करना मना है। किन्तु महाभारत पुराण आदि सुन सकते हैं। उन्हें केवल गृहस्थाश्रमका ही अधिकार है।

दि. जैन साहित्यमें वर्णव्यवस्थाका वर्णन जिनसेनके महापुराणमें ही विस्तारसे मिलता है। किन्तु उसमें भी शूद्रके धर्माधिकारका स्पष्ट विवेचन नही है। श्रावकाचारोंमें भी आशाधरके श्रावकाचारमें ही स्पष्ट,

विवेचन मिलता है। और उसपर सोमदेवका ही प्रभाव परिलक्षित होता है, जो जैनधर्मकी परम्परा और उदारताके सर्वथा अनुकूल है।

आशाधरजीने लिखा है—अहिंसा या दयालुता, सत्य भाषण, परद्रव्यसे निवृत्ति, परिग्रह परिमाण और निषिद्ध स्त्रियोंमें ब्रह्मचर्य यह सर्वसाधारण धर्म है अर्थात् इसे प्रत्येक वर्णवाला पाल सकता है। किन्तु अध्ययन, दान, पूजन तीन ही वर्ण कर सकते हैं और अध्यापन, याजन और दान लेना ब्राह्मणोंका ही धर्म है। इस कथनमें हिन्दू शास्त्रोंका ही विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। उसमें ही ब्राह्मण वर्णको यह अधिकार दिया गया है। दक्षिणमें उपाध्याय ही पूजन कराते और दान लेते हैं। आगे आशाधरजीने जो धर्मपात्रोंको दान देनेकी प्रेरणा की है उसके साथ भी इसकी संगति नहीं बैठती है।

धर्मपात्रोंको दान देनेकी प्रेरणा—धर्मपात्रोंको गुणानुरागवश दान देनेकी प्रेरणा करते हुए लिखा है कि गृहस्थको समयिक, साधक, समयद्योतक, नैष्ठिक, और गणाधिपोंको दान-सम्मान आदिसे सन्तुष्ट करना चाहिए। जैन धर्मके पालक गृहस्थ या मुनिको समयिक कहते हैं। ज्योतिष मन्त्र आदि लोकोपकारक शास्त्रोंके ज्ञाताको साधक कहते हैं। जो शास्त्रार्थ आदिके द्वारा जिनमार्गकी प्रभावना करता है उसे समयद्योतक कहते है। जो मूलगुण और उत्तरगुणोंके साथ तपमें लीन होता है उसे नैष्ठिक कहते है। और धर्माचार्य या गृहस्थाचार्यको गणाधिप कहते हैं। ये सब दान सम्मान आदिके अधिकारी माने गये हैं। किन्तु ये किसी वर्णविशेषसे सम्बद्ध नहीं हैं। अतः आशाधरजीका ब्राह्मणको ही दानका अधिकारी बतलाना उचित प्रतीत नही होता।

दानके भेद—आचार्य जिनसेनजीने अपने महापुराणमें पात्रदान, दयादान, समक्रियादान और अन्वयदान ये चार भेद करके दानकी दिशाको नयी गति दी है। उसीका अनुसरण सोमदेवके उपासकाध्ययनमें किया गया है। पण्डित आशाधरजीने भी उनका अनुसरण किया है। सोमदेवजीने पात्रके पाँच भेद किये हैं—समयी, साधक, साधु, आचार्य और समयदीपक। ज्योतिष शास्त्र, मन्त्रशास्त्र, निमित्तशास्त्र और प्रतिष्ठाशास्त्रके ज्ञाताओंका सम्मान करनेकी प्रेरणा करते हुए उन्होंने लिखा है यदि ये न हों तो मुनिदीक्षा तीर्थयात्रा और बिम्बप्रतिष्ठा वगैरह धार्मिक क्रियाएँ कैसे हो सकती है क्योंकि मुहूर्त देखनेके लिए ज्योतिर्विदोंकी, और प्रतिष्ठा करनेके लिए मन्त्रशास्त्रके ज्ञाता पण्डितोंकी आवश्यकता होती है। यदि अन्य धर्मावलम्बी ज्योतिषियों और मान्त्रिकोंसे पूछना पडे तो अपने धर्मकी उन्नति कैसे हो सकती है। अतः जैन मन्त्रशास्त्र, जैन ज्योतिषशास्त्र और जैन क्रियाकाण्डके ज्ञाताओंका सम्मान करना आवश्यक है। इसी तरह जो शास्त्रार्थ तथा वक्तृत्व कौशल द्वारा जैन धर्मकी प्रभावना करनेमें तत्पर रहते हैं उनका भी समादर करना गृहस्थोंका कर्तव्य है। ये दान समदत्ति कहलाता है। आशाधरजीने समदत्तीके विधानका उपदेश करते हुए लिखा है जो नामसे और स्थापनासे भी जैन है वह अजैन पात्रोंसे विशिष्ट है। एक जैनका उपकार करना श्रेष्ठ है हजारों अजैनोंसे। यह कथन आशाधरजीके गम्भीर धर्मप्रेमका परिचायक है।

समदत्ति—कन्यादान भी समदत्तिमें आता है। आशाधरजीने साधर्मीको कन्या देनेका विधान किया है। जिसका धर्म, क्रिया, मन्त्र, व्रत आदि अपने समान हो उसे साधर्मी कहते हैं। साधर्मीको कन्या देनेका कारण बतलाते हुए उन्होंने लिखा है जैन धर्मकी धार्मिक क्रियाएँ उनके मन्त्र व्रत नियम आदि अन्य धर्मोंसे भिन्न हैं। यदि कन्या अजैन कुलमें दी जाती है तो उसके व्रतनियम, देवपूजा, पात्रदान आदि सब छूट जाते हैं इस तरहसे उसका धर्म ही छूट जाता है। इसलिए कन्या साधर्मीको ही देना चाहिए। चारित्रसारमें भी इसी तरहका कथन है और उसीका अनुसरण आशाधरजीने किया है। लोकप्रचलित पद्धतिके अनुसार सजातीयको कन्या देनेका परिचलन रहा है। तदनुसार लोग सजातीय विधर्मीको भी अपनी कन्या देते हैं और विजातीय साधर्मीको कन्या नहीं देते। वर्तमानमें जैनधर्मके अन्तर्गत उसको माननेवाली अनेक जातियाँ पायी जाती हैं जिनका पूर्व इतिवृत्त अन्धकारमें है। प्रायः उन सबका धर्मकर्म समान है फिर भी जातिभेदके कारण

उनमें रोटी-बेटी व्यवहार नहीं था। किन्तु कुछ समयसे आन्दोलनके कारण इन जातियोंमें परस्परमें विवाह सम्बन्ध होने लगे हैं और धर्मकी दृष्टिसे यह उचित ही है। जीवनमें धर्मका महत्त्व जातिकी अपेक्षा विशिष्ट है। उच्चजातिसे उच्चधर्मकी प्राप्ति होना सम्भव नहीं है। किन्तु उच्चधर्मका पालन करनेसे नियमसे परभवमें सज्जातित्व प्राप्त होता है। अतः जातिके सामने धर्मकी अवहेलना करना उचित नहीं है। आशाधरजीने कन्यादानको पाक्षिक श्रावकके कर्तव्योंमें स्थान देकर बहुत ही उचित किया है। अपनी ज्ञान-दीपिका नामक पंजिकामें उन्होंने विवाहके सम्बन्धमें मनुस्मृति, महापुराण, नीतिवाक्यामृत आदिसे बहुत-सी सामग्री संकलित की है जो पठनीय है।

वर्तमान मुनि—जैन मुनिकी चर्या अत्यन्त कठिन है और सामयिक स्थितिने उसे अत्यधिक कठिन बना दिया है। प्राचीन कालमें मुनि वनोंमें रहते थे। वही उनके दिगम्बरत्वके अनुकूल भी था। आचार्य समन्तभद्रने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें ग्यारहवी प्रतिमाके धारी श्रावकका वर्णन करते हुए लिखा है कि वह अपने घरसे मुनियोंके वनमें जाकर गुरुके पासमें व्रत ग्रहण करे और भिक्षा-भोजन करे तथा वस्त्र-खण्ड रखे।

उत्तरकालमें तो इसमें बहुत-सा परिवर्तन और परिवर्द्धन हो गया है। गुणभद्राचार्यने अपने आत्मानुशासनमें कलिकालमें मुनियोंके ग्रामके समीप बसनेपर खेद व्यक्त किया है। परिस्थितिवश दिगम्बर जैन मुनि भी मन्दिरोंमें रहने लगे और उनके निमित्त दानादि लेने लगे और इस तरहसे शिथिलाचारी दिगम्बर मुनियोंमें ही भट्टारक पन्थ प्रवर्तित हुआ। जिन आगमाभ्यासियोंको यह अरुचिकर प्रतीत हुआ वे ऐसे मुनियोंकी आलोचना करने लगे, जैसे आज भी करते है। जो अधिक कठोर हुए उन्होंने शायद शिथिलाचारियोंको आहारदान देना भी बन्द कर दिया, ऐसा प्रतीत होता है। सोमदेव सूरिने अपने उपासकाध्ययनमें वर्तमान कालके मुनियोंका पक्ष लेते हुए कहा है—'भोजनमात्र देनेमें तपस्वियोंकी परीक्षा करना अनुचित है। वे अच्छे हों या बुरे हों, गृहस्थ तो दान देनेसे शुद्ध होता है। जैसे तीर्थंकरोंकी प्रतिमाएँ पूज्य है उसी प्रकार आजके मुनियोंको पूर्व-मुनियोंकी प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिए।' आशाधरजीने भी उन्हीका अनुसरण करते हुए कथन किया है। जो धर्म स्नेहवश उचित ही है। किन्तु शिथिलाचारकी ओरसे आँख बन्द कर लेनेसे शिथिलाचार अनाचारका भी रूप ले लेता है और उससे पवित्र मुनिमार्ग ही दूषित हो जाता है। उसके दूषित होनेसे व्यक्ति और परम्परा दोनोंका ही अहित होता है।

अतः जिनदीक्षा बहुत ही परीक्षापूर्वक देनी चाहिए। जिस किसीको भी मुनिदीक्षा देनेसे पीछियोंकी संख्या अवश्य बढ़ जाती है किन्तु गुणोंमें ह्रास ही देखनेमें आता है। अतः आशाधरजीने जहां मुनियोको उत्पन्न करनेकी प्रेरणा की है वहाँ उन्हे गुणवान् बनानेकी भी प्रेरणा की है।

इस तरह सागारधर्मामृतका यह दूसरा अध्याय साधारण श्रावककी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। किन्तु खेद यही है कि आजके जैनकुलमे उत्पन्न होने मात्रसे अपनेको जैन कहनेवाले पाक्षिक श्रावक भी नही है। वे केवल नामसे जैन है। उनमें जैनत्वका पक्ष तो है किन्तु यह भी नही जानते कि जैन किसे कहते है। जिनमें धर्मके प्रति रुचि है उनमें भी दो पक्ष पड गये है। एक पक्ष तत्त्वज्ञानका प्रेमी है तो दूसरा पक्ष चारित्रका पक्षपाती है। किन्तु जैनत्वके लिए दोनों ही आवश्यक है। जैसे चारित्रशून्य तत्त्व ज्ञान शोभित नही होता, वैसे ही तत्त्वज्ञानशून्य चारित्र उपयोगी नही होता। आशाधरजीने लिखा है—

"ज्ञानमर्च्यं तपोऽङ्गत्वात्तपोऽर्च्यं तत्परत्वतः।
द्वयमर्च्यं शिवाङ्गत्वात्तद्वन्तोऽर्च्या यथागुणम्।"

'तप (चारित्र) का कारण होनेसे ज्ञान पूज्य है और ज्ञानका कारण होनेसे तप भी पूज्य है। दोनों ही मोक्षके कारण हैं अतः दोनों पूज्य है। और जो ज्ञानी और तपस्वी है उन्हे भी उनके गुणोंके अनुसार पूजना चाहिए।'

अतः ज्ञानियोंको चारित्रधारियोंका समादर करना चाहिए और चारित्रके प्रेमियोंको ज्ञानियोंका समादर करना चाहिए।

अन्तमें श्रावकको अपनी सहधर्मिणीमें ही सन्तान उत्पन्न करनेकी तथा उसे आचारमें दक्ष करने और कुमार्गसे बचानेकी प्रेरणा की गयी है। ज्ञानदीपिका पंजिकामें मनुस्मृतिसे अनेक श्लोक उद्धृत करके पुत्रोंके भेद बतलाये हैं। आशाधरजी वैद्यक शास्त्रके भी पण्डित थे। उन्होंने अष्टांगहृदयपर टीका रची थी। अतः इस प्रकरणमें उन्होंने उससे अनेक श्लोक देकर पुत्रोत्पादनकी विधि भी विस्तारसे बतलायी है। वह सब विवाहसे पूर्व प्रत्येक वयस्क कन्या और युवकको जानना आवश्यक है। हमारे देशके युवक और युवतियाँ सिनेमाके द्वारा बहुत-सी कुशिक्षा तो प्राप्त करते हैं किन्तु उन्हें कामशास्त्र-विषयक आवश्यक ज्ञान देनेमें संकोचका अनुभव किया जाता है और इससे वे कुसंगतमें पड़ जाते हैं। आजके भोगप्रधान युगमें इस प्रकारकी सत् शिक्षा देना आवश्यक है जिससे विवाहसे पूर्व उन्हें स्त्री-पुरुष-विषयक आवश्यक बातोंका परिज्ञान हो जाये, और वे अतिप्रसंगसे बचकर संयमपूर्वक सन्ताननिरोधका भी मार्ग अपना सकें।

संयमकी शिक्षाके अभावमें कृत्रिम उपायोंके अवलम्बनसे अयत्नाचारके साथ दुराचार भी बढ़ता है और उससे व्यक्तिके साथ समाजका भी नैतिक पतन होता है। नैतिक पतनके साथ धर्मकी संगति नहीं बैठ सकती। जो व्यक्ति नैतिक दृष्टिसे पतित है, छिपकर अनाचार करता है और उसे छिपानेके लिए धर्मपालनका ढोंग रचता है वह उस अनाचारीसे भी हीन है जो अपने दुराचारको छिपानेके लिए धर्मका ढोंग नहीं रचता। ऐसे ढोंगी धर्मात्माओंके कारण ही धर्मका पवित्र मार्ग मलिन होता है और आजके शिक्षित नवयुवक धर्मका परिहास करते हैं। अतः आज पाक्षिक—जनसाधारणके—जीवनको सुधारनेकी विशेष आवश्यकता है। और उसकी दृष्टिसे सागारधर्मामृतका यह अध्याय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

३. तृतीय अध्याय—

नैष्ठिक श्रावक (दर्शनिक)—दूसरेके पश्चात् तीसरेसे सातवें अध्याय तक नैष्ठिक श्रावकका कथन है। नैष्ठिकके ही भेद ग्यारह प्रतिमाएँ हैं। तीसरे अध्यायमें केवल दर्शन प्रतिमाका कथन है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें पहली प्रतिमावालेको सम्यग्दर्शनसे शुद्ध, संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त तथा पंचपरमेष्ठीके चरणोंको ही अपना शरण माननेवाला कहा है। उसीका विस्तार इस अध्यायमें है। 'पञ्चगुरुचरणशरणः'के स्थानमें 'परमेष्ठीपदैकधीः' पद दिया गया है। अर्थात् पंच गुरुके चरणोंमें ही जिसकी अन्तर्दृष्टि है। यहाँ जो 'धी'के पहले 'एक' पद लगाया है उसकी सार्थकता बतलाते हुए आशाधरजीने अपनी पंजिका और टीकामें लिखा है—दर्शनिक श्रावक आपत्तियोंसे व्याकुल होकर भी शासन-देवता आदिको कभी भी नहीं भजता। किन्तु पाक्षिक भजता भी है, यह बतलानेके लिए 'एक' पद रखा है।

आशाधरजी भट्टारक युगके विद्वान् थे और भट्टारक युगमें पद्मावती आदिकी भक्तिका प्रचार चालू था। उनसे पहले केवल सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें शासन-देवोंका उल्लेख करते हुए कहा है कि जो पूजाविधानमें उन्हें जिनदेवके समान स्थान देता है उसकी अधोगति होती है। किन्तु आशाधरजीने उनका स्पष्ट रूपसे निषेध किया है। अनगारधर्मामृतकी अपनी टीकामें भी उन्होंने उन्हें कुदेव कहा है। खेद है कि आज भट्टारकपन्थी कुछ मुनियों और आचार्योंके द्वारा कुदेवपूजाका प्रचार चालू है जो स्पष्ट ही आगमविरुद्ध है। मनुष्य विपत्तिमें पड़कर ही कुदेवोंकी ओर आकृष्ट होता है। किन्तु विपत्तिका कारण है मनुष्यका पूर्वबद्ध पापकर्म। कुदेवपूजासे तो वह दृढ़ ही होता है। एकमात्र जिनभक्ति ही उसे काटनेमें समर्थ है। अतः सच्चा जिनभक्त एकमात्र जिनदेवके सिवाय अन्य किसी भी कुदेवकी सेवा नहीं करता। रत्नकरण्डश्रावकाचारमें कुदेवसेवाको देवमूढ़ता कहा है। अस्तु,

रत्नकरण्डमें अष्टमूलगुणोंका तो कथन है किन्तु उन्हें किसी प्रतिमासे सम्बद्ध नहीं किया है। आशाधरजीने पाक्षिकको अष्टमूलगुणका धारी बतलाया है। अतः प्रथम प्रतिमाका धारी भी अष्टमूलगुणधारी होता है। अन्तर इतना है कि पाक्षिक सातिचार और दर्शनिक निरतिचार पालता है।

४. चतुर्थादि अध्याय—

व्रती श्रावक—श्रावकके बारह व्रतोंकी परम्परा अष्टमूलगुणोंसे भी प्राचीन है। आचार्य कुन्दकुन्दने अपने चारित्रप्राभृतमें बारह व्रतोंका ही कथन किया है। वे बारह व्रत हैं—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें भी इन्हींका विवेचन है। इन्हें ही उत्तरकालमें श्रावकके उत्तर-गुण कहा है। जैसे पाक्षिक श्रावक अष्टमूल गुणोंका पालन करता है उसी प्रकार पूर्वमें श्रावक इन बारह व्रतोंका पालन करता था और उनका पालन करनेसे वह श्रावक कहलाता है। उस समयमें श्रावकके पाक्षिकादि भेद प्रचलित नहीं थे। केवल ग्यारह प्रतिमारूप ही श्रावकके भेद थे। उसकी नैष्ठिक संज्ञा भी उत्तरकालीन है। बारह व्रतोंका सातिचार पालन करनेसे साधारण श्रावक होता था। और निरतिचार पालन करनेसे व्रत-प्रतिमाका धारी व्रतिक श्रावक होता था। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें व्रतिक प्रतिमाका यही स्वरूप कहा है।

तत्त्वार्थसूत्रमें व्रतीको निःशल्य कहा है। अर्थात् जो माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंसे रहित होकर व्रत धारण करता है वही व्रती है, केवल व्रत धारण करनेसे कोई व्रती नहीं होता। मायाचार, मिथ्यात्व और निदानका त्याग किये बिना अन्तरंग शुद्धि सम्भव नहीं है। किन्तु व्रतोंके बाह्य रूपकी ओर जितना ध्यान दिया जाता है उसका शतांश भी ध्यान अन्तरंगकी ओर नहीं दिया जाता। और व्रत धारण करने मात्रसे ही व्रती मान लिया जाता है।

आचार्य अमितगतिने अपने श्रावकाचारमें निदानके दो भेद किये हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। तथा प्रशस्तके भी दो भेद किये हैं—एक संसारका हेतु और एक मुक्तिका हेतु। जिनधर्मकी सिद्धिके लिए यह याचना करना कि मुझे उत्तमजाति, उत्तमकुल प्राप्त हो, ऐसा निदान भी संसारका हेतु है तथा कर्मोंका विनाश, संसारके दुःखसे छुटकारा, बोधि, समाधि आदिकी प्राप्तिकी आकांक्षा करना मुक्तिका हेतु निदान है। यह मुक्तिका हेतु निदान भी नीचेकी भूमिकामें ही अच्छा माना गया है। पद्मनन्दि पंचविंशतिकामें कहा है कि मोहवश मोक्षकी भी अभिलाषा मोक्षकी प्राप्तिमें बाधक है तब अन्य अभिलाषाओंका तो कहना ही क्या है। अतः मुमुक्षुको सब अभिलाषाएँ त्यागकर अध्यात्मरत होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भमें अणुव्रत साधारण थे। किन्तु उत्तरकालमें उनमें कठिनता आ गयी। पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें 'अणुव्रतोऽगारी' सूत्रकी व्याख्यामें पाँच अणुव्रत इस प्रकार कहे हैं—त्रसहिंसाका त्याग अहिंसाणुव्रत है। स्नेह, मोह आदिके वश होकर ऐसा झूठ न बोलना, जो किसीका घर उजाड़ दे या गाँव उजाड़ दे सत्याणुव्रत है। जिसके लेनेमें राजभय आदि हो ऐसी दूसरोंके द्वारा त्यागी हुई वस्तुके प्रति भी बिना दिये ग्रहणका भाव न होना अचौर्याणुव्रत है। किसीके द्वारा स्वीकृत या अस्वीकृत परस्त्रीके साथ रति न करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। और धनधान्य, खेत आदिका इच्छावश परिमाण करना परिग्रहपरिमाण अणुव्रत है। ये पाँचों ही अणुव्रत ऐसे हैं जिन्हें साधारण गृहस्थ सरलतासे पाल सकता है।

किन्तु त्रसहिंसाके त्यागमें मन-वचन-काय और कृत, कारित, अनुमोदना रूप नौ संकल्प जोड़नेसे अहिंसाणुव्रतका पालन भी साधारण गृहस्थके लिए कठिन हो गया। उत्तरकालमें आचार्योंका ध्यान इस ओर गया प्रतीत होता है। आचार्य अमितगतिने अपने श्रावकाचारमें हिंसाके दो भेद किये हैं—आरम्भी और अनारम्भी। जिसने गृहवास त्याग दिया है वह दोनों प्रकारकी हिंसासे विरत रहता है। किन्तु गृहवासी श्रावक आरम्भी हिंसाका त्याग नहीं कर सकता।

रात्रिमें पूजन आदि—अहिंसाणुव्रतके अन्तर्गत रात्रिभोजन-निषेधकी भी चर्चा की गयी है और कहा है कि जिस रात्रिके समयमें अन्य धर्मावलम्बी भी कोई सत्कर्म करना पसन्द नहीं करते उसमें कौन भोजन करेगा। उन सत्कर्मोंमें सत्पात्रदान, स्नान, देवपूजा, आहुति और श्राद्ध गिनाये हैं तथा उद्धृत श्लोकोंमें एक श्लोक इस प्रकार है—

"नैवाहुतिर्न च स्नानं न श्राद्धं देवतार्चनम्।
दानं चाविहितं रात्रौ भोजनं च विशेषतः॥"

किन्तु आजकल कहीं-कहीं, जहाँ भट्टारकपन्थ प्रवर्तित है, रात्रिमें अभिषेक पूजन होता है। और भट्टारकपन्थी मुनि भी उसमें योगदान करते हैं। ऐसा करना आगमविरुद्ध है।

ब्रह्माणुव्रत—रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें ब्रह्माणुव्रतका स्वरूप इस प्रकार कहा है—

"न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामापि॥"

'जो पापके भयसे न तो परस्त्रियोंसे रमण करता है और न दूसरोंसे रमण कराता है वह परदारनिवृत्ति है उसीका नाम स्वदारसन्तोष भी है।

इस व्रतके अतिचारोंमें भी इत्वरिकागमन नामक एक ही अतिचार गिनाया है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें इत्वरिकाके दो भेद करके दो अतिचार अलग-अलग गिनाये हैं—एक इत्वरिका परिगृहीतागमन, दूसरा इत्वरिका अपरिगृहीतागमन। इत्वरिकाका अर्थ है परपुरुषगामिनी व्यभिचारिणी स्त्री। उसके दो प्रकार हैं—जिसका स्वामी एक पुरुष है वह परिगृहीता है और जिसका कोई स्वामी नहीं है ऐसी गणिका वगैरह अपरिगृहीता है। इसीसे पूज्यपाद स्वामीने ब्रह्माणुव्रतके स्वरूपमें परिगृहीत और अपरिगृहीत परस्त्रीके साथ रतिके त्यागको ब्रह्माणुव्रत कहा है।

आशाधरजीने इस व्रतको स्वदारसन्तोष नाम दिया है। 'जो पापके भयसे मन वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदनासे अन्य स्त्री और प्रकट स्त्रीको न स्वयं भजता है और न दूसरोंसे ऐसा कराता है वह स्वदारसन्तोषी है।'

इसकी व्याख्यामें उन्होंने अन्यस्त्रीके दो भेद किये हैं—परिगृहीता और अपरिगृहीता। जिसका स्वामी है वह परिगृहीता है। और जो अनाथ कुलस्त्री है या जिसका पति विदेशमें है या परित्यक्ता है वह अपरिगृहीता है। तथा प्रकटस्त्री वेश्या है। इस तरह उन्होंने वेश्याको अन्यस्त्री—या परिगृहीत और अपरिगृहीत इत्वरिकासे अलग कर दिया है। और लिखा है यह ब्रह्माणुव्रत निरतिचार अष्टमूलगुणोंके पालक विशुद्ध सम्यग्दृष्टि श्रावकके कहा है। किन्तु जो स्वस्त्रीके समान साधारण स्त्रियोंका भी त्याग करनेमें असमर्थ है और केवल परस्त्रियोंका ही त्याग करता है वह भी ब्रह्माणुव्रती कहा जाता है। क्योंकि ब्रह्माणुव्रतके दो भेद हैं—स्वदारसन्तोष और परदारनिवृत्ति। यह बात ऊपर अन्यस्त्री और प्रकटस्त्री इन दोनोंके सेवनका निषेध करनेसे प्रकट होती है।'

अपने इस मतके समर्थनमें आशाधरजीने श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रके योगशास्त्रका प्रमाण दिया है। उसके पश्चात् सोमदेव सूरीके उपासकाध्ययनका प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया है—

"वधूवित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने।
माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्मगृहाश्रमे॥"

'अर्थात् वधू (पत्नी) और वित्तस्त्री (वेश्या) को छोड़कर अन्य सब स्त्रियोंमें माता, बहन, बेटीकी बुद्धि होना गृहस्थोंका ब्रह्मचर्य है।'

हेमचन्द्र तो सोमदेवके पश्चात् हुए हैं। अतः सम्भवतया सामयिक परिस्थितिसे प्रेरित होकर सोमदेव-ने ही ब्रह्माणुव्रतसे वेश्याको अलग कर दिया है। और ब्रह्माणुव्रतके अभ्यासियोंके लिए ऐसी छूट देना अनुचित भी नहीं है। उसके बिना त्यागमार्ग चल नहीं सकता। फिर ब्रह्मचर्य तो सब व्रतोंमें कठिन है। अतः कामीजनोंको कामसे विमुख करनेके लिए केवल परस्त्रीका त्याग कराना भी उचित ही है। और इसी दृष्टिसे इसे देखना भी चाहिए।

व्रतोंके अतिचार—व्रतका ध्यान रखते हुए भी जो उसके एक देशका भंग हो जाता है उसे अतिचार कहते हैं। अतिचारोंकी परम्पराका उद्गम तत्त्वार्थसूत्र ही प्रतीत होता है। प्रायः सभी श्रावका-चारोंमें उसीके अनुसार अतिचार गिनाये हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें ही क्वचित् अन्तर प्रतीत होता है। दूसरी व्रत प्रतिमाके धारी श्रावकके लिए तो अतिचार त्याज्य है। अतः ये अतिचार तो प्रायः अभ्यासीके लिए ही सम्भव है। वही इस प्रकारकी मोटी गलतियाँ कर सकता है। इनके पीछे आचार्योंकी उदात्त भावना तथा मानव मनकी कमजोरियोंके प्रति सहिष्णुताका भाव भी रहा है। अतिचार लगाते हुए भी यदि व्रती अपने व्रतकी मूलभावनाके प्रति जागरूक रहे तो वह अतिचारोंको भी छोड़नेमें सक्षम हो सकता है। अतिचारोंके भयसे यदि व्रत ही ग्रहण न करे तो वह कभी व्रती नहीं हो सकता। उदाहरणके लिए जिस व्यक्तिको चोरीकी आदत है यदि वह चोरी न करनेका व्रत लेता है किन्तु अपनी आदतवश चोरी न करके भी किसीको चोरीका उपाय बताता है तो उसका यह अपराध क्षम्य ही कहा जायेगा। यही बात सत्य बोलनेका व्रत लेकर झूठी गवाही देनेके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। किन्तु परिगृहीत और अपरिगृहीत परस्त्रीका त्याग करके भी उनका सेवन अतिचार माना गया है यह खटक सकता है। परन्तु जिसने नया व्रत लिया है, पुरानी आदतवश यदि कदाचित् उससे भूल हो जाये तो ऐसी स्थितिमें ही उसे अतिचारकी संज्ञा दी जा सकती है। अतिचार छूट नहीं है, दोष है। और बार-बार दोष लगानेसे व्रत भंग हो सकता है। इसलिए उनकी ओरसे सावधान करनेके लिए ही अतिचार कहे गये हैं।

आचार्य अमितगतिने अपने सामायिक पाठमें अतिचारसे पूर्व अतिक्रम और व्यतिक्रम कहे हैं। यथा—

"क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलङ्घनम्।
प्रभोऽतिचारो विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम्॥

"मनकी शुद्धिकी विधिमें कमी आना अतिक्रम है। शीलकी बाड़को लांघना व्यतिक्रम है, विषयोंमें प्रवृत्ति अतिचार है और उनमें अतिआसक्ति अनाचार है।"

इसमें अतिचारका लक्षण विषयोंमें प्रवृत्ति कहा है। किन्तु वह प्रवृत्ति व्रतका ध्यान रखते हुए भी कदाचित् ही होना चाहिए। इसके अनुसार जो अतिचार बतलाये गये हैं वे प्रायः सब सुघटित हो सकते है। असलमें तो प्रथम अवस्था अतिक्रम है। मानसिक शुद्धिमें क्षति आये बिना त्यागे हुए विषयमें प्रवृत्ति नही हो सकती। अतः प्रारम्भसे ही सावधान रहनेसे अतिचारका प्रसंग नही आ सकता। किन्तु उसके लिए व्रतीको सतत जागरूक रहना आवश्यक है। जो लोग लौकिक प्रतिष्ठा या भावुकतावश व्रत धारण करते हैं वे प्रायः बाहरसे तो सावधान रहते हैं किन्तु अन्तरंगसे सावधान नहीं रहते। अतः उनके व्रत प्रायः सातिचार ही रहते हैं। संसार शरीर और भोगोंसे अन्तरंगसे उदासीन वही होता है जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध होता है। और सम्यग्दर्शन केवल प्रयत्नसाध्य नहीं है, व्रतोंकी तरह उसे ऊपरसे नहीं ओढ़ा जा सकता। और उसके बिना सब व्रताचरण निष्फल हैं। अतः व्रतीको सम्यग्दर्शनकी शुद्धिके लिए सदा तत्त्वचिन्तनमें रत रहना चाहिए क्योंकि तत्त्वदृष्टिके बिना सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं होती।

६. षष्ठ अध्याय—

श्रावककी दिनचर्या—चतुर्थ और पंचम अध्यायमें बारह व्रतोंका वर्णन करनेके पश्चात् छठे अध्यायमें श्रावककी दिनचर्या बतलायी है। श्रावकाचारोंकी दृष्टिसे यह एक बिलकुल नवीन वस्तु है। किसी भी श्रावकाचारमें यह नहीं मिलती। किन्तु यह आशाधरजीकी अपनी उपज नहीं है। हेमचन्द्राचार्यके योग-शास्त्रसे ही उन्हें इसकी प्रेरणा मिली है। और उन्होंने उसे अपनी दृष्टिसे ग्रथित किया है।

यथार्थमें मुमुक्षु श्रावककी अपनी एक ऐसी दिनचर्या होना आवश्यक है जिसमें वह अपना समय धर्मध्यानपूर्वक बिता सके तथा अपना गृहस्थाश्रम भी चला सके।

व्रती श्रावकको ब्राह्म मुहूर्तमें उठते ही नमस्कार मन्त्रका जाप करनेके पश्चात् 'मैं कौन हूँ, मेरा क्या धर्म है, मेरे व्रताचरणकी क्या स्थिति है' इत्यादि विचार करना चाहिए। ऐसा करनेसे शुभोपयोगपूर्वक अपने जीवनका ढाँचा अपनी दृष्टिमें रहता है। और अपनी कमियाँ सामने आती हैं तथा उनको सुधारनेका अवसर मिलता है। उसके पश्चात् नित्यकृत्यसे निवृत्त होकर देवदर्शन-पूजन आदि करना चाहिए।

आशाधरजीने मन्दिर जाते समयसे लेकर मन्दिरसे निकलकर घर जाने तककी जो विधि-विचार वर्णित किये हैं वे सब बहुत ही उपयोगी हैं।

प्रातःकालका समय है। सूर्योदय हो रहा है। उसे देखकर मन्दिरकी ओर जाता हुआ श्रावक सूर्यको देखकर अर्हन्तदेवका स्मरण करता है कि उन्होंने भी जगत्‌का अज्ञानान्धकार दूर किया था। पैर धोकर वह मन्दिरमें प्रवेश करता है और स्तुति पढ़ते हुए नमस्कारपूर्वक तीन प्रदक्षिणा देता है। वह विचारता है—यह मन्दिर समवसरण है, यह जिनबिम्ब साक्षात् अर्हन्तदेव हैं। मन्दिरमें उपस्थित स्त्री-पुरुष समव-सरणमें स्थित भव्यप्राणी हैं। ऐसा विचारते हुए वह हृदयसे सबकी अनुमोदना करता है। जो जिनवाणीका पाठ करते हैं, व्याख्यान करते हैं तन मनसे उनकी सराहना करता है। उनका उत्साह बढ़ाता है और अपने घर पहुँचकर व्यवसायमें लग जाता है। पीछे मध्याह्नकी वन्दना करके भोजन करता है।

भोजनसे पहले अतिथिकी प्रतीक्षा करता है। अपने परिवारके सब लोगोंको भोजन कराता है, दयाभावसे जो अपने आश्रित नहीं हैं उनको भी भोजन कराता है तब स्वयं भोजन करता है।

रात्रिमें जब नींद खुल जाती है तो वैराग्य भावनाका ही चिन्तन करता है।

सच्चे मुमुक्षु श्रावककी दिनचर्या ऐसी ही पवित्र होती है। ऐसा पवित्र श्रावक जीवन बिताने के पश्चात् जो मुनि बनते हैं वे मोक्षके पात्र होते हैं। अस्तु।

७. सप्तम अध्याय—

सातवें अध्यायमें शेष दस प्रतिमाओंका विवेचन है। अन्तिम उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाका वर्णन विस्तार-पूर्वक किया गया है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें वर्णित ग्यारहवी प्रतिमाके स्वरूपके प्रकाशमें उसे देखनेपर लगता है कि एक हजार वर्षके अन्तरालमें कितना परिवर्तन और परिवर्धन हुआ है। खण्डवस्त्रधारी भिक्षा-भोजी उद्दिष्ट श्रावकके कितने भेद-प्रभेद हो गये हैं? आशाधरजीने उपलब्ध सभी सामग्रीको संकलित कर दिया है।

८. अष्टम अध्याय—

अन्तिम आठवें अध्यायमें श्रावकके तीसरे भेद साधकका वर्णन विस्तारसे है, जो जीवनका अन्त आनेपर प्रीतिपूर्वक शरीर और आहार आदिका ममत्व छोड़कर सल्लेखनापूर्वक प्राणत्याग करता है वह साधक श्रावक कहलाता है।

भगवती आराधनामें केवल इसीका वर्णन है। आशाधरजीने उसीका दोहन करके इस अध्यायमें सल्लेखनाके सम्बन्धमें सभी उपयोगी बातें निबद्ध कर दी हैं। उसे पढ़ने से ज्ञात होता है कि समाधिमरणका कितना महत्त्व था। उसके लिए आचार्य भी अपने संघका भार सुयोग्य शिष्यको देकर दूसरे संघमें समाधि-मरणके लिए जाते थे। उसके लिए सबसे प्रथम समाधिमरण कराने में दक्ष निर्यापकाचार्यकी खोज की जाती थी। और निर्यापकाचार्य तथा साधुसंघ उस एक व्यक्तिकी समाधिमें लग जाता है। आशाधर उसे आर्योंका महायज्ञ कहते हैं। सचमुचमें महायज्ञ यही है। इसीमें कर्मोंकी आहुति देकर श्रावक मोक्षका पात्र बनता है। इस तरह सागारधर्मामृतमें प्रारम्भिक श्रावकसे लेकर उत्कृष्ट श्रावक तक की सब क्रियाएँ विस्तारसे वर्णित की गयी हैं। अन्त में समाधिमरणमें स्थित श्रावकको लक्ष्य करके कहा है—

"शुद्धं श्रुतेन स्वात्मानं गृहीत्वार्य स्वसंविदा।
भावयंस्तल्लयापास्तचिन्तो मृत्वैहि निर्वृतिम् ॥"

'हे आर्य! श्रुतज्ञानके द्वारा शुद्ध—द्रव्यकर्म, नोकर्म भावकर्मसे रहित अपनी आत्माका निश्चय करके और स्वसंवेदनके द्वारा उसका अनुभव करके उसीमें लीन होकर सब विकल्पोंको दूर करके मोक्षको प्राप्त करो।'

इस एक ही श्लोकके द्वारा आशाधरजीने मोक्षप्राप्तिका मार्ग संक्षेपमें बतला दिया है। सबसे प्रथम मुमुक्षुको आत्माके शुद्ध स्वरूपका निर्णय जिनागमके अभ्याससे करना चाहिए। उसके पश्चात् स्वसंवेदनके द्वारा उसकी अनुभूति करना चाहिए। वही स्वानुभूति है, उसीके द्वारा उसीमें लीन होकर उसे प्राप्त किया जाता है। ऐसी शुद्धात्माकी उपलब्धिका नाम ही मोक्ष है। उसीके लिए सब बाह्याचार हैं।

अन्तमें इसके अनुवादके सम्बन्धमें दो शब्द कहना चाहते हैं। इसका अनुवाद प्रारम्भ करते समय भव्य-कुमुद चन्द्रिका टीका तो हमारे सामने थी और उसमें चर्चित विषयोंको हमने यथास्थान लिया है किन्तु ज्ञानदीपिकाकी प्राप्ति विलम्बसे होनेसे उसका पूरा उपयोग अनुवादमें नहीं हो सका। ज्ञानदीपिका पूर्वाचार्यों-के उद्धरणोंसे ओत-प्रोत है। श्रावकाचारमें प्रतिपादित सभी विषयोंसे सम्बद्ध उद्धरण उसमें संकलित हैं और इस दृष्टिसे वह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

धर्मामृतका ज्ञानदीपिका टीकाके साथ प्रकाशित यह संस्करण स्व. डॉ उपाध्येकी योजनाका ही सुपरिणाम है। खेद है कि वे इसे न देख सके। अपनी योजनाको कार्यरूपमें परिणत देखकर अवश्य ही उन्हें स्वर्गमें आनन्दका अनुभव होगा। इन शब्दोंके साथ उनका पुण्यस्मरण करते हुए हम उनके प्रति बहुमान-पूर्वक अपनी इस कृतिको उनकी स्मृतिमें उपहृत करते हैं।

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

दीपावली
वी. नि. सं॰ २५०४

विषयानुक्रमणिका

तृतीय अध्याय १२०–१४४

चतुर्थ अध्याय १४५-२०३

□

धर्मामृत (सागार)

अथ किंलक्षणाः सागारा इत्याह—

अनाद्यविद्यादोषोत्थचतुःसंज्ञाज्वरातुराः ।
शश्वत्स्वज्ञानविमुखाः सागारा विषयोन्मुखाः ॥२॥

अविद्या—अनित्याशुचिदुःखानात्मसु विपरीतख्यातिः । ज्वराः चत्वारः प्राकृतो वैकृतश्चेति द्वौ, प्रत्येकं साध्योऽसाध्यश्चेति । स्वेत्यादि । यदाह—

'माद्यन्मित्रकलत्रपुत्रकुतपश्रेणीरणच्छृङ्खला-,
बन्धध्वस्तगतेर्निरुद्धवपुषः क्रोधादिविद्वेषिभिः ।
आस्तां ज्ञानसुधारसः किमपरं गेहोरुकारागृह-
क्रूरक्रोडनिवासिनो न सुलभा वार्ता वणक्षं प्रति ।' [ ] ॥२॥

के बलसे उनका क्षायोपशमिक संयम परिणामरूप चारित्र अक्षूण अर्थात् निर्दोष होता है। इन अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधुओंको विशुद्ध मनोयोगपूर्वक सिर नवाकर उन गृहस्थोंके धर्मको कहूँगा जो यद्यपि संहनन आदिकी कमजोरीके कारण श्रमणोंके सर्वविरति-रूप चारित्रको पालनेमें असमर्थ हैं तथापि उससे अनुराग करते हैं, प्रीति रखते हैं। जिन गृहस्थोंको मुनियोंके धर्मसे अनुराग नहीं है उनका एकदेशत्याग भी सच्चा नहीं है। सर्व-विरतिकी लालसाका ही नाम देशविरतिरूप परिणाम है। जिसमें मुनिधर्म अंगीकार करनेकी आन्तरिक इच्छा होती है, भले ही वह अपनी निर्बलताके कारण इस जीवनमें मुनि न बन सके किन्तु वही निष्ठापूर्वक श्रावक धर्मका पालन कर सकता है ॥१॥

आगे सागार या गृहस्थका लक्षण कहते हैं—

अनादि अविद्यारूपी दोषसे उत्पन्न हुई चार संज्ञारूपी ज्वरसे पीड़ित, सदा आत्म-ज्ञानसे विमुख और विषयोंमें उन्मुख गृहस्थ होते हैं ॥२॥

विशेषार्थ—अगार कहते हैं घरको। 'घर' कहनेसे सभी परिग्रह आ जाती हैं। जो अगारमें रहते हैं वे सागार कहे जाते हैं। और जिन्होंने घरको त्याग दिया वे अनगार या श्रमण कहे जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्रके 'अगार्यनगारश्च' (७।१९) सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीकामें यह शंका उठायी गयी है कि यदि घरमें रहनेवालेको गृहस्थ और घरमें न रहनेवालेको अनगार या मुनि कहते हैं तो उलटा भी हो सकता है—मुनि किसी शून्य घरमें या मन्दिरमें ठहरे हों तो वे सागार कहे जायेंगे। और किसी कारणसे कोई गृहस्थ घर छोड़कर जंगलमें जा बसा तो वह अनगार कहा जायेगा।

इसके समाधानमें कहा गया है कि यहाँ घरसे भावघर लिया गया है। चारित्र-मोहनीयके उदयमें घरसे सम्बन्ध रखनेके परिणामको भावघर कहते हैं। जिसके भावोंमें घर है वह गृहस्थ है भले ही वह वनमें चला जाये। और जिसके भावसे घर निकल गया वह यदि किसी शून्यघर या देवालयमें ठहर गया है फिर भी वह अनगार ही है। यहाँ सागारसे भावागारी ही लिया गया है। यह उसके तीन विशेषणोंसे स्पष्ट होता है। अनित्य पदार्थोंको स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धको नित्य मानना, अशुचि शरीर आदिको शुचि मानना, दुःख-दायी परिवार आदिको सुखदायी मानना और जो परवस्तु कभी अपनी नहीं हो सकती शरीर आदि, उन्हें अपना मानना, इसका नाम अविद्या या अज्ञान है। इस अज्ञानका आदि नहीं, अतः अनादि है। अनादिकालसे जीवके साथ यह अज्ञानरूपी दोष लगा है। शरीरमें जब वात, पित्त और कफ विषम हो जाते हैं तो उसे दोष कहते हैं। इस दोषके कारण

दशम अध्याय (प्रथम अध्याय)

[अथ चतुर्थाध्याये—

सुदृग्बोधो गलद्वृत्तमोहो विषयनिस्पृहः।
हिंसादेर्विरतः कात्स्न्याद्यतिः स्याच्छ्रावकोंऽशतः]

इत्युक्तमतो मध्यमङ्गलविधानपूर्वकं विनेयान् प्रति सागारधर्मं प्रतिपाद्यतया प्रतिजानीते—

अथ नत्वाऽर्हतोऽक्षूणचरणान् श्रमणानपि।
तद्धर्मरागिणां धर्मः सागाराणां प्रणेष्यते ॥१॥

अथ मङ्गलार्थे अधिकारे वा। इतः सागारधर्मोऽधिक्रियत इत्यर्थः। नत्वा—शिरःप्रह्वीकरणादिना विशुद्धमनोनियोगेन च पूजयित्वा। अक्षूणचरणान्—अक्षूणं संपूर्णं निर्दोषं वा चरणं चारित्रं येषां तान्। तद्धर्मरागिणां—तेषां श्रमणानां धर्मे सर्वविरतिरूपे चारित्रे रागिणां संहननादिदोषादकुर्वतामपि प्रीतिमताम्। यतिधर्मानुरागरहितानामगारिणां देशविरतेरसम्यग्रूपत्वात्। सर्वविरतिलालसः खलु देशविरतिपरिणामः। धर्मः—एकदेशविरतिलक्षणं चारित्रम्। प्रणेष्यते—प्रतिपादयिष्यतेऽस्माभिः ॥१॥

अनगार धर्मामृतके चतुर्थ अध्यायमें कहा है कि जिस जीवका ज्ञान जीवादि तत्त्वोंके विषयमें हेय, उपादेय और उपेक्षणीय रूपसे जाग्रत् है, तथा यथायोग्य क्षयोपशमरूपसे चारित्र मोहनीय कर्म हीयमान है और जो देखे हुए, सुने हुए और भोगे हुए भोग-उपभोगोंमें निरभिलाषी है वह यदि हिंसा आदि पाँच पापकर्मोंसे पूरी तरहसे विरत है तो उसे मुनि या यति या श्रमण कहते हैं और यदि वह एकदेशसे विरत है तो उसे श्रावक कहते हैं। अतः धर्मामृत ग्रन्थके मध्यमें मंगलाचरणपूर्वक सागार धर्मामृतका कथन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

सम्पूर्ण यथाख्यातचारित्रके धारक अर्हन्तोंको और निरतिचारचारित्रके धारक श्रमणोंको भी नमस्कार करके उन श्रमणोंके धर्ममें प्रीति रखनेवाले श्रावकों या गृहस्थोंके धर्मको कहूँगा ॥१॥

विशेषार्थ—श्लोकके प्रारम्भमें 'अथ' शब्द मंगलवाचक या अधिकारवाचक है। जो सूचित करता है कि यहाँसे सागारधर्मका अधिकार है। 'अक्षूण' शब्दका अर्थ सम्पूर्ण भी है और निरतिचार या निर्दोष भी है। अर्हन्त भी अक्षूणचरण है और श्रमण भी अक्षूण चरण है। समस्त मोहनीय कर्मका क्षय होनेसे प्रकट हुआ चरण अर्थात् यथाख्यातचारित्र सम्पूर्ण नित्य और निर्मल होता है। अतः अर्हन्त तीर्थंकर परमदेव अक्षूण चरण है। तथा जो श्रम करते हैं अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर तप करते हैं उन्हें श्रमण कहते हैं अतः श्रमणसे आचार्य, उपाध्याय और साधु लिये जाते हैं। श्रमण भी अक्षूण चरण होते हैं—भावनाविशेष

---

१. 'स्फुरद्बोधो गलद्वृत्तमोहो विषयनिस्पृहः। हिंसादेर्विरतः कात्स्न्याद्यतिः स्याच्छ्रावकोंऽशतः ॥

—अनगार, ४।२१।

अथ भङ्ग्यन्तरेण भूयस्तानेवाह—

अनाद्यविद्यानुस्यूतां ग्रन्थसंज्ञामपासितुम्।
अपारयन्तः सागाराः प्रायो विषयमूर्च्छिताः ॥३॥ ३

अनुस्यूतां—बीजाङ्कुरन्यायेन संतत्या प्रवर्तमानाम्। विषयमूर्च्छिताः—कामिन्यादिविषयेष्वात्मतयाऽध्यवसिताः।

ही मनुष्य ज्वरसे पीड़ित होता है। उसी तरह अज्ञानरूपी दोषके कारण यह चारसंज्ञारूपी ज्वरसे पीड़ित रहता है। ये चार संज्ञाएँ हैं—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह। इन्हींकी अभिलाषाकी पूर्तिमें गृहस्थ सदा लगा रहता है। इसलिए उसे कभी अपने आत्माकी ओर दृष्टि डालनेका समय ही नहीं मिलता। परमागममें कहा है कि 'ज्ञानदर्शन लक्षणवाला एक मेरा आत्मा ही शाश्वत है—सदा रहनेवाला है। शेष सब पदार्थ बाह्य हैं उनका मेरे साथ नदी-नाव-योग जैसा है'। यह आत्मज्ञान उसे होता नहीं, इसीसे वह स्त्री आदि इष्ट विषयोंमें राग करता है और अप्रिय विषयोंसे द्वेष करता है। इस राग-द्वेषके करनेमें ही वह सदा लगा रहता है। इसीमें उसका जीवन तक समाप्त हो जाता है ॥२॥

पुनः दूसरे प्रकारसे सागारका स्वरूप कहते हैं—

अनादि अविद्याके साथ बीज और अंकुरकी तरह परम्परासे चली आयी परिग्रह संज्ञाको छोड़नेमें असमर्थ और प्रायः विषयोंमें मूर्च्छित सागार होते हैं ॥३॥

विशेषार्थ—जैसे बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीज पैदा होता है अतः बीज अंकुरकी सन्तान अनादि है उसी तरह अज्ञान और परिग्रह संज्ञाकी भी अनादि सन्तान है। अनादि कालसे अज्ञानके कारण परिग्रह संज्ञा होती है और परिग्रह संज्ञासे अज्ञान होता है। इस तरह अज्ञानमें पड़ा गृहस्थ परिग्रहकी अभिलाषाको छोड़ नहीं पाता। इसीसे गृहस्थ प्रायः स्त्री आदि विषयोंमें 'यह मेरी भोग्य है' मैं इनका स्वामी हूँ इस प्रकार ममकार और अहंकाररूप विकल्पोंमें फँसे रहते हैं। वास्तवमें शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु ये सब सर्वथा भिन्न स्वभाववाले हैं। किन्तु यह मूढ़ इन सबको अपना मानता है। सम्यग्दृष्टि भी चारित्रमोहनीय कर्मके उदयके वशीभूत होकर ऐसा मान बैठता है। किन्तु सभी सम्यग्दृष्टि ऐसे नहीं होते। जो पूर्वजन्ममें अभ्यास किये हुए रत्नत्रयके माहात्म्यसे साम्राज्य आदि लक्ष्मीका उपभोग करते हुए भी तत्त्वज्ञान और देशसंयमकी ओर उपयोग रखनेके कारण भोगते हुए भी नहीं भोगते हुए की तरह प्रतीत होते हैं, उनको दृष्टिमें रखकर ग्रन्थकार ने 'प्रायः' शब्दका प्रयोग किया है जो बतलाता है कि सभी गृहस्थ विषयोंमें मग्न नहीं होते, किन्तु कुछ सम्यग्दृष्टी तत्त्वज्ञानी जो देशसंयमके भी अभ्यासी होते हैं वे विषयोंको रुचिसे नहीं भोगते। किन्तु जैसे धायें पराये पुत्रका पालन करते हुए भी उसे अपना नहीं मानतीं, या जैसे दुराचारिणी स्त्रीका स्वामी उसे अनासक्त भावसे भोगता है उसी तरह वे कमलिनीके पत्रपर पड़े जलकी तरह निर्लिप्त रहते हैं। यहाँ एक बात विशेष रूपसे उल्लेखनीय है कि

---

१. 'एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥' —भावपाहुड ५९। मूलाचार ४८। णियमसार १०२।

२. 'धात्रीबालासतीनाथ-पद्मिनीदलवारिवत्। दग्धरज्जुवदाभाति भुञ्जानोऽपि न पापभाक् ॥'
—इष्टोप. श्लो.८।

तदुक्तम्—

'वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।
सर्वथाऽन्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥' [इष्टोप. ८ श्लो.] ॥३॥

ग्रन्थकारने अपनी संस्कृत टीकामें जिसका हमने विशेषार्थमें विवरण दिया है, सम्यग्दृष्टीको भी चारित्र मोहनीय कर्मके उदयवश विषयासक्त कहा है। किन्तु जिन्होंने पूर्वजन्ममें रत्नत्रयका अभ्यास किया है और उसीके प्रभावसे जो इस जन्ममें भी तत्त्वज्ञान और देश संयममें तत्पर रहते हैं उन सम्यग्दृष्टी श्रावकोंको निरासक्त भोगी कहा है। उधर अमृतचन्द्रजी-ने कहा है कि सम्यग्दृष्टिके ज्ञानवैराग्यशक्ति नियमसे होती है। क्योंकि वह अपने यथार्थ स्वरूपको जाननेके लिए 'स्व' का ग्रहण और परके त्यागकी विधिके द्वारा दोनोंके भेदको परमार्थसे जानकर अपने स्वरूपमें ठहरता है और परसे सब तरहका राग छोड़ता है। इस पर अपने भावार्थमें पं. जयचन्दजी सा० ने कहा है कि 'मिथ्यात्वके बिना चारित्र मोह सम्बन्धी उदयके परिणामको यहाँ राग नहीं कहा, इसलिये सम्यग्दृष्टिके ज्ञान वैराग्य शक्तिका अवश्य होना कहा है। मिथ्यात्व सहित रागको ही राग कहा गया है वह सम्यग्दृष्टिके नहीं है। जिसके मिथ्यात्व सहित राग है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है।' आगे समयसार गा० २०१-२०२ के भावार्थमें कहा है—अविरत सम्यग्दृष्टि आदिके चारित्रमोहके उदय सम्बन्धी राग है वह ज्ञानसहित है। उसको रोगके समान मानता है। उस रागके साथ राग नहीं है। कर्मोदयसे जो राग हुआ है उसका मेटना चाहता है।' इन्हीं दोनों गाथाओंकी टीकामें जयसेनाचार्यने भी रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता इस चर्चाको लेकर शंका-समाधान किया है। शंकाकार कहता है—आपने कहा कि रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता। तो चतुर्थ-पंचम गुणस्थानवर्ती तीर्थंकर, भरत, सगर, राम, पाण्डव आदि क्या सम्यग्दृष्टि नहीं थे। इसके समाधानमें आचार्य कहते हैं उनके मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा तेतालीस कर्म प्रकृतियोंका बन्ध न होनेसे चतुर्थ पंचम गुणस्थानवर्ती जीवोंके अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्वके उदयसे उत्पन्न होनेवाला पत्थरकी रेखा आदिके समान राग आदिका अभाव होता है। पंचम गुणस्थानवर्ती जीवोंके अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभके उदयसे उत्पन्न होनेवाले पृथ्वीकी रेखा आदिके समान रागादिका अभाव होता है। इस ग्रन्थमें पंचम गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थानोंमें रहनेवाले वीतराग सम्यग्दृष्टियोंका मुख्य रूपसे ग्रहण है और सराग सम्यग्दृष्टियोंका गौण रूपसे ग्रहण है। यह व्याख्यान सम्यग्दृष्टिके कथनमें सर्वत्र जानना।' इस तरह अविरत सम्यग्दृष्टिको भी जो ऊपर ग्रन्थकारने विषयोंमें मग्न कहा है वह अपेक्षा भेदसे ही समझना चाहिए। उसके अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेसे विषयोंसे निवृत्तिका भाव नहीं होता। यद्यपि यह जानता है कि विषय हेय हैं। तथापि कर्मोदयसे प्रेरित होकर भोगता है ॥३॥

१. सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः,
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।
यस्माद् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात् सर्वतो रागयोगात् ॥—सम. कलश, १३६ श्लो. ।

अथ विद्याविद्ययोर्बीजोपदेशार्थमाह—

नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः ।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः ॥४॥

पशूयन्ते—हिताहितविवेकविकलतया पशव इवाचरन्ति । यदाहुः—

'आहारनिद्रा-भय-मैथुनानि सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥' [ ] ॥४॥

इस प्रकार सागारोंका लक्षण कहकर अब उनकी विषयोंमें प्रवृत्ति होने और नहीं होनेके मूल कारण जो अज्ञान और ज्ञान है, उस अज्ञान और ज्ञानके बीज मिथ्यात्व और सम्यक्त्वके प्रभावको कहते हैं—

जिनका चित्त मिथ्यात्वसे ग्रस्त है, वे मनुष्य होते हुए भी पशुके समान आचरण करते हैं। और जिनकी चेतना सम्यग्दर्शनके द्वारा प्रतीतिके योग्य हो गयी है अर्थात् सम्यग्-दृष्टी जीव पशु होते हुए भी मनुष्यके समान आचरण करते हैं ॥४॥

विशेषार्थ—पशुओंको हित-अहितका विवेक नहीं होता। और मनुष्य प्रायः विचार-शील होते हैं। मिथ्यात्व कहते हैं विपरीत भावको अर्थात् जिस वस्तुका जैसा स्वरूप है उसको वैसा न मानकर उससे उल्टा मानना विपरीत अभिनिवेश है। इसे ही मिथ्यात्व कहते हैं। अतः मिथ्यादृष्टि मनुष्य मनुष्य होते हुए भी हित-अहितके विचारसे शून्य होनेके कारण पशुके समान आचरण करते हैं। लोक व्यवहारमें दक्ष होते हुए भी आत्माके हित-अहितका विचार उन्हें नहीं होता। इसके विपरीत सम्यक्त्वसे जिनकी चेतना व्यक्त होती है वे जातिसे पशु होते हुए भी मनुष्योंके समान हित-अहितके विचारमें चतुर होते हैं। अर्थात् सम्यक्त्वके माहात्म्यसे पशु भी हेय और उपादेय तत्त्वके ज्ञाता हो जाते हैं फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है। यहाँ पशुसे संज्ञी ही लेना चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शन संज्ञी पंचेंद्रिय जीवोंको ही होता है। आगममें कहा है कि भव्य पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव कालादि लब्धिके होनेपर, जब उसके संसार परिभ्रमणका काल अर्धपुद्गल परावर्त प्रमाण शेष रहता है तब एक अन्तर्मुहूर्तमें मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभके अन्तरकरण रूप उपशमसे सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। यह सम्यग्दर्शन आत्माका तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप परिणाम है। इसके प्रकट होते ही आत्मामें प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण आते हैं। रागादि दोषोंसे चित्तवृत्तिके हटनेको प्रशम[1] कहते हैं। शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक कष्टोंसे भरे संसारसे भयभीत होनेको संवेग[2] कहते हैं। सब प्राणियोंके प्रति चित्तके दयालु होनेको अनुकम्पा[3] कहते हैं। मुक्तिके लिए प्रयत्न-शील पुरुषका चित्त आप्त वीतराग देव, उनके द्वारा उपदिष्ट श्रुत, व्रत और तत्त्वके विषयमें 'ये ऐसे ही हैं' इस प्रकारके भावसे युक्त हो तो उसे आस्तिक्य[4] कहते हैं। इन गुणोंसे जीवको आत्माकी प्रतीति होती है और उसीसे उसके भावोंमें यथार्थता आती है ॥४॥

१. 'यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिबर्हणम् । तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समन्ताद्व्रतभूषणम् ॥
२. शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रभवाद्भवात् । स्वप्नेन्द्रजालसंकल्पाद्भीतिः संवेग उच्यते ॥
३. सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः । धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते ॥
४. आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंयुतम् । आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं युक्तं युक्तिधरेण वा'॥

—सोम. उपा., २२८-२३१ श्लो.।

अथ मिथ्यात्वस्य त्रिविधस्याप्यनुभावमुपमानैरनुभावयति—

केषांचिदन्धतमसायतेऽगृहीतं ग्रहायतेऽन्येषाम् ।
मिथ्यात्वमिह गृहीतं शल्यति सांशयिकमपरेषाम् ॥५॥

केषांचित्—एकेन्द्रियादिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तानाम् । अन्धतमसायते—निबिडान्धकारवदाचरति, घोराज्ञानविवर्तहेतुत्वात् । ग्रहायते—विविधविकारकारित्वात् । अन्येषां—संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणाम् । गृही [—तं परोपदेशादुपात्तमतत्त्वाभिनिवेशलक्षणं चिह्नीकृतम् । तथा शल्यति-बहुदुःख–] हेतुत्वाच्चरतान्तः (च्छरीरान्तः) प्रविष्टकाण्डादिवदाचरति । अपरेषां—इन्द्राचार्यादीनाम् ॥५॥

इस प्रकार सामान्यसे मिथ्यात्वका प्रभाव बताकर अब उसके तीनों ही भेदोंका प्रभाव उपमानके द्वारा बतलाते हैं—

इस संसारमें किन्हीं एकेन्द्रियोंसे लेकर संज्ञिपंचेन्द्रियपर्यन्त जीवोंका अगृहीत मिथ्यात्व घने अन्धकारके समान काम करता है। किन्हीं संज्ञिपंचेन्द्रिय जीवोंका गृहीत मिथ्यात्व भूतके आवेशकी तरह कार्य करता है। और किन्हीं इन्द्राचार्य आदिका संशय मिथ्यात्व शरीरमें घुसे काँटे आदिकी तरह कार्य करता है ॥५॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शनके भेद आगममें दो भी कहे हैं, तीन भी कहे हैं और पाँच भी कहे हैं। सर्वार्थसिद्धि (८।१) में दो और पाँच भेद कहे हैं। दो भेद हैं—नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक। और पाँच भेद हैं—एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञान। किन्तु भगवती आराधना (गा. ५६) में मिथ्यात्वके तीन भेद कहे हैं—संशय, अभिगृहीत और अनभिगृहीत। नैसर्गिक मिथ्यात्वको ही अनभिगृहीत या अगृहीत कहते हैं। जो मिथ्यात्व पर-के उपदेशके बिना अनादिकालसे मिथ्यात्वकर्मका उदय होनेसे चला आता है वह नैसर्गिक या अगृहीत है। मिथ्यात्वका अर्थ है तत्त्वोंमें अरुचिरूप जीवका परिणाम। यह अगृहीत मिथ्यात्व एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञिपंचेन्द्रिय जीवों तक पाया जाता है। इसकी उपमा गहन अन्धकारसे दी है। जैसे घने अन्धकारमें कुछ भी दिखाई नहीं देता, वैसे ही जन्म-जन्मान्तरसे मिथ्यात्वमें पड़े हुए जीवोंको घोर अज्ञान छाया रहता है। बेचारे एकेन्द्रिय आदिमें तो समझनेकी शक्ति ही नहीं होती। जिन पंचेन्द्रिय संज्ञी मनुष्योंमें समझ होती है वे भी नहीं समझते। बल्कि दूसरोंको भी उलटी पट्टी पढ़ाते हैं। इस तरह परोपदेशसे ग्रहण किये गये मिथ्यात्वको गृहीत कहते हैं; क्योंकि परके उपदेशको ग्रहण करनेकी शक्ति संज्ञीपंचेन्द्रियोंमें ही होती है इसलिए गृहीत मिथ्यात्व संज्ञीपंचेन्द्रियोंके ही होता है। इसकी उपमा भूतावेशसे दी है। जैसे किसीके सिर भूत आता है तो वह आदमी खूब उछलता, कूदता और अनेक प्रकारकी विडम्बनाएँ करता है, इसी तरह मनुष्य भी दूसरेके मिथ्या उपदेशसे प्रभावित होकर उसे फैलानेकी अनेक चेष्टाएँ करता है और उसपर समझानेका कोई प्रभाव नहीं होता। तीसरा संशय मिथ्यात्व तो नामसे ही स्पष्ट है। अन्धेरेमें पड़ी वस्तुको देखकर यह साँप है या रस्सी इस तरहके भ्रमको संशय कहते हैं। इसी तरह यह तत्त्व है या अतत्त्व है, सच्चा धर्म है या मिथ्या, इस प्रकारके अनिर्णयकी स्थितिको संशय मिथ्यात्व कहते हैं। इसकी उपमा शरीरमें घुसे कील-काँटेसे दी है। जैसे शरीरमें घुसा काँटा सदा तकलीफ देता है इसी तरह सन्देहमें पड़ा मिथ्यादृष्टि कुछ भी निर्णय न कर पानेके कारण मन ही मनमें दुविधामें पड़ा कष्ट उठाता है। इस तरह मिथ्यात्वके तीन प्रकार हैं ॥५॥

अन्तरङ्गबहिरङ्गनिमित्तद्वैतसंपन्नतामनुवर्णयति—

आसन्नभव्यताकर्महानि-संज्ञित्व-शुद्धिभाक् ।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥६॥ [1]

कर्महानिः—मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीनामुपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा । शुद्धिः—विशुद्धिपरिणामः । देशनादि—आदिशब्देन जिनमहिम-जिनप्रतिबिम्बदर्शनादि ॥६॥

आगे अविद्या या अज्ञानके मूल कारण मिथ्यात्वको जड़से नष्ट करनेमें समर्थ सम्यग्दर्शनरूप परिणामको उत्पन्न करनेवाली सामग्री बतलाते हैं—

निकटभव्यता, कर्महानि, संज्ञीपना तथा विशुद्धि परिणामवाला वह जीव जिसका मिथ्यात्व सच्चे गुरुके उपदेश आदिके द्वारा अस्त हो गया है, सम्यक्त्वको प्राप्त होता है ॥६॥

विशेषार्थ—आगममें पाँच लब्धियोंके द्वारा सम्यक्त्वकी प्राप्तिका विधान है—क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि, और करणलब्धि। [2] इनमें-से प्रथम चार लब्धियाँ सामान्य हैं, भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि जीवोंके भी होती हैं। किन्तु अन्तिम करणलब्धि सम्यक्त्व होते समय ही होती है। जीवस्थानचूलिका आठके तीसरे सूत्रकी धवलामें कहा है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्वके प्राप्त करने योग्य जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है यह कथन तो औपचारिक है। यथार्थमें तो अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। इसीका नाम करणलब्धि है। उक्त सूत्रमें केवल काललब्धिका ही निर्देश है। और उसीका अनुकरण सर्वार्थसिद्धि (२।३)में किया है। उसमें भी केवल काललब्धि आदिके निमित्तसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति बतलायी है। लिखा है कि कर्मसे वेष्टित भव्य जीव अर्धपुद्गल परावर्तकाल शेष रहनेपर प्रथम सम्यक्त्व ग्रहणके योग्य होता है। यदि उसका काल अधिक हो तो नहीं। इसीको ऊपर 'आसन्न भव्यता' शब्दसे कहा है। उसीको निकट भव्य कहते हैं। सम्यक्त्वके प्रतिबन्धक मिथ्यात्व आदि कर्मोंके यथायोग्य उपशम, क्षयोपशम और क्षयको कर्महानि शब्दसे कहा है। यदि सम्यक्त्वके प्रतिबन्धक मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभका उपशम हो तो औपशमिक सम्यक्त्व, क्षयोपशम हो तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षय हो तो क्षायिक सम्यक्त्व होता है। औपशमिक सम्यक्त्वके दो भेद हैं—प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम। उपशम श्रेणीपर चढ़नेवाले वेदक सम्यग्दृष्टि जीव जो उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं उसका नाम द्वितीयोपशम सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्वपूर्वक ही होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व मिथ्यादृष्टिको ही होता है और वह भी पर्याप्तक अवस्थामें ही होता है। अपर्याप्त जीवके प्रथमोपशम सम्यक्त्व होनेका विरोध है। वह जीव देव या नारकी या तिर्यंच या मनुष्य हो सकता है। चारों गतियोंमें उसके होनेमें कोई विरोध नहीं है। किन्तु वह संज्ञी होना चाहिए। संज्ञा [3] कहते हैं शिक्षा क्रिया,

---

१. 'उक्तं च—आसन्नभव्यता-कर्महानि-संज्ञित्व-शुद्धपरिणामाः ।
सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च ॥'—सोम. उपा., २२४ श्लो. ।

२. 'खय उवसमिय विसोही देसण पाओग्ग करणलद्धीए
चत्तारि य सामण्णा करणं पुण होइ सम्मत्ते ॥'—धवला, पु. ६, पृ. २०५। जी. गो. ६५० गा. ।

३. मनोऽवष्टम्भतः शिक्षाक्रियालापोपदेशवित् । येषां ते संज्ञिनो मर्त्या वृषकीरगजादयः ॥ [ ]

अथ इह दुष्षमायां सदुपदेष्टृणां प्रविरलत्वमनुशोचति—

कलिप्रावृषि मिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह ।
खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित् ॥७॥

मिथ्यादिशः—दुरुपदेशाः । दिक्षु—सदुपदेशेषु ककुप्सु च । इह—भरतक्षेत्रे । क्वचित् क्वचित् । उक्तं च—

'विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरामुद्दण्डवाग्डम्बराः,
शृङ्गारादिरसैः प्रमोदजनकं व्याख्यानमातन्वते ।
ये ते च प्रतिसद्म सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणो
येभ्यस्तत्परमात्मतत्त्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभाः ॥ [पद्म. पञ्च. १।१११] ॥७॥

आलाप और उपदेशको ग्रहण कर सकनेकी योग्यताको। जिसमें वह योग्यता हो उसे संज्ञी कहते हैं। शुद्धि कहते हैं विशुद्ध परिणामको। जीवका जो परिणाम साता आदि कर्मोंके बन्धमें निमित्त होता है और असाता आदि अशुभ कर्मोंके बन्धका विरोधी है उसे विशुद्धि कहते हैं। ये सब सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके अन्तरंगका कारण हैं। बाह्य कारण है देशना आदि। छह द्रव्य और नौ पदार्थोंके उपदेशको देशना कहते हैं। देशना देते हुए आचार्य आदिकी प्राप्ति और उपदिष्ट अर्थको ग्रहण, धारण और विचारनेकी शक्तिकी प्राप्तिको देशनालब्धि कहते हैं। 'आदि' शब्दसे पूर्वजन्मका स्मरण, जिनप्रतिमाका दर्शन आदि बाह्य कारण लेना चाहिए। इन सब अन्तरंग और बाह्य कारणोंके समूहके द्वारा जिसका दर्शन मोहनीय कर्म उपशम आदि अवस्थाको प्राप्त हुआ है वह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है ॥६॥

ऊपर सम्यक्त्वकी सामग्रीमें सच्चे गुरुके उपदेशको आवश्यक कहा है। किन्तु इस समय यहाँ सच्चे उपदेष्टाओंके कमी पर खेद प्रकट करते हुए ग्रन्थकार उनकी दुर्लभता दिखलाते हैं—

बड़े खेदकी बात है कि इस भरत क्षेत्रमें पंचमकाल रूपी वर्षा ऋतुमें सदुपदेशरूपी दिशाओंके मिथ्या उपदेशरूपी मेघोंसे ढक जानेपर जुगनुओंकी तरह सच्चे गुरु कहीं-कहींपर ही दिखाई देते हैं। अर्थात् जैसे वर्षाकालमें दिशाओंके मेघोंसे आच्छादित होनेपर सूर्य वगैरहके प्रकाशके अभावमें किसी-किसी स्थानपर जुगनू चमकते हुए देखे जाते हैं। वैसे ही यहाँ पंचम कालमें किसी-किसी आर्यदेशमें सच्चे उपदेशक गुरु दिखाई देते हैं। चतुर्थ कालकी तरह केवली और श्रुतकेवली कहीं भी नहीं हैं ॥७॥

विशेषार्थ—पद्मनन्दि पंचविंशतिकामें वर्तमान कालकी स्थितिका चित्रण करते हुए कहा है—'विद्वत्ताके अभिमानसे सभामें अत्यन्त उद्दण्ड वचनोंका आडम्बर रचनेवाले जो व्याख्याता शृंगार आदि रसोंके द्वारा आनन्दको उत्पन्न करनेवाला व्याख्यान विस्तारते हैं वे तो घर-घरमें पाये जाते हैं। किन्तु जिनसे परमात्म तत्त्व विषयक ज्ञान प्राप्त हो सकता है वे अतिदुर्लभ हैं।' अतः इस कालमें जो परमात्म तत्त्व विषयक व्याख्यान करते हैं वे आदरास्पद हैं और उनसे लाभ उठाना चाहिए ॥७॥

अथात्रेदानीं भद्रकाणामपि पुरुषाणां दुर्लभत्वमालोचयति—

नाथामहेऽद्य भद्राणामप्यत्र किमु सद्दृशाम् ।
हेम्न्यलभ्ये हि हेमाश्मलाभाय स्पृहयेन्न कः ॥८॥

नाथामहे—भद्रका अपि जीवा भूयासुरित्याशास्महे । 'आशिषि नाथ' इत्यात्मनेपदम् । अलभ्ये—लब्धुमशक्ये ॥८॥

अथ भद्रकं लक्षयित्वा तस्यैव द्रव्यतया देशनार्हत्वमाह—

कुधर्मस्थोऽपि सद्धर्मं लघुकर्मतयाऽद्विषन् ।
भद्रः स देश्यो द्रव्यत्वान्नाभद्रस्तद्विपर्ययात् ॥९॥

अपि—न केवलमुभयोर्मध्यस्थ इत्यर्थः । अद्विषन्—द्वेषविषयमकुर्वन् । द्रव्यत्वात्—आगामिसम्यक्त्वगुणयोग्यत्वात् । अभद्रः—कुधर्मस्थः । सद्धर्मं गुरुकर्मतया द्विषन्नित्यर्थः । तद्विपर्यासात्—आगामिसम्यक्त्वगुणयोग्यत्वाभावात् ॥९॥

इस भरत क्षेत्रमें पंचमकालके प्रभावसे उपदेष्टा गुरुओंकी तरह उपदेश सुननेवालोंके चित्त भी दर्शनमोहके उदयसे आक्रान्त होनेसे वे भी उपदेशके पात्र नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें भद्र पुरुषोंसे यह आशा करते हैं कि वे उपदेशके पात्र होवें—

इस समय इस क्षेत्रमें हम भद्र पुरुषोंसे भी आशा करते हैं कि वे उपदेशके योग्य हों। तब सम्यग्दृष्टियोंकी तो बात ही क्या है; क्योंकि सुवर्णके अप्राप्य होनेपर सुवर्णपाषाण कौन प्राप्त करना नहीं चाहता ॥८॥

विशेषार्थ—आजके समयमें जैसे सच्चे उपदेष्टा दुर्लभ हैं वैसे ही सच्चे श्रोता भी दुर्लभ हैं। श्रोताओंका मन भी मिथ्यात्वसे ग्रस्त है। ऐसी स्थितिमें यदि भद्र भी श्रोता मिले तो उत्तम है। और यदि सम्यग्दृष्टि श्रोता मिले तब तो अतिउत्तम है। किन्तु उनके अभावमें शास्त्रचर्चा ही बन्द कर देना उचित नहीं है। सम्यग्दृष्टि सुवर्णके तुल्य है तो भद्र सुवर्णपाषाणके तुल्य है। सुवर्णपाषाण उसे कहते हैं जिसमें-से पाषाणको अलग करके सोना निकाला जाता है। तो जो भद्र है वह कल सम्यग्दृष्टी बन सकता है। अतः उसे धर्मोपदेश करना चाहिए ॥८॥

आगे भद्रका लक्षण कहकर उसे ही द्रव्यरूपसे उपदेशके योग्य बतलाते हैं—

मिथ्याधर्ममें आसक्त होते हुए भी समीचीन धर्मसे द्वेष रखनेका कारण जो मिथ्यात्व कर्म है, उसके उदयकी मन्दतासे जो समीचीन धर्मसे द्वेष नहीं करता, उसे भद्र कहते हैं। वह उपदेशका पात्र है, क्योंकि उसमें भविष्यमें सम्यक्त्व गुणके प्रकट होनेकी योग्यता है। इससे विपरीत होनेसे अर्थात् आगामीमें सम्यक्त्व गुण प्रकट होनेकी योग्यता न होनेसे अभद्र पुरुष उपदेशका पात्र नहीं है ॥९॥

विशेषार्थ—मिथ्या धर्मसे प्रेम रखनेवाले भी दो प्रकारके होते हैं—एक वे जो समीचीन धर्मसे द्वेष नहीं रखते। उन्हें ही भद्र कहते हैं। और जो समीचीन धर्मसे द्वेष रखते हैं उन्हें अभद्र कहते हैं। भद्र उपदेशका पात्र है क्योंकि उसके मिथ्यात्वके उदयकी मन्दता है तभी वह समीचीन धर्म सुनानेपर सुनता है। किन्तु अभद्र तो सुनना ही नहीं चाहता। उसके अभी तीव्र मिथ्यात्वका उदय है। अतः जिन्होंने जैनकुलमें जन्म लिया है वे ही केवल उपदेशके पात्र नहीं हैं। विधर्मी, मन्दकषायी जीवों को भी धर्म सुनाना चाहिए। ऊपर जो 'कुधर्मस्थोऽपि' में अपि शब्द दिया है उसका यह अभिप्राय है कि जो पुरुष समीचीन धर्म

अथ आप्तोपदेशसंपादितशुश्रूषादिगुणः सम्यक्त्वहीनोऽपि तद्वानिव सद्भूतव्यवहारभाजामाभासत इति निदर्शनेन प्रव्यक्तीकरोति—

शलाकयेवाप्तगिराऽऽप्तसूत्रप्रवेशमार्गो मणिवच्च यः स्यात् ।
हीनोऽपि रुच्या रुचिमत्सु तद्वद् भूयादसौ सांव्यवहारिकाणाम् ॥१०॥

सूत्रं—परमागमस्तन्तुश्च । प्रवेशमार्गः—शुश्रूषादिगुणः छिद्रं च । हीनोऽपि—रिक्तोऽल्पो वा । रुच्या—शुद्धया दीप्त्या च । रुचिमत्सु—सुदृष्टिषु दीप्तिमन्मणिषु च मध्ये । तद्वत्—रुचिमानिव । भायात्—आभासेत् । सांव्यवहारिकाणां—सुनयप्रयोक्तृणाम् ॥१०॥

अथ सागारधर्मचरणाधिकारिणमगारिणं लक्षयितुमाह—

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भज-
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः ।
युक्ताहारविहारआर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ॥११॥

और मिथ्याधर्ममें मध्यस्थ है वह भी उपदेशका पात्र है। उसे भी धर्ममें व्युत्पन्न बनाना चाहिए ॥९॥

आगे कहते हैं कि जिनेन्द्रके उपदेशसे सेवा आदि सद्गुणोंको प्राप्त करनेवाला भद्र पुरुष सम्यक्त्वसे हीन होनेपर सद्व्यवहारी पुरुषोंको सम्यग्दृष्टीकी तरह मालूम होता है—

जैसे मणि वज्रकी सुईके द्वारा बींधी जानेपर धागेके मार्गका प्रवेश पाकर जब अन्य मणियोंमें प्रविष्ट हो जाती है तो उसमें चमक कम होनेपर भी चमकदार मणियोंमें मिलकर वह भी चमकदार दीखने लगती है। उसी तरह जो भद्र पुरुष जिन भगवान्की वाणीके द्वारा ऐसा हो जाता है कि उसके चित्तमें परमागमके वचन प्रवेश करने लगते हैं, वह भले ही श्रद्धासे रहित हो, किन्तु सुनयके प्रयोगमें कुशल व्यवहारी पुरुषोंको सम्यग्दृष्टियोंके मध्यमें उन्हींकी तरह लगता है ॥१०॥

विशेषार्थ—भद्र पुरुषको आगामीमें सम्यक्त्व गुणके योग्य कहा है। जब वह परमागमका उपदेश श्रवण करने लगता है तो उसके हृदयमें वह उपदेश अपनी जगह बनाना प्रारम्भ कर देता है। उसके मनमें उसके प्रति जिज्ञासा होती है। भले ही उसकी इसपर आज श्रद्धा न हो किन्तु नय दृष्टिसे वह मनुष्य भविष्यमें सम्यग्दृष्टि होनेकी सम्भावनासे सम्यग्दृष्टि ही माना जाता है ॥१०॥

इस प्रकार उपदेश देने और सुननेवालोंकी व्यवस्था करनेके बाद सागार धर्मका आचरण करनेवाले गृहस्थका लक्षण कहते हैं—

न्यायपूर्वक धन कमानेवाला, गुणों, गुरुजनों और गुणोंसे महान् गुरुओंको पूजनेवाला, आदर, सत्कार करनेवाला, परनिन्दा, कठोरता आदिसे रहित प्रशस्त वाणी बोलनेवाला, परस्परमें एक दूसरेको हानि न पहुँचाते हुए धर्म, अर्थ और कामका सेवन करनेवाला, धर्म,

१. न्यायसंपन्नविभवः शिष्टाचारप्रशंसकः । कुलशीलसमैः सार्द्धं कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः ॥
पापभीरुः प्रसिद्धं च देशाचारं समाचरन् । अवर्णवादी न क्वापि राजादिषु विशेषतः ॥

न्यायोपात्तधनः—स्वामिद्रोह-मित्रद्रोह-विश्वसितवञ्चन-चौर्यादिगर्ह्यार्थोपार्जनपरिहारेणार्थोपार्जनोपायभूतः स्वस्ववर्णानुरूपः सदाचारो न्यायस्तेनोपात्तमुपार्जितमात्मसात्कृतं धनं विभवो येन स तथोक्तः। न्यायोपार्जितं हि वित्तमिह लोकहिताय स्यादशङ्कनीयतया स्वयं तत्फलोपभोगान्मित्रस्वजनादौ संविभागकरणाच्च। यदाह—

'सर्वत्र शुचयो धीराः सुकर्मबलगर्विताः।
स्वकर्मनिहतात्मानः पापाः सर्वत्र शङ्किताः॥' [ ]

परलोकहिताय च तत्स्यात् सत्पात्रेषु विनियोगाद्दीनादौ करुणया वितरणाच्च। अन्यायोपात्तं तु धनं लोकद्वयेऽप्यहितार्थमेव भवेत्। इह लोके हि दुराचारचारिणो वधबन्धादयो दोषाः, परलोके च नरकादिगमनादयः सुप्रसिद्धाः। अन्यायोपार्जितं च वित्तं न चिरं तिष्ठेत्। किं तर्हि ? प्राच्येन द्रविणैश्च सह प्रणश्येत। यदाहुः—

अर्थ और कामसेवनके योग्य पत्नी, गाँव, नगर और मकानवाला, लज्जाशील, शास्त्रानुसार खानपान और गमनागमन करनेवाला, सदाचारी पुरुषोंकी संगति करनेवाला, विचारशील, परके द्वारा किये गये उपकारको माननेवाला, जितेन्द्रिय, धर्मकी विधिको प्रतिदिन सुननेवाला, दयालु और पापभीरु पुरुष गृहस्थ धर्मको पालन करनेमें समर्थ होता है ॥११॥

विशेषार्थ—प्रथम श्लोकको टीकामें ही ग्रन्थकारने कहा है कि जो मुनिव्रत धारण करनेकी इच्छा रखते हुए भी अपनी कमजोरी और परिस्थितिके कारण उसे धारण करनेमें असमर्थ हैं वे सागारधर्मका पालन करते हैं। और जिन्हें मुनिधर्मकी इच्छा ही नहीं है उनका सागारधर्म भी पूर्ण नहीं है। इससे स्पष्ट है कि सागारधर्मका पालन करना भी कितना कठिन है। उसके पालनके लिए जिन बातोंकी आवश्यकता है उन्हें यहाँ बतलाते हैं। सबसे प्रथम न्यायपूर्वक धन कमाना आवश्यक है। यदि नौकरी करते हैं तो मालिकको धोखा देकर धन कमाना अन्याय है। यदि किसी मित्रके साथ कार-बार करते हैं तो मित्रके साथ धोखा करना अन्याय है। इसी तरह जो अपना विश्वास करता है उसके साथ विश्वासघात करना अन्याय है। और चोरीसे धन कमाना तो अन्याय है ही। इन सब अन्यायोंसे बचकर जो सदाचार है वही न्याय है। इस न्यायसे जो धन कमाता है वही श्रावकधर्मके पालनका यथार्थमें अधिकारी है। क्योंकि न्यायसे अर्जित धन इस लोकमें हितकर होता है। उसके देन-लेनमें किसी प्रकारका भय नहीं होता। आनन्दपूर्वक उसका उपभोग किया जा सकता और अपने बन्धु-बान्धवों तथा इष्ट-मित्रों को दिया जा सकता है। तथा परलोकके लिए

अनतिव्यक्तगुप्ते च स्थाने सुप्रातिवेश्मिके। अनेकनिर्गमद्वारविवर्जितनिकेतनः॥
कृतसंगः सदाचारैर्मातापित्रोश्च पूजकः। त्यजन्नुपप्लुतं स्थानमप्रवृत्तश्च गर्हिते॥
व्ययमायोचितं कुर्वन् वेषं वित्तानुसारतः। अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः शृण्वानो धर्ममन्वहम्॥
अजीर्णे भोजनत्यागी काले भोक्ता च सात्म्यतः। अन्योन्याप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधयन्॥
यथावदतिथौ साधौ दीने च प्रतिपत्तिकृत्। सदानभिनिविष्टश्च पक्षपाती गुणेषु च॥
अदेशाकालयोश्चर्यां त्यजन् जानन् बलाबलम्। वृत्तस्थज्ञानवृद्धानां पूजकः पोष्यपोषकः॥
दीर्घदर्शी विशेषज्ञः कृतज्ञो लोकवल्लभः। सलज्जः सदयः सौम्यः परोपकृतिकर्मठः॥
अन्तरङ्गारिषड्वर्गपरिहारपरायणः। वशीकृतेन्द्रियग्रामो गृहिधर्माय कल्पते।

—योगशास्त्र १।४७–५६।

१. स्वकर्म।

२. कुकर्म,—योगशा. टी. १।४७।

'अन्यायोपार्जितं वित्तं दश वर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति ॥'
'पापेनैवार्थरागान्धः फलमाप्नोति यत्क्वचित्।
बडिशामिषवत्तत्तमविनाश्य न जीर्यति ॥' [ ]

न्यायनिष्ठं च तिर्यञ्चोऽपतिष्ठन्ते। अन्यायपरस्तु सोदरैरपि दूरे क्रियेत। यदाह—

'यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥' [ ]

यद्यपि च कस्यचित्पापानुबन्धिपुण्यकर्मवशादिह लोके विपन्नोपलभ्यते तथापि परलोके साऽवश्यं भाविन्येव। तथा चाह—

'नालोकयन्ति पुरतः परलोकमार्गं लीलातपत्रपटलावृतदृष्टयो ये।
तेषामगाधनरकान्तविमोहितानां घोरान्धकूपकुहरे निकटो निपातः ॥' [ ]

न्याय एव च परमार्थतोऽर्थोपार्जनोपायोपनिषत्। यदाह—

'निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाण्डजाः।
शुभकर्माणमायान्ति विवशाः सर्वसंपदः ॥' [ ]

न्यायोपार्जितमेव च वित्तं पुरुषार्थसिद्धये प्रभवेत्। यदाह—

'पैशून्य-दैन्य-दम्भस्तेयानृतपातकादिपरिहारात्।
लोकद्वयधर्मार्थं .... ॥' [ ]

सत्पात्रोंको तथा दीन-दुखियोंको दान किया जाता है। अन्यायका धन तो दोनों ही लोकोंमें अहितकारी होता है। इस लोकमें लोकविरुद्ध कार्य करनेसे सरकारसे दण्ड मिलता है और परलोकमें दुर्गति मिलती है। इसके सिवाय अन्यायसे कमाया हुआ धन अधिक समय तक नहीं ठहरता, बल्कि पूर्वसंचित द्रव्यको भी साथमें ले जाता है। कहा है—'अन्यायसे उपार्जित धन दस वर्ष तक ठहरता है। ग्यारहवाँ वर्ष लगते ही मूलके साथ नष्ट हो जाता है। जैसे मछलीको फाँसनेके काँटेमें लगा मांस अपने साथ मछलीको भी ले मरता है उसी तरह धनके रागसे अन्धा हुआ मनुष्य अपने पापसे ही उस फलको पाता है।' न्यायी मनुष्यका पशु-पक्षी भी विश्वास करते हैं। अन्यायीसे तो सहोदर भाई भी दूर हो जाता है। कहा है—'न्यायीकी सहायता पशु-पक्षी भी करते हैं और कुमार्गगामीको सहोदर भाई भी छोड़ देता है।'

यद्यपि किसी-किसी अन्यायीके पापानुबन्धी पुण्यकर्मके उदयसे इस लोकमें विपत्ति नहीं देखी जाती तथापि परलोकमें विपत्ति अवश्य आती है। कहा है—'अपनी दृष्टि विलास-लीला पटलसे आच्छादित होनेके कारण जो सामने स्थित परलोकके मार्गको नहीं देख पाते उन मुग्धबुद्धियोंका घोर अन्धकूपरूपी नरकमें पतन समीप ही है।'

परमार्थसे धन कमानेका उपाय न्याय ही है। कहा है—जैसे मेढक जलाशयमें और मछलियाँ भरे तालाबमें आकर बसती हैं वैसे ही समस्त सम्पदा विवश होकर शुभकर्मका अनुसरण करती हैं। न्यायसे उपार्जित धन ही पुरुषार्थकी सिद्धिमें सहायक होता है। वैभव गृहस्थाश्रममें प्रधान कारण है, इसलिए सर्वप्रथम उसीका निर्देश किया है ॥१॥

२. अपना और पराया उपकार करनेवाले सौजन्य, उदारता, दानशीलता, स्थिरता, प्रेमपूर्वक वार्तालाप करना आदि आत्मधर्मोंको गुण कहते हैं। तथा लोकापवादसे

विभववत्त्वं च गार्हस्थ्ये प्रधानकारणमिति प्रागस्योपादानम् । यजन् गुणगुरून्—[गुणाः–] सौजन्यौदार्यदाक्षिण्य-स्थैर्यप्रियपूर्वकप्रथमाभिभाषणादयः स्वपरोपकारिण आत्मधर्माः । तथा—

'लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः ।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः ॥' [ ]

इत्यादि शिष्टाचरणं च । तान् यजन्—पूजयन् । तत्र सौजन्यादीनां पूजा बहुमानप्रशंसा साहाय्यकरणादिना अनुकूला प्रवृत्तिः ।........तिनो हि जीवा अवंध (–ध्य) पुण्यबीजनिषेकेणेहामुत्र....संपदमारोहन्ता ।

शिष्टाचारस्य च प्रशंसैव पूजा । यथा—

'विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् ।
असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥' [ ]

तथा गुरवो मातापित्राचार्याश्च । तान् यजन् । तत्र मातापित्रोः पूजा त्रिसन्ध्यं प्रणामकरणेन लोकद्वयहितानुष्ठाननियोजनेन सकलव्यापारेषु तदाज्ञया प्रवृत्त्या वर्णगन्धादिप्रधानस्य पुष्पफलादिवस्तु[1]नःउपटौकनेन तद्भोगोप[2]योगे च नवान्नादीनामन्यत्र तदनुचितादिति । आचार्यपूजा तु विनयवर्णने व्याख्याता । व्याख्यास्यते च 'सेवेत गुरून्' इत्यत्र । मनुरप्याह—

'यन्मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥
उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्येभ्यः शतं पिता ।
सहस्रं तु पितुर्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥
आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥' [मनुस्मृ०]

डरना, दीनोंके उद्धारमें आदरभाव, कृतज्ञता, उदारता आदिको सदाचार कहते हैं। इनका बहुमान करना, प्रशंसा करना, इन गुणवालोंकी सहायता करने आदिके रूपमें अनुकूल प्रवृत्तिको पूजा कहते हैं। शिष्टाचारकी प्रशंसा ही उसकी पूजा है। यथा—'घोर विपत्तिमें स्थिरता, महान् पुरुषोंके पदोंका अनुसरण, न्यायपूर्वक आजीविका, प्राण जानेपर भी मलिनताका न आना, दुर्जनोंकी अभ्यर्थना न करना, गरीब मित्रसे भी याचना न करना, यह सज्जन पुरुषोंका विषम असिधाराव्रत किसने कहा है।

तथा माता, पिता, आचार्य आदि गुरु कहे जाते हैं। गृहस्थको उनका भी पूजक होना चाहिए। उनमें-से माता पिताकी पूजा तीनों सन्ध्याओंमें उन्हें प्रणाम करना, इस लोक और परलोकमें हितकारी अनुष्ठानोंमें लगना, उनकी आज्ञासे ही सब काम करना, घरके लिए आवश्यक वर्ण-गन्ध-पुष्प-फल आदि तथा नया अन्न आदि लाना, यह सब उनकी पूजा है। आचार्यपूजाका कथन तो पूर्वमें विनयके वर्णनमें किया जा चुका है। आगे भी कहेंगे। मनुने भी कहा है—'सन्तानको जन्म देनेमें माता-पिता जो कष्ट सहते हैं उसका मूल्य सैकड़ों वर्षोंमें भी नहीं चुकाया जा सकता। उपाध्यायसे दस गुणा आचार्यका, आचार्यसे सौ गुना पिताका और पितासे हजार गुना माताका गौरव है। आचार्य, पिता,

१. वस्तुन उपढौ—यो. टी. १।४७ ।
२. तद्भोगे भोगेन चान्ना—यो. टी. ।

तथा गुणैः—ज्ञानसंयमादिभिर्गुरवो-महान्तो गुणगुरवस्तान् । यजन्—सेवाञ्जल्यासनाभ्युत्थानादिकरणेन मानयन् । ज्ञानसंयमसंपन्ना हि पूज्यमाना नियमात् कल्पद्रुमा इव सदुपदेशादिफलैः फलन्ति । गुणाश्च गुरवश्च गुणगुरवश्चेति विगृह्यैकशेषेण गुरवस्तान् । सद्गीः—सती प्रशस्ता परावर्णवादपारुष्यादिदोषरहिता गीर्वाग्यस्यासौ । परापवादो हि बहुदोषः । यदाह—

'परपरिभवपरिवादादात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म ।
नीचैर्गोत्रं प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्मोचम् ॥' [ ]

तत्त्यागश्च बहुगुणो । यदाह—

'यदिच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा ।
परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय ॥' [ ]

श्रीत्यादि । त्रिवर्गो धर्मार्थकामाः । तत्र 'यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः । यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः । यत आभिमानिकरसानुविद्धा सर्वेन्द्रियप्रीतिः सः कामः । तं त्रिवर्गमन्योन्यानुगुणं गुणमुपकारमनुगतं परस्परानुपघातकं भजन् सेवमानः । यदाह—

'यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनान्यायान्ति यान्ति च ।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥' [ ]

अत्रेदं चिन्त्यते—धर्मार्थयोरुपघातेन तादात्विकविषयसुखलुब्धो वनगज इव को नाम न भवत्यास्पदमापदाम् । न च तस्य धनं धर्मः शरीरं वा यस्य कामेऽत्यन्तासक्तिः । धर्मकामातिक्रमाद्धनमुपार्जितं परे अनुभवन्ति स्वयं तु परं पापस्य भाजनं सिंह इव सिन्धुरवधात् । अर्थकामातिक्रमेण च धर्मसेवा यतिनामेव धर्मो न गृहस्थानाम् । न च धर्मबाधया अर्थकामौ सेवेत । बीजभोजिनः कुटुम्बिन इव नास्त्यधार्मिकस्याऽऽयत्यां किमपि कल्याणम् । स खलु सुखी योऽमुत्र सुखाविरोधेनेह लोकसुखमनुभवति । एवमर्थबाधया धर्मकामौ सेवमानस्य

माता, बड़ा भाई इनकी अवमानना नहीं करना चाहिए।' तथा जो ज्ञान, संयम आदिसे महान् हैं उनकी सेवा, हाथ जोड़ना, उन्हें आसन देना, उनके सामने उठकर खड़े होना आदिसे सम्मान करना चाहिए। क्योंकि जो ज्ञान और संयमसे सम्पन्न हैं उनकी पूजा करनेपर नियमसे वे कल्पवृक्षके समान सदुपदेशरूप फल प्रदान करते हैं।

३. गृहस्थकी वाणी परनिन्दा, कठोरता आदि दोषोंसे रहित होना चाहिए, परके अपवादमें बहुत दोष है। कहा है—'दूसरेकी निन्दा और अपनी प्रशंसासे नीच गोत्र कर्मका ऐसा बन्ध होता है जो करोड़ों भवोंमें भी नहीं छूटता।' तथा उसके त्यागमें अनेक गुण हैं। कहा है—'यदि तू जगत्‌को एक ही कार्यके द्वारा वशमें करना चाहता है तो अपनी वाणीरूपी गौको परनिन्दारूपी धान्यको चरनेसे बचा'।

४. धर्म, अर्थ और कामको त्रिवर्ग कहते हैं। जिससे सांसारिक अभ्युदयपूर्वक मोक्षकी प्राप्ति होती है उसे धर्म कहते हैं। जिससे समस्त प्रयोजन सिद्ध होते हैं उसे अर्थ कहते हैं। और जिससे सब इन्द्रियोंकी तृप्ति होती है उसे काम कहते हैं। गृहस्थको इन तीनोंका ही सेवन इस प्रकार करना चाहिए कि एकसे दूसरेमें बाधा न आवे अर्थात् एक-एकका सेवन न करके तीनोंका ही अपने-अपने समयपर सेवन करना चाहिए। जो धर्म और अर्थकी परवाह न करके बनैले हाथीकी तरह विषयसुखमें आसक्त रहता है वह किन आपत्तियोंका शिकार नहीं होता। जिसकी कामसेवनमें अति आसक्ति होती है उसका धन, धर्म और शरीर नष्ट हो जाते हैं। जो धर्म और कामकी परवाह न करके केवल धन कमानेमें ही लगा रहता है उसके धनको दूसरे भोगते हैं और वह स्वयं पापका भाजन बनता है। इसी तरह धन और कामभोगकी

औपादिकत्वं[1] (?) । कामबाधया धर्मार्थौ सेवमानस्य । गार्हस्थ्याभावः स्यात् । एवं च तादात्विकमूलहरकदर्येषु धर्मार्थकामानामन्योन्याबाधा सुलभैव । तथाहि—

यः किमप्यसंचिन्त्योत्पन्नमर्थमपर्व(-व्ये)ति स तादात्विकः । यः पितृपितामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहरः । यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं संचिनोति न तु क्वचिदपि व्ययते स कदर्यः । तत्र तादात्विकमूलहरयोरर्थभ्रंशेन धर्मकामयोर्विनाशान्नास्ति कल्याणम् । कदर्यस्य त्वर्थसंग्रहो राजदायादतस्कराणां निधिर्न तु धर्मकामयोर्हेतुरिति । एतेन च त्रिवर्गबाधा गृहस्थस्य कर्तुमनुचितेति प्रतिपादितम् । यदा तु दैववशाद् बाधा संभवति तदोत्तर (–रोत्तर–) बाधायां पूर्वस्य पूर्वस्य बाधा रक्षणीया । तथाहि—कामबाधायां धर्मार्थयोर्बाधा रक्षणीया, तयोः सतोः कामस्य सुकरोत्पादत्वात् । कामार्थयोस्तु बाधायां धर्मो रक्षणीयः, धर्ममूलत्वादर्थकामयोः । उक्तं च—

'धर्मश्चेन्नावसीदेत कपोतेनापि[2] जीवता ।
आद्यो[3] ऽस्मीत्यवगन्तव्यं धर्मचिन्ता[4] हि साधवः ॥' [ ]

एतेन इदमपि सूक्तं संग्रहीतमेव—

'पादमायान्निधिं[5] कुर्यात्पादं वित्ताय खट्वयेत्[6] ।
धर्मोपभोगयोः पादं पादं भर्तव्यपोषणे ॥' [ ]

केचित्त्वाहुः—

'आयार्द्धं च नियुञ्जीत धर्मे समधिकं ततः ।
शेषेण शेषं कुर्वीत यत्नतस्तुच्छमैहिकम् ॥
आयव्ययमनालोच्य यस्तु वैश्रवणायते ।
अचिरेणैव कालेन सोऽत्र वै श्रव (-म-) णायते ॥' [ ]

परवाह न करके केवल धर्मसेवन करना तो मुनियोंका ही धर्म है गृहस्थोंका नहीं। किन्तु धर्ममें बाधा डालकर अर्थ और कामका सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि बीजके गेहूँको भी खा डालनेवाले किसानकी तरह अधार्मिक पुरुषका भविष्यमें अकल्याण ही होता है। सुखी वही होता है जो पारलौकिक सुखका विरोध न करते हुए इस लोकमें सुख भोगता है। इसी तरह धन कमानेकी चिन्ता न करके जो धर्म और कामका सेवन करता है वह कर्जदार हो जाता है। जो कामसेवनसे विमुख होकर केवल धर्म और अर्थका उपार्जन करता है उसका गार्हस्थ्य समाप्त हो जाता है। अतः गृहस्थको त्रिवर्गमें बाधा डालना उचित नहीं है। किन्तु यदि दैववश बाधा पड़े तो उत्तरोत्तरकी बाधामें पूर्व-पूर्वकी बाधा रक्षणीय है। अर्थात् कामके सामने धर्म और अर्थमें बाधा उपस्थित हो उसे पहले दूर करना चाहिए क्योंकि धर्म और धनके रहनेपर कामसुख सरलतासे प्राप्त किया जा सकता है। काम और अर्थके सामने धर्मकी बाधा होनेपर उसे पहले दूर करना चाहिए क्योंकि अर्थ और कामका मूल धर्म है।

---

१. ऋणाधिकत्वं—यो. टी. ।
२. 'कपालेनापि जीवतः'—योग. टी. ।
३. आढ्यो—यो. टी ।
४. धर्मवित्ता हि—यो. टी. ।
५. न्निर्वि ।
६. कल्पयेत्—सो. उपा. ३७३ ।

तदित्यादि । तं त्रिवर्गमर्हन्ति तत्साधनयोग्या भवन्तीति तदर्हा गृहिणीस्थानाक्ष्या यस्य स तथोक्तः । तत्र समकुलशीला स्वजनकजनन्यग्निदेवादिसाक्षिकं कृतपाणिग्रहणा शुचिपौराचाररता चरित्रशरणाऽर्जवक्षमोपेता च त्रिवर्गार्हा गृहिणी । तत्पौराचारोपदेशो जनकस्य सीतां प्रति यथा—

'अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता,
तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधौ तस्योपचर्या स्वयम् ।
सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति,
प्राज्ञैः पुत्रि निवेदिताः कुलवधूसिद्धान्तधर्मा अमी ॥' [ ]
'निर्व्याबाधयिते ननांदृषु नता श्वश्रूषु भक्ता भव,
स्निग्धा बन्धुषु वत्सला परिजने स्मोरा (?) सपत्नीष्वपि ।
पत्युर्मित्रजने सनर्मवचना भिन्ना च तद्वैरिणि,
स्त्रीणां संवननं नतभ्रु तदिदं वित्तौषदं भर्तृषु ॥' [ ]

अपि च—

'पढमं चेय विबुज्झइ सुवइपसुंतंमि परियणे सयत्ते ।
जेमेइ भुत्तसेसं घरं स लन्दिण सा धरिणि ॥ (?)
घरवावारे धरिणि सुरए वेसा बहुं व गुरुमज्झे ।
परियणमज्झम्मि सहि विहुरे भिच्चं व मंतिव्व ॥' [ ]

---

५. पत्नी, नगर या ग्राम और घर गृहस्थधर्मके अनुकूल होने चाहिए। पिता, पितामह आदि पूर्वपुरुषोंके वंशको कुल कहते हैं और मद्य, मांस आदिके त्यागको शील कहते हैं। जिनका कुल और शील अपने समान हो उनके वंशकी कन्याका अग्नि और देव आदिकी साक्षीपूर्वक पाणिग्रहणको विवाह कहते हैं। विवाहका फल शुद्ध पत्नीकी प्राप्ति है। यदि पत्नी ठीक न हो तो जीवन नरक हो जाता है। योग्य पत्नीके मिलनेसे अच्छी सन्तान प्राप्त होती है, चित्त प्रसन्न रहता है, घरके कार्य सुन्दर रीतिसे सम्पन्न होते हैं, कुलीनता और आचारविशुद्धिका संरक्षण होता है, देव-अतिथि और बन्धु-बान्धओंके सत्कारमें बाधा नहीं आती। जनकने सीताको उपदेश देते हुए कहा था—'स्वामीके घर आनेपर स्त्रीको खड़ा होना चाहिए। उसके भाषणमें नम्रता होनी चाहिए। दृष्टि उसके चरणोंपर होनी चाहिए। उसके बैठनेपर स्वयं उसकी सेवा करनी चाहिए। उसके सो जानेपर सोना चाहिए और उसके जागनेसे पहले शय्या त्याग देना चाहिए। हे पुत्रि ! विद्वानोंने ये कुल-वधूके धर्म कहे हैं। तथा सासकी सेवा, बन्धुजनोंमें स्नेहशीलता, परिचारकोंमें वात्सल्य, सपत्नियोंमें सौहार्द, पतिके मित्रोंसे विनयपूर्ण वचनालाप और पतिके शत्रुओंसे अप्रीति ये सब पतिको अपना बनानेकी औषध है।' और भी कहा है—'जो सबसे पहले जागती है, और समस्त परिवारके सो जानेपर सोती है, सबके भोजन करनेपर स्वयं भोजन करती है वह गृहिणी है।' घरके व्यापारमें गृहिणी, सुरतमें वेश्या, गुरुजनोंके बीचमें वधू, परिजनोंके मध्यमें सखी और परिजनोंके अभावमें मन्त्री और सेवकके तुल्य जो हो वह गृहिणी है।

योग्य पत्नीके साथ स्थान और घर भी योग्य होना चाहिए। स्थान न तो एकदम खुला ही होना चाहिए और न एकदम गुप्त ही होना चाहिए। अत्यन्त खुले स्थानमें पासमें किसीका वास न होनेसे चोरों आदिका भय रहता है। अत्यन्त गुप्त होनेपर एक तो मकान-की अपनी शोभा नहीं रहती, चारों ओरसे मकानोंके जमघटमें वह छुप जाता है। दूसरे

स्वचक्र-परचक्र-दुर्भिक्ष-मारीति-जनविरोधाद्युपप्लव(-द्र-)वाभावात् पूर्वोपार्जितानां धर्मादीनामविनाशाद-पूर्वाणां च लाभात् त्रिवर्गार्हं स्थानं पुरग्रामादि। तथा शल्यादिदोषरहितं बहलदूर्वाप्रवालकुशस्तम्ब-प्रशस्त-वर्णगन्धरसमृत्तिका-सुस्वादुजलोद्गमनिपानादिमभिमिश्रविशेषस्थापितोदयं सरि(-परि-)पार्श्वतस्त्रैवर्गिकास्म-समानशिष्टगृहस्थगृहैरसंबाधतयाऽलंकृतं च त्रिवर्गास्पदं वास्तु। तथा प्रशिमितद्वारः सर्वर्तुरम्यः प्रविभक्त-देवार्चनाद्युचितप्रदेशः सुरक्षितश्चा अ य [-श्चालय] स्त्रिवर्गार्हः। ह्रीमयः—लज्जया वैयात्याभावेन निवृत्त इव। लज्जावान् हि प्राणप्रहाणेऽपि न प्रतिज्ञातमपजहाति, नापि विभव-वयोऽवस्था-देश-कालजात्याद्यनुचितवेषो भवति, नापि देशकुलजातिगर्हितं कर्म करोति, नापि प्रसिद्धदेशाचारमतिक्रामति। यदाह—

'लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवार्या-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाः।
तेजस्विनः सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति,
सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥' [ ]

युक्ताहारविहारः—युक्तौ शास्त्रविहितावाहारविहारौ भोजनविचरणे यस्य। आहारप्रयोग-विधिर्यथा—

'प्रसृष्टे विण्मूत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे,
विशुद्धे चोद्गारे क्षुदुपगमने वातेऽनुसरति।
तथाऽनावुद्रिक्ते विशदकरणे देहे च सुलघौ,
प्रयुञ्जीताहारं विधिनियमितं कालः स हि मतः ॥' [अष्टाङ्गहृ. ८।५५]

'विशुद्धे चोद्गारे' इत्यनेनाविशुद्धोद्गारवर्जनादजीर्णे न भुञ्जीत, इत्युक्तं स्यात्। यत्पठन्ति—'अजीर्णप्रभवा रोगा' इति। तल्लक्षणं यथा—

'मलवातयोर्विगन्धो विड्भेदो गात्रगौरवमरुच्यम्।
अविशुद्धश्चोद्गारः षड् जीर्णव्यक्तलिङ्गानि ॥' [ ]

आग वगैरहकी दुर्घटना होनेपर आने-जानेमें कठिनाई होती है। तथा पड़ोसी शीलसम्पन्न होने चाहिए। यदि पड़ोसी कुशील हों तो उनकी बातोंके सुनने और उनकी चेष्टाओंके देखनेसे अपने भी गुणोंकी हानि होती है। अतः अच्छे पड़ोसमें मकान होना आवश्यक है।

६. तथा गृहस्थको निर्लज्ज नहीं होना चाहिए, लज्जाशील होना चाहिए। लज्जा गुणोंकी जननी है। लज्जाशील व्यक्ति प्राण भले ही छोड़ दे किन्तु अपनी मर्यादाको नहीं छोड़ता।

७. आहार-विहार युक्त होना चाहिए। यदि अजीर्ण हो, पहले किया भोजन पचा न हो तो नया भोजन नहीं करना चाहिए। अजीर्णमें भोजन करनेपर अजीर्णमें वृद्धि होगी और अजीर्ण सब रोगोंकी जड़ है। अतः भूख लगनेपर मित भोजन करना चाहिए। कहा है—'जो मित भोजन करता है वह बहुत भोजन करता है। बिना भूखके अमृत भी खानेपर विष होता है'।

आहार करनेके समयका प्रविधान करते हुए कहा है—'जब मल मूत्रका त्याग कर दिया हो, हृदय निर्मल हो, वात पित्त कफ अपने योग्य हो, भूख लगी हो, वायुका निःसरण ठीक हो, अग्नि प्रज्वलित हो, शरीर हलका हो तब भोजन करना चाहिए। वही भोजनका काल माना गया है।' अजीर्णमें भोजन नहीं करना चाहिए। अजीर्ण रोगोंकी जड़ है। मलवायुमें दुर्गन्ध, मलका कड़ा होना, शरीरमें भारीपन, अरुचि और डकारमें खटास ये सब अजीर्णके लक्षण हैं।' अतः भूख लगनेपर हित, मित और सात्म्य भोजन करना चाहिए।

'विधिनियमितम्' इत्यनेन च काले हितं मितं सात्म्यं चाद्याविदयुक्तं स्यात्। मितं—मात्रापरिच्छिन्नम्। यथाह—

'मात्राशि सर्वकालं स्यान्मात्रा ह्यग्नेः प्रवर्तिका।
मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते गुरूण्यपि लघून्यपि ॥
गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां नातितृप्तता।
मात्राप्रमाणं निर्दिष्टं सुखं तावद्धि जीर्यति ॥' [अष्टाङ्गहृ. ८।२]

सात्म्यलक्षणं यथा—

'पानाहारादयो यस्य विरुद्धा प्रकृतेरपि।
सुखित्वायैव कल्पन्ते तत्सात्म्यमिति गीयते ॥'

अविधिभोजनः [-ने] धनव्याधिरसमाधिमरणं च सुघटमेव। यथाह—

'अयुक्तियुक्तमन्नं हि व्याधये मरणाय वा।'

विहारविधिर्यथा—सातपत्रपद (?)

अविधिविहारिणो ह्यनर्थपरम्पराऽवश्यं भाविन्येव।

आर्यसमितिः—आर्येषु सदाचरणैकप्राणेषु न तु कितव-धूर्त-विट-भट्ट-भण्डनटादिषु समितिः सङ्गतिर्यस्य। अनार्यसङ्गतौ हि सदपि शीलं विशियेत (विशीर्येत)। यथाह—

'यदि सत्सङ्गनिरतो भविष्यसि भविष्यसि।
अथ सज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि ॥'

अपि च—

'मिथ्यादृशां च पथस्थ्यातानां (?)
मायाविनां व्यसनिनां च खलात्मनां च।
सङ्गं विमुञ्चत बुधाः कुरुतोत्तमानां,
गन्तुं मतिर्यदि समुन्नतमार्ग एव ॥' [ ]

कहा है—सर्वदा उचित मात्रामें भोजन करना चाहिए। भोजनकी उचित मात्रा अग्निको उद्दीप्त करती है। भोज्य हलका हो या भारी हो, मात्राका ध्यान रखना आवश्यक है। जितना सुख पूर्वक पच सके वही मात्रा है। प्रकृति विरुद्ध भी खान-पान यदि सुखकारक हो तो उसे सात्म्य कहते हैं। अविधि पूर्वक भोजन आधि व्याधि और मरण कारक होता है। कहा है—अयुक्त भोजन व्याधि और मरणके लिए होता है। इसी तरह जो अविधि पूर्वक विहार करता है उसका अनिष्ट अवश्यंभावी होता है।

गृहस्थको सदाचारी पुरुषोंकी संगति करनी चाहिए, धूर्त और बदमाशोंकी नहीं। उनकी संगतिसे शील नष्ट होता है। कहा है—यदि उन्नतिके मार्गमें जाना चाहते हो तो मिथ्यादृष्टियों, कुपथगामियों, मायावियों, व्यसनियों और दुर्जनोंकी संगति छोड़कर उत्तम पुरुषोंकी संगति करो। गृहस्थको प्राज्ञ होना चाहिए अर्थात् उसे अपने और दूसरोंके द्रव्य, क्षेत्र काल भावकृत सामर्थ्य और असामर्थ्यका ज्ञान होना चाहिए। उसके ज्ञानपर ही सब कार्य सफल होते हैं, अन्यथा तो विफल होते हैं। कहा है—यदि शक्तिके अनुसार व्यायाम किया जाये तो प्राणियोंके अंगोंकी वृद्धि होती है और बलको विचारे बिना कार्य करनेसे विनाश होता है।'

१. अथासज्जन—यो. टी. १।४७।

'प्राज्ञ:' एतेन बलाबलज्ञत्वं दीर्घदर्शित्वं विशेषज्ञता चोक्ता स्यात् । तथाहि—बलं स्वपरयोर्द्रव्यक्षेत्र-कालभावकृतं सामर्थ्यमबलमपि तथैव । तत् ज्ञाने हि सर्वोऽप्यारम्भः फलवानन्यथा तु विफलम् । यदाह—

'स्थाने श्रमवतां शक्त्या व्यायामे वृद्धिरङ्गिनाम् ।
अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसंपदः ॥' [ ]

तच्च प्रज्ञैव । तथा दीर्घकालभावित्वाद्दीर्घमर्थमनर्थं च पश्यति पर्यालोचयतीत्येवंशीलो दीर्घदर्शी तद्यावोऽपि (?) प्रज्ञैव । 'प्रज्ञा कालत्रयार्थगा' इति वचनात् । तथा वस्त्ववस्तुनोः कृत्याकृत्ययोः स्वपरयोश्च विशेषमन्तरं जानातीति विशेषज्ञः । अविशेषज्ञो हि पुरुषः पशोर्नातिरिच्यते । अथवा विशेषं आत्मन एव गुणदोषाधिरोहणलक्षणं जानातीति विशेषज्ञः । यदाह—

'प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः ।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिति ।' [ ]

स च प्रज्ञैव: । ततः सूक्तं प्राज्ञ इति । तथा चोक्तम्—

'इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष: क्रमो,
व्ययोऽयमनुषङ्गजं फलमिदं दशैषा मम ।
अयं सुहृदयं द्विषत्प्रयतदेशकालाविमा-
विति प्रतिवितर्कयन्प्रयतते बुधो नेतर: ॥' [ ]

कृतज्ञ:—कृतं परोपकृतं जानाति न निह्नुते । एवं हि तस्य कुशल[१]लाभाय उपकारकारिणो बहुमन्यते । कृतघ्नस्य निष्कृतिरेव नास्ति । यदाह—

'ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता राजन् कृतघ्ने नास्ति निष्कृति: ॥' [ ]

कृतज्ञाश्चात्रेदानीमतिदुर्लभाः । यदाह—

इस प्रकारके ज्ञानको ही प्रज्ञा कहते हैं । तथा दीर्घदर्शी होना चाहिए जो दीर्घकालमें होनेवाले अर्थ अनर्थका विचार करता है उसे दीर्घदर्शी कहते हैं । यह भी प्रज्ञा ही है क्योंकि प्रज्ञाको त्रिकालवर्ती अर्थगत कहा है । तथा जो वस्तु अवस्तुके, कृत्य अकृत्यके अपने परायेके विशेष अन्तरको जानता है उसे विशेषज्ञ कहते हैं । जो पुरुष विशेषज्ञ नहीं है वह पशुसे भिन्न नहीं है । अथवा जो आत्माके ही गुण दोषोंपर आरोहण करने रूप विशेषको जानता है वह विशेषज्ञ है । कहा है—'मनुष्यको प्रतिदिन अपने चरितका निरीक्षण करना चाहिए कि वह पशुओंके तुल्य है या सत्पुरुषोंके तुल्य है ।' यह भी प्रज्ञा ही है अतः प्रज्ञा कहना उचित है । कहा है—यह फल है, यह क्रिया है, यह करण है, यह क्रम है, यह आनुषंगिक हानि लाभ है, मेरी यह दशा है, अमुक मेरा मित्र और अमुक मेरा शत्रु है, ये उचित देश काल है, ऐसा विचार बुद्धिमान ही करता है दूसरा नहीं करता ।' तथा गृहस्थको कृतज्ञ होना चाहिए—दूसरेके द्वारा किये गये उपकारको भूलना या छिपाना नहीं चाहिए । इससे यह लाभ है कि उपकार करने वाले उसका बहुमान करते हैं । कृतघ्नका तो उद्धार ही सम्भव नहीं है । कहा है—ब्रह्महत्या करनेवाले, मद्यपायी, चोर और व्रतभंग करनेवालेका तो उद्धार सम्भव है किन्तु कृतघ्नका उद्धार सम्भव नहीं है । आजके समयमें कृतज्ञ पुरुष दुर्लभ

---

१. लाभो यदुपकारिणो—योग. टी. ।

'पञ्चषाः सन्ति ते केचिदुपकर्तुं स्फुरन्ति ये।
ये स्मरन्त्युपकारस्य तैस्तु वन्ध्या वसुंधरा ॥' [ ]

यश्च कृतज्ञः स लोकवल्लभो भवत्येव। यदाह—

'विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम्।
गुणैरुपेतोऽप्यखिलैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ॥' [ ]

वशी—इष्टेऽर्थेऽनासक्त्या विरुद्धे वा प्रवृत्त्या स्पर्शनादीन्द्रियविकारनिरोधकोऽन्तरङ्गारिषड्वर्गनिग्रहपरश्च। तत्रायुक्तितः प्रयुक्ताः कामक्रोध-लोभ-मान-मद-हर्षाः शिष्टगृहस्थानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः। तत्र परपरिगृहीतास्वनूढासु वा स्त्रीषु दुरभिसन्धिः कामः। परस्यात्मनो वा अपायमविचार्य कोपकरणं क्रोधः। दानार्हेषु स्वधनाप्रदानं निष्कारणं परधनग्रहणं च लोभः। दुरभिनिवेशारोहो युक्तोक्तौ[1] ग्रहणं वा मानः। कुलबलैश्वर्य-रूप-विद्यादिभिरहंकारकरणं परपदर्ष-[-प्रधर्ष] निबन्धनं वा मदः। निर्निमित्तं परदुःखोत्पादनेन स्वस्य द्यूत-पापर्द्ध्याद्यनर्थसंश्रयेण वा मनःप्रमोदो हर्षः। एतेषां च परिहार्यत्वमपायहेतुत्वात्। धर्मविधि—धर्मस्याभ्युदयनिःश्रेयसहेतोर्विधिः—युक्त्यागमाभ्यां प्रतिष्ठितिस्तम्। शृण्वन्—प्रत्यहमाकर्णयन्। यदाह—

'भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन्दुःखाद् भृशं भीतिवान्,
सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।
धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं,
गृह्णन् धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः ॥' [आत्मानु., ७ श्लो.]

दयालुः—दुःखितदुःखप्रहाणेच्छालक्षणां दयां शीलयन्। 'धर्मस्य मूलं दया' इति श्रुतेस्तां ह्यवश्यं कुर्वीत। यदाह—

'प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वीत मानवः ॥' [ ]

अपि च—

'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥' [ ]

हैं। कहा है—'जो उपकार करनेका उत्साह रखते हैं वे तो कुछ हैं भी। किन्तु जो उपकारको स्मरण रखते हैं उनसे यह पृथ्वी बांझ है।' जो कृतज्ञ होता है वह लोगोंको प्रिय होता ही है। कहा है—'यदि तुम पृथ्वीको अपने वशमें करना चाहते हो तो कृतज्ञ बनो। जो सब गुणोंसे युक्त होते हुए भी कृतघ्न होता है सब लोग उससे घृणा करते हैं'। तथा गृहस्थको 'वशी' होना चाहिए। अर्थात् इष्ट वस्तुमें अनासक्तिके साथ तथा विरुद्ध वस्तुमें भी प्रवृत्ति न करके स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके विकारको रोकनेवाला और अन्तरंग छह शत्रुओंके निग्रहमें तत्पर होना चाहिए। अयुक्तिसे प्रयुक्त काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष ये शिष्ट गृहस्थोंके छह अन्तरंग शत्रु हैं। दूसरेकी विवाहित या अविवाहित स्त्रीमें दुर्भावको काम कहते हैं। अपने या दूसरेके अपायका विचार न करके कोप करना क्रोध है। दानके योग्यको भी अपना धन न देना या अकारण पराया धन ग्रहण करना लोभ है। दुष्ट अभिप्रायको अथवा युक्त बातको भी ग्रहण न करना मान है। कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप, विद्या आदिका अहंकार करना मद है। बिना कारणके दूसरोंको दुःखी करनेसे अथवा स्वयं जुआ, शिकार आदि अनर्थका

---

1. युक्तोक्ताग्रहणं।

एतेन—

'अवृत्तिव्याधिशोकार्ताननुवर्तेत शक्तितः ।
आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकाः ॥
आर्द्रसंतानतात्यागः कायवाक्चेतसां दमः ।
स्वार्थबुद्धिः पदार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम् ॥
उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेऽप्यरौ ।' [ ]

इत्यादिरप्याचारो निरुद्धो बोद्धव्यः, सकलगुणभिनित्वाद्दयायाः (?) अघभीः—अघात् पापात् दृष्टादृष्टापायफलात् कर्मणश्चौर्यादेर्मद्यपानादेश्च बिभ्यत् पापभीरित्यर्थः । सागारधर्मं—विकलचारित्रम् । यत्स्वामि—

'सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम् ।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससङ्गानाम् ॥' [रत्न. श्रा., ५०]

चरेत्—'त्रिज्वाश्चाह' इत्यनेनार्हे सप्तमी । चरितुमर्हतीत्यर्थः । विधौ वा । यथोक्तगुणेन गृहिणा सागारधर्मश्चरितव्य इत्यर्थः । अत्र पूर्वो भद्रक उत्तरो द्रव्यपाक्षिक इति विभागः ॥११॥

अथ सकलसागारधर्मसंग्रहार्थमाह—

सम्यक्त्वममलममलान्यणु-गुण-शिक्षाव्रतानि मरणान्ते ।
सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोऽयम् ॥१२॥

आश्रय लेनेमें मनका प्रमुदित होना हर्ष है। ये सब अपायका कारण होनेसे त्याज्य हैं। तथा अभ्युदय और मोक्षके हेतु धर्मकी विधिको—युक्ति और आगमसे उसके स्थापनाको सुननेवाला होना चाहिए। कहा है—जो भव्य जीव मेरा कल्याण किसमें है ऐसा विचारता हुआ दुःखसे अत्यन्त डरता है सुखको चाहता है, दयागुणमय सुखकारी धर्मको सुनकर युक्ति और आगमसे उसकी स्थितिका विचार करता है। धर्मकथा सुनता है उसे ग्रहण करता है और आग्रह नहीं रखता, वह प्रशंसनीय है। तथा दयालु होना चाहिए, दुःखीका दुख दूर करनेकी इच्छा रूप दयाका पालक होना चाहिए; क्योंकि धर्मका मूल दया है। कहा है—'जैसे हमें अपने प्राण प्रिय हैं उसी तरह अन्य प्राणियोंको भी हैं यह मानकर मनुष्यको सब प्राणियों पर दया करना चाहिए।' तथा धर्मका सार सुनना चाहिए और सुनकर उसे अवधारण करना चाहिए। जो बात स्वयं अपनेको अच्छी नहीं लगती वह दूसरोंके प्रति भी नहीं करना चाहिए। जो आजीविकाके अभावसे, व्याधि और शोकसे पीड़ित हैं शक्ति के अनुसार उनकी सहायता करना चाहिए और कीट चींटी आदिको भी अपने समान देखना चाहिए।' अपकारी शत्रुका भी उपकार करना चाहिए। इत्यादि आचार भी दयामें ही जानना। तथा गृहस्थको चोरी मद्यपान आदि पापोंसे डरते रहना चाहिए। ऐसे गृहस्थको श्रावक धर्म अर्थात् विकल चारित्र पालना चाहिए। कहा है—चारित्र दो प्रकारका है—सकल चारित्र और विकल चारित्र। समस्त परिग्रहसे रहित अनगार मुनियोंके सकल चारित्र होता है और परिग्रही गृहस्थोंके विकल चारित्र होता है ॥११॥

अब मन्दबुद्धि शिष्य सुख पूर्वक सरलतासे स्मरण रख सकें इसलिए समस्त सागारधर्मका संग्रह एक श्लोकसे कहते हैं—

शंका आदि दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शन, निरतिचार अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत और मरण समय विधिपूर्वक सल्लेखना यह पूर्ण सागार धर्म है ॥१२॥

सम्यक्त्वं प्राक् प्रबन्धेन व्यावर्णितम्। तस्य च मोक्षाङ्गेषु प्रधानत्वात् मुग्धधियां च दुर्लक्षणत्वात् इदानीं गृहिणां तत्प्रतिपत्तये प्राचां सूक्तिप्रपञ्चः प्रस्तीर्यते। तथाहि—

'जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥' [पुरुषार्थसि. २२]

जीवाजीवादितत्त्वोपदेशस्तु संक्षेपेण यथा—

'उपादेयतया जीवोऽजीवो हेयतयोदितः।
हेयस्यास्मिन्नुपादानहेतुत्वेनास्रवः स्मृतः॥
हेयोपादानरूपेण बन्धः संपरिकीर्तितः।
संवरो निर्जरा हेयहानिहेतुतयोदिते ॥' [ ]

'श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥
आप्तेनोत्सिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥
आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥
विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥' [रत्न. श्रा. ४, ५, ९, १० श्लो.]

तद्विशुद्धिविधिस्त्वयम्—

विशेषार्थ—कुन्दकुन्दाचार्यने [1]चरित्तपाहुडमें और उमास्वामीने तत्त्वार्थ सूत्रके सातवें अध्यायमें इतना ही पूर्ण सागार धर्म कहा है। इसीका विस्तार श्रावकाचारोंमें मिलता है। अन्तर गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंके भेदोंमें है संख्यामें अन्तर नहीं है। व्रतोंकी संख्या तो बारह ही है। जैसे कुन्दकुन्दने दिग्व्रत और देशव्रतको 'दिसिविदिसिमाण' नामका एक ही गुणव्रत माना है। तत्त्वार्थसूत्रमें इसे दो व्रत माने हैं। कुन्दकुन्दने इस एक संख्याकी कमीको सल्लेखनाको शिक्षाव्रतोंमें सम्मिलित करके पूर्ण किया है। इसका विशेष विवेचन आगे इन व्रतोंके प्रसंगमें किया जायगा। जहाँ मरणके साथ ही जीवनका अन्त हो उसे मरणान्त या तद्भवमरण कहते हैं। यों तो प्रति समय आयु कर्मके निषेकोंकी उदयपूर्वक निर्जरा होती है। उसे आवीचि मरण कहते हैं। यह मरण तो सभी प्राणियोंमें प्रतिक्षण हुआ करता है। उस मरणसे प्रयोजन यहाँ नहीं है। सम्यक् अर्थात् लाभ आदिकी अपेक्षा न करके, लेखना अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर तपके द्वारा शरीर और कषायोंको कृश करना सल्लेखना है। इसकी विधि सत्तरहवें अध्यायमें कहेंगे।

यद्यपि अनगार धर्मामृतके प्रारम्भमें सम्यग्दर्शनका वर्णन किया है तथापि मोक्षके कारणोंमें उसके प्रधान होनेसे तथा मूढ़ बुद्धियोंके द्वारा उसका लक्षण ठीक न जाननेसे, गृहस्थोंको उसका बोध करानेके लिए पूर्वाचार्योंकी सूक्तियोंको विस्तारसे कहते हैं—

---

१. पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति.तह तिण्णि। सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं—
—चरि. पा., २२ गा.।

'सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः ।
किं सत्यमसत्यं वा न जातु शङ्केति कर्तव्या ॥
इह जन्मनि विभवादीनमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन् ।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकाङ्क्षेत् ॥
क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु ।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥
लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥
धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥
कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात् ।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥
अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे ।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमवलम्ब्यम् ॥
आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥' [पुरुषार्थ., २३-३० श्लो.]

आचार्य अमृतचन्द्रने कहा है 'जीव अजीव आदि तत्त्वार्थोंका सदा ही विपरीत अभिप्राय रहित श्रद्धान करना चाहिए। वह श्रद्धान आत्माका स्वरूप है।' जीव अजीव आदि तत्त्वोंका उपदेश संक्षेपमें इस प्रकार है—जीव उपादेय है अजीव हेय है। जीवमें हेय अजीवको लानेमें कारण होनेसे आस्रव तत्त्व कहा है। हेय अजीवके उपादान रूपसे बन्ध कहा है और हेयकी हानिमें हेतु होनेसे संवर और निर्जरा कहा है। तथा समस्त हेयके छूट जानेसे मोक्ष कहा है।

आचार्य समन्तभद्रने सच्चे देव, शास्त्र, गुरुके तीन मूढ़ता और आठ मद रहित तथा आठ अंग सहित श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। जो दोषोंसे रहित सर्वज्ञ और आगमका उपदेष्टा होता है वही आप्त है, अन्य आप्त नहीं है। तथा जो आप्तके द्वारा कहा गया है, जिसका कथन प्रत्यक्ष और अनुमानके अविरुद्ध है, तत्त्वोंका उपदेशक है, सबका हितकारी है और कुमार्गका नाशक है वही सच्चा शास्त्र है। जो विषयोंकी चाहसे रहित है, आरम्भ और परिग्रहसे रहित है तथा ज्ञान ध्यानमें लीन रहता है वही तपस्वी प्रशंसनीय (सच्चा गुरु) है।

सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिकी विधि इस प्रकार है—सर्वज्ञ देवने समस्त वस्तुमात्रको अनेकान्तात्मक कहा है। यह सत्य है या असत्य है, ऐसी शंका कभी भी नहीं करनी चाहिए। यह सम्यग्दर्शनका प्रथम निःशंकित अंग है।

इस जन्ममें वैभव आदिकी और परजन्ममें चक्री केशव आदि पदोंकी अभिलाषा नहीं करनी चाहिए। तथा एकान्तवादसे दूषित अन्य धर्मोंकी भी इच्छा नहीं करनी चाहिए। यह दूसरा निःकांक्षित अंग है। भूख प्यास, शीत उष्ण आदि नाना प्रकारके भावोंमें और मल आदि द्रव्योंमें ग्लानि भाव नहीं करना चाहिए। यह तीसरा निर्विचिकित्सा अंग है। तत्त्व-रुचि सम्यग्दृष्टिको लोकमें, शास्त्राभासमें, मिथ्यादर्शनोंमें, मिथ्या देवताओंमें सदा अमूढ़ बुद्धि होना चाहिए। यह चतुर्थ अमूढ़ दृष्टि अंग है।

'स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः ।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥
नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसंततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥' [रत्न. श्रा. २१, २६ श्लो.]

अपि च—

'आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात् ।
मूढाद्यपोढमष्टाङ्गं सम्यक्त्वं प्रशमादिभाक् ॥' [सो. उपा., ४८ श्लो.]

अणु-गुण-शिक्षाव्रतानि—अणुगुणशिक्षापूर्वाणि व्रतानीति विग्रहः । मरणान्ते—मृत्यावासन्ने सति । सल्लेखना—कायकषायकृशीकरणलक्षणा श्रावकधर्मप्रासादकलशारोहणभूता । पूर्णः ब्रह्मचर्यादिपञ्चपदाचाराणां सल्लेखनापरिकर्मतया तत्रैवान्तर्भावात् ॥१२॥

अथासंयमिनोऽपि सम्यग्दृशः कर्मक्लेशापकर्षमाचष्टे—

भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया
हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत् ।
चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवाऽऽत्मनिन्दादिमान्
शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोऽप्यघैः ॥१३॥

भूरेखादिसदृक्—दृषदवनीत्यादिसूत्रोक्तलक्षणा अप्रत्याख्यानावरणादयो द्वादश क्रोधादिविकल्पाः । विश्वदृश्वाज्ञया—'नान्यथावादिनो जिनाः' इति कृत्वा इत्यर्थः । निजं—आत्मोत्थं नित्यं वा । 'नित्यं स्वं

उपबृंहण गुणके लिए मार्दव आदि भावनाओंके द्वारा सदा आत्मामें धर्मकी वृद्धि करना चाहिए तथा परदोषोंको ढाँकना चाहिए। यह पाँचवाँ उपगूहन या उपबृंहण अंग है। न्याय मार्गसे विचलित करनेके लिए काम क्रोध मान आदि उत्पन्न होनेपर युक्तिसे अपना और दूसरोंका स्थितिकरण करना चाहिए। यह छठा अंग है। निरन्तर अहिंसामें, मोक्ष सुखके कारण धर्ममें तथा सब साधर्मियोंमें उत्कृष्ट वात्सल्य रखना चाहिए। यह सातवाँ अंग है। सदा रत्नत्रयकी ज्योतिसे आत्माको प्रभावित करना चाहिए। तथा दान, तप, जिनपूजा और ज्ञानातिशयके द्वारा जिनधर्मकी प्रभावना करनी चाहिए। अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्म-परम्पराका छेदन करनेमें समर्थ नहीं होता; क्योंकि अक्षरोंसे हीन मन्त्र विषकी वेदनाको दूर नहीं कर सकता।

आचार्य सोमदेवने कहा है—अन्तरंग बहिरंग कारणोंसे आप्त आगम और पदार्थोंका मूढ़ता आदिसे रहित और आठ अंग सहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। प्रशम आदि इसके गुण हैं ॥१२॥

इस प्रकार यह सम्यक्त्वका स्वरूप कहा है।

आगे कहते हैं कि असंयमी सम्यग्दृष्टिके भी कर्मजन्य क्लेशोंमें कमी होती है—

जो सर्वज्ञकी आज्ञासे वैषयिक सुख छोड़ने योग्य है और आत्मिक सुख उपादेय है, इस प्रकारका श्रद्धान रखते हुए भी पृथ्वी आदि की रेखाके समान अप्रत्याख्यानावरण आदि बारह कषायोंके अधीन होकर इन्द्रियोंसे होनेवाले सुखको भोगता है और स्थावर तथा जंगम प्राणियोंको पीड़ा भी पहुँचाता है, किन्तु कोतवालके द्वारा मारनेके लिए पकड़े गये चोरके समान अपनी निन्दा गर्हा करता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि भी पापसे उत्कृष्ट क्लेशको प्राप्त नहीं होता ॥१३॥

च निजं प्रोक्तम्' इत्यभिधानात् । त्विति—तुरवधारणे भिन्नक्रम इत्येवेत्यर्थः (?) आत्मनिन्दादिमान्—धिग् मामेवं प्रदीपहस्तमप्यन्धकूपे पतन्तमित्यात्मानं निन्दयन् । भगवन् ! कथमस्मै दुर्गतिदुःखाय घटिष्यत एवमुत्पथचारी जनोऽयमिति गुरुसाक्षिकं गर्हमाणश्च । आक्षं—इन्द्रियेभ्य आगतम् । रुजति—पीडयति । परं—स्थावरं जङ्गमं वा भूतग्रामम् । एतेनासंयतसम्यग्दृष्टिः स भवतीत्युक्तं स्यात् । यथाहुः—

'णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥' [गो. जी. २९ गा.]

उत्तप्यते—उत्कृष्टं क्लिश्यते । सोऽपि, किं पुनस्त्यक्तविषयसुखः सर्वात्मनैकदेशेन वा हिंसादिभ्यो विरतश्चेत्यपिशब्दार्थः ।

विशेषार्थ—धर्मका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे होता है । इसीसे सभी आचार्योंने सम्यग्दर्शनको धर्मका मूल कहा है । आचार्य कुन्दकुन्दने अपने दंसणपाहुडमें सम्यग्दर्शनकी प्रशंसा करते हुए सम्यग्दर्शनको धर्मका मूल कहा है और सम्यग्दर्शनसे भ्रष्टको ही भ्रष्ट कहा है और उसको मोक्षका अपात्र कहा है । इसी तरह आचार्य समन्तभद्रने भी आचार्य कुन्दकुन्दका ही अनुसरण करते हुए कहा है कि तीनों कालों और तीनों लोकोंमें सम्यक्त्वके समान कल्याणकारी और मिथ्यात्वके समान अकल्याणकारी कोई भी नहीं है । और यह भी कहा है कि यतः ज्ञान और चारित्रसे सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ या उत्कृष्ट है इसलिए उसे मोक्षमार्गमें कर्णधार कहा है । आचार्य अमृतचन्द्रजीने कहा है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रमें-से सबसे पहले पूर्ण प्रयत्नके साथ सम्यग्दर्शनको स्वीकार करना चाहिए; क्योंकि उसके होनेपर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं । इसीसे सूत्रजीमें भी 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' इस प्रथम सूत्रमें सम्यग्दर्शनको प्रथम स्थान दिया है । सारांश यह है कि सम्यग्दर्शनके बिना न शास्त्रज्ञानका कोई मूल्य है न आचारका कोई मूल्य है । इसका कारण क्या है ? जिनशासनका सर्वप्रथम उद्घोष है कि इन्द्रियोंके द्वारा हमें जो सुख मिलता है वह सुख सुख नहीं है दुःख है । सुख तो आत्माका धर्म है । जब तक इसपर श्रद्धा न जमे तब तक समस्त त्याग और ज्ञानका कोई मूल्य नहीं है । और यह श्रद्धा सात तत्त्वोंपर श्रद्धान होनेसे ही होती है इसीसे तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है । इसीमें देव शास्त्र गुरु भी आ जाते हैं । यह श्रद्धा ऊपरी नहीं होती । इसीसे सम्यग्दर्शनको आत्मपरिणाम कहा है । समस्त परभावोंसे भिन्न अपने चैतन्य स्वरूपकी श्रद्धा ही वस्तुतः सम्यग्दर्शन है । चैतन्य स्वरूपकी सामान्य श्रद्धा तो नारकी तिर्यंच आदिको भी होती है । जिन्हें विशेष ज्ञान नहीं होता वे 'भगवान् जिनेन्द्र अन्यथा नहीं कहते' मात्र इसी दृढ़तम श्रद्धा वश यह श्रद्धा करते हैं कि वैषयिक सुख हेय है और आत्मिक सुख उपादेय है । इस श्रद्धाको ग्रन्थकारने निश्चय-सम्यग्दर्शनरूप कहा है । वह अपनी टीकामें लिखते हैं—'एतेन निश्चयसम्यग्दर्शनभाग्भवन्

१. 'एव तु अत्रावधारणार्थो भिन्नक्रमः ।'—भ. कु. च. ।
२. 'दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहि सिस्साणं ।'—दंसणपा. २ गा.
३. 'न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्' ॥—रत्न. श्रा., ३४ श्लो. ।
४. दर्शनं ज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते । दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते ।—रत्न. श्रा., ३१ श्लो. ।
५. 'तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥'—पुरुषार्थ. २१ ।

अघैः—पापैः दुर्खैर्वा बहुभिः । उक्तं च—

'सम्मत्त सलिलपवहो णिच्चं हिययम्मि पवट्टए जस्स ।

३ कम्मं बालुयवरणं व तस्स बंधोच्चिय ण एइ ।।' —[धम्मरसायण १४०]

इत्युक्तं वेदितव्यम् ।' अर्थात् इच्छित स्त्री आदिको भोगनेसे होनेवाला सुख छोड़ने योग्य है कभी भी सेवनीय नहीं है ; क्योंकि उसका सेवन दुःखदायक कर्मबन्धका कारण है । तथा रत्नत्रयमें उपयोग लगानेसे आत्मामें प्रकट हुआ सुख उपादेय है, ऐसा उसे अन्तरंगसे रुचता है । वह स्वप्नमें भी अन्यथा नहीं सोचता । इसका कारण है उसकी जिनेन्द्रके शासनपर दृढ़तम श्रद्धा कि जिनेन्द्र अन्यथावादी नहीं हैं । इससे जानना चाहिए कि वह निश्चय सम्यग्दृष्टि है । चतुर्थ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान निश्चयसम्यग्दर्शनको लेकर ही समझना चाहिए । परमात्मप्रकाशकी टीकामें ब्रह्मदेवजीने लिखा है—'प्रभाकर भट्ट पूछता है—अपनी शुद्ध आत्मा ही उपादेय है इस प्रकारकी रुचिरूप निश्चयसम्यग्दर्शन होता है ऐसा आपने अनेक बार कहा है । यहाँ आप वीतराग चारित्रके साथ निश्चय सम्यक्त्व होता है ऐसा कहते हैं । यह तो पूर्वापरविरुद्ध है; क्योंकि अपनी शुद्ध आत्मा ही उपादेय है' इस प्रकारकी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व गृहस्थ अवस्थामें तीर्थंकर परमदेव, भरत, सगर, राम, पाण्डव आदिके था । किन्तु उनके वीतराग चारित्र नहीं था । यह परस्पर विरोध है । यदि था तो वे असंयत कैसे हुए । यह पूर्वपक्ष है । इसका उत्तर यह है—उनके 'शुद्धात्मा उपादेय है' इस प्रकारकी भावनारूप निश्चय सम्यक्त्व वर्तमान है । किन्तु चारित्र मोहके उदयसे स्थिरता नहीं है । व्रतप्रतिज्ञाका भंग होता है इस कारण असंयत कहे जाते हैं, शुद्धात्म भावनासे च्युत होनेपर भरत आदि निर्दोष परमात्माका, अर्हंत सिद्धोंका गुणस्तवन या वस्तुरूप स्तवन आदि करते हैं, उनके चरित पुराण आदि सुनते हैं । उनके आराधक आचार्य उपाध्याय साधुओंको दान पूजा आदि करते हैं जिससे खोटे ध्यानसे बचें और संसारकी स्थितिका छेद हो । इसलिए शुभराग होनेसे सरागसम्यग्दृष्टि कहलाते हैं । उनके सम्यक्त्वको निश्चय सम्यक्त्व इसलिए कहा जाता है कि वह वीतराग चारित्रके अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व-का परम्परासे कारण है ।'

इस तरह ब्रह्मदेवजीने रागके सहभावी सम्यक्त्वको व्यवहार सम्यक्त्व और रागके अभाव सहित सम्यक्त्वको निश्चय सम्यक्त्व कहा है क्योंकि राग नाम व्यवहारका है ।

१. 'अत्राह प्रभाकरभट्टः—निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं भवतीति बहुधा व्याख्यातं पूर्वं भवद्भिः । इदानीं पुनः वीतरागचारित्राविनाभूतं निश्चयसम्यक्त्वं व्याख्यातमिति पूर्वापरविरोधः । कस्मादिति चेत् निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां तीर्थंकरपरमदेव-भरत-सगर-राम-पाण्डवादीनां विद्यते । न च तेषां वीतरागचारित्रमस्तीति परस्परविरोधः । अस्ति चेत्तर्हि तेषामसंयतत्वं कथमिति पूर्वपक्षः । तत्र परिहारमाह—तेषां शुद्धात्मोपादेयभावनारूपं निश्चयसम्यक्त्वं विद्यते परं किंतु चारित्रमोहोदयेन स्थिरता नास्ति व्रतप्रतिज्ञाभङ्गो भवतीति तेन कारणेनासंयता वा भण्यन्ते । शुद्धात्मभावनाच्युताः सन्तो भरतादयो निर्दोषिपरमात्मनामर्हत्सिद्धानां गुणस्तववस्तुस्तवरूपस्तव-नादिकं कुर्वन्ति तच्चरितपुराणादिकं च समाकर्णयन्ति, तदाराधकपुरुषाणामाचार्योपाध्यायसाधूनां विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं संसारस्थितिच्छेदनार्थं च दानपूजादिकं कुर्वन्ति तेन कारणेन सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति । या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्वसंज्ञा वीतरागचारित्राविनाभूतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परम्परया साधकत्वात् ।'—पर. प्रका. टी. दोहा २।१७ ।

तथा—

'सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यग्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुःकुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥' [रत्न. श्रा. ३५] ३

किन्तु वह सरागसम्यक्त्व वीतरागचारित्रके अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्वका कारण है इसलिए भी निश्चय सम्यक्त्व कहा है। इस विषयमें—पं. टोडरमलजीके मोक्षमार्ग प्रकाशकका भी कथन उद्धृत किया जाता है—

'विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धानरूप 'आत्माका परिणाम वह तो निश्चय सम्यक्त्व है क्योंकि वह सत्यार्थ सम्यक्त्वका स्वरूप है। सत्यार्थका ही नाम निश्चय है। तथा विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धानको कारणभूत श्रद्धान सो व्यवहार सम्यक्त्व है। क्योंकि कारणमें कार्यका उपचार किया है। सो उपचारका ही नाम व्यवहार है। वहाँ सम्यग्दृष्टि जीवके देवगुरु धर्मादिकका सच्चा श्रद्धान है। उसी निमित्तसे उसके श्रद्धानमें विपरीताभिनिवेशका अभाव है। यहाँ विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान सो तो निश्चय सम्यक्त्व है। और देवगुरु धर्मादिकका श्रद्धान है सो व्यवहारसम्यक्त्व है। इस प्रकार एक ही कालमें दो सम्यक्त्व पाये जाते हैं। तथा मिथ्यादृष्टि जीवके देवगुरु धर्मादिकका श्रद्धान आभास मात्र है। और उसके श्रद्धानमें विपरीताभिनिवेशका अभाव नहीं होता, इसलिए वहाँ निश्चय सम्यक्त्व तो है नहीं और व्यवहारसम्यक्त्वका भी आभास मात्र है क्योंकि उसके देवगुरु धर्मादिकका श्रद्धान है सो विपरीताभिनिवेशके अभावका साक्षात् कारण नहीं हुआ। कारण हुए बिना उपचार सम्भव नहीं।'

ऊपर जिस दृष्टिसे पं. आशाधरजीने अविरत सम्यक्दृष्टिके सम्यक्त्वको निश्चय सम्यक्त्व कहा है उसी दृष्टिसे पं. टोडरमलजीने निश्चय सम्यक्त्वका स्वरूप कहा है। ऐसा निश्चय सम्यग्दृष्टि ही अविरत सम्यग्दृष्टि होता है क्योंकि उसके संयमका लेश भी नहीं होता। उसका कारण यह है कि उसके सोलह कषायोंमें-से अप्रत्याख्यानावरण आदि बारह कषायोंका उदय वर्तमान है। जिसके उदयमें जीव थोड़ा-सा भी व्रत संयम धारण करनेमें असमर्थ होता है उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। इसीके उदयसे प्रेरित होकर वह इन्द्रिय सम्बन्धी सुखको भी भोगता है और स्थावर तथा त्रसजीवोंका घात भी करता है। ऐसा वह सम्यक्त्व दशामें ही करता है तभी तो उसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। गोम्मटसार जीवकाण्डमें भी सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्यने ऐसा ही कहा है कि जो न तो इन्द्रियोंके विषयोंसे विरत है और न त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरत है केवल जिनवचनोंपर उसकी श्रद्धा है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है। यहाँ उसका उदाहरण कोतवालके द्वारा मारनेके लिए पकड़े गये चोरसे दिया है। यही उदाहरण ब्रह्मदेव सूरिने बृहद्द्रव्य संग्रहकी टीकामें दिया है।

१. 'यदुदयाद्देशविरतिं संयमासंयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः।'—सर्वार्थ. ८।९।

२. 'णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वा पि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥'—गो. जी. २९ गा.।

३. 'भूमिरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दासहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्।'—बृहद्. टी., १३ गा.।

अपि च—

'न दुःखबीजं शुभदर्शनक्षितौ कदाचन क्षिप्तमपि प्ररोहति ।
सदाऽप्यनुप्तं सुखबीजमुत्तमं कुदर्शने तद्विपरीतमिष्यते ॥' [ ] ॥१३॥

अथ धर्मशर्मवद्यशोऽपि मनःप्रसत्तिनिमित्तत्वाच्छिष्टैरवश्यं सेव्यमित्युपदेष्टुमाह—

किन्तु दोनोंमें अन्तर है। ब्रह्मदेवजी कहते हैं कि जैसे मारनेके लिए कोतवालके द्वारा पकड़ा गया चोर अपनी निन्दा वगैरह करता है वैसे ही अविरत सम्यग्दृष्टि इन्द्रियसुख भोगकर अपनी निन्दादि करता है। पं. आशाधरजी भी अपनी टीकामें कहते हैं कि अविरत सम्यग्दृष्टि भी अपनी निन्दा करता है—'मुझे धिक्कार है मैं हाथमें दीपक लिये हुए होने पर भी अन्धकूपमें गिरनेवालेके समान हूँ।' तथा गुरुके समक्ष अपनी गर्हा भी करता है कि 'भगवन्! मुझ कुमार्गगामीका दुर्गतिके दुःखोंसे कैसे बचाव होगा।' इसपर-से यह प्रश्न होता है कि ऐसा होते हुए भी वह कैसे इन्द्रियसुखका सेवन करता है और कैसे उसके लिए प्राणियोंका घात करता है? तो उसका उत्तर है कि वह चारित्रमोहनीयके उदयके अधीन होकर ऐसा करता है। जैसे कोतवालके द्वारा मारनेके लिए पकड़ा गया चोर कोतवालके अधीन होकर जो-जो कोतवाल कराता है, गधेपर चढ़ाना आदि, वह उस चोरको करना पड़ता है। इसी तरह अविरत सम्यग्दृष्टि जीव भी चारित्रमोहके उदयसे जो-जो द्रव्यहिंसा, भावहिंसा आदि करायी जाती है उसे अयोग्य जानते हुए भी करता है क्योंकि अपने समय पर फलोन्मुख हुए कर्मके उदयको टालना बहुत ही कठिन है। इस तरह पं. आशाधरजीने उक्त दृष्टान्तका प्रयोग दूसरे प्रकारसे किया है। उक्त कथनसे यह स्पष्ट है कि अविरत सम्यग्दृष्टिके किसी प्रकारका कोई त्याग नहीं होता। किन्तु त्यागके मार्गपर चलनेकी आन्तरिक भूमिका मात्र तैयार हो जाती है। जिस इन्द्रियसुखको ही सार मानकर जीव दुनिया-भरके पाप कार्य करता है उसे वह अन्तःकरणसे हेय मानने लगता है और जिस आत्मिक सुखको वह भूला था उसे उपादेय मानता है। उसकी यह आन्तरिक श्रद्धा ही उसे अविरत सम्यग्दृष्टिसे देशविरत और सर्वविरत बनाती है। किन्तु लेशमात्र देशसंयमके नहीं होनेपर भी सम्यक्त्व मात्रसे ही उसके सांसारिक कष्टोंमें कमी हो जाती है। सम्यक्त्व ग्रहण करनेसे पहले आगामी भवकी आयुका बन्ध न करनेवाले असंयमी भी सम्यग्दृष्टिके सुदेव और उत्तम मनुष्य पर्यायको छोड़कर शेष समस्त जन्मोंका अभाव हो जाता है, क्योंकि अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि मरकर या तो उत्तम देव होता है या उत्तम मनुष्य होता है। किन्तु जो आगामी भवकी आयुका बन्ध कर लेनेके बाद सम्यक्त्व ग्रहण करता है उसने यदि नरकायुका बन्ध किया है तो वह मरकर प्रथम नरकमें जघन्य स्थिति ही भोगता है। अतः केवल सम्यक्त्वके प्रभावसे उसका बहुत-सा दुःख घट जाता है। अतः संयम धारण करनेका समय आनेसे पहले संसारसे भयभीत भव्य जीवको सदा सम्यग्दर्शनकी आराधनामें ही प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार उक्त श्लोकका उपसंहार विधिपरक ही लेना चाहिए॥१३॥

आगे कहते हैं कि धर्म और सुखकी तरह यश भी मनकी प्रसन्नतामें निमित्त है अतः शिष्ट पुरुषोंको यशके कार्य भी करना चाहिए—

---

१. दुर्गतावायुषो बन्धात् सम्यक्त्वं यस्य जायते। गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः ॥ [ ]

धर्मं यशः शर्मं च सेवमानाः केऽप्येकशो जन्म विदुः कृतार्थम् ।
अन्ये द्विशो विद्म वयं त्वमोघान्यहानि यान्ति त्रयसेवयैव ॥१४॥

केऽपि—लौकिकाः । एकशः—एकैकं । द्विशः—द्वे द्वे ॥१४॥

अथ सम्यक्त्वदृढत्वानन्तरं शिष्टगृहस्थानामवश्यारोहणीयं—

'जो तसवहादु विरदो अविरदओ तह य थावरवहादो ।
एक्कसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥' [गो. जी. ३१ गा.]

इति सूत्रनिर्दिष्टं संयतासंयतत्वपदं निर्देष्टुमाह—

मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पञ्चगुरुपदशरण्यः ।
दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात् ॥१५॥

मूलोत्तरगुणनिष्ठां—मूलानि उत्तरगुणप्ररोहणनिमित्तत्वात् । तस्य च यजनात् प्रागुपन्यासः पाक्षिकापेक्षया । पाक्षिको हि प्रायो(ऽ) संवृताचारत्वाद्यथावदर्हदादिपूजायामसमर्थो दानेनैव विशुद्धिमाप्नोति । यदाह—

धर्म, यश और सुखमें-से एक-एककी साधना करनेवाले कोई-कोई लौकिक जन अपने जन्मको कृतार्थ मानते हैं। लोकव्यवहारका अनुसरण करनेवाले और अपनेको शास्त्रज्ञ माननेवाले कुछ दूसरे जन इन तीनोंमें-से किन्हीं दोकी साधना करनेसे जन्मको कृतार्थ मानते हैं। किन्तु लौकिक और शास्त्रज्ञ दोनोंको ही सन्तुष्ट करनेवाले हम तो तीनोंकी ही साधना करनेसे मनुष्यजन्मके दिनोंको सफल मानते हैं ॥१४॥

विशेषार्थ—कहावत है कि लोगोंकी रुचियाँ भिन्न होती हैं। अतः धर्म, सुख, यशमें-से मनुष्यको किसकी साधना अपने जीवनमें करना चाहिए जिससे जन्मको सफल माना जाये, इसके विषयमें विभिन्न लोगोंके विभिन्न मत हैं। जो केवल लोकानुसारी हैं उनमें-से कुछ तो ऐसा मानते हैं कि धर्मकी साधना करनेसे ही मनुष्यजन्मकी सफलता है। कुछ मानते हैं कि केवल सुखोपभोगमें ही मनुष्यजन्मकी कृतकृत्यता है। कुछ कहते हैं कि यश कमानेमें ही सार्थकता है। इस तरह वे तीनोंमें-से एक-एककी साधनामें ही समझते हैं कि मनुष्यने अपना कर्तव्य पूरा कर लिया। उसे कुछ करना शेष नहीं रहा। इन लौकिक जनोंसे दूसरे नम्बरपर वे हैं, जो अपनेको शास्त्रज्ञ भी मानते हैं। उनका मन्तव्य है कि तीनोंमें-से दोकी साधना करनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। अर्थात् कुछ धर्म और यशको, कुछ धर्म और सुखको और कुछ यश और सुखको साधन करनेसे जन्मको सफल मानते हैं। किन्तु लौकिक जन और शास्त्रज्ञ दोनोंके ही अभिप्रायोंको समझनेवाले ग्रन्थकारका मत है तीनोंमें-से एक-एक या दो-दोके सेवन करनेसे जन्म सफल नहीं होता किन्तु तीनोंकी ही साधना करनेसे मनुष्य-जन्म सफल होता है। अतः गृहस्थको अपने जीवनमें धर्म भी करना चाहिए, धर्मानुकूल सुख भी भोगना चाहिए और संसारमें जिनसे यश हो, ऐसे परोपकारके कार्य भी करना चाहिए ॥१४॥

इस तरह सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर यदि पूर्ण संयम धारण करनेकी शक्ति आदिका अभाव है तो एकदेश संयम अवश्य धारण करना चाहिए, ऐसा कथन करते हैं—

जो मूल गुण और उत्तरगुणमें निष्ठा रखता है, अर्हन्त आदि पाँच गुरुओंके चरणोंको ही अपना शरण मानता है, दान और पूजा जिसके प्रधान कार्य हैं तथा ज्ञानरूपी अमृतको पीनेका इच्छुक है वह श्रावक है ॥१५॥

'ध्यानेन शोभते योगी संयमेन तपोधनः।
सत्येन वचसा राजा गेही दानेन चारुणा ॥' [　　　]

अपि च—

'जइ घरु करिदाणेण सहुं अहतउ करिणी गंथु।
विहे चुं कउ सुम्पउ भण इअजिय एंथण उंथु ॥' [　　　]

दानं च यजनं च दानयजने प्रधाने मुख्ये यस्य। वार्ता तु श्रावकस्य-गौणीति प्रधानग्रहणाल्लक्षयति। यदाह—

'आयुःश्रीवपुरादिकं यदि भवेत् पुण्यं पुरोपार्जितं,
स्यात्सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि।
इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येऽत्र मन्दोद्यमा,
द्रागागामि भवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्तेतराम् ॥' [आत्मानु. ३७]

ज्ञानसुधां—स्वपरान्तरज्ञानामृतम् ॥१५॥

अथ भावद्रव्यात्मनामेकादशानामुपासकपदाना मध्येऽन्यतमं विशुद्धदृष्टिर्महाव्रतपरिपालनलालसो यथात्मशक्ति यः प्रतिपद्यते तमभिनन्दति—

विशेषार्थ—जो गुरु आदिसे धर्म सुनता है वह श्रावक है। अर्थात् एकदेश संयमके धारीको श्रावक कहते हैं। श्रावकके आठ मूलगुण और बारह उत्तरगुण होते हैं। उत्तरगुणोंके प्रकट होनेमें निमित्त होनेसे तथा संयमके अभिलाषियोंके द्वारा पहले पाले जानेके कारण मूल गुण कहे जाते हैं। और मूल गुणोंके बाद सेवनीय होनेसे तथा उत्कृष्ट होनेसे उत्तर गुण कहलाते हैं। गुण कहते हैं संयमके भेदोंको। जो संयमके भेद प्रथम पाले जाते हैं वे मूल गुण हैं। मूल गुणमें परिपक्व होनेपर ही उत्तर गुण धारण किये जाते हैं। किसी लौकिक फलकी अपेक्षा न करके निराकुलतापूर्वक धारण करनेका नाम निष्ठा रखना है। तथा अर्हन्त आदि पंच परमेष्ठीके चरण ही उसके शरण्य होते हैं अर्थात् उसकी यह अटल श्रद्धा होती है कि मेरी सब प्रकारकी पीड़ा पंचपरमेष्ठीके चरणोंके प्रसादसे दूर हो सकती है अतः वे ही मेरे आत्मसमर्पणके योग्य हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शन पूर्वक देश संयमको धारण करनेवाले श्रावकका कर्तव्य-आचार है चार प्रकारका दान और पाँच प्रकारकी जिनपूजा, जो आगे बतलायेंगे। यद्यपि श्रावकका कर्तव्य आजीविका भी है। किन्तु वह तो गौण है। श्रावक धर्मकी दृष्टिसे प्रधान आचार, दान और पूजा है। यह बतलानेके लिए 'प्रधान' पद रखा है। तथा ज्ञानामृतका पान करनेके लिए वह सदा अभिलाषी रहता है। यह ज्ञानामृत है स्व और परका भेद ज्ञानरूपी अमृत। उसीसे उसकी ज्ञान-पिपासा शान्त होती है ॥१५॥

इस प्रकार देशविरतिरूप पंचम गुणस्थानका कथन करके, उसके भेद जो द्रव्यभावरूप ग्यारह श्रावक प्रतिमाएँ हैं, उनमें-से महाव्रतोंके पालन करनेकी लालसा रखनेवाला जो सम्यग्दृष्टि अपनी शक्तिके अनुसार एक भी प्रतिमाका पालन करता है उसका अभिनन्दन करते हैं—

रागादिक्षयतारतम्यविकसच्छुद्धात्मसंवित्सुख-
स्वादात्मस्वबहिर्बहिस्त्रसवधाद्यंहोव्यपोहात्मसु ।
सद्दृग् दर्शनकादिदेशविरतिस्थानेषु चैकादश-
स्वेकं यः श्रयते यतिव्रतरतस्तं श्रद्दधे श्रावकम् ॥१६॥

रागादीत्यादि—क्षयः—सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभावः। तारतम्यं—यथोत्तरमुत्कर्षः। रागद्वेषमोहानां क्षयतारतम्येन। विकसन्ती—आविर्भवन्ती चासौ। शुद्धात्मसंविच्च—निर्मलचिद्रूपानुभूतिः। सैव तदुत्थं वा सुखमानन्दस्तस्य स्वादः—स्वसंवित्यनुभवः, स एव आत्मस्वरूपं येषां तानि तदात्मानि तेषु। त्रसेत्यादि—त्रसवध आदिर्येषां स्थूलानृतादीनां तानि त्रसवधादीनि। तान्येव अंहांसि—पापानि तत्फलत्वात्। तेभ्यो व्यपोहो—विधिपूर्वकं देवगुरुसधर्म साक्षिकमपोहो विरतिः स एव आत्मा येषां तानि तेषु। चशब्दस्य भिन्नक्रमस्यात्र योजनात्। यतिव्रतरतः—सर्वविरतिकलशारोपणो हि श्रावकधर्मप्रासादः ॥१६॥

अथ दर्शनिकादीन्निर्दिशति—

देशविरतिके दर्शनिक आदि ग्यारह स्थान अन्तरंगमें राग आदिके क्षयसे प्रकट हुई शुद्ध आत्मानुभूति रूप सुख या उससे उत्पन्न हुए सुखके स्वादको लिये हुए हैं। और बाह्यमें त्रस हिंसा आदि पापोंसे विधिपूर्वक विरतिको लिये हुए हैं। मुनियोंके व्रतोंमें आसक्त जो सम्यग्दृष्टि उनमें-से एक भी प्रतिमाका पालन करता है, वह श्रावक अच्छा करता है ऐसा मैं मानता हूँ ॥१६॥

विशेषार्थ—प्रत्येक प्रतिमाके दो रूप होते हैं—एक भावरूप या अध्यात्मरूप और दूसरा द्रव्यरूप या बाह्यरूप। बाह्यरूप देखा जा सकता है किन्तु अन्तरंगरूपको दूसरे लोग नहीं देख सकते। वह तो स्वसंवेद्य होता है। जब चारित्रमोहनीय कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंका क्षय होता है अर्थात् उनके उदयका अभाव होता है और देशघाति स्पर्द्धकोंका उदय रहता है तब राग-द्वेषके घटनेसे निर्मल चिद्रूपकी अनुभूति होती है। वह अनुभूति सुखरूप है या उस अनुभूतिसे उत्पन्न हुए सुखका स्वाद उन प्रतिमाओंका अन्तरंग रूप है। ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर रागादि घटते जाते हैं त्यों-त्यों आगेकी प्रतिमाओंमें निर्मल चिद्रूपकी अनुभूतिमें वृद्धि होती जाती है और उत्तरोत्तर आत्मिक सुख भी बढ़ता जाता है। इसके साथ ही श्रावककी बाह्य प्रवृत्तिमें भी परिवर्तन आये बिना नहीं रहता। वह प्रतिमाके अनुसार स्थूल हिंसा आदि पापोंसे निवृत्त होता जाता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि श्रावक सतत यह भावना रखता है कि कब मैं गृहस्थाश्रम छोड़कर मुनिपद धारण करूँ। तभी उसका प्रतिमा धारण सफल माना जाता है। ऐसा श्रावक किसकी श्रद्धाका भाजन नहीं होगा? श्वेताम्बर साहित्यमें तो पहली प्रतिमा एक मास, दूसरी प्रतिमा दो मास, तीसरी तीन मास, चौथी चारमास इस तरह ग्यारहवीं ग्यारह मास तक ही पालनेका विधान है। अर्थात् पहली प्रतिमा एक मास पालकर दूसरी प्रतिमा लेनी होती है, दूसरी प्रतिमा दो मास पालकर तीसरी लेनी होती है। इस तरह एक से ग्यारह मास तक क्रमशः ग्यारह प्रतिमाएँ पालनेपर १+२+३+४+५+६+७+८+९+१०+११ = ६६ मासके बाद मुनिव्रत लेना होता है ॥१६॥

आगे दर्शनिक आदि श्रावकोंका लक्षण कहते हैं—

दृष्ट्या मूलगुणाष्टकं व्रतभरं सामायिकं प्रोषधं
सचित्तान्न-दिनव्यवाय-वनितारम्भोपधिभ्यो मतात् ।
उद्दिष्टादपि भोजनाच्च विरतिं प्राप्ताः क्रमात्प्राग्गुण-
प्रौढ्या दर्शनिकादयः सह भवन्त्येकादशोपासकाः ॥१७॥

दृष्ट्या—सम्यक्त्वेन विशिष्टं मूलगुणाष्टकं प्राप्तो दर्शनिकः। स एव च व्रतभरं निरतिचाराण्यणुव्रतादीनि प्राप्तो व्रतिकः। एवमुत्तरेष्वपि संबन्धः कर्तव्यः। व्यवायो—मैथुनम्। मतात् मदर्थं साधुकृतमनेनेदमित्यनुमोदितात्। अपि भोजनात्। मतादुद्दिष्टाच्च भोजनादपि विरतिं प्राप्तोऽनुमतिविरत उद्दिष्टविरतश्च। योऽनुमतमुद्दिष्टं च भोजनमपि न कुर्यात् स किमन्यत्रारम्भादौ पापकर्मण्यनुमतिं दद्यादुद्दिष्टं वा वसत्याच्छादनादिकमुपयुञ्जीतेत्यपिशब्दाल्लभ्यते। प्राग्गुणप्रौढ्या—दृष्टिमूलगुणाष्टकप्रकर्षेण सह व्रतभरं, तत्त्रयप्रकर्षेण सामायिकमित्यादि युक्त्या भवन्तीत्यर्थः। उक्तं च—

'श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु ।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह सन्तिष्ठन्ते क्रमाद् वृद्धाः ॥' [रत्न. श्रा. १३६]

दर्शनिकादयः। उक्तं च भगवज्जिनसेनपादैरादिनाथस्य सुविधिमहाराजभवान्तरकथावर्णनप्रस्तावे—

'सद्दर्शनं व्रतोद्योतं समतां प्रोषधव्रतम् ।
सचित्तसेवाविरतिमह्नि स्त्रीसङ्गवर्जनम् ॥
ब्रह्मचर्यमथारम्भपरिग्रहपरिच्युतिम् ।
तत्रानुमननत्यागं स्वोद्दिष्टपरिवर्जनम् ॥
स्थानानि गृहिणां प्राहुरेकादश गणाधिपाः ।
स तेषु पश्चिमं स्थानमाससाद क्रमान्नृपः ॥' [महापु., १०।१५९-१६१]

क्रमसे पूर्व-पूर्व गुणोंमें प्रौढ़ताके साथ, सम्यग्दर्शन सहित आठ मूल गुण, निरतिचार अणुव्रतादि, सामायिक, प्रोषधोपवास तथा सचित्तसे, दिवामैथुनसे, स्त्रीसे, आरम्भसे, परिग्रहसे, अनुमत और उद्दिष्ट भोजनसे विरतिको प्राप्त ग्यारह श्रावक होते हैं ॥१७॥

विशेषार्थ—ये श्रावकके ग्यारह भेद हैं। उनके नाम दर्शनिक आदि हैं। जो सम्यग्दर्शनके साथ आठ मूल गुणोंका धारक है वह पहला दर्शनिक श्रावक है। जो निरतिचार अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतका पालक है वह दूसरा व्रतिक श्रावक है। जो त्रिकाल सामायिक करता है वह तीसरा सामायिक प्रतिमावाला श्रावक है। जो पर्वके दिनोंमें प्रोषधोपवास करता है वह चतुर्थ प्रोषधोपवासी श्रावक है। जो सचित्त भक्षण आदिका त्यागी है वह पाँचवा सचित्तविरत श्रावक है। जो दिनमें मन-वचन-कायसे मैथुन सेवन नहीं करता वह छठा दिवामैथुन विरत श्रावक है। जो सदाके लिए स्त्रीसेवनका त्यागी है वह सातवाँ स्त्रीविरत या ब्रह्मचर्य प्रतिमाका धारी श्रावक है। जो सम्पूर्ण आरम्भोंका त्यागी है वह आठवाँ आरम्भ विरत श्रावक है। जो परिग्रहका त्यागी है वह नौवाँ परिग्रह विरत श्रावक है। जो आरम्भके कार्योंमें अनुमति भी नहीं देता वह दसवाँ अनुमति विरत श्रावक है। और उद्दिष्ट भोजनका त्यागी ग्यारहवाँ उद्दिष्ट विरत श्रावक है। श्लोकमें उद्दिष्टके साथ जो 'अपि' शब्द रखा है उसका अभिप्राय यह है कि जो अनुमत और उद्दिष्ट भोजन भी नहीं करता वह कैसे अन्यत्र आरम्भ आदि पाप कार्योंमें अनुमति देगा, या कैसे उद्दिष्ट वसतिका या वस्त्र आदिका उपयोग करेगा। आगे-आगेकी ये प्रतिमाएँ तभी मान्य होती हैं जब पूर्व-पूर्वकी प्रतिमाओंमें परिपक्वता हो। अर्थात् 'पीछेको छोड़ आगेको दौड़'की नीति

सोमदेवपण्डितास्त्वेवमाहुः—

'मूलव्रतं व्रतान्यर्चा पर्वकर्माकृषिक्रियाः।
दिवा नवविध [नवविधं] ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम् ॥
परिग्रहपरित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता।
तद्धानी च वदन्त्येतानेकादश यथाक्रमम् ॥' [सो. उपा., ८५३-८५४ श्लो.] ॥१७॥

अथ दुरितापचयनिमित्तेज्यादिधर्मकर्मसिद्ध्यर्थं कृष्यादिषट्कर्मलक्षणां वार्तामाचरतो गृहस्थस्यावश्यंभावी सावद्यलेशः प्रायश्चित्तेन पक्षादिभिश्च निराकार्य इत्युपदेशार्थमाह—

यहाँ नहीं चलती। आगेकी प्रतिमावाले श्रावकको पूर्वकी सभी प्रतिमाओंका आचरण पूर्ण रीतिसे करना ही चाहिए। इन प्रतिमाओंके छठे भेदको लेकर आचार्योंमें मतभेद है। आचार्य समन्तभद्रने छठी प्रतिमाको रात्रिभुक्ति विरत नाम दिया है[1] वह रात्रिमें चारों प्रकारके आहारका त्याग करता है। चरित्त पाहुडे[2] (गा. २१), प्राकृत पंचसंग्रह, (१।१३६), वारस अणुवेक्खा (गा. ६९), गो. जीवकाण्ड (गा. ४७६) और वसुनन्दि श्रावकाचारमें छठी प्रतिमाका नाम 'राइभत्ती' ही है। महापुराण (पर्व १०) में दिवास्त्री संगत्याग नाम दिया है। सोमदेवके उपासकाचारमें (८५३-५४ श्लो.) तीसरी प्रतिमा अर्चा, पाँचवीं प्रतिमा अकृषिक्रिया—कृषिकर्म न करना और आठवीं प्रतिमा सचित्त त्याग है। श्वेताम्बर आम्नायमें (योगशास्त्र टीका ३।१४८)[3] पाँचवीं प्रतिमा पर्वकी रात्रिमें कायोत्सर्ग करना। छठी प्रतिमा ब्रह्मचर्य, सातवीं प्रतिमा सचित्त त्याग, आठवीं प्रतिमा स्वयं आरम्भ न करना, नवमी दूसरेसे आरम्भ न कराना, दसवीं उद्दिष्ट त्याग और ग्यारहवीं साधुकी तरह निस्संग रहना, केशलोंच करना आदि है। यह अन्तर है।

पं. आशाधरजीके उत्तरकालीन पं. मेधावीने तो अपने श्रावकाचारको आशाधरका ही शब्दशः अनुकरण करते हुए रचा है। पं. राजमल्लने अपनी लाटी[4] संहितामें दिवा मैथुन विरत और रात्रि भोजन विरत दोनोंका ही संग्रह किया है ॥१७॥

अब कृषि आदि छह कर्मोंके द्वारा आजीविका करनेवाले गृहस्थको पाप अवश्य होता है। वो पापको दूर करनेमें निमित्त पूजा आदि धर्म-कर्मको सिद्धिके लिए उस पापको प्रायश्चित्त और पक्ष आदिके द्वारा दूर करनेका उपदेश करते हैं—

१. 'अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥'—रत्न. श्रा. १४२ श्लो.।

२. 'दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त राइभत्ती य।
बम्भारम्भपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदे दे ॥' [चरि. पा. २१ गा.]

३. 'निक्कंपो काउसग्गं तु पुव्वुत्तगुण संजुओ। करेइ पव्वराईसु पंचमि पडिवन्नओ ॥
छट्ठीय बंभयारी सो फासुआहार सत्तमी। वज्जे सावज्जमारंभं अट्ठमि पडिवन्नओ ॥
अवरेणा वि आरंभं नवमी नो करावए। दसमीए पुणोद्दिट्ठं फासुअंपि न भुंजए ॥
एक्कारसीइ निस्संगो धरे लिंगं पडिग्गहं। कयलोओ सुसाहुव्व पुव्वुत्त गुणसायरो ॥'

४. 'किं च रात्रौ यथा भुक्तं वर्जनीयं हि सर्वदा। दिवा योषिद्व्रतं चापि षष्ठस्थानं परित्यजेत् ॥'
—लाटीसं. ७।२१

नित्याष्टाह्निकसच्चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमैन्द्रध्वजा-
विज्याः पात्रसमक्रियान्वयदयादत्तीस्तपः संयमौ ।
स्वाध्यायं च विधातुमादृतकृषीसेवावणिज्यादिकः,
शुद्ध्याऽऽप्तोदितया गृही मललवं पक्षादिभिश्च क्षिपेत् ॥१८॥

नित्येत्यादि—नित्यमहः आष्टाह्निकमहश्चतुर्मुखमहः कल्पवृक्षः ऐन्द्रध्वजश्चेति पञ्चार्हत्पूजाविशेषा इज्याः । चतुर्मुखस्य सदिति विशेषणादत्रेदानीमयमेव परमोत्कृष्टः कल्पवृक्षस्यासम्भवादिति प्रकाशयति । अत एवैन्द्रध्वजेन सह समस्यैष निर्दिष्टः । पात्रेत्यादि—समा आत्मना समानाः क्रिया आधानादिका उपलक्षणान्मन्त्रादयश्च यस्यासौ समक्रियः । पात्रं च समक्रियश्च अन्वयश्च दया च पात्रसमक्रियान्वयदयास्तदाश्रया दत्तयो दानादि तद्दत्तयस्ताः । उक्तं चार्षे—

'प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम् ।
चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमश्चाष्टाह्निकोऽपि च ॥
तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति ।
स्वगृहान्नीयमानार्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥
चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत् ।
शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनम् ॥

कृषि, सेवा, व्यापार आदि छह आजीवन कर्मोको यथायोग्य स्वीकार करनेवाले गृहस्थको नित्य पूजा, आष्टाह्निक पूजा, सच्चतुर्मुख पूजा, कल्पद्रुम पूजा और इन्द्रध्वज पूजाको तथा पात्रदत्ति, समक्रियादत्ति, अन्वयदत्ति और दयादत्तिको तथा तप, संयम और स्वाध्यायको करनेके लिए परापर गुरुओंके द्वारा कहे हुए प्रायश्चित्तके द्वारा तथा पक्ष चर्या साधनके द्वारा पापके लेशको दूर करना चाहिए ॥१८॥

विशेषार्थ—भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने महापुराणके ३९वें पर्वमें कर्त्रन्वय क्रियाओंका वर्णन करते हुए दूसरी सद्गृहित्व क्रियाका कथन किया है। उसमें यह सिद्ध किया है कि विशुद्ध वृत्तिको धारण करनेवाले जैन ही सब वर्णोंमें उत्तम हैं। वे ही द्विज हैं। वे ब्राह्मण आदि वर्णोंके अन्तर्गत न होकर वर्णोत्तम हैं। आगे आचार्य कहते हैं[3]—'यहाँ शंका हो सकती है कि जो असि-मषी आदि छह कर्मोंसे आजीविका करनेवाले जैन द्विज अथवा गृहस्थ हैं, उनके भी हिंसाका दोष लग सकता है। इस विषयमें हमारा कहना है कि आजीविकाके लिए छह कर्म करनेवाले जैन गृहस्थोंको थोड़ी-सी हिंसा अवश्य लगती है परन्तु शास्त्रोंमें उन दोषोंकी शुद्धि भी बतलायी गयी है। उनकी विशुद्धिके तीन अंग हैं—पक्ष, चर्या और साधन।' इसीका कथन पं. आशाधरजीने किया है। इन्हीं तीनोंके आधारपर उन्होंने श्रावकके पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक भेद किये हैं। इनसे पूर्व किसी श्रावकाचार आदिमें ये भेद नहीं मिलते।

---

१. महः क—मु. प्र. ।

२. संयमान्—मु. प्र. ।

३. 'स्यादारेका च षट्कर्मजीविनां गृहमेधिनाम् । हिंसादोषोऽनुसंगी स्याज्जैनानां च द्विजन्मनाम् ॥
इत्यत्र ब्रूमहे सत्यं अल्पसावद्यसंगतिः । तत्रास्त्येव तथाप्येषां स्याच्छुद्धिः शास्त्रदर्शिता ॥
अपि चैषां विशुद्ध्यङ्गं पक्षश्चर्या च साधनम् । इति त्रितयमस्त्येव तदिदानीं विवृण्महे ॥'
—महापु. ३९।१४३-१४५ ।

या च पूजा जिनेन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी ।
स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पितः ॥
महामुकुटबद्धैस्तु क्रियमाणो महामहः । ३
चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि ॥
दत्त्वा किमिच्छकं दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते ।
कल्पवृक्षमहः सोऽयं जगदाशाप्रपूरणः ॥ ६
आष्टाह्निको महः सार्वजनिको रूढ एव सः ।
महानैन्द्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो महः ॥
बलिस्नपनमित्यन्यस्त्रिसन्ध्या सेवया समम् । ९
उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम् ॥
एवं विधिविधानेन या महेज्या जिनेशिनाम् ।
विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्रथमकल्पिकीम् ॥ १२
वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात्कृष्यादीनामनुष्ठितिः ।
चतुर्धा वर्णिता दत्तिर्दयादानसमान्वयैः ॥
सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा । १५
त्रिशुद्ध्यनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः ॥
महातपोधनायार्च्या प्रतिग्रहपुरस्सरम् ।
प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते ॥ १८
समानायात्मनाऽन्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः ।
निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम् ॥

आचार्य जिनसेनने गृहस्थके षट्कर्म इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम, तप बतलाये हैं। पं. आशाधरजीने वार्ताको छोड़कर शेष पाँच ही गिनाये हैं क्योंकि धर्म कर्म पाँच ही हैं। वार्ता तो कृषि आदि षट्कर्म रूप है जो आजीविकासे सम्बद्ध है। इन्हीं पाँच कर्मोंमें गुरूपासनाको सम्मिलित करके आचार्य सोमदेवने श्रावकके छह दैनिक कर्म बतलाये हैं और उन्हींका अनुसरण आचार्य पद्मनन्दिने अपनी पंचविंशतिकामें किया है। पं. आशाधरजीने इज्या और दत्तिके भेद भी महापुराणके अनुसार ही किये हैं। महापुराणसे पहलेके उपलब्ध किसी साहित्यमें ये भेद भी नहीं हैं।

आचार्य जिनसेनने इन सबका कथन इस प्रकार किया है—अपने घरसे ले जाये गये गन्ध, पुष्प, अक्षत आदिसे जिनालयमें प्रतिदिन अर्हन्त देवकी पूजा करना नित्यमह है। भक्ति पूर्वक चैत्य-चैत्यालय आदिका निर्माण कराकर उन्हें ग्राम आदि राजकीय नियमानुसार देना भी नित्यमह है। जिनेन्द्रोंको लक्ष्य करके शक्तिके अनुसार दान आदि देना भी नित्यमह है। मुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो पूजा की जाती है उसे महामह, चतुर्मुख और

१. दयापात्रसमा—मु.।

२. 'इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः।'—महापु. ३८।२४।

३. 'देवसेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमं तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥'—सो. उपा. ९११ श्लो.।

४. देवपूजा.......।६।७।

समानदत्तिरेषा स्यात्पात्रे मध्यमतामिते।
समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता श्रद्धयान्विता ॥
आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः।
समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनम् ॥
सैषा सकलदत्तिः स्यात् स्वाध्यायः श्रुतभावना ।
तपोऽनशनवृत्त्यादि संयमो व्रतधारणम् ॥' [महापु., ३८।२६-४१]

वणिज्यादि । आदिशब्देन मषीविद्याशिल्पानि गृह्यन्ते । उक्तं च—

'असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढाः स्युः प्रजाजीवनहेतवः ॥' [महापु. १६।१७९]

शुद्धया—प्रायश्चित्तेन । आमोदितया—परापरगुरुनिवेदितया ।

उक्तं चार्षे—

'स्यादारेका च षट्कर्मजीविनां गृहमेधिनाम्।
हिंसादोषोऽनुषङ्गी स्याज्जैनानां च द्विजन्मनाम् ॥
इत्यत्र ब्रूमहे सत्यमल्पसावद्यसङ्गतिः।
तत्रास्त्येव तथाऽप्येषां स्याच्छुद्धिः शास्त्रदर्शिता ॥
अपि चैषां विशुद्धयङ्गं पक्षश्चर्या च साधनम्।
इति त्रितयमस्त्येव तदिदानीं विवृण्महे ॥
तत्र पक्षो हि जैनानां कृत्स्नहिंसाविसर्जनम्।
मैत्री प्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यैरुपबृंहितम् ॥
चर्यार्थं देवतार्थं वा मन्त्रसिद्ध्यर्थमेव वा।
औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामीति चेष्टितम् ॥

सर्वतोभद्र कहते हैं। चक्रवर्ती सम्राट्द्वारा प्रजाको उसकी इच्छानुसार दान देकर जो पूजा कीजाती है वह कल्पवृक्ष पूजा है। अष्टाह्निक पूजा तो सार्वजनिक है सब उसे जानते हैं। इन्द्रके द्वारा की गयी पूजाको इन्द्रध्वज पूजा कहते हैं। तीनों सन्ध्याओंमें देवताराधनाके साथ जो अभिषेक उपहार आदि किये जाते हैं वह सब भी उक्त भेदोंमें ही जानना। इस प्रकार विधि-विधानके साथ जो जिनेन्द्र देवोंकी पूजा की जाती है विधि-विधानको जाननेवाले उसे इज्या कहते हैं। विशुद्ध वृत्तिसे कृषि आदि करनेको वार्ता कहते हैं। दानके चार भेद हैं। प्रतिग्रह पूर्वक महातपस्वियोंकी पूजाके साथ जो उन्हें भोजन आदि देना है वह पात्रदान है। क्रिया, मन्त्र, व्रत आदिमें जो अपने समान श्रेष्ठ श्रावक हैं उन्हें भूमि, स्वर्ण आदि देना समदत्ति है। अपने वंशकी प्रतिष्ठाके लिए अपने पुत्रको जो धनादिकके साथ अपने परिवारका भार दिया जाता है वह सकलदत्ति है। दयाके योग्य प्राणियोंको अभयदान देना दयादत्ति है। श्रुतकी भावनाको स्वाध्याय कहते हैं। उपवास आदिको तप कहते हैं और व्रतधारणको संयम कहते हैं। असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य, शिल्प ये छह कर्म प्रजाके जीवन-यापनमें कारण हैं। षट्कर्मसे आजीविका करनेवाले गृहस्थोंको यद्यपि अल्प पाप होता ही है तथापि उसकी शुद्धिके लिए पक्ष, चर्या साधन कहे हैं। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाके साथ समस्त हिंसाके त्यागको चर्या कहते हैं कि मैं देवताके लिए, मन्त्रसिद्धिके लिए, औषध और आहारके लिए हिंसा नहीं करूँगा। अनिच्छापूर्वक होनेवाली

तत्राकामकृते शुद्धिः प्रायश्चित्तैर्विधीयते ।
पश्चाच्चात्मान्वयं सूनौ व्यवस्थाप्य गृहोज्झनम् ॥
चर्येषा गृहिणां प्रोक्ता जीवितान्ते तु साधनम् ।
देहाहारेहितत्यागाद् ध्यानशुद्धयात्मशोधनम् ॥' [महापु., ३९।१४३–१४९] ॥१८॥

एतदेव संगृह्णन्नाह—

स्यान्मैत्र्याद्युपबृंहितोऽखिलवधत्यागो न हिंस्यामहं
धर्माद्यर्थमितीह पक्ष उदितं दोषं विशोध्योज्झतः ।
सूनौ न्यस्य निजान्वयं गृहमथो चर्या भवेत्साधनं
त्वन्तेऽन्नेहतनूज्झनाद्विशदया ध्यात्यात्मनः शोधनम् ॥१९॥

अखिलवधः । अखिलोऽनृतादिसहितो वधः प्राणातिपातः । स चेह सागारधर्मप्रक्रमात् त्रसविषय एव । धर्माद्यर्थं—धर्मार्थं देवार्थं मन्त्रसिद्धयर्थमौषधार्थमाहारार्थं वा । यदाह—

'देवातिथि-मन्त्रौषध-पित्रादिनिमित्ततोऽपि संपन्ना ।
हिंसा धत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥' [अमित. श्रा., ६।२९]

इह—एषु पक्षादिषु मध्ये । उक्तं च चारित्रसारे—'अहिंसा परिणामत्वं पक्षः' इति । उदितं—कृष्याद्यारम्भद्वारेणोत्पन्नम् । दोषं—हिंसादिकम् । विशोध्य—विधिपूर्वकं प्रायश्चित्तशास्त्रोक्तविधानेन निराकृत्य । सूनौ—पुत्रे । तदसंभवे तत्तुल्ये वंश्येऽपि । अथो—पक्ष संस्कारानन्तरं वैराग्यपरिणामे प्रत्यह-

---

हिंसाकी विशुद्धि प्रायश्चित्त द्वारा की जाती है । पश्चात् अपने घरका सब भार पुत्रको सौंपकर गृह त्याग देना चर्या है और जीवनके अन्तमें भोजनादिका त्याग करके ध्यानशुद्धिके द्वारा आत्माका शोधन करना साधन है । महापुराणके ३८वें पर्वमें गर्भान्वय क्रियाके वर्णनमें भी ऐसा कहा है ॥१८॥

आगे पक्ष चर्या साधनका स्वरूप कहते हैं—

मैं धर्मके लिए, देवताके लिए, मन्त्रसिद्धिके लिए, औषधके लिए और आहारके लिए प्राणिघात नहीं करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करके मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनासे वृद्धिको प्राप्त असत्य आदिसे सहित हिंसाको त्यागना पक्ष है । पक्ष संस्कारके बाद प्रतिदिन वैराग्य परिणाम बढ़नेपर कृषि आदिमें लगे हुए हिंसा आदि दोषोंका शास्त्रोक्त विधानके द्वारा शोधन करके और पुत्रपर अपने धन, परिवार और धर्मायतनोंका भार सौंपकर घर छोड़ना चर्या है । पुनः लगे हुए दोषोंको प्रायश्चित्तके द्वारा शुद्ध करके अन्तमें आहार, शरीरचेष्टा और शरीरका परित्याग करके निर्मल ध्यानके द्वारा आत्माकी शुद्धि करना साधन है ॥१९॥

विशेषार्थ—यहाँ पक्षचर्या-साधनका स्वरूप कहा है । पक्षमें झूठ, चोरी आदि पापोंके साथ हिंसाका त्याग किया जाता है । यतः सागारधर्मका प्रकरण है अतः त्रसहिंसाका ही त्याग लेना चाहिए । तथा मन्दकषायी भी गृहस्थ चूँकि घरमें रहता है गृहस्थीके सब काम

---

१. तत्र पक्षो हि जैनानां कृत्स्नहिंसाविवर्जनम् । मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यैरुपबृंहितम् ॥
चर्या तु देवतार्थं वा मन्त्रसिद्धयर्थमेव वा । औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामीति चेष्टितम् ॥
तत्राकामकृते शुद्धिः प्रायश्चित्तैर्विधीयते । पश्चाच्चात्मालयं सूनौ व्यवस्थाप्य गृहोज्झनम् ॥
चर्येषा गृहिणां प्रोक्ता जीवितान्ते च साधनम् । देहाहारेहितत्यागात् ध्यानशुद्धयात्मशोधनम् ॥
—महापु. ३९।१४६–१४९ ।

मारोहति सतीत्यर्थः। उक्तं च चारित्रसारे—'हिंसासंभवे प्रायश्चित्तविधिना विशुद्धः सन् परिग्रहपरित्यागकरणे सति स्वगृहं धर्मं च वंश्याय समर्प्य यावद् गृहं परित्यजति तावदस्य चर्या भवतीति। आर्षेऽप्युक्तमष्टाविंशतितमे [-ष्टत्रिंशत्तमे] पर्वणि गर्भान्वयक्रियावर्णने—

'कुलचर्यामनुप्राप्तो धर्मे दार्ढ्यमथोद्वहन्।
गृहस्थाचार्यभावेन संश्रयेत् स गृहीशिताम् ॥
सोऽनुरूपं ततो लब्ध्वा सूनुमात्मभरक्षमम्।
तत्रारोपितगार्हस्थ्यः सत्प्रशान्तिमतः श्रयेत् ॥
विषयेष्वनभिष्वङ्गो नित्यं स्वाध्यायशीलता।
नानाविधोपवासैश्च वृत्तिरिष्टा प्रशान्तता ॥' इत्यादि।

[महापु०, ३८।१४४, १४८–१४९]

चर्या—दर्शनिकादारभ्यानुमतिविरतं यावदुपासकाचारः।

तथा च वक्ष्यति—'इति चर्यां गृहत्यागपर्यन्तामित्यादि।

अत्र सुविधिमहाराजो दृष्टान्तः। अन्ते—गृहत्यागावसाने मरणे चासन्ने। तु शब्दात् 'उदितं दोषं विशोध्य' इत्यनुवृत्याऽत्रापि योज्यम्। अन्नेत्यादि। ईहा—शरीरचेष्टा। नियतकालं यावज्जीवं चेत्युपस्कारः। ध्यात्या—ध्यानेन। प्रपञ्चयिष्यते चैतदुत्तरत्र ॥१९॥

करता है, आरम्भ करता है अतः आरम्भी हिंसाको तो नहीं छोड़ सकता, केवल संकल्पी हिंसा को ही छोड़ सकता है क्योंकि आरम्भी हिंसा तो गृहस्थको अवश्य होती है। उसी संकल्पी हिंसाके चार रूप हैं, धर्म मानकर लोग पशुओंकी बलि देते हैं। जैसे यज्ञोंके समयमें पशु होम होता था। मनुस्मृतिमें इसका विधान है। काली आदि देवताओंके लिए तो आज भी बलि प्रचलित है। मन्त्र सिद्धिके लिए भी तान्त्रिक-मान्त्रिक मनुष्य तककी बलि दिया करते थे। औषधि और आहारके लिए तो आज भी प्रतिदिन करोड़ों पशु मारे जाते हैं। इस तरह संकल्पी हिंसाके ये पाँच प्रचलित द्वार हैं। अतः जिसे जैनत्वका पक्ष होता है वह सबसे प्रथम इन पाँच कामोंके लिए जीव वध न करनेका नियम लेता है। इसके बिना वह जन कहलानेका भी पात्र नहीं है। इसके साथ ही उसमें चार भावनाएँ भी होनी चाहिए। पहली हैं मैत्री भावना, संसारके प्राणिमात्रको अपना मित्र मानना और अपनेको उनका मित्र मानकर एक मित्रकी तरह उनके दुःख और कष्टोंको दूर करनेका प्रयत्न मैत्री है। जो गुणी जन हैं, ज्ञानी हैं, तपस्वी हैं, परोपकारी हैं उनके प्रति प्रमोद भाव होना, उन्हें देखते ही आनन्दसे गद्गद हो उनका सम्मान आदि करना प्रमोद है। जो कष्टमें हों, दीन दुःखी हों, करुणा बुद्धिसे उनका साहाय्य करना कारुण्य भावना है। और ऐसे भी लोग होते हैं जो अच्छी शिक्षा देनेपर भी रुष्ट होते हैं उनके प्रति माध्यस्थ भाव अर्थात् उनसे राग-द्वेष न करके उपेक्षा करना यह चौथी भावना ह। इन भावनाओंसे उक्त अहिंसाव्रतमें वृद्धि होती है। इस तरह जब वह परिपक्व हो जाता है तो अपने दोषोंका प्रायश्चित्त करके दर्शनिक आदि प्रतिमाके व्रत पालता है। अर्थात् ज्यों-ज्यों उसमें रागादिकी हीनता होनेसे निर्मल चिद्रूपकी अनुभूति बढ़ती जाती हैं त्यों-त्यों वह बाह्य त्यागकी ओर भी विशेष बढ़ता जाता है। इस तरह दर्शनिकसे लेकर अनुमति विरत तक जितना श्रावकाचार है वह सब चर्यामें गर्भित है। अनुमति विरतके बाद वह अपने पुत्र या योग्य दत्तकपर सब भार छोड़कर घर छोड़ देता है। यहाँ अन्तसे दो अभिप्राय हैं—घर छोड़ देनेपर और मरण समयमें। घर छोड़नेपर कुछ नियत समयके

अथ पक्षादिकल्पनाद्वारेण कृतावतारान् श्रावकस्य त्रीन् प्रकारानुद्दिश्य संक्षेपेण लक्षयन्नाह—

पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः ।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिकः साधकः स्वयुक् ॥२०॥

पाक्षिकः—पक्षेण चरति दीव्यति जयति वा । तद्धर्मगृह्यः—तस्य श्रावकस्य धर्मः एकदेशहिंसाविरतिरूपं व्रतं गृह्यः पक्षः प्रतिज्ञाविषयो यस्यासौ प्रारब्धदेशसंयमः । श्रावकधर्मस्वीकारपर इत्यर्थः । तन्निष्ठः—तत्र तद्धर्मे निष्ठा निर्वहणं यस्यासौ घटमान देशसंयमो निरतिचारश्रावकधर्मनिर्वाहपर इत्यर्थः । स्वयुक्—स्वस्मिन्नात्मनि युक् समाधिर्यस्यासौ निष्पन्नदेशसंयम आत्मध्यानतत्पर इत्यर्थः । वक्ष्यति च—

'प्रारब्धो घटमानो निष्पन्नश्चार्हतस्य देशयमः ।
योग इव भवति यस्य त्रिधा स योगीव देशयमी ॥' इति । भद्रम् ।

इत्याशाधरदृब्धायां धर्मामृतपञ्जिकायां ज्ञानदीपिकापरसंज्ञायां
दशमोऽध्यायः समाप्तः ।

अत्राध्याये पञ्चदशोत्तराणि त्रिशतानि अङ्कतः । ३१५ ।

लिए भोजन, शारीरिक चेष्टा और शरीरका ममत्व त्यागकर निर्मल ध्यानके द्वारा आत्मासे रागादि दोषोंको दूर करना भी साधन है यह ग्यारहवीं प्रतिमाके पालन रूप है। और मरते समय जीवन पर्यन्तके लिए ऐसा करना भी साधन है। आत्माकी शुद्धि तो रागादि दोषोंके छोड़नेसे ही होती है और उसके लिए ऐसे ही शुद्ध ध्यानकी आवश्यकता है जो रागादि दोषसे दूषित न हो। धर्मका एकमात्र उद्देश यही है ॥१९॥

अब पक्ष आदि भेदोंके द्वारा श्रावकके तीन भेदोंका अवतार करके संक्षेपसे उनका लक्षण कहते हैं—

पाक्षिक, नैष्ठिक और साधकके भेदसे श्रावकके तीन भेद हैं। उनमें-से जो एकदेश हिंसा विरतिरूप श्रावक धर्मका पक्ष लेता है अर्थात् उसका पालन करना स्वीकार करता है वह पाक्षिक है। और जो उसमें निष्ठा रखता है अर्थात् निरतिचार श्रावक धर्मका निष्ठापूर्वक निर्वाह करता है वह नैष्ठिक है। जो अपनेमें समाधि लगाता है अर्थात् समाधिपूर्वक मरण साधता है वह साधक है ॥२०॥

विशेषार्थ—पहला भेद देससंयमकी प्रारम्भिक अवस्थाको बतलाता है, दूसरा भेद उसकी मध्यम अवस्थाको बतलाता है और तीसरा भेद उसकी पूर्णदशाको बतलाता है ॥२०॥

इस प्रकार पं. आशाधर रचित धर्मामृतके अन्तर्गत सागारधर्मामृतकी स्वोपज्ञसंस्कृत टीकानुसारिणी हिन्दी टीकामें प्रारम्भसे दसवाँ और सागार धर्मकी अपेक्षा प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥

एकादश अध्याय (द्वितीय अध्याय)

अथ पाक्षिकाचारं प्रपञ्चयितुकामः प्रथमं तावद्यादृशस्य भव्यस्य सागारधर्माभ्युपगमो धर्माचार्यैरभ्यनुज्ञायते तादृशं तद्दर्शयन्नाह—

त्याज्यानजस्रं विषयान् पश्यतोऽपि जिनाज्ञया ।
मोहात्त्यक्तुमशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते ॥१॥

पश्यतः—प्रतिपद्यमानस्य । एतेन सम्यग्दर्शनशुद्धस्येत्युक्तं स्यात् । मोहात्—प्रत्याख्यानावरणलक्षणचारित्रमोहोद्रेकात् । यदाह—

'विषयविषमाशनोत्थितमोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य ।
निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रमः श्रेयान् ॥' [   ]

इस प्रकार पहले अध्यायमें सागार धर्मकी सूचना मात्र करके विस्तारसे पाक्षिक श्रावकका आचार कथन करनेकी इच्छासे ग्रन्थकार सबसे प्रथम जिस प्रकारके भव्य जीवको धर्माचार्योंने सागारधर्म पालनेकी अनुज्ञा दी है, उसको बतलाते हैं—

जिनेन्द्रदेवकी आज्ञासे इष्ट स्त्री आदि विषयोंको न सेवने योग्य जानते हुए भी जो प्रत्याख्यानावरण नामक चारित्र मोहके तीव्र उदयके कारण त्यागनेमें असमर्थ हैं उन्हें धर्माचार्य गृहस्थ धर्म पालनेकी अनुज्ञा देते हैं ॥१॥

विशेषार्थ—पुरुषार्थसिद्धयुपायके प्रारम्भमें आचार्य अमृतचन्द्रजीने कहा है कि मुनीश्वरोंकी वृत्ति अलौकिक होती है वह पाप क्रियासे युक्त आचारसे विमुख और सर्वथा विरतिरूप होती है। यतः श्रावकका आचार पापक्रियासे मिला होता है अतः मुनि उससे विमुख होकर केवल निजस्वरूपका अनुभव करते हैं। इसीलिये वे गृहस्थाचारका उपदेश न देकर समस्तविरतिरूप मुनिधर्मका ही उपदेश देते हैं। किन्तु बार-बार समस्तविरति रूप मुनिधर्मका उपदेश देनेपर भी जो ग्रहण नहीं करता उसे श्रावक धर्मका उपदेश करते हैं। किन्तु जो अल्प बुद्धि मुनि मुनि धर्मका उपदेश न देकर गृहस्थ धर्मका ही उपदेश करता है उसे जिनागममें दण्डके योग्य कहा है क्योंकि इस तरह मुनिधर्मका कथन न करके गृहस्थ धर्मका कथन करनेसे श्रोता यदि मुनिधर्म धारण करनेके लिए उत्साहित हो तो उस दुर्बुद्धिके

---

१. 'अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा ।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥
बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति ।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥
यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥
अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः ।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना' ॥—पुरुषार्थ. १६-१९ ।

अनुमन्यते—एकदेशविरतिमहं करिष्यामीति प्रतिपद्यमानो गृही सूरिभिरोमित्यनुज्ञायत इत्यर्थः। एतेन स्थावरवधानुमतिदोषानुषङ्गोऽचार्याणां परिहृतो भवति। तथा चोक्तम्—

'सर्वविनाशी जीवस्त्रसहननं त्याज्यते यतो जैनैः।
स्थावरहननानुमतिस्ततः कृता तैः कथं भवति ॥' [अमित. श्रा., ६।१८] ॥१॥

अथ पाक्षिकस्य निर्मलसम्यक्त्वपूर्वानिष्टौ मूलगुणाननुष्ठेयतया प्रतिष्ठापयितुमाह—

तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम्।
मद्यमांसमधून्युज्झेत्पञ्चक्षीरिफलानि च ॥२॥

जैनीमाज्ञाम्—

'विकल्पसुखसंतुष्टो विमुखः स्वात्मजे सुखे।
गुञ्जाग्नितापसन्तुष्टशाखामृगसमो जनः ॥' [ ]
'मांसाशिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु।
आनृशंस्यं न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु ॥' [सोम. उपा., २९३ श्लो.]

द्वारा गृहस्थ धर्ममें ही सन्तुष्ट होकर रह जानेसे ठगा जाता है। अतः ऊपर कहा है कि धर्माचार्य उसे ही गृहस्थ धर्म पालन करनेकी अनुज्ञा देते हैं जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध होनेसे यह जानता है कि वीतराग सर्वज्ञदेवका शासन अनुल्लंघ्य है और उसमें संसारके विषयोंको त्याज्य कहा है। किन्तु ऐसा जानते हुए भी उसने अपने अविचारित कार्योंके द्वारा जो चारित्र मोहनीय कर्मका बन्ध किया हुआ है उसके तीव्र विपाकसे वह उन्हें छोड़नेमें असमर्थ होता है। अनन्तानुबन्धी कषायसे जो परतन्त्र होते हैं वे तो विषयोंको सेवनीय ही मानते हैं। वे मिथ्यादृष्टि होते हैं, उनकी यहाँ बात नहीं है। जो उससे छूटकर यह तो दृढ़ आस्था रखते हैं कि ये सेवनीय नहीं हैं किन्तु छोड़नेमें असमर्थ होते हैं, वे नियम करते हैं कि मैं एकदेश-विरतिको अर्थात् श्रावकके आचारको पालूँगा। और आचार्य उन्हें अनुज्ञा देते हैं। इससे आचार्यपर यह दोषारोपण भी नहीं हो सकता कि उन्होंने श्रावकको स्थावर जीवोंका घात करनेकी अनुमति दी है। अतः ठीक ही कहा है कि जो व्यक्ति सब प्रकारकी हिंसामें आसक्त है उससे यदि जैनाचार्य त्रसहिंसाका त्याग कराते हैं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उन्होंने स्थावर जीवोंको मारनेकी स्वीकृति दी है। वे तो उससे सभी प्रकारकी हिंसा छुड़ाना चाहते हैं ॥१॥

अब सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध पाक्षिक श्रावकको अहिंसाकी सिद्धिके लिए मद्य आदिके त्यागमें लगाते हैं—

गृहस्थ धर्ममें सबसे पहले जिनागमकी आज्ञाका श्रद्धान करते हुए हिंसाको छोड़नेके लिए देश संयमकी ओर उन्मुख पाक्षिक श्रावकको मद्य, मांस, मधु, पाँच क्षीरिफलोंको और 'च' शब्दसे लिये गये मक्खन, रात्रिभोजन और बिना छने जल आदिको छोड़ना चाहिए ॥२॥

विशेषार्थ—यहाँ यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि जब गृहस्थ सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध होता है तब अहिंसाकी सिद्धिके लिए मद्य-मांस आदिका त्याग करता है। मद्य-मांस आदिके त्यागका सम्यग्दर्शनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ, सम्यक्त्व होनेपर उसकी उनसे अरुचि हो जाती है। जैन घरानोंमें मद्य-मांसका सेवन न करना कुलधर्म है। इसी तरह जैनेतर भी बहुत-से ऐसे धार्मिक घराने हैं जैसे, वैष्णव आदि, उनमें भी मद्य-मांसका सेवन नहीं है। किन्तु इससे उन्हें पाक्षिक श्रावक नहीं माना जा सकता। पाक्षिक श्रावककी श्रेणीमें तो वही आता

इत्यादिकाम् । एतेनेदमुक्तं भवति तत्तादृग्जिनाज्ञाश्रद्धानेनैव मद्यादिविरतिं कुर्वन् देशव्रती स्यात् न कुलधर्मादिबुद्ध्या । 'च' अनेन नवनीत-रात्रिभुक्त्यगालितपानीयादिकमनुक्तं समुच्चीयते ॥२॥

अथ स्वमतपरमताभ्यां मूलगुणान् विभजते—

अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादि वा ।
फलस्थाने स्मरेत् द्यूतं मधुस्थान इहैव वा ॥३॥

एतान्—उपासकाध्ययनादि शास्त्रानुसारिभिरस्माभिः पूर्वमनुष्ठेयतयोपदिष्टान् । उक्तं च यशस्तिलके—

'मद्यमांसमधुत्यागाः सहोदुम्बरपञ्चकैः ।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥' [सो. उपा. २७० श्लो.]

फलस्थाने—पञ्चोदुम्बरफलप्रसङ्गे तन्निवृत्तौ वा । मद्यमांसमधु विरति त्रयं पञ्चाणुव्रतानि चाष्टौ मूलगुणानीत्यर्थं.... भगवन्तः स्वामिसमन्तभद्रपादाः—

है जो जिन वचनोंपर श्रद्धान करके मद्य-मांस आदिका त्याग करता है। मात्र कुल परम्परासे उनका सेवन करने मात्रसे पाक्षिक श्रावक नहीं हो सकता। अतः जैन घरानोंमें जन्म लेनेवालोंको भी जिनागमके कथनको जानकर और उसपर श्रद्धा रखकर नियमानुसार मद्यादिका त्याग करना चाहिए। केवल न सेवन करनेसे वे व्रती नहीं माने जा सकते। जो मद्यादिका नियमानुसार व्रत लेता है वह फिर कुसंगतिमें पड़कर भी मद्यादिका सेवन नहीं करता। किन्तु जो अपने घरके कारण मद्यादिका सेवन नहीं करते वे संगति दोषसे उसका सेवन करने लगते हैं। आज यही हो रहा है। होटलोंके खान-पानसे, कुल धर्म बुद्धिसे मद्य-मांसका सेवन न करनेवाले भी सेवन करने लगते हैं।

हिंसाके दो प्रकार हैं—भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। मद्यादिके सेवनमें अनुराग होना भावहिंसा है और मद्यपानसे उसमें रहनेवाले जीवोंका घात होना या मांसके लिए जीव-वध होना द्रव्यहिंसा है। इन दोनों ही प्रकारकी हिंसाको छोड़नेसे ही अहिंसाकी सिद्धि हो सकती है और उसीके लिए सबसे प्रथम यह स्थूल त्याग कराया गया है। क्षीरिफल कहते हैं—बड़, पीपल, पाकर, गूलर और कठूमरके फलोंको। इनमें साक्षात् त्रसजीव पाये जाते हैं। इसीसे गूलरका एक नाम जन्तु फल भी है। अंजीर भी इन्हींकी जातिका है। त्रसहिंसासे बचनेके लिए इनका त्याग कराया जाता है ॥२॥

अब ग्रन्थकार अपने तथा अन्य आचार्योंके मतसे मूलगुणोंको कहते हैं—

आचार्य मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागको गृहस्थोंके आठ मूलगुण मानते हैं। अथवा पाँच फलोंके त्यागके स्थानमें पाँच स्थूल हिंसा आदिके त्यागको गृहस्थोंके मूलगुण कहते हैं। अथवा मद्य, मांस, मधु तथा पाँच स्थूल हिंसा आदिके त्यागरूप आठ मूल गुणोंमें ही मधुके स्थानमें जुएके त्यागको आठ मूलगुण मानते हैं ॥३॥

विशेषार्थ—आचार्य कुन्दकुन्द और उमास्वामीने अपने श्रावकाचारके वर्णनमें मूल गुणका कोई निर्देश नहीं किया। श्वेताम्बर साहित्यमें भी श्रावकके मूलगुणोंकी कोई चर्चा नहीं है। सबसे प्रथम आचार्य समन्तभद्रके रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें श्रावकके आठ मूलगुण कहे हैं। वे हैं—मद्य, मांस, मधुके त्यागके साथ पाँच अणुव्रत। इन्हींको ग्रन्थकारने 'वा' शब्दसे सूचित किया है। इन्हीं अष्ट मूल गुणोंमें मधुके स्थानमें जुआका

१. 'उदुम्बरो जन्तुफलो'—अमरकोष २।४।२२

'मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥' [रत्न. श्रा., ६६ श्लो]

'स्मरेत्' एतेन सर्वत्र यमनियमादौ मुमुक्षुणा स्मरणपरेण भवितव्यमिति लक्षयति। द्यूतमित्यादि। इहैव—अस्मिन्नेव स्वाम्युक्ताष्टमूलगुणपक्षे मधुस्थाने द्यूतं स्मरेत् । तथा चोक्तं महापुराणे—

'हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात् ।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरति गृंहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥'
[चारित्रसार., पृ. ६१] ॥३॥

त्यागकर मद्य, मांस और द्यूत तथा स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म और स्थूल परिग्रहका त्याग ये आठ मूल गुण ग्रन्थकारने महापुराणके मतसे कहे हैं। और प्रमाण रूपसे श्लोक भी उद्धृत किया है। किन्तु महापुराणके मुद्रित संस्करणोंमें वह श्लोक नहीं मिलता। चारित्रसारमें यह श्लोक उद्धृत है और वह भी महापुराणके नामसे। ज्ञात होता है, आशाधरजीने भी उसे वहींसे उद्धृत किया है। महापुराणमें तो व्रतावतरण क्रियामें मधु-मांसके त्याग तथा पंच उदुम्बरोंके त्याग और हिंसादि विरतिको सार्वकालिक व्रत कहा है। मूलगुणका भी नाम नहीं है। न मधुके स्थानमें जुएका ही त्याग कराया है। आगे जो पाँच अणुव्रतोंके स्थानमें पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागको अष्ट मूल गुणोंमें लिया गया उसका प्रारम्भ महापुराणसे ही हुआ प्रतीत होता है। पुरुषार्थ सिद्धयुपायमें भी सर्वप्रथम हिंसाके त्यागीको मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलोंको छोड़नेका विधान है किन्तु उन्हें मूलगुण शब्दसे नहीं कहा है। सबसे प्रथम पुरुषार्थ सिद्धयुपायमें ही इन आठोंमें होनेवाली हिंसाका स्पष्ट कथन मिलता है और इन्हें अनिष्ट, दुस्तर और पापके घर कहा है तथा यह भी कहा है कि इन आठोंका त्याग करनेपर ही सम्यग्दृष्टि जीव जिनधर्मकी देशनाका पात्र होते हैं। इसके बाद आचार्य सोमदेवने अपने उपासकाचारमें और आचार्य पद्मनन्दिने पंचविंशतिकामें स्पष्ट रूपसे इन आठोंके त्यागको मूलगुण कहा है और उन्हींका अनुसरण आशाधरजीने किया है। आचार्य अमितगतिने जो आचार्य सोमदेव और पद्मनन्दिके मध्यमें हुए हैं, अपने श्रावकाचारमें इन आठोंके साथ रात्रि-भोजनका भी त्याग आवश्यक माना है किन्तु उन्हें मूलगुण शब्दसे नहीं कहा। देवसेनके भावसंग्रहमें भी (गा. ३५६) अष्ट मूल गुणका निर्देश है। शिवकोटिकी रत्नमालामें एक विशेषता है उसमें मद्य, मांस और मधुके त्यागके साथ पाँच अणुव्रतोंको अष्ट मूल गुण कहा है। और पाँच उदुम्बरोंके त्यागवाले अष्ट मूल गुणको बालकोंके कहा है। पं. आशाधरके उत्तरकालीन मेधावीने अपने श्रावकाचारमें मद्यादि तीन

१. 'मद्यमांसपरित्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम् । हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात् सार्वकालिकम्' ॥—३८।१२२ ।

२. 'मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन । हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥
अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य । जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः' ॥
—पुरुषार्थ., ६१ तथा ७४ श्लो.

३. 'त्याज्यं मांसं च मद्यं च मधूदुम्बरपञ्चकम् । अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः' ॥
—पद्म. पञ्च. ६।२३

४. 'मद्यमांसमधुरात्रिभोजनं क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा ।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम्' ॥—अमि. श्रा. ५।१

५. 'मद्यमांसमधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नुः । अष्टौ मूलगुणाः पञ्चोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि ॥'—शि. रत्न.

अथ मद्यस्य जन्तुभूयिष्ठतानुवादपुरस्सरमुपयोक्तॄणामुभयलोकबाधकत्वमुपदर्शयन्नवश्यत्याज्यतामभिधत्ते-यदीत्यादि—

यदेकबिन्दोः प्रचरन्ति जीवा-
श्चेत्तत् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति ।
यद्विक्लवाश्चेममम् च लोकं
यस्यन्ति तत्कश्यमवश्यमस्येत् ॥४॥

उक्तं च—

'मद्यैकबिन्दुसंपन्नाः प्राणिनः प्रचरन्ति चेत् ।
पूरयेयुर्न संदेहः समस्तमपि विष्टपम् ॥' [सो. उपा., २७५ श्लो.]

यद्विक्लवाः—येन मोहितमतयः । इमम्—इह लोकम् । यस्यन्ति—भ्रंशयन्ति, श्रेयोरहितं कुर्वन्तीत्यर्थः । कश्यं—मद्यम् । अस्येत्—त्यजेत् । उक्तं च—

'मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाच्च दुर्गतेः ।
मद्यं सद्भिः सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत् ॥' [सो. उपा., २७६ श्लो.]

अपि च—

'मद्ये मोहो भयं शोकः क्रोधो मृत्युश्च संश्रितः ।
सोन्मादमदमूर्च्छायाः सापस्मारापतानकाः ॥
विवेकः संयमो ज्ञानं सत्यं शौचं दया क्षमा ।
मद्यात्प्रलीयते सर्वं तृण्या वह्निकणादिव ॥' [ ] ॥४॥

तथा पाँच उदुम्बर फलोंके सातिचार त्यागको अष्ट मूल गुण कहा है। और पं. राजमल्लने अपनी पंचाध्यायीके उत्तरार्धमें आठ मूल गुणोंका कथन करते हुए उनके बारेमें जो विशेष कथन किया है वह इस प्रकार है कि 'व्रतधारी गृहस्थोंके आठ मूल गुण होते हैं। कहीं-कहीं अव्रतियोंके भी होते हैं क्योंकि ये सर्वसाधारण हैं। ये आठ मूल गुण स्वभावसे या कुल-परम्परासे चले आते हैं। इनके बिना न सम्यक्त्व होता है और न व्रत। इनके बिना जब जीव नामसे भी श्रावक नहीं हो सकता तब पाक्षिक, नैष्ठिक और साधककी तो बात ही क्या है। जिसने मद्य, मांस और मधुका और पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग कर दिया है वह नामसे श्रावक है। त्याग न करनेपर नामसे भी श्रावक नहीं है।'

इस तरह विविध श्रावकाचारोंमें अष्ट मूल गुणोंके सम्बन्धमें विवेचन मिलता है ॥३॥

अब मद्यमें जीवोंकी बहुलता होनेसे उसके सेवन करनेवाले इस लोक और परलोकको नष्ट करते हैं, यह बतलाकर उसको अवश्य छोड़नेका आग्रह करते हैं—

जिस मद्यकी एक बूँदसे यदि उसमें पैदा होनेवाले जन्तु बाहर फैलें तो समस्त संसार उनसे भर जाये। तथा जिस मद्यको पीकर उन्मत्त हुए प्राणी अपने इस जन्म और दूसरे जन्मको भी दुःखमय बना लेते हैं, उस मद्यको अवश्य छोड़ना चाहिए ॥४॥

१. 'तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम् । क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधारणा इमे ॥
निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम् । तद्विना न व्रतं यावत् सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ॥
एतावता विनाप्येषः श्रावको नास्ति नामतः । किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथवा ॥
मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चकः । नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथाऽपि तथा गृही ॥'
—पञ्चाध्यायी, उत्त. ७२३-७२६ श्लो. ।

अथ मद्यपानस्य द्रव्यभावहिंसानिदानत्वमनूद्य तन्निवृत्तिप्रवृत्तिशीलानां गुणदोषौ दृष्टान्तद्वारेण स्पष्टयन्नाह—

पीते यत्र रसाङ्गजीवनिवहाः क्षिप्रं म्रियन्तेऽखिलाः
कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतयः सावद्यमुद्यन्ति च ।
तन्मद्यं व्रतयन्न धूर्तिलपरास्कन्दीव यात्यापदं
तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचारं चरन्मज्जति ॥५॥

उक्तं च—

'समुत्पद्य विपद्येह देहिनोऽनेकशः किल ।
मद्यीभवन्ति कालेन मनोमोहाय देहिनाम् ॥' [सो. उपा., २७४ श्लो.]

भ्रमः—मिथ्याज्ञानं शरीरभ्रमणं च । सावद्यं—पापेन निन्दया वा सह । उक्तं च—

'अभिमानभयजुगुप्सा-हास्यारतिकाम-शोक-कोपाद्याः ।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च नैरकसन्निहिताः ॥' [पुरुषार्थ., ६४ श्लो.]

व्रतयन्—व्रतं कुर्वन् । अमद्यपकुलजातोऽपि देवादिसाक्षिकं निवर्तयन्नित्यर्थः । धूर्तिलपरास्कन्दीव—धूर्तिलनामा चोरो यथा । उक्तं च—

'हेतुशुद्धेः श्रुतेर्वाक्यात्पीतमद्यः किलैकपात् ।
मांस-मातङ्गिकासङ्गमकरोन्मूढमानसः ॥' [सो. उपा., २७७ श्लो.] ॥५॥

अब मद्यपानको द्रव्यहिंसा और भावहिंसाका कारण बतलाकर उसको पीनेवालेके दोष और नहीं पीनेवालेके गण दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जिस मद्यके पीते ही मद्यके रससे पैदा होनेवाले तथा मद्यमें रस पैदा करनेवाले जीवोंके समूह मद्यपान करते ही तत्काल मर जाते हैं तथा पाप और निन्दाके साथ काम, क्रोध, भय, भ्रम प्रमुख दोष उत्पन्न होते हैं, उस मद्यका व्रत लेनेवाला धूर्तिल नामक चोरकी तरह विपत्तिमें नहीं पड़ता। और उस मद्यको पीनेवाला मनुष्य एकप नामके संन्यासीकी तरह दुराचार करता हुआ दुर्गतिके दुःखमें डूबता है ॥५॥

विशेषार्थ—मद्यपानसे मनुष्यका मन आपेमें नहीं रहता। वह मदहोश होकर धर्मको भूल जाता है। और धर्मको भूल जानेपर उसे पाप करते हुए संकोच नहीं होता। इसके साथ ही मद्यमें जीवोंकी उत्पत्ति अवश्य होती है, उनके बिना मद्य तैयार नहीं होता। और मद्यपानसे वे सब मर जाते हैं। इस तरह मद्यपानमें द्रव्यहिंसा तो होती ही है। साथ ही मद्य पीनेसे काम सताता है, स्त्रीके साथ रमण करनेकी इच्छा पैदा होती है। सिर चकराता है। मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। कुत्ते उसके मुखमें मूत्र कर जाते हैं। चोर वस्त्रादि हर लेते हैं। दुनिया उसपर हँसती है। जिनके कुलमें शराब नहीं पी जाती, उन्हें भी देव-गुरुकी साक्षीपूर्वक मद्यपान न करनेका नियम लेना चाहिए। नियम लेनेवाला धूर्तिल नामक चोरकी तरह

---

१. 'रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम् ।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम्' ॥—पुरुषार्थ. ६३ श्लो. ।

२. सरक—मु. ।

३. पुरुषार्थसि. ६२-६४ श्लोक ।

४. अमित. श्रा. ५।२-१२ ।

अथाचार विशुद्धिगर्वितान्तां पिशिताशनं गर्हमाणः प्राह—

[1]स्थानेऽश्नन्तु पलं हेतोः स्वतश्चाशुचि कश्मलाः ।
श्वादिलालावदप्यद्युः शुचिम्मन्याः कथन्नु तत् ॥६॥

स्थाने—युक्तम् । हेतोः—शुक्रशोणितलक्षणात् कारणात् । स्वतः—स्वभावेन । अशुचि—अमेध्यबीजममेध्यस्वभावं चेत्यर्थः ।

उक्तं च—

'शुक्रशोणितसंभूतं विष्ठारसविवर्धितम् ।
लोहितं स्त्यानतामाप्तं (?) कौटिल्यादक्रिमिः पलम् ॥' [ ]

अपि च—

'भक्षयन्ति पलमस्तचेतनाः सप्तधातुमयदेहसंभवम् ।
यद्वदन्ति च शुचित्वमात्मनः किं विडम्बनमतः परं बुधाः ॥'
[अमित. श्रा., ५।२२]

'अत्ति यः कृमिकुलाकुलं पलं पूयशोणितवसादिमिश्रितम् ।
तस्य किंचन न सारमेयतः शुद्धबुद्धिभिरवेक्षतेऽन्तरम् ॥' [अमि. श्रा. ५।१८]

कश्मलाः—जातिकुलाचारमलिनाः । श्वादिलालावत्—कुक्कुरचित्रक-श्येनादिमुखस्रावयुक्तं तत्तुल्यं वा । अद्युः—खादेयुः । गर्हेऽत्र सप्तमी । गर्हामहे । अन्यायमेतदित्यर्थः । शुचिमन्याः—आचारविशुद्धमात्मानं मन्यमानाः । उक्तं च—

'अहो द्विजातयो धर्मं शौच्यमूलं वहन्ति च ।
सप्तघातकदेहितं (?) मांसमश्नन्ति चाधमाः ॥' [ ]

प्राणोंसे हाथ नहीं धोता। और मद्यपायी एकप नामक संन्यासीको तरह अगम्यागमन और अभक्ष्य भक्षण करके दुर्गतिमें भ्रमण करता है। इन दोनोंकी कथाएँ सोमदेवके उपासकाचारमें (पृ. १३०-१३२) वर्णित हैं ॥५॥

आगे आचारविशुद्धिका गर्व करनेवालोंके मांसभक्षणकी निन्दा करते हैं—

मांस स्वभावसे भी अपवित्र है और कारणसे भी अपवित्र है। ऐसे अपवित्र मांसको जाति और कुलके आचारसे हीन नीच लोग खायें तो उचित हो सकता है। किन्तु अपनेको विशुद्ध आचारवान् माननेवाले कुत्तेकी लारके तुल्य भी उस मांसको कैसे खाते हैं। यही आश्चर्य है ॥६॥

विशेषार्थ—स्थूल प्राणीका घात हुए बिना मांस पैदा नहीं होता। और स्थूल प्राणीकी उत्पत्ति माता-पिताके रज और वीर्यसे होती है। अतः मांसका कारण भी अपवित्र है और मांस स्वयं अपवित्र है। उसपर मक्खियाँ भिनभिनाती हैं, चील-कौए उसे देखकर मँडराते हैं। कसाईखानेको देखना भी कठिन होता है। ऐसे घृणित मांसको आजके सभ्य लोग तो होटलोंमें बैठकर खाते ही हैं। किन्तु गंगा स्नान करके किसीसे छू जानेके भयसे गीली धोती पहने और हाथमें मांसका झोला लिये आचारवान् लोगोंको देखा जा सकता है जो मांस-

---

१. 'स्वभावाशुचि दुर्गन्धमन्यापायं दुरास्पदम् । सन्तोऽदन्ति कथं मांसं विपाके दुर्गतिप्रदम्' ॥
—सोम. उपा., २७९ श्लो.

किं च, प्राणिघाताज्जातमामिषमश्नतां हिंसाया अवश्यं भावात् कौतस्कुती पवित्रता स्यात् ? यदाह—

'न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् ।
मांसं भजतस्तस्मात्प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥' [पुरुषार्थ. ६२ श्लो.]

तथा—

'ये भक्षयन्त्यन्यपलं स्वकीयपलपुष्टये ।
त एव घातका यन्न वद को भक्षकं विना ॥' [ ]

अपि च—

'हन्ता पलस्य विक्रेता संस्कर्ता भक्षकस्तथा ।
क्रेताऽनुमन्ता दाता च घातका एव यन्मनुः ॥
अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ।' [मनुस्मृ. ५।५१]

विशसिता—हतस्याङ्गविभाक्षकं [-विभाजकः] विना । आ गकरः (?) उपहर्ता—परिवेष्टा । ततो दुरन्तनरकनिवासायाणुशोऽपि पिशितस्याशनमामनन्ति । तदाह—

'तिलसर्षपमात्रं यो मांसमश्नाति मानवः ।
स श्वभ्रान्न निवर्तेत यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥' [ ]

तदिदमुन्मत्तभाषितमिव मनोर्वचः—

'न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥' [मनुस्मृ. ५।५६] इति ।

येषां निवृत्तिर्महाफला तेषां प्रवृत्तिर्न दोषवतीति स्ववचनविरोधाविष्करणात् ।

'मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वे[1] निरुक्तं मनुरब्रवीत् ॥' [मनु. ५।५५]

इति च पूर्वापरविरोधोक्तिः । तद्वदिदमपि च स्मृतिकाराणां वाक्यं महाविलसितमेव—

'क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य परोपहृतमेव[2] वा ।
देवान् पितॄन् समभ्यर्च्य खादन्मांसं न दुष्यति ॥' [मनु. ५।३२] इति ।

भक्षणमें भी धर्म मानते हैं। वेदके अध्येता वैदिक विद्वानोंने लिखा[3] है कि ऋग्वेदमें देवताओंके लिए बैलका मांस पकानेको ओर कई संकेत दिये गये हैं। प्राचीन धर्मसूत्रोंमें भोजन एवं यज्ञके लिए जीवहत्याकी व्यवस्था है। बृहदारण्यकोपनिषद्में जो बुद्धिमान् पुत्र उत्पन्न करना चाहता है उसके लिए बैल या साँड या किसी अन्य पशुके मांसको चावल और घीमें पकानेका निर्देश है (६।४।१८)। धर्मसूत्रोंमें कुछ पशुओं-पक्षियों एवं मछलियोंके मांसके भक्षणके सम्बन्धमें नियम दिये गये हैं। इन्हींको लक्ष्य करके ग्रन्थकारने उक्त कथन किया प्रतीत होता है। आचार्य सोमदेवने भी लिखा है कि 'मांस स्वभावसे ही अपवित्र है, दुर्गन्धसे भरा है, दूसरोंकी हत्यासे उत्पन्न होता है तथा कसाईके घर जैसे खोटे स्थानसे प्राप्त होता है। ऐसे मांसको भले आदमी कैसे खाते हैं। यदि जिस पशुको हम मांसके लिए मारते हैं

---

१. मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ।—मनु. ५।५५ ।
२. परोपकृतमेव वा । देवान् पितॄंश्चार्चयित्वा—मनु. ।
३. धर्मशास्त्रका इतिहास, १ भाग, पृ. ४२० आदि ।

देवानाममृताहारत्वात् पितॄणां च पुत्रादिवितीर्णेन संबन्धासंभवात् । मांसखादनस्य द्रव्यभावहिंसामयत्वेन दुर्गतिदुःखैकफलकल्मषसम्भारकारणत्वात् । न चैतद् वेदविहितत्वादनवद्यं तद्वाक्यानामप्रामाणिकत्वेन प्रत्ययस्य कर्तुमशक्यत्वात् । यदाह—

'स्पर्शो मेध्यभुजांगवामघहरो वन्द्या विसंज्ञा द्रुमाः,
स्वर्गं-श्वागवदानेति च पितॄन् विप्रोपभुक्ताशनम् ।
आप्ता छद्मपराः सुराः शिखिहुते प्रीणाति देवान् हविः,
स्फीतं फल्गु च वल्गु च श्रुतिगिरां को वेत्ति लीलायितम् ॥' [ ]

एतेनैषामपि स्मृतिवाक्यानामप्रामाणिकत्वमेव समर्थितं स्यात्—

'तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा ।
दत्तेन मासं प्रीयन्ते विधिवत् पितरो नृणाम् ॥
द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान् हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनेह पञ्च तु ॥' [मनु. ३।२६७-६८]

औरभ्रेण मेषसम्बन्धिना, शाकुनेन इति आरण्यकुक्कुटादिसंबन्धिन इत्यर्थः ।

'षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेनेह सप्त वै ।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥' [मनु. ३।२६९]

पृषतेन—हरणमृगजाति........वचनाः ।

'दश मांसास्तु तृप्यन्ति[1] वराहमहिषामिषैः ।
शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासेनैकादशैव तु ॥
संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन तु ।
वार्घ्रीणसस्यमांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ [ ]

दूसरे जन्ममें वह हमे न मारे या मांसके बिना जीवन ही न रह सके तो प्राणी न करने योग्य जीवहत्या भले ही करे । किन्तु ऐसी बात नहीं है, मांसके बिना भी मनुष्योंका जीवन चलता है ।' मनुस्मृतिमें मांस भक्षणका विधान भी मिलता है और विरोध भी । विरोधमें लिखा है—जो व्यक्ति पशुको मारनेकी सम्मति देता है, जो पशुवध करता है, जो उसके अंग-अंग पृथक् करता है, जो मांस बेचता या खरीदता है, जो पकाता है, जो परोसता है, और जो खाता है ये सभी मारनेके अपराधी हैं—(५।५१) । किन्तु आगे ही लिखा है—'न मांसभक्षणमें दोष है, न मद्यपानमें और न मैथुन-सेवनमें । ये तो प्राणियोंकी प्रवृत्तियाँ हैं । किन्तु इनकी निवृत्तिका महाफल है ।' जिनके त्यागका महाफल है उनका सेवन निर्दोष कैसे हो सकता है । यह स्ववचन विरोधा है ।

आगे कहा है—'खरीदकर या स्वयं उत्पन्न करके या दूसरेसे उत्पन्न कराकर देवता और पितरोंकी पूजापूर्वक जो मांस खाता है वह दोषका भागी नहीं होता ।' देवता तो अमृतपान करते हैं और पुत्रके दानसे मरे हुए पितरोंका कोई सम्बन्ध नहीं रहता । मांसभक्षणमें तो द्रव्यहिंसा,भावहिंसा दोनों होती हैं अतः वह दुर्गतिमें ले जानेवाले पापका ही कारण है । कहा जाता है कि वेदविहित हिंसामें पाप नहीं है । किन्तु इस प्रकारके वचन प्रामाणिक न होनेसे उनपर विश्वास नहीं किया जा सकता । कहा है—'ज्ञानहीन वृक्ष पूज्य

---

१. तृप्यन्ति—मनु. ।

गव्येनेति मांसेन केचित् सम्बध्नन्ति । वार्ध्रीणसो जरच्छागः, यस्य पिबतो जलं त्रीणि स्पृशन्ति जिह्वा कर्णौ च । यदाह—

'त्रि पिबन्त्विन्द्रियक्षिण (?) श्वेतं वृद्धमजापतिम् ।
वार्ध्रीणसं तु तं प्राहुर्याज्ञिकाः पितृकर्मसु ॥' इति । [ ]

एतेनेदमपि शाक्यवाक्यं प्रत्युक्तम्—

'मांसस्य मरणं नास्ति नास्ति मांसस्य वेदना ।
वेदनामरणाभावात् को दोषो मांसभक्षणे ॥' इति । [ ]

मृगलावकमूषिकादीन् प्रतिवधबुद्धेर्दुर्निवारत्वात् ।

तदुक्तम्—

'मांसास्वादनलुब्धस्य देहिनो देहिनं प्रति ।
हन्तुं प्रवर्तते बुद्धिः शाकिन्य इव दुर्धियः ॥' [ ] ॥६॥

अथ स्वयमेव पञ्चत्वं प्राप्तस्य पञ्चेन्द्रियस्य मत्स्यादेर्भक्षणमदूषणमुत्प्रेक्षमाणान् प्रत्याह—

हिंस्रः स्वयं मृतस्यापि स्यादश्नन्वा स्पृशन् पलम् ।
पक्वापक्वाहि तत्पेश्यो निगोतौघसुतः सदा ॥७॥

हैं, यज्ञमें बकरेका बलिदान करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे पितरोंकी तृप्ति होती है, छली देव आप्त है। आगमें हवि डालनेसे देव प्रसन्न होते हैं, वेदके इन व्यर्थ वचनोंकी लीला कौन जानता है।'

इससे स्मृतिका निम्न कथन भी अप्रामाणिक ही सिद्ध होता है। तिल, जौ, धान्य, उड़द, मूल, फल देनेसे पितर एक मास तक तृप्त रहते हैं। मछलीके मांससे दो मास तक, हरिणके मांससे तीन मास तक, मेढेके मांससे चार मास तक, जंगली मुर्गे आदिके मांससे पाँच मास तक, बकरेके मांससे छह मास तक, रुरु मृगके मांससे सात मास तक, ऐण मृगके मांससे आठ मास तक और रौरव मृगके मांससे नौ मास तक, सुअर और भैंसेके मांससे दस मास तक और खरगोश तथा कछुवेके मांससे ग्यारह मास तक और श्वेत वृद्ध बकरेके मांससे बारह वर्ष तक पितर तृप्त होते हैं।

बौद्धोंका कहना है—मांस तो जड़ है, न वह मरता है, न उसे कष्ट होता है। जब वेदना और मरण दोनों ही नहीं होते तो मांस-भक्षणमें क्या दोष है? ऐसा माननेसे तो जीवोंको घात करनेकी भावना ही बढ़ती है, उसके बिना जड़ मांस पैदा नहीं होता। कहा है—मांसके स्वादका लोभी प्राणी दूसरे प्राणियोंको मारनेमें प्रवृत्त होता है। अतः मांस-भक्षण निन्द्य है ॥६॥

किन्हींका कहना है कि स्वयं ही मरे हुए पंचेन्द्रिय प्राणीका मांस खानेमें कोई दोष नहीं है। उनको लक्ष करके कहते हैं—

स्वयं मरे हुए भी मच्छ, भैंसा आदिके मांसको खानेवाला और छूनेवाला भी हिंसक है; क्योंकि उस मांसकी पकी हुई और बिना पकी डलियोंमें सदा निगोदिया जीवोंके समूह उत्पन्न होते रहते हैं ॥७॥

---

१. गोवी—मु.

हिंस्र:—द्रव्यहिंसाशीलत्वात् । भावहिंसायास्तु मांसभक्षणे दर्पकरत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । यदाह—

'यतो मांसाशिनः पुंसो दमो दानं दयार्द्रता ।
सत्यशौचव्रताचारा न स्युर्विद्यादयोऽपि च ॥' [ ]

पक्वापक्वा:—पक्वाश्च अपक्वाश्च पक्वापक्वाश्चेति विगृह्यैकशेषेण पक्वापक्वा इत्यस्य लोपः । तेन पच्यमाना इत्येव संगृहीतम् । तत्पेश्यः—मांसग्रन्थयः । निगोतौघसुतः—अनन्तकायिकसङ्घातान् सुवन्ति जनयन्तीत्यर्थः । उक्तं च—

'आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीसु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥
आमां वा पक्वां वा खादति वा स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥' [पुरुषार्थ. ६७-६८] ॥७॥

अथ मांसस्य प्राणिहिंसाप्रभवत्वेनेन्द्रियदर्पकरत्वेन च द्रव्यभावहिंसा-हेतुत्वानुवादपुरस्सरं तद्भक्षणं नरकादिगतिविवर्तननिमित्तत्वेनोपदिशन्नाह—

विशेषार्थ—पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें कहा है—स्वयं मरे हुए भैंसा, बैल आदिका जो मांस होता है उसमें भी हिंसा होती है, क्योंकि उस मांसके आश्रयसे जो निगोदिया जीव उत्पन्न होते हैं उनका तो घात होता ही है। कच्ची, पकी हुई तथा पकती हुई मांसकी डलियों में उसी जातिके निगोदिया जीव सतत उत्पन्न होते रहते हैं। अतः जो कच्ची या पकी हुई मांसकी डलीको खाता है अथवा छूता है वह निरन्तर एकत्र होनेवाले बहुत-से जीवोंके समूहको मारता है। आचार्य अमृत चन्द्रने जो बात तीन श्लोकोंमें कही है, आशाधरजीने उसे एक ही श्लोकके द्वारा कह दिया है। आचार्य अमृतचन्द्रसे भी पहले आचार्य हरिभद्रने अपने सम्बोध प्रकरणमें प्राकृत गाथामें भी यही बात कही है कि मांसकी कच्ची या पकी हुई डलियोंमें निगोदिया जीव सतत उत्पन्न होते रहते हैं और उनका घात अवश्य होता है ॥७॥

इसपर-से यह कहा जा सकता है कि निगोदिया जीवोंका घात तो सप्रतिष्ठित वनस्पतिके खानेसे भी होता है तब उसमें और मांस-भक्षणमें कोई भेद नहीं रहा। इस आपत्तिको दूर करनेके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि मांस पंचेन्द्रिय प्राणीकी हिंसासे प्राप्त होता है तथा उसके भक्षणसे इन्द्रियमद विशेष होता है अतः वह भावहिंसाका कारण होनेसे नरकादि गतिका कारण होता है—

---

१. 'यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥
आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥
आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशित पेशीम् ।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥'—पुरुषार्थ., ६६–६८ श्लो. ।

२. 'आमासु अ पक्कासु विपच्चमाणासु मांसपेसेसु ।
सययं चिय उववाओ भणिओ निगोय जीवाणं' ॥—संबोध प्रकरण, ६।७५ ।

प्राणिहिंसार्पितं दर्पमर्पयत्तरसं तराम् ।
रसयित्वा नृशंसः स्वं विवर्तयति संसृतौ ॥८॥

तरसं—मांसम् । तराम्—अतिशायनेऽव्ययमिदम् । मृष्टान्नादिभ्योऽतिशयेन प्राणिघाताद् [-त्पन्नं तद्दर्पकरं चे-] त्यर्थः । रसयित्वा—आस्वाद्य ॥८॥

अथ सांकल्पिकस्यापि पलभक्षणस्य दोषं तद्विरतिनिष्ठायाश्च गुणमुदाहरणद्वारेण दर्शयति—

भ्रमति पिशिताशनाभिध्यानादपि सौरसेनवत् कुगतिः ।
तद्विरतिरतः सुगतिं श्रयति नरश्चण्डवत् खदिरवद्वा ॥९॥

चण्डवत्—चण्डो नामोज्जयिन्यां मातङ्गो यथा । खदिरवत्—खदिरसारो नाम भिल्लराजो यथा ॥९॥

मांस पंचेन्द्रिय प्राणीको मारनेसे ही प्राप्त होता है और उसके खानेसे अत्यन्त मद होता है। उसे खाकर क्रूर प्राणी अपनेको संसारमें भ्रमण कराता है ॥८॥

विशेषार्थ—आचार्य अमितगतिने भी कहा है कि तीनों लोकोंमें मांसकी उत्पत्ति जीवघातसे ही होती है। उसके बिना मांस नहीं मिलता। अतः पंचेन्द्रिय प्राणीका घात होनेसे हिंसा होती है। एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रियकी हिंसामें अत्यधिक पाप है क्योंकि उसकी अनुभवन शक्ति विशेष है। वह जीना चाहता है मरना नहीं चाहता। अतः जो जीवको मारता है, खाता है, मांस बेचता है, उसे अच्छा मानता है, मांस-भक्षणका प्रचार करता है और मांस पकाता है ये छहों ही पापी हैं। जो मांसके स्वादके लोभी हैं वे मांस-मदिराका सेवन करके विषयासक्त रहते हैं। अतः मांस द्रव्यहिंसाके साथ भावहिंसाका भी कारण है। अतः मांसभक्षक संसारमें पंचपरावर्तन करते हुए भ्रमण करता है ॥८॥

आगे मांसभक्षणके विचारको भी दोष और उसके त्यागका गुण दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

मांसभक्षणके संकल्प मात्रसे जीव सौरसेन राजाकी तरह कुगतियोंमें भ्रमण करता है। और जो मांससेवनके त्यागमें आसक्त होता है वह चण्ड नामक चाण्डाल या खदिर-सार नामक भील राजाकी तरह सुगतिमें जाता है ॥९॥

विशेषार्थ—मांसभक्षणकी तो बात ही क्या, मांस खानेका इरादा करने मात्रसे मनुष्यको दुर्गतियोंमें भ्रमण करना पड़ता है। इसका उदाहरण राजा सौरसेन है जो मांस खानेका विचार करता है किन्तु अपवाद, भय और राजकार्यवश खा नहीं पाता। वह मरकर मत्स्य होता है और फिर नरकमें जाता है। और मांसका कुछ समयके लिए त्याग करनेवाला चण्डनामका मातंग सद्गति पाता है। इन दोनोंकी कथा सोमदेवके उपासका-ध्ययनमें (पृ. १४०-१४३) वर्णित है। खदिरसार एक भील था। शिकार उसका व्यवसाय था। वह मांस कैसे छोड़ सकता। किन्तु दूरदर्शी मुनिराजने उसकी विवशता जानकर उसे केवल कौएका मांस छुड़ाया। एक बार वह बीमार हुआ और वैद्यने उसे कौएका मांस खाना बतलाया। किन्तु उसने नहीं खाया। इस त्यागसे ही उसे सद्गति प्राप्त हुई ॥९॥

---

१. अमित. श्राव. ५।१३-२६ ।

अथ मांसं सतां भक्षणीयं प्राण्यङ्गत्वान्मुद्गादिवदित्यनुमानाभिधानग्रहावेशान्मांसभक्षणदक्षिणान् प्रत्याह—

प्राण्यङ्गत्वे समेऽप्यन्नं भोज्यं मांसं न धार्मिकैः।
भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका ॥१०॥

अन्नं भोज्यं रसरक्तविकारजत्वाभावात्। न हि मांसं यथा रसरक्तविकाराज्जायते तथा मुद्गादि धान्यमपि। न च प्राणिकायत्वाद् धान्यस्यापि मांसत्वमुपकल्प्यम्, यो यः प्राणिकायः स स मांसमिति व्याप्तेरभावात्। अन्यथा वृक्षत्वादशोकादीनामपि निम्बत्वकल्पनाप्रसङ्गात्। तदाह—

'मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम्।
यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ॥' [ ]

किं च, प्राण्यङ्गत्वाविशेषेऽपि यथा लोके शङ्खादिकं पवित्रत्वेन प्रसिद्धं न तथाऽस्थ्यादिकम्। एवमोदनादिकमेव भक्ष्यमभक्ष्यं तु मांसचर्म-रुधिर-मेदो-मज्जादिकं द्रव्यभावहिंसाभूयस्त्वात्। यदाह—

'द्विजाण्डजनिहन्तॄणां यथा पापं विशिष्यते।
जीवयोगाविशेषेऽपि तथा फलपलाशिनाम् ॥
स्त्रीत्वपेयत्वसामान्याद्दारवारिवदीहताम्।
एष वादी वदन्नेवं मातृमद्यसमागमे ॥' [सोम. उपा., ३०२-३०३ श्लो.]

किं च—

'शुद्धं दुग्धं न गोमांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशम्।
विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे यतः ॥' [सो. उपा. ३०४]

कुछ मांसभक्षणके प्रेमी यह कहते सुने जाते हैं कि जैसे अन्न जीवका शरीर है वैसे ही मांस भी जीवका शरीर है अतः अन्नकी तरह मांस भी खाद्य है। उन्हें लक्ष करके ग्रन्थकार कहते हैं—

यद्यपि अन्न भी प्राणीका अंग है और मांस भी प्राणीका अंग है इस तरह दोनोंमें ही समानता होनेपर भी धार्मिकों को अन्न ही खाने योग्य है, मांस नहीं। जैसे माता भी स्त्री है और पत्नी भी स्त्री है, इस तरह स्त्रीपनेसे दोनों ही समान हैं फिर भी मनुष्य पत्नीको ही भोगते हैं, माताको नहीं ॥१०॥

विशेषार्थ—आचार्य सोमदेवने अपने उपासकाचारमें इस कथनका प्रतिवाद करते हुए एक श्लोक उद्धृत किया है जिससे प्रकट होता है कि यह चर्चा उनसे भी पुरानी है। उसमें कहा है—मांस जीवका शरीर है यह ठीक है किन्तु जो जीवका शरीर है वह मांस है ऐसी व्याप्ति नहीं है। जैसे नीम वृक्ष है यह ठीक है। किन्तु जो-जो वृक्ष है वह नीम है यह कहना ठीक नहीं है। तथा जैसे ब्राह्मण और पक्षी दोनों जीव हैं। फिर भी पक्षीको मारनेकी अपेक्षा ब्राह्मणको मारनेमें ज्यादा पाप है। वैसे ही फल भी जीवका शरीर है और मांस भी जीवका शरीर है। किन्तु फल खानेकी अपेक्षा मांस खानेमें ज्यादा पाप है। जो यह कहता है कि फल और मांस दोनों ही जीवका शरीर होनेसे समान हैं। उसके लिए पत्नी और माता दोनों ही स्त्री होनेसे समान हैं तथा शराब और पानी दोनों ही पेय होनेसे समान है। अतः जैसे वह पानी और पत्नीका उपभोग करता है वैसे ही शराब और माताका भी उपभोग वह क्यों नहीं करता। गौका दूध शुद्ध है किन्तु गोमांस शुद्ध नहीं है। वस्तुका

अथवा,

'हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे।
विषद्रोरायुषे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥' [सो. उपा., ३०५]

अपि च,

'पञ्चेन्द्रियस्य कस्यापि वधे तन्मांसभक्षणे।
यथा हि नरकप्राप्तिर्न तथा धान्यभोजनात् ॥
धान्यपाके प्राणिवधः परमेकोऽवशिष्यते।
गृहिणां देशयमिनां स तु नात्यन्तबाधकः ॥
मांसखादकगतिं विमृशन्तः सस्यभोजनरता इह सन्तः।
प्राप्नुवन्ति सुखसंपदमुच्चैर्जैनशासनजुषो गृहिणोऽपि ॥' [ ] ॥१०॥

अथ क्रमप्राप्तान् मधुदोषानाह—

मधुकृद्व्रातघातोत्थं मध्वशुच्यपि बिन्दुशः।
खादन् बध्नात्यघं सप्तग्रामदाहांहसोऽधिकम् ॥११॥

मधुकृद्व्रातः—मक्षिकाभ्रमरादीनां मधुकरप्राणिनां व्रातः सङ्घातः। अशुचिप्राणिनिर्यासजत्वात्। अपवित्रं म्लेच्छलालादिसम्पृक्तत्वात् कुत्स्यं च। अपि च,

'मक्षिकागर्भसंभूत-बालाण्डकनिपीडनात्।
जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाकृति ॥' [सो. उपा., २९४ श्लो.]*

वैचित्र्य इसी प्रकार है। इसी तरह मांस और दूधका एक कारण होनेपर भी मांस छोड़ने योग्य है और दूध पीने योग्य है। जैसे एक विषवृक्षका पत्ता आयुवर्धक होता है और जड़ मृत्युका कारण होती है। मांस भी शरीरका हिस्सा है और घी भी शरीरका हिस्सा है। फिर भी मांसमें दोष है घीमें नहीं। जैसे ब्राह्मणोंमें जीभसे शराबका स्पर्श करनेमें दोष है, पैरमें लगानेमें नहीं। इसलिए जो अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें बौद्ध, सांख्य, चार्वाक, वैदिक और शैवोंके मतोंकी परवाह न करके मांसका त्याग करना चाहिए। जैसे जो परस्त्रीगामी पुरुष अपनी माताके साथ सम्भोग करता है वह दो पाप करता है। एक तो परस्त्रीगमनका पाप करता है दूसरे माताके साथ सम्भोग करनेका पाप करता है। उसी तरह जो मनुष्य धर्मबुद्धिसे लालसापूर्वक मांसभक्षण करता है वह भी डबल पाप करता है। एक तो वह मांस खाता है, दूसरे धर्म बुद्धिसे खाता है। इस तरह शास्त्रकारोंने मांसको हिंसापरक मानकर उसका निषेध किया है। आजके वैज्ञानिक युगमें मांसको मनुष्यका प्राकृतिक आहार नहीं माना जाता। मांसभोजी पशुओंके शरीरकी रचना भिन्न ही प्रकारकी होती है। उनके दाँतोंकी रचना भी मांसभक्षणके अनुकूल होती है। मनुष्यके शरीरकी रचना उससे विपरीत है। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी मांस भोजन बुरा है। प्राकृतिक चिकित्सामें वह त्याज्य माना गया है। तामसिक है। अतः मांसभक्षण नहीं करना चाहिए ॥१०॥

अब क्रमानुसार मधुके दोषोंको कहते हैं—

मधुमक्खियोंके समूहके घातसे उत्पन्न अपवित्र मधुकी एक बूँदको भी खानेवाला सात गाँवोंको जलानेसे जितना पाप होता है, उससे भी अधिक पापका बन्ध करता है ॥११॥

मक्षिकादिवान्तत्वाच्चास्याशुचित्वम् । तदप्याह—

'एकैककुसुमक्रोडाद्रसमापीय मक्षिकाः ।
यद्वमन्ति मधूच्छिष्टं तदश्नन्ति न धार्मिकाः ॥' [ ]

अपि बिन्दुशः बिन्दुमात्रमपि नाधिकम् । तदाह—

'ग्रामसप्तकविदाहरेफसा तुल्यता न मधुभक्षिरेफसः ।
तुल्यमञ्जलिजलेन कुत्रचिन्निम्नगापतिजलं न जायते ॥' [अमि. श्रा. ५।२८]

स्मृतिस्त्वित्थमाह—

'सप्तग्रामे तु यत्पापमग्निना भस्मना कृते ।
तस्य चैतद् भवेत्पापं मधुबिन्दुनिषेवणात् ॥' [ ]

मासवन्मध्वपि चिखादिषोः प्राणिवधबुद्धया कृपातिरस्कारात् पापीयस्त्वं स्यात् । तदुक्तम्—

'यश्चिखादिषति सारघं कुधीर्मक्षिकागणविनाशनस्पृहः ।
पापकर्दमनिषेधनिम्नगा तस्य हन्त करुणा कुतस्तनी ॥ [अमित. श्रा. ५।३०] ॥११॥

अथ क्षौद्रवन्नवनीतस्यापि दोषभूयिष्ठतया त्याज्यतामुपदिशति—

विशेषार्थ—यद्यपि मद्य-मांसकी तरह मधु दैनिक भोजनका साधारण अंग नहीं है तथापि वैदिक संस्कृतिमें मधु अतिथिसत्कारका विशिष्ट अंग रहा है। मनुस्मृतिमें कहा है कि मघा नक्षत्र और त्रयोदशी तिथि होनेपर मधुसे मिली हुई कोई भी वस्तु दे तो वह पितरोंकी तृप्तिके लिए होती है। पितर यह अभिलाषा करते हैं कि हमारे कुलमें कोई ऐसा उत्पन्न हो जो त्रयोदशी तिथिको मधु तथा घीसे मिली हुई खीरसे हमारा श्राद्ध करे (३।२७३-२७४)। किन्तु मधु तो मधुमक्खियोंके द्वारा संचित होता है। उनकी हिंसा करके ही वह प्राप्त किया जाता है। अमृतचन्द्रजीने कहा है कि यदि कोई छलसे अथवा मधुमक्खियोंके छत्तेसे स्वयं टपके हुए मधुको प्राप्त कर भी ले तो भी उसमें रहनेवाले जन्तुओंके घातसे हिंसा अवश्य होती है।[1] सोमदेवजीने लिखा है—मधुमक्खियोंके अण्डोंके निचोनेसे पैदा हुए मधुका, जो रज और वीर्यके मिश्रणके समान है, कैसे सज्जन पुरुष सेवन करते हैं। मधुका छत्ता व्याकुल शिशुओंके गर्भ-जैसा है। और अण्डोंसे उत्पन्न होनेवाले जन्तुओंके छोटे-छोटे अण्डोंके टुकड़ों-जैसा है। भील, व्याध वगैरह हिंसक मनुष्य उसे खाते हैं।[2] उसमें माधुर्य कहाँ? अमितगति आचार्यने कहा है, जो औषधिके रूपमें भी मधुका सेवन करता है वह भी तीव्र दुःखको प्राप्त होता है। यदि कोई जीवनकी इच्छासे विष खावे तो क्या विष उसका जीवन नष्ट नहीं कर देता।[3] अतः सुखके इच्छुक पण्डितजन घोर दुःखदायी मधुका सेवन नहीं करते ॥११॥

आगे मधुकी तरह बहुत दोष होनेसे मक्खनको भी छोड़ने योग्य कहते हैं—

---

१. 'मधु शकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके ।
भजति मधुमूढधी को यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥'—पुरुषार्थ, ६९ श्लो. ।

२. 'उद्भ्रान्तार्भकगर्भेऽस्मिन्नण्डजाण्डकखण्डवत् । कुतो मधु मधुच्छत्रे व्याधलुब्धकजीवितम्' ॥
—सो. उपा. २९४-९५ ।

३. 'योऽत्ति नाम मधु भेषजेच्छया सोऽपि याति लघु दुःखमुल्बणम् ।
किन्न नाशयति जीवितेच्छया भक्षितं झटिति जीवितं विषम्' ॥—अमि. श्रा. ५।२७-३३ ।

मधुवन्नवनीतं च मुञ्चेत्तत्रापि भूरिशः ।
द्विमुहूर्तात्परं शश्वत् संसजन्त्यङ्गिराशयः ॥१२॥

तत्रापि—न केवलं मधुनि, किं तर्हि, नवनीतेऽपीत्यर्थः ।

संसजन्ति—सम्मूर्च्छन्ति । यदाह—

'यन्मुहूर्तयुगतः परं सदा मूर्छति प्रचुरजीवराशिभिः ।
तद्गिलन्ति नवनीतमत्र ये ते व्रजन्ति खलु कां गतिं मृताः ॥' [अमि. श्रा. ५।३६]

अन्ये त्वन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं नवनीते जन्तुसंमूर्छनमिच्छन्ति । यदाह—

'अन्तर्मुहूर्तात्परतः सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः ।
यत्र मूर्च्छन्ति नाद्यं तन्नवनीतं विवेकिभिः ॥'

मधुनि त्वयं विशेषो यन्नित्यं जीवमयत्वम् । तदाह—

'स्वयमेव विगलितं यद्गृहीतमथवा वैलेन[1] निजगोलात् ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥' [पुरुषार्थ. ७०] ॥१२॥

अथ पञ्चोदुम्बरफलभक्षणे द्रव्यभावहिंसादोषमुपपादयति—

पिप्पलोदुम्बर-प्लक्ष-वट-फल्गु-फलान्यदन् ।
हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगतः ॥१३॥

धार्मिक पुरुषको मधुकी तरह मक्खनको भी छोड़ना चाहिए; क्योंकि मक्खनमें भी दो मुहूर्तके बाद निरन्तर बहुत-से जीवसमूह उत्पन्न होते रहते हैं ॥१२॥

विशेषार्थ—आचार्य हरिभद्रने कहा[2] है कि मद्य-मांस-मधुमें और मक्खनमें उसी रंग-के असंख्यात जीव उत्पन्न होते हैं । यही बात अमृतचन्द्रजीने भी कही[3] है कि मधु, मद्य, नव-नीत और मांस ये चार महाविकृतियाँ हैं । व्रती इन्हें नहीं खाते हैं क्योंकि उनमें उसी वर्णके जीव पाये जाते हैं । आचार्य अमितगतिने भी मक्खनमें निरन्तर जीवोंकी उत्पत्ति बतलाते हुए कहा है कि जो ऐसे मक्खनको खाते हैं उनमें संयमका अंश भी नहीं है फिर धर्ममें तत्परता कैसे हो सकती है । उन्होंने भी चारोंको ही त्याज्य बतलाया है ॥१२॥

आगे पाँच उदुम्बर फलोंके खानेमें द्रव्यहिंसा और भावहिंसाका दोष बतलाते हैं—

पीपल, उदुम्बर, पिलखन, बड़ और कठूमरके गीले फलोंको खानेवाला त्रसजीवोंको मारता है । और सूखे फलोंको भी खानेवाला रागके सम्बन्धसे अपने आत्माका घात करता है ॥१३॥

---

१. 'छलेन मधुगोलात् ।'—पुरु. ।

२. 'मज्जे महुम्मि मंसंमी नवणीयंमि चउत्थए । उप्पज्जंति असंखा तव्वण्णा तत्थ जंतुणो' ॥
—सम्बोध प्र. ६।७६

३. मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः ।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥—पुरुषार्थ., ७१ श्लो. ।

४. 'चित्रजीवगणसूदनास्पदं यैर्विलोक्य नवनीतमद्यते ।
तेषु संयमलवो न विद्यते धर्मसाधनपरायणा कुतः' ॥—अमित श्रा. ५।३४-३८ ।

फल्गु—काकोदुम्बरिका। त्रसान्—स्थूलसूक्ष्मप्राणिकुलाकुलत्वात्तेषाम्। तदाह—

'अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधादिफलेष्वपि।
प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्थूलाः सूक्ष्माश्चागमगोचराः ॥' [सो. उपा., २९६ श्लो.]

तत्र लौकिका अपि पठन्ति—

'कोऽपि क्वापि कुतोऽपि कस्यचिदहो चेतस्य कस्माज्जनः,
केनापि प्रविशत्युदुम्बरफलप्रा ....।
येनास्मिन्नपि पाटिते विघटिते विस्फोटिते त्रोटिते,
निष्पिष्टे परिगालिते विदलिते निर्यात्यासा वा न वा ॥' [ ]

रागयोगतः। अन्तर्दीपकत्वादिदं मध्वादिष्वपि योज्यम्, तत्रापि रागावतारद्वारेणात्मघातस्योक्तत्वात्। उक्तं च—

'यानि च पुनर्भवेयुः कालोत्सन्नत्रसानि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥' [पुरुषार्थ., ७३ श्लो.]

अपि च—

'असंख्यजीवव्यपघातवृत्तिभिर्न धीवरैरस्ति समं समानता।
अनन्तजीवव्यपरोपकारिणामुदुम्बराहारविलोलचेतसाम् ॥'
[अमि. श्रा. ५।७०] ॥१३॥

अथ निशाभोजनागालितजलोपयोगयोर्मद्याद्युपयोगवद्दोषमयत्वात्परिहारमाह—

रागजीवबधापायभूयस्त्वात्तद्वदुत्सृजेत्।
रात्रिभक्तं तथा युञ्ज्यान्न पानीयमगालितम् ॥१४॥

विशेषार्थ—आचार्य [1]अमृतचन्द्रने ऊमर, कठूमर, पीपल, बड़, पाकड़के फलोंको त्रस-जीवोंकी योनि कहा है। और यह भी कहा है कि काल पाकर जिन फलोंमें वर्तमान त्रस जीव मर जाते हैं उन फलोंको खानेमें भी विशिष्ट रागादिरूप हिंसा अवश्य होती है। आशय यह है कि गीले फलोंको भी आदमी तभी खाता है जब उसमें उनके प्रति राग होता है। किन्तु जो सूखे फल खाता है उसमें तो उन फलोंके प्रति विशेष राग होता है तभी तो वह सूखे फल इकट्ठे करता है। अतः सूखे फल खानेवालेमें रागकी अधिकता होनेसे हिंसा अवश्य होती है ॥१३॥

मद्य आदिके सेवनकी तरह रात्रिभोजन और बिना छने जलका उपयोग भी दोषमय है अतः उनके भी त्यागके लिए कहते हैं—

राग, जीवहिंसा तथा जलोदर आदि रोगोंकी प्रचुरता होनेसे मद्यपान आदिकी तरह रात्रिभोजनको भी छोड़ना चाहिए। तथा वस्त्रसे छाने बिना जलका उपयोग नहीं करना चाहिए ॥१४॥

१. 'योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ॥'—पुरुषार्थ., ७२-श्लो.।
'अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधादिफलेष्वपि। प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्थूलाः सूक्ष्माश्चागमगोचराः ॥'
—सोम. उपा., २९६ श्लो.।

रागभूयस्त्वम्—दिवाभोजनाद् रात्रिभोजने प्रीतिबहुतरत्वम् ।

तदुक्तम्—

'रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम् ।
रात्रिं दिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति ॥
यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः ।
भोक्तव्यं च निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥
नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागाधिको रजनिभुक्तौ ।
अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥' [पुरुषार्थ. १३०-१३२]

जीववधभूयस्त्वम् । तदुक्तम्—

'चम्मट्ठि-कीड-उन्दुर-भुयंग-केसादि असणमज्झम्मि ।
पडिदं ण किं पि पस्सदि भुंजदि सव्वं पि णिसिसमए ॥' [वसु. श्रा. ३१५ गा.]

विशेषार्थ—रत्नकरण्डश्रावकाचारमें छठी प्रतिमाका धारी श्रावक रात्रिमें चारों प्रकारका आहार नहीं करता। इससे पहले वहाँ रात्रिभोजन त्यागकी कोई चर्चा नहीं है। तत्त्वार्थ सूत्रके सातवें अध्यायमें अहिंसा व्रतकी पाँच भावनाओंमें एक भावनाका नाम 'आलोकित पान भोजन' है। सर्वार्थसिद्धिमें सातवें अध्यायके प्रथम सूत्रकी व्याख्यामें यह प्रश्न किया गया है कि रात्रिभोजन विरमण नामका एक छठा अणुव्रत भी है उसे भी यहाँ गिनाना चाहिए। तो उत्तर दिया है कि अहिंसाव्रतकी भावना आगे कहेंगे। इनमें-से आलोकित पान भोजन भावनामें उसका अन्तर्भाव होता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि यह छठा अणुव्रत विषयक शंका मुनियोंको लेकर है गृहस्थोंको लेकर नहीं है। अनगार धर्मामृतमें इसकी चर्चा की गयी है। तथा तत्त्वार्थ राज वार्तिकमें भी सातवें अध्यायके प्रथम सूत्रकी व्याख्यामें सर्वार्थसिद्धिके समाधानको आधार बनाकर जो शंका-समाधान किया गया है वह भी मुनियोंको ही लेकर किया गया है, कि मुनि रात्रिमें चलते-फिरते नहीं हैं। रात्रिभोजनकी अत्यधिक निन्दा रविषेणके पद्मपुराणके चौदहवें पर्वमें बहुत विस्तारसे की गयी है। लिखा[1] है जो सूर्यके डूबनेपर अन्नका त्याग करता है उसका भी अभ्युदय होता है। यदि वह सम्यग्दृष्टि हो तो और भी विशेष अभ्युदय होता है। दिनमें भूखकी पीड़ा उठाना और रातमें भोजन करना, यह कार्य लोकमें सर्वथा त्याज्य है। रात्रिभोजन अधर्म है उसे जिन्होंने धर्म माना है उनके हृदय कठोर हैं। सूर्यके अदृश्य हो जानेपर जो लम्पटी, पापी मनुष्य भोजन करता है वह दुर्गतिको नहीं समझता। जिनके नेत्र अन्धकारके पटलसे आच्छादित है और बुद्धि पापसे लिप्त है वे पापी प्राणी रातमें मक्खी, कीड़े तथा बाल आदि हानिकारक पदार्थ खा जाते हैं। जो रात्रिमें भोजन करता है वह डाकिनी, भूत-प्रेत आदिके साथ भोजन करता है। जो रात्रिमें भोजन करता है वह कुत्ते-बिल्ली आदि मांसाहारी जीवोंके साथ भोजन करता है। अधिक कहनेसे क्या, जो रात्रिमें भोजन करता है वह सब अपवित्र पदार्थ खाता है। जो सूर्यके अस्त होनेपर भोजन करते हैं उन्हें विद्वानोंने मनुष्यतासे बद्ध पशु कहा है। जो जिनशासनसे विमुख होकर रात-दिन भोजन करता है वह परलोकमें सुखी कैसे हो

---

१. आदित्येऽस्तमनुप्राप्ते कुरुते योऽन्नवर्जनम्।
भवेदभ्युदयोऽस्यापि सम्यग्दृष्टेर्विशेषतः ॥—पद्म पु. १४।२५८

अपि च—

'अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम् ।
अपि बोधितः प्रदीपो भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥' [पुरुषार्थ. १३३]

अपायभूयस्त्वं—'जलोदरादि' इत्यादिना हिंसाविरतिव्रते वक्ष्यमाणम् । रात्रिभक्तं—रात्रावन्नप्राशनम् । पानीयं—जलं पेयत्वात् । जलघृतादि वा सर्वं द्रवद्रव्यम् । तदाह—

'द्रवद्रव्याणि सर्वाणि पटपूतानि योजयेत् ।' [सो. उपा. ३२१ श्लो.] ॥१४॥

अथानस्तमितभोजिनः सत्फलं किञ्चिद्दृष्टान्तेन मुग्धजनप्ररोचनार्थं प्रकटयति—

चित्रकूटेऽत्र मातङ्गी यामानस्तमितव्रतात् ।
स्वभर्त्रा मारिता जाता नागश्रीः सागराङ्गजा ॥१५॥

अत्र—एतस्मिन्नेव मालवदेशस्योत्तरस्यां दिशि प्रसिद्धे । यामं—प्रहरमात्रं पालितम् । स्वभर्त्रा—जागरिकनाम्ना । सागराङ्गजा—सागरदत्तश्रेष्ठिपुत्री ॥१५॥

सकता है इत्यादि । इस प्रकार रात्रि भोजनकी बुराई और दिवाभोजनकी प्रशंसा इतने विस्तारसे अन्यत्र देखनेको नहीं मिलती । एक विशेषता इसमें यह भी है कि स्त्रियोंको भी लक्ष करके रात्रिभोजनकी बुराई बतलायी है और अन्तमें कहा है कि नर हो या नारी दोनोंको अपना चित्त नियममें स्थिर करके अनेक दुःखवाले रात्रिभोजनका त्याग करना चाहिए ।

आचार्य अमृतचन्द्रने अपने पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें पाँच अणुव्रतोंके कथनके बाद रात्रि-भोजन त्यागका कथन करते हुए कहा है[1]—रात्रिमें भोजन करनेवालोंको हिंसा अनिवार्य है इसलिए हिंसाके त्यागियोंको रात्रिभोजनका भी त्याग करना चाहिए। अत्यागभाव रागादि भावोंके उदयकी उत्कटतासे होता है अतः हिंसारूप है। जो रात-दिन खाते हैं उन्हें हिंसा क्यों नहीं लगेगी ? यदि कोई कहे तब तो दिनमें न खाकर रात्रिमें ही खाना चाहिए। इससे हिंसा नहीं लगेगी । किन्तु ऐसा कहना गलत है क्योंकि दिवा भोजनकी अपेक्षा रात्रिभोजन-में अधिक राग होता है । जैसे अन्नभोजनकी अपेक्षा मांसभोजनमें अधिक राग रहता है । सूर्यके प्रकाशके बिना दीपक जलाकर रात्रिमें भोजन करनेवाला हिंसासे कैसे बच सकता है क्योंकि भोजनमें सूक्ष्म जीव गिरते ही हैं। अधिक कहनेसे क्या, जो मन वचन कायसे रात्रि भोजनका त्याग करता है वह निरन्तर अहिंसाका पालन करता है । इसी तरह जलको भी मोटे वस्त्रसे छानकर ही काममें लेना चाहिए। आज तो खुर्दबीनसे जलमें जीवोंको देखा जा सकता है । नलके पानीमें तो कभी-कभी साँपके बच्चे तक आ जाते हैं । आचार्य सोमदेव-ने इसीसे कहा है कि सब पतली वस्तुओंको वस्त्रसे छानकर ही काममें लाना चाहिए । मनुस्मृति[2] तकमें पानी छानकर पीना लिखा है ॥१४॥

अब मूढ़जनोंको आकृष्ट करनेके लिए दृष्टान्त द्वारा रात्रिभोजनत्यागका फल बतलाते हैं—

मालव देशकी उत्तर दिशामें प्रसिद्ध चित्रकूट नामक नगरमें एक पहर मात्रके रात्रि-भोजनत्याग व्रतसे अपने पतिके द्वारा मारी गयी चाण्डाली मरकर सागरदत्त श्रेष्ठीके नागश्री नामक कन्या हुई ॥१५॥

---

१. पुरुषा. १२९-१३४ श्लो. ।

२. 'दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।'—मनुस्मृति ६।४६ ।

अथैवंकृतपरिकर्मणा पाक्षिकश्रावकेण स्थूलहिंसादिविरतिरपि यथात्मशक्ति भावनीयेत्युपदेशार्थमाह—

स्थूलहिंसानृतस्तेयमैथुनग्रन्थवर्जनम् ।
पापभीरुतयाऽभ्यसेद् बलवीर्यानिगूहकः ॥१६॥

पापभीरुतया न तु राजादिभयेन ॥१६॥

द्यूते हिंसानृतस्तेयलोभमायामये सजन् ।
क्व स्वं क्षिपति नानर्थे वेश्याखेटान्यदारवत् ॥१७॥

स्वं—आत्मानं ज्ञातिं च । अनर्थे—अधर्मादिनामभावे व्याप वा (?) ।

उक्तं च—

'सर्वानर्थप्रथनं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः ।
दूरात्परिहर्तव्यं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥' [पुरुषार्थ. १४६]

तथा—

'कौपीनं वसनं कदन्नमशनं शय्या धरा पांसुला,
जल्पाश्लीलगिरः कुटुम्बकजनद्रोहः सहाया विटाः ।
व्यापाराः परवञ्चनानि सुहृदश्चौरा महान्तो द्विषः,
प्रायः सैष दुरोदरव्यसनिनः संसारवासक्रमः ॥' [ ]

आगे कहते हैं कि इस प्रकार मद्यादि त्यागके अभ्यासी पाक्षिक श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार स्थूल हिंसा आदि पाँच पापोंसे विरतिका भी अभ्यास करना चाहिए—

अपने बल और वीर्यको न छिपाकर अर्थात् अपनी अन्तरंग और शारीरिक शक्तिके अनुसार पाक्षिक श्रावकको पापके भयसे स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल मैथुन और स्थूल परिग्रहके त्यागका अभ्यास करना चाहिए ॥१६॥

विशेषार्थ—आहार आदिसे उत्पन्न शक्तिको बल कहते हैं और नैसर्गिक शक्तिको वीर्य कहते हैं। अपनी शक्तिके अनुसार पाक्षिक श्रावकको पाँच अणुव्रतोंके पालनका भी अभ्यास करना चाहिए। वह भी यह मानकर करना चाहिए कि हिंसा आदि पाप हैं। इनके करनेसे पापकर्मका बन्ध होता है। यदि कोई राजभय या सामाजिक भयसे इन पापकार्योंको नहीं करता तो उसे व्रत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसे व्यक्ति प्रायः छिपकर पाप करते हुए नहीं सकुचाते। किन्तु व्रती तो पाप करनेका अवसर मिलनेपर भी पापके भयसे पापकार्य नहीं करता। और तभी उसके पूर्व अर्जित कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥१६॥

आगे कहते हैं कि इस प्रकार स्थूल हिंसा आदिकी विरतिका अभ्यास करनेवाले पाक्षिक श्रावकको वेश्या आदिकी तरह जुआ खेलने आदिमें भी आसक्ति नहीं करना चाहिए—

वेश्यागमन, शिकार खेलना और परस्त्रीगमनमें आसक्त मनुष्यकी तरह हिंसा, झूठ, चोरी, लोभ और मायाचारसे भरे जुएमें आसक्त मनुष्य अपनेको, अपने सम्बन्धियोंको किस अनर्थमें नहीं डालता। अर्थात् सभी बुराइयोंमें डालता है ॥१७॥

विशेषार्थ—पाक्षिक श्रावकको पाँच पापोंके त्यागका अभ्यास करनेकी तरह सात व्यसनोंके भी त्यागका अभ्यास करना चाहिए। सात व्यसनोंमें जुआ सिरमौर है। इसलिए उसपर जोर दिया है। वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, जुआ खेलना आदिके व्यसनी मनुष्य स्वयं तो विपत्तियोंमें पड़ते हैं अपने परिवार वगैरहको भी विपत्तिमें डालते हैं। यहाँ इतना विशेष

अपि च—

'भवनमिदमकीर्तेश्चौर्यवेश्यादि सर्व-
व्यसनपतिरशेषापन्निधिः पापबीजम् ।
विषमनरकमार्गेष्वग्रयायीति मत्वा,
क इह विशदबुद्धिर्द्यूतमङ्गीकरोति ॥' [पद्म. पञ्च. १।१७]

वेश्येत्यादि । एतेन वेश्यादिव्यसनान्यप्यपायावद्यभूयिष्ठत्वादसेव्यानीति लक्षयति । तथा चोक्तं—

'याः खादन्ति पलं पिबन्ति मदिरां, जल्पन्ति मिथ्या वचः,
स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम् ।
नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिकाः कुर्वते,
लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायापरम् ॥'
'रजकशिलासदृशीभिः कुक्कुरकर्पर समानचरिताभिः ।
गणिकाभिर्यदि सङ्गः कृतमिह परलोकवार्ताभिः ॥' [पद्म. पञ्च. १।२३-२४]

अपि च—

'जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाभिलाङ्गाय (?) च,
ग्रामीणाय च दुःकुलाय च गलत्कुष्ठाभिभूताय च ।
यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्ले (क्षे) लवश्रद्धया,
पण्यस्त्रीषु विवेककल्पलतिकाशस्त्रीषु रज्येत कः ॥' [　　　　　]
'या दुर्देहैकवित्ता वनमधिवसति भ्रातृसम्बन्धहीना,
भीतिर्यस्यां स्वभावाद्दशनधृततृणा नापराधं करोति ।
वध्यालं सापि यस्मिन्ननु मृगवनितामांसपिण्डप्रलोभा-
दाखेटेऽस्मिन् रतानामिह किमु न किमन्यत्र नो यद्विरूपम् ॥' [पद्म. पञ्च. १।२५]

जानना कि पाक्षिक श्रावक मन-बहलावके लिए ताश आदि खेल सकता है। प्रारम्भिक श्रावक होनेसे वह अभी उसका त्याग नहीं कर सकता। शायद इसीसे आचार्य अमृतचन्द्रने अनर्थदण्ड त्याग नामक गुणव्रतमें द्यूतको दूरसे ही छोड़नेकी प्रेरणा की है क्योंकि वह सब अनर्थोंकी जड़ है, मायाका घर है और चोरी तथा झूठका स्थान है। इनके बिना जुआरीका काम नहीं चलता। किसीने जुआरीकी संसारमें जीवन बितानेकी दशाका चित्रण करते हुए कहा है—कि उसके पास लंगोटीके सिवाय दूसरा वस्त्र नहीं होता, निकृष्ट अन्नका भोजन करता है, जमीनपर सोता है, गन्दी बातें करता है, कुटुम्बी जनोंसे लड़ाई-झगड़ा चलता है, दुराचारी उसके सहायक होते हैं, दूसरोंको ठगना उसका व्यापार है, चोर मित्र होते हैं, सज्जनोंको अपना वैरी मानता है। प्रायः जुएके व्यसनीकी यही दशा होती है।

आचार्य पद्मनन्दिने जुएकी निन्दा करते हुए कहा है—'यह जुआ अपयशका घर है, चोरी, वेश्या आदि सब व्यसनोंका स्वामी है, सब विपत्तियोंका स्थान है, पापका बीज है, दुःखदायी नरकके मार्गोंमें अग्रगामी है, ऐसा जानकर कौन बुद्धिमान् जुआ खेलना स्वीकार कर सकता है।'

इसीसे वेश्या आदि व्यसनोंको भी विनाश निन्दाकी बहुलतासे असेवनीय कहा है। आचार्य पद्मनन्दिने वेश्याकी निन्दा करते हुए कहा है—'उन वेश्याओंके सिवाय दूसरा नरक

'तनुरपि यदि लग्ना कीटिका स्याच्छरीरे
भवति तरलचक्षुर्व्याकुलो यः स लोकः ।
कथमिह मृगयासानन्दमुत्खातशस्त्रो
मृगमकृतविकारं ज्ञातदुःखोऽपि हन्ति ॥' [पद्म. पञ्च. १।२६]

'चिन्ता-व्याकुलता-भयारतिमतिभ्रंशातिदाहभ्रम-
क्षुत्तृष्णाहति-रोग-दुःखमरणान्येतान्यहो आसताम् ।
यान्यत्रैव पराङ्गनाहितमतेस्तद् भूरिदुःखं चिरं-
श्वभ्रे भावि यदग्निदीपितवपुर्लोहाङ्गनालिङ्गनात् ॥' [पद्म. पञ्च. १।२९]

अपि च—

'दत्तस्तेन जगत्यकीर्तिपटहो गोत्रे मषिकूर्चक-
श्चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुणगणारामस्य दावानलः ।
सङ्केतः सकलापदां शिवपुरद्वारे कपाटो दृढः
कामार्तस्त्यजति प्रभोदयभिदाशस्त्रीं परस्त्रीं नयन् ॥' [ ]

किञ्च,

'सकल-पुरुषधर्म-भ्रंशकार्यत्र जन्म-
न्यधिकमधिकमग्रे यत्परं दुःखहेतुः ।
तदपि यदि न मद्यं त्यज्यते बुद्धिमद्भिः
स्वहितमिह किमन्यत्कर्म धर्माय कार्यम् ॥

नहीं हैं जो मांस खाती हैं, मदिरा पीती हैं, झूठ बोलती हैं, धनके लिए ही प्रेम करती हैं, धन और प्रतिष्ठाकी हानि करती हैं, रात-दिन नीच पुरुषोंकी भी लार पीती हैं।' 'जो धोबीकी कपड़े पछाड़नेकी शिलाके समान हैं, जिनका आचरण कुत्तेके खप्पर समान हैं उन वेश्याओंका यदि संसर्ग किया तो परलोककी तो बात ही व्यर्थ है।' 'जो धनकी आशासे अपना मनोहर शरीर जन्मान्धको, दुर्मुखको, जरासे जीर्ण अंगवालेको, ग्रामीणको, अकुलीनको तथा गलित कुष्टसे ग्रसित जनोंको भी देती हैं, विवेकरूपी कल्पलताको काटनेके लिए शस्त्रके समान उन वेश्याओंसे कौन अनुराग करेगा ?'

इस प्रकार वेश्याव्यसनकी बुराइयाँ बताकर आचार्य पद्मनन्दि शिकार खेलनेवालोंकी निन्दा करते हैं—'एकमात्र दुःखदायक शरीर ही जिसका धन है, जिसका कोई भाई आदि सम्बन्धी भी नहीं है, वनमें रहती है, जो स्वभावसे ही डरपोक है, दाँतोंमें तिनका लिये हैं, किसीका अपराध भी नहीं करती, मांसभोजनके लोभसे जिस शिकारमें ऐसी हरिणी भी मारी जाती है उस शिकारके प्रेमी मनुष्य इस लोक और परलोकमें जो पाप करते हैं उसे कौन कहनेमें समर्थ है।' जो लोग शरीरमें जरा-सी चींटीके भी काटनेपर व्याकुल होकर आँखमें पानी ले आते हैं वे ही दुःखको जानते हुए भी शिकारके आनन्दमें चूर होकर निरपराध मृगका कैसे शस्त्र उठाकर घात करते हैं ?

शिकारके पश्चात् परस्त्री व्यसनकी निन्दा करते हुए कहते हैं—'परस्त्री गामीको इसी भवमें जो चिन्ता, व्याकुलता, भय, अरति, बुद्धिनाश, अतिसन्ताप, भ्रम, भूख-प्यास, आघात, रोग, दुःख, मरण आदि प्राप्त होते हैं वे तो रहे किन्तु उससे महान् दुःख चिर काल तक

आस्तामेतद्यदिह जननीं वल्लभां मन्यमाना
निन्द्याश्चेष्टा विदधति जना निस्त्रपाः पीतमद्याः ।
तत्राधिक्यं पथि नियतिता यत्किरत्सारमेयाद्-
वक्त्रे मूत्रं मधुरमधुरं भाषमाणाः पिबन्ति ॥' [पद्म. पञ्च. १।२१-२२]
'बीभत्स्यं प्राणिघातोद्भवमशुचि कृमिस्थानमश्लाघ्यमूलं,
हस्तेनाक्ष्णापि शक्यं यदिह न महतां स्प्रष्टुमालोकितुं च ।
तन्मासं भक्ष्यमेतद्वचनमपि सतां गर्हितं यस्य साक्षात्-
पापं तस्यात्र पुंसो भुवि भवति कियत्का गतिर्वा न विद्मः ॥'
'गतो ज्ञातिः कश्चिद्बहिरपि न यद्येति सहसा,
शिरो हत्वा हत्वा कलुषितमना रोदिति जनः ।
परेषामुत्कृत्य प्रकटितमुखं खादति पलं,
कले रे निर्विण्णा वयमिह भवच्चित्रचरितैः ॥' [पद्म. पञ्च. १।१९-२०]
'यो येनैव हतः स तं हि बहुशो हन्त्येव यैर्वञ्चितो,
नूनं वञ्चयते स तानपि भृशं जन्मान्तरेऽप्यत्र च ।
स्त्रीबालादिजनादपि स्फुटमिदं शास्त्रादपि श्रूयते,
नित्यं वञ्चनहिंसनोज्झनविधौ लोकः कुतो मुह्यति ॥'

नरकमें जो आगमें तपी लोहमयी नारियोंके शरीरके आलिंगनसे होनेवाला है, आश्चर्य है कि यह उसे भी नहीं देखता।'

'जो पुरुष कामसे पीड़ित होकर परस्त्रीके पास जाता है उसने जगतमें अपयशकी डुग्गी पीट दी है, अपने कुलके नामपर कालिमा पोत दी है, चारित्रको जलांजलि भेंट कर दी है, गुणोंके समूहरूप उद्यानमें आग लगा दी है, समस्त आपत्तियोंको निमन्त्रण दे दिया है और मोक्ष नगरके द्वारपर मजबूत कपाट लगा दिये हैं।'

इस तरह परस्त्रीव्यसनकी बुराइयाँ बताकर आचार्य मद्यपान व्यसनकी बुराइयाँ कहते हैं—'जो मद्य इस जन्ममें समस्त पुरुषार्थोंका नष्ट करनेवाला है तथा आगे उत्तरोत्तर अधिक दुःखका कारण है यदि बुद्धिमान् उस मद्यपानको भी नहीं छोड़ सकते तो फिर इस लोकमें धर्मके लिए अपना हितकारक अन्य कौन काम कर सकते हैं। मद्यपायी निर्लज्ज मनुष्य माताको प्रिया मानकर जो निन्द्य चेष्टाएँ करते हैं वे तो दूर रहें। उससे भी अधिक खेदकी बात यह है कि मार्गमें मदहोश होकर कुत्तेके पेशाबको 'बड़ा मधुर है' कहते हुए पी जाते हैं।'

मद्यपानके पश्चात् मांसव्यसनकी निन्दा करते हैं—'मांस घिनावना होता है, प्राणियोंके घातसे उत्पन्न होता है, अतएव अपवित्र, कृमियोंका उत्पत्तिस्थान और निन्दनीय होता है। बड़े पुरुष तो उसे हाथसे स्पर्श नहीं कर सकते और आँखोंसे देख नहीं सकते। 'वह मांस खाने योग्य है' ऐसा कहना भी सज्जनोंके लिए गर्हित है। उस मांसको जो साक्षात् पाप है, खानेवाले पुरुषकी लोकमें क्या गति होगी, हम नहीं जानते। 'यदि कोई अपना सम्बन्धी बाहर जाकर जल्दी नहीं लौटता तो मनुष्य सिर पीट-पीटकर रोता है। वही मनुष्य दूसरे प्राणियोंको मारकर उनका मांस मुँह फैलाकर खाता है। हे कलिकाल! तुम्हारे इन विचित्र चरितोंको देखकर हमे तुमसे विरक्ति होती है।' जो जिसके द्वारा मारा जाता है वह उसे

'अर्थादौ प्रचुरप्रपञ्चवचनैर्ये वञ्चयन्तेऽपरा-
न्नूनं ते नरकं व्रजन्ति पुरतः पापव्रजादन्यतः ।
प्राणाः प्राणिषु तन्निबन्धनतया तिष्ठन्ति नष्टे धने,
यावान् दुःखभरो नरे न मरणे तावानिह प्रायशः ॥' [पद्म. पञ्च. १।२७-२८] ॥१७॥

अथ प्रतिपाद्यानुरोधाद्धर्माचार्याणां सूत्राविरोधेन देशनानानात्वोपलम्भाद् भङ्ग्यन्तरेणाष्टमूलगुणानुद्देष्टुमाह—

मद्य-पल-मधु-निशासन-पञ्चफलीविरति-पञ्चकाप्तनुती ।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्ट मूलगुणाः ॥१८॥

पञ्चफली—पञ्चानां फलानां समाहारः पिप्पलादिफलपञ्चकमित्यर्थः । तद्विरतिरेक एवात्र मूलगुणः । आप्तनुतिः—त्रिकालदेववन्दना । क्वचित्—क्वापि शास्त्रे । यद् वृद्धाः पठन्ति—

'मद्योदुम्बरपञ्चकामिषमधुत्यागाः कृपा प्राणिनां,
नक्तं भुक्तिविमुक्तिराप्तविनुतिस्तोयं सुवस्त्रस्रुतम् ।
एतेऽष्टौ प्रगुणा गुणा गणधरैरागारिणां कीर्तिताः,
एकेनाप्यमुना विना यदि भवेद् भूतो न गेहाश्रमी ॥' ॥१८॥

अथ प्रकृतमुपसंहरन् सार्वकालिक-सम्यक्त्व-शुद्धिपूर्वकमद्यादिविरतिकृतां कृतोपनीतीनां ब्राह्मणक्षत्रियविशां जिनधर्मश्रुत्यधिकारितामाविष्कर्तुमाह—

इसी लोक और परलोकमें भी अनेक बार मारता है। जो जिसके द्वारा ठगा जाता है वह उसे इस लोक और परलोकमें भी अनेक बार ठगता है। यह बात स्त्री और बालकोंसे भी तथा शास्त्रमें भी सुनी जाती है। फिर भी लोग धोखा देही और हिंसाको छोड़ते हुए क्यों संकोच करते हैं ? जो मनुष्य अनेक प्रपंचपूर्ण वचनोंसे दूसरोंके धनको ठगते हैं वे निश्चय ही उस पापसमूहसे नरकमें जाते हैं। इसका कारण है कि धन मनुष्योंका प्राण है क्योंकि धनसे ही प्राण रहते हैं। अतः धन नष्ट होनेपर मनुष्यको जितना दुःख होता है उतना प्रायः मरते समय भी नहीं होता ॥१७॥

शिष्योंके अनुरोधसे धर्माचार्य आगमसे अविरुद्ध अनेक प्रकारसे उपदेश देते हुए पाये जाते हैं। अतः अन्य प्रकारसे आठ मूल गुण कहते हैं—

मद्यका त्याग, मांसका त्याग, मधुका त्याग, रात्रि भोजनका त्याग, पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग, त्रिकाल देववन्दना, जीव दया और छना पानीका उपयोग, ये आठ मूलगुण किसी शास्त्रमें कहे हैं ॥१८॥

विशेषार्थ—इन अष्ट मूल गुणोंमें एक पाक्षिक श्रावकके योग्य सभी आवश्यक आचार आ जाता है। मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन और पाँच प्रकारके उदुम्बर फलोंके त्यागके साथ प्रतिदिन जिनदर्शन, पानी छानकर उपयोगमें लाना तथा जीवोंपर दया, ये आठ बातें ऐसी हैं जिन्हें श्रावक सरलतासे पाल सकता है। इसीलिए जिन धर्माचार्यने आजके श्रावकको लक्ष्य करके ये अष्टमूल गुण कहे हैं, उन्होंने यह भी कहा है कि इनमें-से एकके भी बिना गृहस्थ कहलानेका पात्र नहीं है ॥१८॥

अब प्रकृत अष्टमूलगुणोंकी चर्चाका उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार सार्वकालिक सम्यक्त्वकी शुद्धिपूर्वक आठ मूलगुणोंका पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको, जिनका उपनयन संस्कार हो गया है, जिनधर्मके सुननेका अधिकारी बतलाते हैं—

यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधीः ।
जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः स्यात् कृतोपनयो द्विजः ॥१९॥

महापापानि—महत् विपुलमनन्तसंसारकारणं पापं येभ्यस्तानि मद्यपानादीनि प्राक् प्रबन्धेनोक्तानि । उक्तं चार्षे—

'मधुमांसपरित्यागाः पञ्चोदुम्बरवर्जनम् ।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्वकालिकम् ॥' [महापु. ३८।१२२]

जिनधर्मश्रुतेः—वीतरागसर्वज्ञोपदिष्टस्य धर्मस्य श्रुतिः श्रवणं शास्त्रं वा उपासकाध्ययनादि तस्याः । यदाह—

'अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ।' [पुरुषार्थ. ७४]

इस प्रकार जीवनपर्यन्तके लिए अनन्त संसारके कारण महापापको जन्म देनेवाले मद्य आदि जो पहले विस्तारसे कहे गये हैं उनको छोड़कर सम्यक्त्वसे विशुद्ध बुद्धिवाला द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उपनयन संस्कार हो जानेपर वीतराग सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट धर्मको अथवा उपासकाध्ययन आदि शास्त्रको सुननेका अधिकारी होता है ॥१९॥

विशेषार्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यको द्विज कहते हैं। महापुराणमें (३८।४८) कहा है कि जो दो बार उत्पन्न हुआ हो एक बार गर्भसे और दूसरी बार क्रियासे उसे द्विज कहते हैं। परन्तु जो क्रिया और मन्त्रसे रहित है वह केवल नामसे द्विज है। यहाँ द्विजको ही जैन धर्मके सुननेका अधिकारी कहा है वह भी जब वह सम्यक्त्व पूर्वक जीवन पर्यन्तके लिए मद्यादिका सेवन छोड़े और उपनयन संस्कारसे सम्पन्न हो। जैनधर्मके सुननेके अधिकारी की चर्चा पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें मिलती है। किन्तु उसमें न तो द्विज और न उपनयन संस्कारका विधान है। जो शुद्धधी आठ अनिष्ट मद्यपानादिका त्याग कर देता है वह जिनधर्म देशनाका पात्र होता है। आचार्य अमृतचन्द्र और पं. आशाधरके समयमें तीन सौ वर्षोंका अन्तर है इन वर्षोंमें धर्मको लेकर वर्ण आदिकी बात आ गयी। अन्यथा भगवान्के समवसरणमें तो पशु तक जाते थे और धर्म सुनते थे। आचार्य सोमदेवने जिनदीक्षाके योग्य तीन ही वर्णोंको बतलाया है। अपने नीतिवाक्यामृतमें भी उन्होंने कहा है कि जैसे सूर्य सबके लिए वैसे ही धर्म भी सबके लिए है केवल विशेष अनुष्ठानमें नियम है'। यह विशेष अनुष्ठान जिनदीक्षा आदि है। अतः विशेष अनुष्ठानमें नियम हो सकता है। धर्मश्रवणका भी अधिकार यदि सबको न हो तो बिना धर्म सुने कोई कैसे सम्यग्दृष्टि बनकर आठ मूल गुणोंको धारण करेगा। पं. आशाधरजीने अवश्य ही यह कथन पुरुषार्थसिद्ध्युपायके आधारपर किया है। 'शुद्धधी' शब्द दोनोंमें है। इस शब्दके अर्थको लेकर भी विवाद खड़ा कर दिया है। किन्हीं विद्वानोंका कहना है कि शुद्धधीका अर्थ निर्मल बुद्धि है और आठ महापापोंको छोड़नेसे

---

१. 'त्रयो वर्णाः द्विजातयः ।'—नीतिवा., ७।६।

२. 'द्विजातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः । क्रियामन्त्रविहीनस्तु केवलं नामधारकः ॥'

—महापु. ३ ।४८।

३. 'दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाः' ।—सो. उपा.

४. 'आदित्यावलोकनवत् धर्मः खलु सर्वसाधारणो विशेषानुष्ठाने तु नियमः।' —नीतिवा. ७।१४।

कृतोपनयः—कृतो यथाविध्युपकल्पित उपनयो मौञ्जीबन्धादिलक्षणोपनीतिक्रिया यस्य स तथोक्तः । द्विजः—द्विर्जातो मातृगर्भे जिनसमयज्ञानगर्भे चोत्पादाद् द्विजो ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशामन्यतमः । 'त्रयो वर्णा द्विजातयः' इति वचनात् ॥१९॥

अथ सहजामाहार्यां चालौकिकीं गुणसम्पदमुद्वहतो भव्यान् यथासंभवमवगमयन्नाह—

जाता जैनकुले पुरा जिनवृषाभ्यासानुभावाद्गुणै-
र्येऽयत्नोपनतैः स्फुरन्ति सुकृतामग्रेसराः केऽपि ते ।
येऽप्युत्पद्य कुदृक्कुले विधिवशाद्दीक्षोचिते स्वं गुणै-
र्विद्याशिल्पविमुक्तवृत्तिनि पुनन्त्यन्वीरते तेऽपि तान् ॥२०॥

निर्मल बुद्धि होती है। इसी श्लोकका अर्थ एक विदुषी साध्वीने इसी प्रकार किया है—'इस प्रकार जीवन पर्यन्तके लिए मद्यपानादि महापापोंको छोड़कर विशुद्धि बुद्धि हो गयी है जिसकी।'

और इस श्लोककी उत्थानिकामें उन्होंने पं. आशाधरजीकी संस्कृत टीकाका अनुसरण करते हुए लिखा है—'जो पूर्वोक्त रीतिसे सम्यग्दर्शनपूर्वक अष्ट मूलगुणोंका पालन करते हैं।' एक तरफ़ सम्यग्दर्शनपूर्वक अष्ट मूलगुणोंके पालनकी बात और दूसरी ओर अष्ट मूलगुण पूर्वक सम्यग्दर्शन होनेकी बात परस्पर विरुद्ध है। पं. आशाधरजीने अपनी टीकामें 'शुद्धधीः' का अर्थ 'सम्यक्त्व विशुद्ध बुद्धिः' किया है। अमृतचन्द्रजीके 'शुद्धधियः' का भी यही अर्थ है। जिनशासनके अनुसार सम्यग्दर्शनके बिना बुद्धि विशुद्ध होती ही नहीं। हेयको हेय रूपसे और उपादेयको उपादेय रूपसे जानकर श्रद्धा होना ही बुद्धिकी विशुद्धता है। यह सम्यक्त्वके होनेपर ही होती है। सम्यक्त्वके बिना तो अष्ट मूलगुण धारण भी व्रतकी कोटिमें नहीं आता। अस्तु, अतः जिनधर्म श्रवणकी यह योग्यता विशेष धर्म—जैसे आगम ग्रन्थ आदि हैं उन्हींके श्रवणसे सम्बद्ध होना चाहिए। सामान्य जिनधर्मके श्रवणका अधिकार तो सभीको है। शायद इसीसे आशाधरजीके बाद रचे गये श्रावकाचारोंमें यह कथन किसीने नहीं किया कि अमुक व्यक्ति ही जिनधर्मको सुननेका अधिकारी है। आशाधरजीने महापुराणसे एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें कहा है कि मद्य, मांस और पाँच उदम्बर फल तथा हिंसादिका त्याग सार्वकालिक व्रत है। किन्तु इसमें जिनधर्मके श्रवणकी अधिकारितावाली बात नहीं है। यह तो महापुराणके भी उत्तरकालीन दसवीं शताब्दीकी चर्चा है जब लोगोंका ध्यान सम्भवतया उस ओर कम हो गया होगा ॥१९॥

आगे जैनकुलमें जन्म लेकर जन्मसे अष्ट मूलगुणोंका पालन करनेवाले और दीक्षाके योग्य मिथ्यादृष्टि कुलमें जन्म लेकर अवतार आदि क्रियाओंके द्वारा अपनेको पवित्र करनेवाले भव्योंके माहात्म्यका वर्णन करते हैं—

पूर्वजन्ममें सर्वज्ञदेवके द्वारा कहे गये धर्मके अभ्यासके माहात्म्यसे जो जैन कुलमें उत्पन्न होकर अपनेको बिना प्रयत्नके प्राप्त हुए सम्यक्त्व आदि गुणोंसे लोगोंके चित्तमें चमत्कार करते हैं वे पुण्यशालियोंके मुखिया बहुत थोड़े हैं। और जो मिथ्यात्व सहचारी पुण्य कर्मके उदयसे विद्या और शिल्पसे आजीविका न करनेवाले, अतएव दीक्षाके योग्य मिथ्यादृष्टि कुलमें भी जन्म लेकर अपनेको सम्यक्त्व आदि गुणोंसे पवित्र करते हैं वे भी उन जैनकुलमें जन्म लेनेवालोंका ही अनुसरण करते हैं अर्थात् उन्हींके समान होते हैं ॥२०॥

---

१. सागारधर्मामृत—प्रकाशिका सौ. भवरी देवी पांड्या धर्मपत्नी सेठ चाँदमलजी सुजानगढ़। १९७२।

जिनो देवता येषां ते जैनास्तेषां कुलं पूर्वपुरुषपरम्पराप्रभवो वंशस्तत्र जिनोक्तगर्भाधानादिनिर्वाणपर्यन्तक्रियामन्त्रसंस्कारयोग्यो महान्वय इत्यर्थः । आधानादिक्रिया आर्षोक्ता यथा—

'आधानं प्रीतिसुप्रीतिर्धृतिर्मोदः प्रियोद्भवः ।
नामकर्म वहिर्यानं निषद्या प्राशनं तथा ॥
व्युष्टिश्च केशवापश्च लिपिसंख्यानसंग्रहः ।
उपनीतिर्व्रतं चर्या व्रतावतरणं तथा ॥
विवाहो वर्णलाभश्च कुलचर्या गृहीशिता ।
प्रशान्तिश्च गृहत्यागे दीक्षाद्यं जिनरूपता ॥
मौनाध्ययनवृत्तत्वं तीर्थकृत्वस्य भावना ।
गुरुस्थानाभ्युपगमो गणोपग्रहणं तथा ॥
स्वगुरुस्थानसंक्रान्तिर्निःसङ्गात्मभावना ।
योगनिर्वाणसंप्राप्तिर्योगनिर्वाणसाधनम् ॥
इन्द्रोपपादाभिषेकौ विधिदानं सुखोदयः ।
इन्द्रत्यागावतारौ च हिरण्योत्कृष्टजन्मता ॥
मन्दरेन्द्राभिषेकश्च गुरुपूजोपलम्भनम् ।
यौवराज्यं स्वराज्यं च चक्रलाभो दिशाञ्जयः ॥
चक्राभिषेकसाम्राज्ये निष्क्रान्तिर्योगसंमहः ।
आर्हन्त्यं तद्विहारश्च योगत्यागोऽग्रनिर्वृतिः ॥
त्रयः पञ्चाशदेता हि मता गर्भान्वयक्रियाः ।
गर्भाधानादि-निर्वाणपर्यन्ताः परमागमे ॥' [महापु. ३८।५२-६३]

अजैन कुले जातं प्रतित्विमाः—

'अवतारो वृत्तलाभः स्थानलाभो गणग्रहः ।
पूजाराध्य-पुण्ययज्ञौ दृढचर्योपयोगिता ॥
इत्युद्दिष्टाभिरष्टाभिरुपनीत्यादयः क्रियाः ।
चत्वारिंशत्प्रमायुक्तास्ताः स्युर्दीक्षान्वयक्रियाः ॥
तास्तु कर्त्रन्वया ज्ञेया या प्राप्याः पुण्यकर्तृभिः ।
फलरूपतया वृत्ताः सन्मार्गाराधनस्य वै ॥
सज्जातिः सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता ।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परं निर्वाणमित्यपि ॥' [महापु. ३८।६४-६७]

गुणैः—सम्यक्त्वादिभिः । अयत्नोपनतैः—प्रयत्नमन्तरेण प्राप्तैः सहजैरित्यर्थः । स्फुरन्ति—लोकचित्ते चमत्कारं कुर्वन्ति ।

यत्पठन्ति—

'भवे भवे यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः ।
तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यस्यते पुनः ॥' [ ]

विशेषार्थ—दो तरहके भव्य पुरुष होते हैं-एक जो जैन कुलमें जन्मे हैं और दूसरे जो अन्य धर्मावलम्बी ऐसे कुलमें जन्मे हैं जिसमें विद्या और शिल्पसे आजीविका नहीं होती। विद्यासे यहाँ आजीविकाके लिए गीत आदि विषयक शास्त्र और शिल्पसे बढ़ई-लुहार आदि

सुकृतां—कृतपुण्यानाम् । अग्रेसराः—सम्यक्त्वसहचारिपुण्योदययोगात् मुख्याः । केऽपि—प्रविरलाः सन्तीत्यर्थः । विधिवशात्—मिथ्यात्वसहचारिपुण्योदययोगात् । दीक्षोचिते—दीक्षा व्रताविष्करणं व्रतोन्मुखस्य वृत्तिरिति यावत् । सा चात्रोपासकदीक्षा जिनमुद्रा वा उपनीत्यादिसंस्कारो वा । गुणैः—वक्ष्यमाणतत्त्वार्थप्रतिपत्त्यादिभिः । विद्येत्यादि । विद्यात्राजीवनार्थं गीतादिशास्त्रम् । शिल्पं—कारुकर्म । ताभ्यां विमुक्ता ततोऽन्या, वृत्तिर्वार्ताकृष्यादिलक्षणो जीवनोपायो यत्र तस्मिन् । अन्वीरते—अनुगच्छन्ति ॥२०॥

अथ द्विजातिषु कुलक्रमायातमिथ्याधर्मपरिहारेण विधिवज्जिनोक्त-मार्गमाश्रित्य स्वाध्यायध्यानबलादशुभकर्माणि निघ्नन्तं भव्यमभिष्टौति—

तत्त्वार्थं प्रतिपद्य तीर्थकथनादादाय देशव्रतं
तद्दीक्षाग्रधृतापराजितमहामन्त्रोऽस्तदुर्दैवतः ।
आङ्गं पौर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीतशास्त्रान्तरः
पर्वान्ते प्रतिमासमाधिमुपयन् धन्यो निहन्त्यंहसी ॥२१॥

तीर्थं—धर्माचार्यो गृहस्थाचार्यो वा । सैषावतारक्रिया । उक्तं चार्षे—

'गुरुर्जनयिता तत्त्वज्ञानं गर्भः सुसंस्कृतः ।
तथा तत्रावतीर्णोऽसौ भव्यात्मा धर्मजन्मना ॥
अवतारक्रिया सैषा गर्भाधानवदिष्यते ।
यतो जन्मपरिप्राप्तिः उभयत्र न विद्यते ॥' [महापु. ३९।३४-३५]

देशव्रतं—सोऽयं वृत्तलाभः । उक्तं च—

'ततोऽस्य वृत्तलाभः स्यात्तदैव गुरुपादयोः ।
प्रणतस्य व्रतव्रातं विधानेनोपसेदुषः ॥' [महापु ३९।३६]

कारुकर्म लिया गया है । इनसे आजीविका करनेवालोंको जिनदीक्षाका अधिकारी नहीं कहा । जो जन्मसे जैन होते हैं वे तो बिना प्रयत्नके ही सम्यक्त्व व्रत आदि धारण करके धर्मात्माओंमें अग्रणी बन जाते हैं और जो मिथ्यादृष्टि कुलमें जन्म लेते हैं वे आगे बतलाये क्रमके द्वारा व्रतादि धारण करके उन्हींके समान हो जाते हैं ॥२०॥

अब, जो ब्राह्मण-क्षत्रिय या वैश्य कुल-परम्परासे आये मिथ्या धर्मको छोड़कर और विधिपूर्वक जैनमार्गको स्वीकार करके स्वाध्याय और ध्यानके बलसे अशुभ कर्मोंका घात करते हैं उन भव्य जीवोंका अभिनन्दन करते हैं—

धर्माचार्य अथवा गृहस्थाचार्यके उपदेशसे जीवादिक तत्त्वार्थका निश्चय करके अष्ट मूलगुण आदि एकदेश व्रतको स्वीकार करे तथा देशव्रतकी दीक्षा लेनेसे पहले गुरुमुखसे पंच नमस्कार नामक महामन्त्रको ग्रहण करे, अब तक जिन मिथ्यादेवोंको मानता था उनका त्याग कर दे, तथा ग्यारह अंग और चौदह पूर्व सम्बन्धी उद्धार ग्रन्थोंका अध्ययन करनेके बाद अन्य मतोंके शास्त्रोंको पढ़े । तथा प्रतिमास दो अष्टमी और दो चतुर्दशीकी रात्रिमें रात्रि प्रतिमा योगका अभ्यास करता हुआ वह पुण्यशाली व्यक्ति द्रव्यपाप और भावपापको नष्ट करता है ।।२१॥

विशेषार्थ—अवतार, वृत्तलाभ, स्थानलाभ, गणग्रह, पूजाराध्य, पुण्ययज्ञ, दृढ़चर्या और उपयोगिता ये आठ क्रियाएँ जैन धर्ममें दीक्षित होनेवाले अजैनके लिए हैं । इनकी गणना दीक्षान्वय क्रियाओंमें की जाती है । व्रतोंका धारण करना दीक्षा है । उन व्रतोंको ग्रहण करनेके सम्मुख पुरुषकी जो प्रवृत्ति है उसे दीक्षा कहते हैं और उस दीक्षासे सम्बन्ध रखनेवाली जो

तद्दीक्षार्थं—उपासकदीक्षापुरस्सरम् । सोऽयं स्थानलाभः । तद्विधिरार्षोक्तो यथा—

'ततः कृतोपवासस्य पूजाविधिपुरस्सरः ।
स्थानलाभो भवेदस्य तत्रायमुचिता विधिः ॥
जिनालये शुचौ रंगे पद्ममष्टदलं लिखेत् ।
विलिखेद्वा जिनास्थानमण्डलं समवृत्तकम् ॥
श्लक्ष्णेन पिष्टचूर्णेन सलिलालोडितेन वा ।
वर्तनं मण्डलस्येष्टं चन्दनादिद्रवेण वा ॥
तस्मिन्नष्टदले पद्मे जैने वाऽऽस्थानमण्डले ।
विधिना लिखिते तज्ज्ञैर्विष्वक्विरचितार्चने ॥
जिनार्चाभिमुखं सूरिर्विधिनैनं निवेशयेत् ।
तवोपासकदीक्षेयमिति मूर्ध्नि मुहुः स्पृशन् ॥
पञ्चमुष्टिविधानेन स्पृष्ट्वैनमधिमस्तकम् ।
पूतोऽसि दीक्षयेत्युक्त्वा सिद्धशेषां च लम्भयेत् ॥
ततः पञ्चनमस्कारपदान्यस्मायुपादिशेत् ।
मन्त्रोऽयमखिलात्पापात्त्वां पुनीतादितीरयन् ॥
कृत्वा विधिमिमं पश्चात्पारणाय विसर्जयेत् ।
गुरोरनुग्रहात्सोऽपि सम्प्रीतः स्वं गृहं व्रजेत् ॥' [महापु., ३९।३७-४४]

अस्तदुर्दैवतः—त्यक्तमिथ्यादेवतागणः । सोऽयं गणग्रहः ।
तद्विधिरार्षे यथा—

'इयन्तं कालमज्ञानात्पूजिताःस्थ कृतादरम् ।
पूज्यास्त्विदानीमस्माभिरस्मत्समयदेवताः ॥
ततोऽपमृषितेनालमन्यत्र स्वैरमास्यताम् ।
इति प्रकाशमेवैतान् नीत्वान्यत्र क्वचित्त्यजेत् ॥
गणग्रहः स एषः स्यात्प्राक्तनं देवतागणम् ।
विसृज्यार्चयतः शान्ता देवताः समयोचिताः ॥' [महापु. ३९।४६-४८]

अर्थसंग्रहं—उद्धारग्रन्थमुपश्रुत्य । सूत्रमपि ।
उक्तं चार्षे—

'पूजाराध्याख्यया ख्याता क्रियास्य स्यादतः परा ।
पूजोपवाससम्पत्या गृह्णतोऽङ्गार्थसंग्रहम् ॥'

क्रियाएँ हैं वे दीक्षान्वय क्रिया कहलाती हैं । उनमें पहली अवतार क्रिया है । जब मिथ्यात्वसे दूषित कोई पुरुष समीचीन मार्गको ग्रहण करना चाहता है तब यह क्रिया की जाती है । प्रथम ही वह भव्य किन्हीं मुनिराज या गृहस्थाचार्यके पास जाकर धर्मकी जिज्ञासा करता है । और उपदेश सुनकर मिथ्या मार्गसे प्रेम छोड़कर समीचीन मार्गमें बुद्धि लगाता है । उस समय गुरु ही उसका पिता है और तत्त्वज्ञान ही संस्कार किया हुआ गर्भ है । वह भव्य पुरुष धर्मरूप जन्मके द्वारा तत्त्वज्ञानरूपी गर्भमें अवतीर्ण होता है । इसलिए इस क्रियाको पहली अवतार क्रिया कहते हैं । उसी समय गुरुके चरणकमलोंको नमस्कार करते हुए और विधिपूर्वक व्रतोंको धारण करते हुए उस पुरुषके वृत्तलाभ नामकी दूसरी क्रिया होती है ।

तथा—

'ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबन्धिनी ।
शृण्वतः पूर्वविद्यानामर्थं सब्रह्मचारिणः ॥' [महापु. ३९।४९-५०]

शास्त्रान्तराणि— सौगतादिग्रन्थान् । उक्तं च—

तदास्य दृढचर्याख्या क्रिया स्वसमयश्रुतम् ।
निष्ठाप्य शृण्वतो ग्रन्थान् बाह्यानन्यांश्च कांश्चन ॥' [महापु. ३९।५१]

अपि च—

'सूत्रमौपासकं चास्य स्यादध्येयं गुरोर्मुखात् ।
विनयेन ततोऽन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरम् ॥
शब्दविद्यार्थशास्त्रादि चाध्येयं नास्य दुष्यति ।
स्वसंस्कारप्रबोधायाध्येयानि ख्यातयेऽपि च ॥
ज्योतिर्ज्ञानमथ च्छन्दोज्ञानं ज्ञानं च शाकुनम् ।
संख्याज्ञानमपीदं च तेनाध्येयं विशेषतः ॥' [महापु. ३८।११८-१२०]

प्रतिमासमाधि—रात्रिप्रतिमायोगम् । उक्तं च—

'दृढव्रतस्य तस्यान्या क्रिया स्यादुपयोगिता ।
पर्वोपवासपर्यन्ते प्रतिमायोगधारणम् ॥' [महापु. ३९।५२] ॥२१॥

अथ शूद्रस्याप्याचारादिशुद्धिमतो ब्राह्मणादिवद्धर्म्यक्रियाकारित्वं यथोचितं समनुमन्यमानः प्राह—

उसके बाद उपवास और पूजापूर्वक स्थान लाभ नामकी तीसरी क्रिया होती है। इसकी विधि इस प्रकार है—जिनालयमें किसी पवित्र स्थानपर आठ पाँखुरीका कमल बनावे अथवा गोलाकार समवसरण मण्डलकी रचना करे। जब उसकी पूजा सम्पूर्ण हो चुके तब आचार्य उस पुरुषको जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके सम्मुख बैठावे और बार-बार उसके मस्तकका स्पर्श करते हुए कहे—'यह तेरी श्रावककी दीक्षा है।' पंचमुष्टिकी रीतिसे उसके मस्तकका स्पर्श करे तथा 'तू इस दीक्षासे पवित्र हुआ' इस प्रकार कहकर पूजाके बचे हुए शेषाक्षत उससे ग्रहण कराये। पश्चात् 'यह मन्त्र तुझे समस्त पापोंसे पवित्र करे' इस प्रकार कहते हुए उसे पंच नमस्कार मन्त्रका उपदेश करे। यह तीसरी क्रिया है। उसके बाद वह पुरुष अपने घरसे मिथ्या देवताओंको निकालता है। यह चौथी गणग्रह क्रिया है। फिर पूजा और उपवासपूर्वक द्वादशांग श्रुतको सुनना पाँचवीं पूजाराध्य क्रिया है। फिर साधर्मी पुरुषोंके साथ चौदह पूर्वोंके अर्थको सुननेवाले उस भव्यके पुण्यको बढ़ानेवाली पुण्ययज्ञा नामक छठी क्रिया होती है। इस प्रकार अपने मतके शास्त्रोंको पूर्ण पढ़ लेनेके बाद अन्य मतके शास्त्रोंको अथवा किसी अन्य विषयको पढ़ने या सुननेवाले उस भव्यके दृढ़चर्या नामकी सातवीं क्रिया होती है। इसके बाद उपयोगिता नामकी आठवीं क्रिया होती है। इसमें पर्वके दिन रात्रिके समयमें प्रतिमा योग धारण किया जाता है। महापुराणमें प्रतिपादित इन आठ क्रियाओंका ही कथन ग्रन्थकारने इस श्लोकमें किया है। इन आठके बाद उपनीति क्रिया होती है। जिसमें जनेऊ धारण किया जाता है। उसका कथन आशाधरजीने नहीं किया है ॥२१॥

आगे कहते हैं कि आचार आदिकी शुद्धि पालनेवाला शूद्र भी ब्राह्मण आदिकी तरह यथायोग्य धर्म-कर्म कर सकता है—

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुद्ध्याऽस्तु तादृशः ।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ।।२२।।

उपस्करः—आचमनाद्युपकरणम् । आचारः—मद्यादिविरतिः । तादृशः—जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः देवद्विजतपस्वीपरिकर्मयोग्यो वा । यन्नीतिः—'आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च शुद्धिः करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्वीपरिकर्मसु योग्यमिति ।'—[नीति वा०] हीनः—अल्पो रिक्तो वा । धर्मभाक्—श्रावकधर्माराधकः । यदाह—

'दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः ।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ।।' [सो. उपा., ७९१ श्लो.]

वर्णलक्षणमार्षे यथा—

'ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् ।
वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्याच्छूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ।।' [महापु. ३८।४६]

स्वयमप्यन्वाख्यच्च सिद्धचक्रे—

'कर्म धर्म्यं क्षतत्राणं वार्ता प्रैषं च मानुषाः ।
कुर्वाणा जात्यभेदेऽपि भेद्या विप्रादिभेदतः ।।' ।।२२।।

अथानृशंस्यममृषाभाषित्वं परस्वनिवृत्तिरिच्छानियमो निषिद्धासु च स्त्रीषु ब्रह्मचर्यमिति सर्वसाधारणं धर्ममभिधायेदानीमध्ययनं यजनं दानं च ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां समानो धर्मोऽध्यापनयाजनप्रतिग्रहाश्च ब्राह्मणानामेवेति विशेषतस्तद्व्याख्यानार्थमुत्तरप्रबन्धमुपक्रममाणो यजनादिविधानाय पाक्षिकं तावदेवं नियुङ्क्ते—

आसन आदि उपकरण, मद्य आदिकी विरतिरूप आचार और शरीरकी शुद्धिसे विशिष्ट शूद्र भी जिनधर्मके सुननेके योग्य होता है। क्योंकि वर्णसे हीन भी आत्मा योग्य काल-देश आदिकी प्राप्ति होनेपर श्रावक धर्मका आराधक होता है ।।२२।।

विशेषार्थ—यद्यपि दीक्षाके योग्य तीन ही वर्ण होते हैं तथापि शूद्रको भी अपनी मर्यादाके अनुसार धर्म सेवनका अधिकार है। किन्तु इसके लिए उसका निवासस्थान, उसका खानपान तथा शरीर शुद्ध होना आवश्यक है। आचार्य सोमदेवने कहा है कि आचारशुद्धि, घर-बरतन वगैरहकी सफाई और शरीर शुद्धि शूद्रको भी देव, द्विज और तपस्वियोंकी सेवाके योग्य बनाती है। उन्होंने जिनमें पुनर्विवाह प्रचलित नहीं है उन्हें सत्शूद्र कहा है। सत्शूद्र तो मुनिको आहार भी दे सकता है किन्तु मुनिपद धारण नहीं कर सकता। किन्तु श्रावक धर्मके पालनका उसे अधिकार प्राप्त है। महापुराणमें कहा है कि जो दीक्षाके अयोग्य कुलमें उत्पन्न हुए हैं और नाचना-गाना आदि विद्या और शिल्पसे आजीविका करते हैं ऐसे पुरुषोंको यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंकी आज्ञा नहीं है। किन्तु ऐसे लोग अपनी योग्यतानुसार व्रत धारण करें तो जीवन पर्यन्त एक शाटक धारण करके व्रती रह सकते हैं। क्रूरता न करना, सत्य बोलना, पराया धन न लेना, परिग्रहका परिमाण और निषिद्ध स्त्रीमें ब्रह्मचर्यका पालन ये सर्वसाधारणका धर्म है इसे सभी वर्णवालोंको पालना चाहिए ।।२२।।

आगे कहते हैं कि अध्ययन, पूजन और दान ये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका समान

---

१. 'सकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः । आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च विशुद्धिः करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम् ।।'—नीतिवा. ७।११-१२

२. महापु. ४०।१७१-१७३ ।

यजेत देवं सेवेत गुरून् पात्राणि तर्पयेत् ।
कर्म धर्म्यं यशस्यं च यथालोकं सदा चरेत् ॥२३॥

यजेदित्यादि । दानयजनप्रधान इति दानस्य प्राचुर्येणानुष्ठानार्थं प्रागुपादानम् । इह तु देवार्चनस्य पूर्ववचनं प्रथमं देवमर्चयेत्ततोऽन्यत्कृत्यं कुर्यादिति क्रमविधानदर्शनार्थम् । तथा श्लोकः—

'दानं पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विधः ।
श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः ॥' [अमि. श्रा. ९।१]

'आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिके प्रीतिरुच्चैः,
पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्धया ।
तत्त्वाभ्यासः स्वकीयव्रतरतिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यं,
तद् गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः ॥' [पद्म. पञ्च. १।१३]

कर्म—भृत्याश्रितानित्यादि वक्ष्यमाणक्रमेण । यशस्यं च धर्म्यं तावदवश्यमाचरणीयम् । तच्चेत् कीर्त्यर्थं स्यात्तदा सुतरां भद्रकमित्ययमर्थश्चशब्देनान्वाचीयते । अनुक्तसमुच्चये वात्र च । तेनायुष्यं च कर्म ब्राह्ममुहूर्तोत्थान शरीर चिन्ता-दन्तधावनादिकमायुर्वेदप्रसिद्धमाचरेदिति लभ्यते । यन्मनुः—

'स्वर्ग्यायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ।' [मनुस्मृ. ४।१३] इति ।

यथालोकम् । यदाह—

'द्रम (?) स्वामि स्वकार्येषु यथालोकं प्रवर्तताम् ।
गुणदोषविभागेऽत्र लोक एव यतो गुरुः ॥' [ ] ॥२३॥

धर्म है किन्तु पढ़ाना, पूजन कराना और दान लेना ये ब्राह्मणोंका ही मुख्य धर्म है इसलिए विशेष रूपसे उसका व्याख्यान करनेके लिए आगेका कथन करते हुए पाक्षिक श्रावकको पूजन आदि करनेकी प्रेरणा करते हैं—

श्रावकको नित्य जिनेन्द्रकी पूजा करनी चाहिए, गुरुओंकी सेवा, उपासना करनी चाहिए, पात्रोंको दान देना चाहिए, तथा धर्म और यश बढ़ानेवाले कार्य लोकरीतिके अनुसार करने चाहिए ॥२३॥

विशेषार्थ—मनुस्मृति (१।८८) में पढ़ाना, पढ़ना, यज्ञ करना, कराना, दान देना और लेना ये छह कर्म ब्राह्मणके ही बताये हैं और इनमें-से तीन कर्म पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना क्षत्रिय और वैश्यके बताये हैं। तदनुसार महापुराणमें भी भरत महाराजने जो व्रती वर्गके लिए ब्राह्मण नामके चतुर्थ वर्णकी स्थापना की उनके लिए पूजा, वार्ता, दान, स्वाध्याय संयम, तप ये षट्कर्म बताये। अतः जो व्रती श्रावक है वह ब्राह्मण है और स्वाध्याय संयम और तपके साथ पूजा करने-कराने, तथा दान देने और लेनेका अधिकारी है। जो व्रती नहीं है वह पूजा करता है, दान देता है। दान लेनेका पात्र तो वही है जिसमें मोक्षके कारण गुण सम्यग्दर्शन आदि यथायोग्य विद्यमान है। उसे ही दान देना चाहिए। तथा दयाभावसे अपने आश्रितोंका पालन करना चाहिए यह आगे कहेंगे। तथा जिससे संसारमें यश भी हो ऐसे भी कार्य करना चाहिए। 'च' शब्दसे अन्य कार्य भी लेना चाहिए। जैसे प्रातःकाल उठकर शारीरिक शुद्धि करना। यह सब काम श्रावकको लोकानुसार करना चाहिए। आचार्य पद्मनन्दिने गृहस्थाश्रमकी पूज्यता बतलाते हुए कहा है—जिस गृहस्थाश्रममें जिनेन्द्रोंकी पूजा

१. 'ब्राह्मणाव्रतसंस्कारात्'—महापु. ३८।४६

अष्टादशभिः पद्यैर्जिनपूजां प्रपञ्चयन्नाह—

यथाशक्ति यजेतार्हद्देवं नित्यमहादिभिः ।
सङ्कल्पतोऽपि तं यष्टा भेकवत् स्वर्महीयते ॥२४॥

यष्टा—ताच्छील्येन साधुत्वेन वा यजमानः । भेकवत्—राजगृहे नगरे श्रेष्ठिचरो दुर्दुरो यथा । उक्तं च—

'अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनेकेन राजगृहे ॥' [रत्न. श्रा. १२०]

महीयते—पूज्यो भवति ॥२४॥

अथ नित्यमहमाह—

प्रोक्तो नित्यमहोऽन्वहं निजगृहान्नीतेन गन्धादिना
पूजा चैत्यगृहेऽर्हतः स्वविभवाच्चैत्यादिनिर्मापणम् ।
भक्त्या ग्रामगृहादिशासनविधादानं त्रिसन्ध्याश्रया
सेवा स्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिनां नित्यप्रदानानुगम् ॥२५॥

विदाकरणां (?) । स्वे—निजे । अपिशब्दाच्चैत्यगृहे ॥२५॥

की जाती है, निर्ग्रन्थ गुरुओंकी विनय की जाती है, धार्मिक पुरुषोंके प्रति अत्यन्त प्रीति रहती है, पात्रोंको दान दिया जाता है, जो विपत्तिसे ग्रस्त जन होते हैं उनकी करुणाभावसे मदद की जाती है, तत्त्वोंका अभ्यास किया जाता है, अपने व्रतोंसे अनुराग होता है, निर्मल सम्यग्दर्शन होता है, वह गृहस्थाश्रम विद्वानोंके द्वारा भी पूज्य होता है। इससे विपरीत गृहस्थाश्रम तो दुःखदायक मोहपाश ही है ॥२३॥

आगे अठारह पद्योंसे जिनपूजाका विस्तारसे कथन करते हैं—

श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार नित्यमह आदिके द्वारा अर्हन्त देवकी पूजा करनी चाहिए। क्योंकि 'मैं अर्हन्त देवकी पूजा करूँ' इस प्रकारके विचार मात्रसे भी जिनेन्द्रदेवका पूजक मेढककी तरह स्वर्गमें महर्द्धिक देवोंके द्वारा पूजा जाता है ॥२४॥

विशेषार्थ—रत्नकरण्डश्रावकाचारमें चतुर्थ शिक्षाव्रतका नाम वैयावृत्य है। आचार्य समन्तभद्रने उसीमें देवपूजाको भी रखा है और श्रावकको प्रतिदिन आदर पूर्वक देवाधिदेव जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी पूजा करनेका उपदेश देते हुए कहा है कि अर्हन्त भगवान्‌के चरणोंकी पूजाका माहात्म्य तो राजगृही नगरीमें आनन्दसे मस्त मेढकने एक फूलके द्वारा बतलाया था। अर्थात् पूर्व जन्मका श्रेष्ठी, जो मायाबहुल होनेसे मरकर अपनी ही बावड़ीमें मेढक हुआ था, भगवान् महावीरके समवसरणमें जाते हुए राजा श्रेणिकके हाथीके पैरसे कुचलकर मर गया। उस समय वह भी भगवान्‌के दर्शनार्थ मुखमें एक कमलका फूल लेकर जाता था। मरकर वह स्वर्गमें देव हुआ और अवधिज्ञानसे सब पूर्ववृत्तान्त जानकर महावीर भगवान्‌के समवसरणमें उपस्थित हुआ। जब देवपूजाके विचार मात्रका इतना फल है तब शरीरसे जल चन्दन आदिके द्वारा और वचनोंसे स्तवनके द्वारा पूजन करनेका तो फल कहना ही क्या है ॥२४॥

नित्यमहका स्वरूप कहते हैं—

प्रतिदिन अपने घरसे लाये गये जल, चन्दन, अक्षत आदिके द्वारा जिनालयमें जिन भगवान्‌की पूजा करना, अथवा अपने धनसे जिनबिम्ब-जिनालय आदिका बनवाना, अथवा

अथाष्टाह्निकैन्द्रध्वजौ लक्षयति—

जिनार्चा क्रियते भव्यैर्या नन्दीश्वरपर्वणि ।
अष्टाह्निकोऽसौ सेन्द्राद्यैः साध्या त्वैन्द्रध्वजो महः ॥२६॥

भव्यैः—संभूयकरणज्ञापनार्थं बहुवचनम् । साध्या—क्रियमाणा ॥२६॥

अथ महामहं निर्दिशति—

भक्त्या मुकुटबद्धैर्या जिनपूजा विधीयते ।
तदाख्याः सर्वतोभद्र-चतुर्मुख-महामहाः ॥२७॥

भक्त्या न चक्रवर्त्यादिभयादिना । एषापि कल्पवृक्षवत् । केवलमत्र प्रतिनियतजनपदविषयं दानादिकम् ॥२७॥

भक्तिपूर्वक गाँव, मकान, जमीन आदि शासनके विधानके अनुसार रजिस्ट्री आदि कराकर मन्दिरके निमित्त देना, अथवा अपने भी घरमें तीनों सन्ध्याओंको अर्हन्त देवकी आराधना करना और मुनियोंको प्रतिदिन पूजापूर्वक आहारदान देना नित्यमह कहा है ॥२५॥

विशेषार्थ—महका अर्थ पूजा है । नित्यपूजा करना नित्यमह है । उसके ही ये प्रकार हैं । इनका कथन महापुराणमें किया है । प्रतिदिन अपने घरसे पूजनकी सामग्री लेजाकर मन्दिरमें पूजन करना नित्यपूजा है । इसमें इतनी विशेषता है कि पूजनकी सामग्री अपने घरकी होनी चाहिए । मन्दिरकी सामग्रीसे पूजा करना तभी उचित हो सकता है जब उसका मूल्य मन्दिरको चुका दिया हो । प्रतिदिन पूजा करनेवालोंको यह याद रखनेकी बात है । इसमें लोभ नहीं करना चाहिए । लोभ त्यागकर पूजा करनेसे सच्चा फल मिलता है । आगे जो बतलाये हैं वे सब इसी पूजाके निमित्त होनेसे नित्यमह कहे गये हैं । जैसे अपने द्रव्यसे जिनबिम्ब और जिनालयका निर्माण कराना । जहाँ मन्दिर न होनेसे पूजा नहीं होती वहाँ मन्दिर निर्माणपूर्वक जिनबिम्ब प्रतिष्ठा कराना उचित है । किन्तु जहाँ जिनमन्दिर हैं और नित्यपूजाकी व्यवस्था नहीं है वहाँ जिनमन्दिर बनवाना या नयी मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कराना धर्मकी आसादना है । पूजनके निमित्त मन्दिरके नाम जायदाद वगैरहकी लिखा-पढ़ी करके देना भी नित्यमह है क्योंकि उसकी आमदनी नित्यपूजामें व्यय होनेवाली है । मन्दिरके सिवाय अपने घरपर भी प्रातः, मध्याह्न और सायंकालको सामायिक आदि करना भी नित्यमह है । और प्रतिदिन मुनियोंको अपने घरपर पड़गाहकर जो पूजा की जाती है जिसके बाद उन्हें आहारदान दिया जाता है वह भी नित्यमह है । ये सब नित्यमहके ही प्रकार हैं ॥२५॥

अब अष्टाह्निक और ऐन्द्रध्वजका लक्षण कहते हैं—

भव्य जीवोंके द्वारा नन्दीश्वर पर्वमें अर्थात् प्रति वर्ष आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुनके श्वेत पक्षके अष्टमी आदि आठ दिनोंमें जो जिनपूजा की जाती है वह अष्टाह्निकमह है । तथा इन्द्र-प्रतीन्द्र सामानिक आदिके द्वारा जो जिनपूजा की जाती है उसे ऐन्द्रध्वजमह कहते हैं ॥२६॥

महामहका स्वरूप कहते हैं—

मण्डलेश्वर राजाओंके द्वारा भक्तिपूर्वक जो जिनपूजा की जाती है उसके नाम सर्वतोभद्र, चतुर्मुख और महामह हैं ॥२७॥

---

१. रिवन्द्र -मु. ।

अथ कल्पद्रुममाह—

किमिच्छकेन दानेन जगदाशाः प्रपूर्य यः ।
चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञः कल्पद्रुमो मतः ॥२८॥

किमिच्छकेन—किमिच्छसीति प्रश्नपूर्वकं याचकेच्छानुरूपं क्रियमाणेन ॥२८॥

अथ बलिस्नपनादिजिनपूजाविशेषाणां नित्यमहादिष्वेवान्तर्भावमाह—

बलिस्नपन-नाटयादि नित्यं नैमित्तिकं च यत् ।
भक्ताः कुर्वन्ति तेष्वेव तद्यथास्वं विकल्पयेत् ॥२९॥

॥२९॥

अथ जलादिपूजानां प्रत्येकं दिङ्मात्रेण फलमालपति—

वार्धारा रजसः शमाय पदयोः सम्यक्प्रयुक्ताऽर्हतः,
सद्गन्धस्तनुसौरभाय विभवाच्छेदाय सन्त्यक्षताः ।
यष्टुः स्रग्दिविजस्रजे चरुरुमास्वाम्याय दीपस्त्विषे,
धूपो विश्वदृगुत्सवाय फलमिष्टार्थाय चार्घाय सः ॥३०॥

विशेषार्थ—जिनको सामन्त आदिके द्वारा मुकुट बाँधे गये हैं उन्हें मुकुटबद्ध या मण्डलेश्वर कहते हैं। वे जब भक्तिवश जिनदेवकी पूजन करते हैं तो उस पूजाको सर्वतोभद्र आदि कहते हैं। वह पूजा सभी प्राणियोंको कल्याण करनेवाली होती है इसलिए उसे सर्वतोभद्र कहते हैं। चतुर्मुख मण्डपमें की जाती है इसलिए चतुर्मुख कहते हैं। और अष्टाह्निककी अपेक्षा महान् होनेसे महामह कहते हैं। यदि मण्डलेश्वर चक्रवर्ती आदिके भयसे यह पूजा करता है तब उसकी यह गरिमा समाप्त हो जाती है। इसीलिए भक्तिवश कहा है। यह पूजा भी आगे कही जानेवाली कल्पवृक्ष पूजाके तुल्य ही होती है। अन्तर इतना है कि कि कल्पवृक्ष पूजामें चक्रवर्ती अपने साम्राज्य-भरमें दान करता है और इस पूजामें मण्डलेश्वर केवल अपने जनपदमें दान करता है ॥२७॥

आगे कल्पवृक्ष पूजाका स्वरूप कहते हैं—

'क्या चाहते हो' इस प्रकारके प्रश्नपूर्वक याचककी इच्छाके अनुरूप दानके द्वारा लोगोंके मनोरथोंको पूरा करके चक्रवर्तीके द्वारा जो जिनपूजा की जाती है उसे कल्पद्रुम कहते हैं ॥२८॥

आगे कहते हैं कि उपहार, अभिषेक आदि जो जिनपूजाके भेद हैं उन सबका अन्तर्भाव इन्हीं नित्यमह आदिमें होता है—

जिनेन्द्र भगवान्‌के भक्त, श्रावक प्रतिदिन या पर्वके अवसरोंपर जो उपहार, अभिषेक, गीत-नृत्य आदि करते हैं वे सब यथायोग्य उन्हीं नित्यमह आदिमें अन्तर्भूत होते हैं। अर्थात् जिनेन्द्र भगवान्‌को लक्ष करके जो भी भक्ति प्रदर्शित की जाती है चाहे वह भेंटरूपमें हो या गीत-नृत्य आदिके रूपमें हो; विद्वान् उन सबको नित्यपूजा आदिके ही भेद मानते हैं ॥२९॥

आगे प्रत्येक जलादि पूजाका फल कहते हैं—

अर्हन्त भगवान्‌के दोनों चरणोंमें विधिपूर्वक अर्पित की गयी जलकी धारा पूजा करनेवालेके पापोंकी शान्तिके लिए होती है। उत्तम चन्दन पूजकके शरीरकी सुगन्धके लिए होता है। अखण्ड तन्दुल पूजकके अणिमा आदि विभूति अथवा धन सम्पत्तिके नष्ट नहीं होनेके

विभवाच्छेदाय—विभवस्याणिमादिविभूतेर्द्रविणस्य वा अच्छेदो निरन्तरप्रवृत्तिस्तदर्थः। यष्टुः—आत्मनः पूजयितुः। यदाह—

'भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वराः स्त्रियः।
विभवो दानशक्तिश्च स्वयं धर्मकृतेः फलम्॥
आत्मचित्त[2]परित्यागात्परैर्धर्मविधापने।
निःसन्देहमवाप्नोति परभोगाय तत्फलम्॥' [सो. उपा. ७८९–७८८]

एतच्च समर्थः सन् यः स्वयं न करोति तदपेक्षयोच्यते। स्वयं कर्तुमसमर्थस्य तु श्रद्धधानस्य परैर्धर्मविधापने विधीयमानस्य वानुमोदनेऽपि महती पुण्यप्रसूतिरिष्यते, परिणामैककारणात्वात्पुण्यपापयोः। दिविजस्रजे—स्वर्गजन्ममन्दारमालार्थम्। उमा—लक्ष्मी। यदाह—

'उमा श्रीर्भारती कान्तिः कीर्तिर्दुर्गा पुलोमजा।
उमाशब्देन कथ्यन्ते कायस्तुङ्गोपमार्चिषः॥' [ ]

त्विषे—दीप्त्यर्थम्। विश्वदृगुत्सवाय—परमसौभाग्यार्थम्। अर्घाय—पूजाविशेषार्थम्। सः

लिए या सदा बने रहनेके लिए होते हैं। पुष्पोंकी माला स्वर्गमें होनेवाली मन्दारवृक्षकी मालाकी प्राप्तिके लिए होती है। नैवेद्य लक्ष्मीका स्वामित्व प्राप्त करनेके लिए होता है। दीप कान्तिके लिए होता है। धूप पूजकके परम सौभाग्यके लिए होती है। फल इष्ट अर्थकी प्राप्तिके लिए होता है। और अर्घ पूजा विशेषके लिए होता है ॥३०॥

विशेषार्थ—सोमदेवने अपने उपासकाचारमें अष्टद्रव्यसे[3] पूजाका विधान तो किया है। किन्तु प्रत्येक पूजाका अलग-अलग फल न बतलाकर पूजामात्रका सामान्य फल कहा है जो पूजककी शुभ भावना रूप है। जैसे—'हे भगवन्, जबतक इस चित्तमें आपका निवास है तबतक सदा जिन भगवान्के चरणोंमें मेरी भक्ति रहे, मेरी ऐश्वर्यरत मति सदा सबका आतिथ्य सत्कार करनेमें संलग्न हो, मेरी बुद्धि अध्यात्मतत्त्वमें लीन रहे। ज्ञानीजनोंसे मेरा स्नेह भाव रहे और मेरी चित्तवृत्ति सदा परोपकारमें रहे।' आदि। अमितगतिके श्रावकाचारमें भी प्रत्येक पूजाके फलका कथन नहीं है। देवसेनके भावसंग्रहमें[4] प्रत्येक पूजाका फल बतलाया है। यथा—'जिनके चरण कमलोंमें दी गयी जलधारा समस्त रजको शान्त करती है, जो भव्य जीव जिनवरके चरणोंमें सुगन्धित चन्दनका लेप करता है वह स्वभावसे सुगन्धित वैक्रियिक शरीर प्राप्त करता है। जो देवके चरणोंके आगे अक्षतके पुंज चढ़ाता है वह नवनिधि सहित चक्रवर्तित्व प्राप्त करता है। जो सुगन्धित पुष्पोंसे जिनदेवके चरणकमलोंको पूजता है वह उत्तम देव होकर स्वर्गके वनोंमें आनन्द करता है। जो दही, दूध, घीसे बनाये गये उत्तम नैवेद्यसे जिनदेवके चरण कमलोंको पूजता है वह उत्तम भोगोंको प्राप्त करता है। जो कपूर और तेलसे प्रज्वलित और मन्द-मन्द वायुके झकोरोंसे नाचते हुए दीपोंसे जिनके चरण कमलोंको पूजता है वह चन्द्र-सूर्यके समान शरीर पाता है। जो शिलारस

---

१. वरस्त्रियः।—मु.।
२. वित्त-।—मु.।
३. 'अम्भश्चन्दनतन्दुलोद्गमहविर्दीपैः सधूपैः फलैरर्चित्वा त्रिजगद्गुरुं जिनपतिं स्नानोत्सवानन्तरम्।'—सो. उपा. ५५९ श्लो.।
४. भावसंग्रह—४७०–४७७ गा.।

श्रुतत्वादर्घः पुष्पाञ्जलिरित्यर्थः। अथवा स इत्यनेन पूर्वोक्त इष्टार्थ एव परामृश्यते तेनायमर्थः कथ्यते—यद्यद्यष्टुरात्मनोऽभिमतं वस्तु गीतादिकं तेन जिने सम्यक्प्रयुक्तं तत्तद्विशिष्टगीतादिवस्तुनः अर्घाय मूल्याय स्यात्तत् सम्पादयतीत्यर्थः ॥३०॥

अथ जिनेज्यायाः सम्यक् प्रयोगविध्युपदेशपुरस्सरं लोकोत्तरं फलविशेषमाविष्करोति—

चैत्यादौ न्यस्य शुद्धे निरुपरमनिरौपम्यतत्तद्गुणौघ-
श्रद्धानात्सोऽयमर्हन्निति जिनमनघैस्तद्विधोपाधिसिद्धैः।
नीराद्यैश्चारुकाव्यस्फुरदनणुगुणग्रामरज्यन्मनोभि-
र्भव्योऽर्चन् दृग्विशुद्धिं प्रबलयतु यया कल्पते तत्पदाय ॥३१॥

चैत्यादौ—चैत्ये प्रतिमायामादिशब्देन तदलाभे जिनाकाररहिते अक्षतादौ। शुद्धे—क्षुद्राद्याकाररहिते इत्यर्थः। यदाह—

'शुद्धे वस्तुनि संकल्पः कन्याजन इवोचितः।
नाकारान्तरसंक्रान्ते यथा परपरिग्रहे ॥' [सो. उपा. ४८१]

और अगुरुसे मिश्रित धूपसे जिनचरणोंको पूजता है वह तीनों लोकोंमें शुभवर्तन (?) पाता है। जो पके हुए तथा रससे भरे हुए नाना फलोंसे जिन चरणको पूजता है वह इष्ट फलको पाता है।' इस प्रकार प्रत्येक पूजाका फल कहा है वैसा ही इस ग्रन्थमें भी कहा है। इस फलमें केवल लौकिक फलकी ही कामना है। आज जो पूजाफल द्रव्य चढ़ाते हुए बोला जाता है कि संसार तापकी शान्तिके लिए चन्दन चढ़ाता हूँ, अक्षय पदकी प्राप्तिके लिए अक्षत चढ़ाता हूँ, आदि वह फल आध्यात्मिक है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकालमें पूजामें लौकिक फलकी भावना थी। उत्तरकालमें उसे आध्यात्मिक रूप देकर पूजाका महत्त्व बढ़ाया है। तथा आठ द्रव्योंसे पृथक्-पृथक् पूजन करनेके बाद आठों द्रव्योंके मेलसे जो पूजन होता है उसे अर्घ कहते हैं। इस अर्घका कथन आशाधरजीने तो किया है किन्तु उनसे पहलेके उक्त ग्रन्थोंमें इसका कथन नहीं है। आशाधरजीने 'चार्घाय सः' की व्याख्या करते हुए लिखा है—'स अर्थात् अर्घ अर्थात् पुष्पांजलि पूजाविशेषके लिए होती है'। आगे अथवा करके लिखा है 'स' पदसे पूर्वोक्त इष्टार्थका ग्रहण किया जाता है। उससे यह अर्थ किया जाता है कि पूजक जो-जो अभिमत वस्तु गीत आदि जिन भगवान्के प्रति सम्यक् रूपसे प्रयुक्त करता है वह-वह विशिष्ट गीत आदि वस्तुके अर्घ अर्थात् मूल्यके लिए होती है अर्थात् उसे स्वयं उन वस्तुओंकी प्राप्ति होती है।' इससे प्रतीत होता है कि उस समय तक अर्घसे पूजनका प्रयोजन स्पष्ट नहीं था। तथा पूजा पद्धतिमें अर्घका प्रवेश अष्ट द्रव्य जितना प्राचीन नहीं है ॥३०॥

आगे जिन पूजाकी सम्यक् विधि बतलाते हुए उसका लोकोत्तर फल कहते हैं—

अविनाशी और असाधारण उन उन गुणोंके समूहमें अत्यन्त अनुरागसे, उत्सर्पिणीके तीसरे और अवसर्पिणीके चतुर्थकालमें होनेवाले चौंतीस अतिशय सहित और समवसरणमें आठ प्रातिहार्य सहित विराजमान तथा तत्त्वोपदेशसे भव्यजीवोंको पवित्र करनेवाले यह ही वे अर्हन्त हैं, इस प्रकार निर्दोष प्रतिमामें और उसके अभावमें अक्षत आदिमें जिनदेवकी स्थापना करके, पापके हेतु दोषोंसे रहित तथा निष्पाप साधनोंसे तैयार किये गये जल-चन्दन आदिसे सुन्दर गद्य-पद्यात्मक काव्योंमें वर्णित महान् गुणोंके समूहमें मनको अनुरक्त करते हुए पूजन करनेवाला भव्य सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिको बलवती बनाता है, जिस दर्शन विशुद्धिके द्वारा वह तीर्थंकर पदको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ॥३१॥

निरुपरमा—अविनश्वराः। तत्तद्गुणाः—व्यवहारेण दर्शनविशुद्धयादिभावनाप्रमुखकल्याणपञ्चक-लक्षणाः। निश्चयेन च चिदचिद्ज्ञेयद्रव्याकारविशेषस्वरूपाः। अनघैः—हठहृतत्वाहृद्यत्वस्वान्यभुक्त शेषत्वादि पापहेतुदोषमुक्तैः। तद्विधोपाधिसिद्धैः—निष्पापसाधननिष्पन्नैः। चारूणि—दोषनिरासाद्गुणालंकार स्वीकाराच्च सहृदयहृदयावर्जकानि। तत्पदाय—तीर्थंकरत्वाय। एकस्या अपि दर्शनविशुद्धेरुत्कर्षस्य तीर्थकरत्वाख्यपुण्यविशेषबन्धहेतुत्वसिद्धेः, तत्पूर्वकत्वाद्विनयसंपन्नतादीनां तत्कारणान्तराणाम्। उक्तं च—

'आराध्य दर्शनविशुद्धिपुरस्सराणि
विश्वेश्वरत्वपद चारणकारणानि।
बघ्नाति तीर्थंकर कर्म समग्रकर्म-
निर्मूलनाय विभुरद्भूतवीर्यसारः ॥' [ ] ॥३१॥

अथ व्रतविभूषितस्य जिनयष्टुरिष्टफलविशेषसिद्धिमभिधत्ते—

विशेषार्थ—यह जिनपूजाकी विधि है। पूजा स्थापनापूर्वक की जाती है और स्थापना तदाकार भी होती है और अतदाकार भी होती है। सोमदेवने अपने उपासकाचारमें पूजकके दो भेद किये हैं—एक पुष्प आदिमें पूज्यकी स्थापना करके पूजन करनेवाला और दूसरा प्रतिमाका अवलम्बन लेकर पूजन करनेवाला। उन्होंने फल, पत्र, पाषाण आदिमें तथा अन्य धर्मकी मूर्तिमें स्थापना करनेका निषेध किया है। दोनोंकी विधि भी अलग-अलग कही है, जो प्रतिमामें स्थापना नहीं करते उनके लिए अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी स्थापना करके पूजन करना बतलाया है। और जो प्रतिमामें स्थापना करके पूजा करते हैं उनके लिए अभिषेक, पूजन, स्तवन, जप, ध्यान और श्रुतदेवताकी आराधना इन छह विधियोंको बतलाया है। वसुनन्दिने अपने श्रावकाचारमें इस कालमें अतदाकार स्थापनाका निषेध किया है। आशाधरजी ने उसका निषेध नहीं किया। सम्भवतया पहले सामने प्रतिमाके न होनेपर तन्दुल आदिमें स्थापना करके भी पूजन की जाती थी। अस्तु, पूजन करनेसे पहले निर्दोष मूर्तिमें जिनदेवके गुणोंकी श्रद्धापूर्वक स्थापनाकी जाती है। व्यवहारसे दर्शनविशुद्धि आदि भावना प्रमुख पाँच कल्याणक और निश्चयसे अनन्त ज्ञानादि उनके असाधारण गुण हैं। उन गुणोंमें अनुरागवश ही जिनेन्द्र पूजा की जाती है। गुणोंमें अनुरागका ही नाम भक्ति है। भक्तिपूर्वक स्थापनाके बाद शुद्ध द्रव्यसे जिनेन्द्रकी पूजा की जाती है। द्रव्यकी शुद्धता दो बातोंपर निर्भर है। वह द्रव्य जबरदस्ती किसीसे छीना गया न हो, उसमें हार्दिकता हो, अपने या दूसरोंके खानेसे बचा हुआ न हो इत्यादि। दूसरे, निष्पाप साधनोंसे तैयार किया गया हो, बाजारू, गला-सड़ा या बासी आदि न हो, प्रासुक जलसे सावधानीपूर्वक बनाया गया हो, आरम्भबहुल न हो। इस तरह शरीरसे द्रव्यका अर्पण करनेके साथ, वचनसे पूजन पढ़ते हुए और मनको संगीतपूर्वक पढ़ी जानेवाली पूजनमें वर्णित भगवान्‌के गुणोंमें लगाते हुए पूजन करनेसे मन-वचन-कायकी एकाग्रताके साथ सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती है। और एक दर्शन विशुद्धिका भी उत्कर्ष तीर्थंकर नामक पुण्य विशेषके बन्धका कारण होता है यह सब जानते हैं। कहा है—विश्वेश्वर पदके कारण दर्शनविशुद्धि आदिकी आराधना करके अद्भुत शक्तिशाली आत्मा समग्र कर्मोंका निर्मूलन करनेके लिए तीर्थंकर कर्मका बन्ध करता है ॥३१॥

अब, व्रतसे भूषित जिनपूजकको इष्ट फल विशेषकी सिद्धि होती है, यह कहते हैं—

दृक्पूतमपि यष्टारमर्हतोऽभ्युदयश्रियः ।
श्रयन्त्यहम्पूर्विकया किं पुनर्व्रतभूषितम् ॥३२॥

स्पष्टम् ॥३२॥

अथ जिनपूजान्तरायपरिहारोपायविधिमाह—

यथास्वं दानमानाद्यैः सुखीकृत्य विधर्मणः ।
स्वधर्मणः[1] स्वसात्कृत्य सिद्ध्यर्थी यजतां जिनम् ॥३३॥

सुखीकृत्य—अनुकूलान्कृत्वा । विधर्मणः—[शिवादिधर्मरतान्] [सर्वधर्म-] बाह्यान्वा । सधर्मणः—जिनधर्मभावितान् । सिद्ध्यर्थी—जिनपूजासंपूर्णतां स्वात्मोपलब्धि वाऽभीप्सन् ॥३३॥

अथ स्नानापास्तदोषस्यैव गृहस्थस्य स्वयं जिनयजनेऽधिकारित्वमन्यस्य पुनस्तथाविधेनैवान्येन तद्यजनमित्युपदेशार्थमाह—

स्त्र्यारम्भसेवासंक्लिष्टः स्नात्वाऽऽकण्ठमथाशिरः ।
स्वयं यजेतार्हत्पादानस्नातोऽन्येन याजयेत् ॥३४॥

स्त्रीत्यादि । स्त्रीसेवया कृष्यादिकर्मसेवया च । संक्लिष्टः—समन्तात्काये मनसि चोपतप्तः । प्रस्वेद-तन्द्रालस्य-दौर्मनस्यादि दोषदूषितकायमनस्क इत्यर्थः । स्नात्वेत्यादि । एतेन यथादोषं स्नानोपदेशादागुल्फमाजान्वाकटि च स्नानमनुजानाति । यदाह—

'नित्यस्नानं गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे ।
यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानमन्यद्विगर्हितम् ॥
वातातपादिसंस्पृष्टे भूरितोये जलाशये ।
अवगाह्याचरेत्स्नानमतोऽन्यद्गालितं भजेत् ॥

जब सम्यग्दर्शनसे पवित्र भी जिन भगवान्के पूजकको पूजा, धन, आज्ञा और ऐश्वर्यसे युक्त परिवार काम-भोग आदि सम्पदा 'मैं पहले' 'मैं पहले' करके प्राप्त होती है तब यदि वह एक देशसे हिंसा आदिके त्यागरूप व्रतोंसे भूषित हो तो कहना ही क्या है ? अर्थात् व्रती पूजकको भोगसम्पदा और भी विशेष रूपसे प्राप्त होती है ॥३२॥

आगे जिनपूजामें आनेवाले विघ्नोंको दूर करनेका उपाय बताते हैं—

जिनपूजाकी सम्पूर्णताके इच्छुक पूजक को अन्य धर्मावलम्बियोंको यथायोग्य दान-सम्मान आदिके द्वारा अनुकूल बनाकर और साधर्मियोंको अपने साथमें लेकर जिन भगवान्की पूजा करनी चाहिए ॥३३॥

आगे कहते हैं कि स्नानके द्वारा शुद्ध गृहस्थको ही स्वयं जिनपूजन करनेका अधिकार है—

गृहस्थका शरीर और मन स्त्रीसेवन तथा कृषि आदि आरम्भमें फँसे रहनेसे दूषित रहता है। अतः उसे दोषके अनुसार मस्तकसे या कण्ठसे स्नान करके ही स्वयं अर्हन्तदेवके चरणोंकी पूजा करनी चाहिए। यदि स्नान न करे तो दूसरे स्नान किये हुएके द्वारा पूजन करावे ॥३४॥

विशेषार्थ—देवपूजनके लिए अन्तरंग शुद्धि और बहिरंग शुद्धि आवश्यक है। चित्तसे बुरे विचारोंको दूर करनेसे अन्तरंग शुद्धि होती है और विधिपूर्वक स्नान करनेसे बहिरंग

---

१. सधर्म—मु. ।

पाद-जानु-कटि-ग्रीवा-शिरःपर्यन्तसंश्रयम् ।
स्नानं पञ्चविधं ज्ञेयं यथादोषं शरीरिणाम् ॥
ब्रह्मचर्योपपन्नस्य निवृत्तारम्भकर्मणः ।
यद्वा तद्वा भवेत्स्नानमन्त्यमन्यस्य तु[1] द्वयम् ॥
सर्वारम्भविजृम्भस्य ब्रह्मजिह्मस्य देहिनः ।
अविधाय बहिः शुद्धिं नाप्तोपास्त्यधिकारिता ॥
अद्भिः शुद्धिं निराकुर्वन् मन्त्रमात्रपरायणः ।
स मन्त्रैः शुद्धिमापन्नं[2] भुक्त्वा हत्वा विहृत्य च ॥
आप्लुतः संप्लुतश्चान्तः[3] शुचिवासो विभूषितः ।
मौनसंयमसंपन्नः कुर्याद्देवार्चनाविधिम् ॥
दन्तधावनशुद्धास्यो मुखवासोर्वृ[4]ताननः ।
असंजातान्यसंसर्गः सुधीर्देवानुपाचरेत् ॥' [सो. उपा. ४६४-४६९, ४७२-४७३]

स्नानगुणा यथा—

'दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जो बलप्रदम् ।
कण्डू-मल-श्रम-स्वेद-तन्द्रा-तृट्-दाह-पापजित् ॥' [अष्टाङ्ग. २।१६] ॥३४॥

शुद्धि होती है। देवपूजा करनेके लिए गृहस्थको सदा स्नान करना चाहिए। किन्तु मुनिको दुर्जनसे छू जानेपर ही स्नान करना चाहिए। अन्य स्नान मुनिके लिए वर्जित है। जिस जलाशयमें खूब पानी हो, और वायु तथा धूप उसे खूब लगती हो, उसमें घुस करके स्नान करना उचित है। किन्तु अन्य जलाशयोंका जल छानकर ही काममें लाना चाहिए। रत्नमालामें[5] कहा है कि पत्थरसे टकरानेवाला जल दोपहर तक प्रासुक माना गया है। वापिकाका तपा हुआ जल तत्काल प्रासुक है। यह जल मुनियोंके शौच और गृहस्थोंके स्नानके लिए होता है शेष सब जल अप्रासुक हैं। धर्म संग्रह[6] श्रावकाचारमें कहा है—नदियों और तालाबोंका गहरा जल जो वायु और धूपसे तपा हो वह भी स्नानके योग्य है। वर्षाका जल, पत्थर और घटीयन्त्रसे ताड़ित जल तथा वापिकाका सूर्यसे तप्त जल प्रासुक माना गया है। स्नानके पाँच प्रकार हैं—पैर तक, घुटनों तक, कमर तक, गरदन तक और सिर तक। दोषके अनुसार स्नान करना उचित है। जो ब्रह्मचारी हैं, सब प्रकारके आरम्भोंसे निवृत्त हैं वह इनमें-से कोई भी स्नान कर सकते हैं। किन्तु अन्य गृहस्थोंको तो सिर या गरदनसे ही स्नान करना चाहिए। जो सब प्रकारके आरम्भोंमें लगा रहता है और ब्रह्मचारी भी नहीं है उसे बाह्य शुद्धि किये बिना देवपूजाका अधिकार नहीं है। स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहने, फिर शरीरको आभूषणोंसे भूषित करे, और चित्तको वशमें करके मौन तथा संयमपूर्वक जिनेन्द्रकी पूजा करे ॥३४॥

---

१. तद्द्वयम् ।—मु. ।
२. शुद्धिभाङ् नूनं ।—मु. ।
३. संप्लुतस्वान्तः ।—मु. ।
४. सोचिताननः,—मु. ।
५. रत्नमाला ६३,६४ श्लो. ।
६. धर्म. श्रा., पृ. २१८ ।

अथ चैत्यादिनिर्मापणस्य फलविशेषसमर्थनया विधेयतामभिधत्ते—

निर्माप्यं जिनचैत्यतद्गृह-मठ-स्वाध्याय-शालादिकं
श्रद्धाशक्त्यनुरूपमस्ति महते धर्मानुबन्धाय यत् ।
हिंसारम्भविवर्तिनां हि गृहिणां तत्तादृगालम्बन-
प्रागल्भीलसदाभिमानिकरसं स्यात्पुण्यचिन्मानसम् ॥३५॥

शालादि । आदिशब्देन सत्रपुण्यारामादि । अस्तीत्यादि । चैत्यालयादिनिर्मापणे सावद्यदोषशङ्का-निरासार्थमेतत् ।

यदाह—'तत्पापमपि न पापं यत्र महान् धर्मानुबन्ध' इति । तत्—जिनचैत्यचैत्यालयादि । तादृक्—तीर्थयात्रादि । आलम्बनं—दृग्विशुद्धयङ्गम् । प्रागल्भी—प्रौढिः । पुण्यं सुकृतं चिनोति वर्धयति अथवा पुण्या पवित्रा निर्मला चित् संवित्तिर्यस्य तत्पुण्यचित् । तथा चोक्तम्—

'यद्यप्यारम्भतो हिंसा हिंसायाः पापसंभवः ।
तथाऽप्यत्र कृतारम्भो महत्पुण्यं समश्नुते ॥
निरालम्बा न धर्मस्य स्थितिर्यस्मात्ततः सताम् ।
मुक्तिप्रदानसोपानमासंरुक्तो जिनालयः ॥' [ ]

चैत्य आदिके निर्माणका विशेष फल बतलाते हुए उसके करनेकी प्रेरणा करते हैं—

पाक्षिक श्रावकको अपनी श्रद्धा और शक्तिके अनुसार जिनबिम्ब, जिनालय, मठ, स्वाध्यायशाला आदि बनवाना चाहिए, क्योंकि ये सब बड़े भारी धर्मके अनुबन्धके लिए होते हैं अर्थात् इनसे जो प्राप्त नहीं है उसकी प्राप्ति होती है, जो प्राप्त है उसकी रक्षा होती है और जो रक्षित है उसकी वृद्धि होती है, क्योंकि हिंसाप्रधान कृषि आदि आरम्भमें निरन्तर लगे रहनेवाले पाक्षिक श्रावकोंका मन इन जिनबिम्ब आदि तथा इनके समान तीर्थयात्रा आदि जो सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके अंग हैं, उन आलम्बनोंकी प्रौढ़तासे अनुभवमें आनेवाले अहंकारसे अनुरक्त हर्षसे पुण्यका संचय करता है अथवा निर्मल अनुभूतिको करता है ॥३५॥

विशेषार्थ—पाक्षिक श्रावक विशेष रूपसे तो अपने कृषि व्यापार आदिमें ही फँसा रहता है और इन गार्हस्थिक कार्योंमें हिंसा अवश्य होती है। अतः जो अशुभोपयोगमें फँसे रहते हैं उनका धर्म तो शुभोपयोग ही है। जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, स्वाध्यायशाला वगैरह धर्मके साधन हैं। साधारण श्रावक इन्हींके द्वारा धर्मका प्रारम्भिक पाठ पढ़ता है, इसीसे आगे बढ़कर वह उत्तम श्रावक और मुनि बनता है। अतः भोगोपभोगमें धनको व्यय करनेवाला श्रावक यदि धर्मकी परम्पराको कायम रखनेवाले व उसे चलानेवाले धार्मिक कार्योंमें धन खर्च करता है तो उसे इससे एक प्रकारका मानसिक आनन्द मिलता है, उसे यह अनुभव करके परम हर्ष होता है कि उसने अपने द्रव्यका उपयोग धर्मके कार्योंमें, ऐसे कार्योंमें जो दर्शनविशुद्धिमें निमित्त होते हैं किया। इससे उसे पुण्यबन्ध तो होता ही है, यदि वह ज्ञानी हुआ तो इसी आनन्दमें उसे आत्मानुभूति भी हो सकती है। यद्यपि आरम्भमें हिंसा होती है और हिंसासे पाप होता है। तथापि इस आरम्भको करनेवाला महान् पुण्यबन्ध करता है। तथा धर्मकी स्थिति किसी आलम्बनके बिना सम्भव नहीं है अतः महापुरुषोंने जिनालयको मुक्तिका सोपान कहा है। पण्डित आशाधरजीके पहले आचार्य अमितगति,

अपि च—

'बिम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या
ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता
स्तोतुं परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य ॥' [पद्म. पञ्च. ७।२२] ॥३५॥

अथ शास्त्रविदामपि प्रायः प्रतिमादर्शनेनैव देवाधिदेवसेवापरां मतिं कुर्वाणं कलिकालमपवदन्ते—

धिग्दुःषमाकालरात्रिं यत्र शास्त्रदृशामपि।
चैत्यालोकादृते न स्यात् प्रायो देवविशा मतिः ॥३६॥

आचार्य पद्मनन्दि, आचार्य वसुनन्दि आदिने मन्दिर और मूर्ति निर्माणपर बहुत जोर दिया है। आचार्य अमितगतिने[2] कहा है जो जिनेन्द्रकी अंगुष्ठ प्रमाण भी मूर्ति बनवाता है उससे अविनाशी लक्ष्मी दूर नहीं है। वसुनन्दी[3] और[4] पद्मनन्दिने उनसे भी आगे बढ़कर कहा है कि जो कुन्दुरुके पत्तेके बराबर जिनालय और उसमें जौ के बराबर प्रतिमाका निर्माण कराते हैं उनके पुण्यका वर्णन वाणीसे नहीं हो सकता। यह तत्कालीन परिस्थितिकी पुकार है। आचार्य पद्मनन्दिने अपने समयका चित्रण करते हुए लिखा है—'इस दुषमा नामके पंचम कालमें जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा प्ररूपित धर्म क्षीण हो गया है। साधर्मी जन बहुत थोड़े हैं, मिथ्यात्वरूपी अन्धकार बहुत फैला है। ऐसेमें जो जिनबिम्ब और जिनालयमें भक्ति रखता हो वह भी दिखाई नहीं देता। फिर भी जो विधिपर्वक जिनबिम्ब और जिनालयका निर्माण कराता है वह वन्दनीय है। आशाधरजीके समयमें तो मारवाड़में सहाबुद्दीन गोरीका आक्रमण हो गया था। फिर भी उन्होंने पत्ते बराबर मन्दिर और जौ बराबर मूर्ति बनवाने की बात नहीं कही, तथा जिनबिम्ब और जिनमन्दिरके साथ साधुओंके निवासस्थान और स्वाध्यायशाला (ग्रन्थागार) भी बनवानेपर जोर दिया यह उनकी दूरदर्शिताका परिचायक है ॥३५॥

आगे कलिकालकी निन्दा करते हैं—

इस पंचम कालरूपी मरणरात्रिको धिक्कार हो, जिसमें शास्त्र ही जिनकी आँखें हैं प्रायः उन विद्वानोंकी भी अन्तःकरण प्रवृत्ति देवदर्शनके बिना अन्यकी शरण न लेकर एकमात्र जिनदेवको ही भजनेवाली नहीं होती ॥३६॥

---

१. दलो—भ. कु.।
२. 'येनांगुष्ठप्रमाणार्चा जैनेन्द्री क्रियतेऽङ्गिना। तस्याप्यनश्वरी लक्ष्मीर्न दूरे जातु जायते' ॥
—सुभाषित., ८७६ श्लो.।
३. 'कुत्थुंभरिदलमेत्ते जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं।
सरिसवमेत्तं पि लहेइ सो णरो तित्थयरपुण्णं' ॥ —वसु. श्रा. ४८१ गा.।
४. 'काले दुःखमसंज्ञके जिनपतेर्धर्मे गते क्षीणतां
तुच्छे सामयिके जने बहुतरे मिथ्यान्धकारे सति।
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो यः सोऽपि नो दृश्यते
यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्यः स वन्द्यः सताम्' ॥—पद्म. पञ्च. ७।२१।

दुःषमाकालरात्रि—दुःषमा पञ्चमकालः, कालरात्रिर्मरणनिशेव दुर्निवारमोहावहत्वात् । देवविशा—देवं परमात्मानं विशति अनन्यशरणीभूय संश्रयतीति क्विबन्तावजाद्यतष्टाप् ॥३६॥

अथ कलौ धर्मस्थितिः सम्यक् चैत्यालयमूलैवेत्यनुशास्ति—

प्रतिष्ठायात्राविव्यतिकर-शुभ-स्वैरचरण-
स्फुरद्धर्मोद्धर्षप्रसररसपूरास्तरजसः ।
कथं स्युः सागाराः श्रमणगणधर्माश्रमपदं
न यत्राहंद्गेहं दलितकलिलीलाविलसितम् ॥३७॥

यात्रादि । आदिशब्देन पूजाभिषेकजागरणादि । यदाह—

'यात्रादिस्नपनैर्महोत्सवशतैः पूजाभिरुल्लोचकैः,
नैवेद्यैर्बलिभिर्ध्वजैश्च कलशैस्तूर्यत्रिकैर्जागरैः ।
घण्टाचामरदर्पणादिभिरपि प्रस्तार्य शोभां परां-
भव्याः पुण्यमुपार्जयन्ति सततं सत्यत्र चैत्यालये ॥' [पद्म. पञ्च. ७।२१]

स्वैरं—स्वच्छन्दम् । उद्धर्षः—उत्सवः । रसः—हर्षो जलं च । रजः—पापं रेणुश्च । कलिलीलाविलसितं—मठपत्यादिदुर्नयो निरङ्कुशविजृम्भमाणसंक्लेशपरिणामो वा ॥३७॥

विशेषार्थ—सच्चा जिनभक्त वही है जो एकमात्र जिनेन्द्रदेवको ही अपना शरण मानता है। जो उनके सिवाय किसी अन्य देवको शरण मानता है वह सच्चा जिनभक्त नहीं है। जैन परम्परामें ऐसे भी विद्वान् भट्टारक आदि हुए हैं और आज भी हैं जो शासन देवताओंकी उपासनाके पक्षपाती रहे, यह भी कलिकालका प्रभाव है। किन्तु सभी ऐसे नहीं होते। जैन परम्परामें सदा ऐसे मुनिराज होते आये हैं जो ज्ञान और वैराग्यमें तत्पर रहते हुए जिन दर्शनके बिना भी परमात्माको ही अपना शरण मानते हैं। निश्चय नयसे तो कोई भी किसीका शरण नहीं है; रत्नत्रयमय आत्मा ही आत्माका शरण है। इस तरहकी श्रद्धाके लिए गृहस्थ विद्वान्को भी प्रतिदिन देवदर्शन करना आवश्यक है ॥३६॥

आगे कहते हैं कि कलिकालमें धर्मस्थितिका मूल जिनालय ही है—

जिस नगर आदिमें कलिकालकी लीलाके विलासको नष्ट करनेवाला और मुनिसंघोंके धर्म साधनके लिए निवासस्थान जिन मन्दिर नहीं है, उन स्थानोंमें प्रतिष्ठा, यात्रा आदि महोत्सवोंमें होनेवाला जो मन-वचन-कायका शुभ व्यापार और उससे होनेवाला जो धर्मोत्साह, वही हुआ जल प्रवाह, उस प्रवाहसे जिनकी पापरूपी धूलि दूर हो गयी है ऐसे गृहस्थ कैसे हो सकते हैं। आशय यह है कि जिन मन्दिर होनेसे प्रतिष्ठा, पूजा, अभिषेक आदिके आयोजन होते हैं। उन धार्मिक आयोजनोंमें सभी स्त्री-पुरुष भाग लेते हैं। इससे उनका धर्मोत्साह बढ़ता है, उससे उनके पापकर्मोंकी शान्ति होती है। किन्तु जहाँ जिन-मन्दिर नहीं होता वहाँ कोई भी धार्मिक आयोजन नहीं होता। फलतः गृहस्थोंकी धार्मिक भावनामें ज्वार-भाटा आनेका कभी प्रसंग नहीं होता। आचार्य पद्मनन्दिने कहा है—चैत्यालयके होनेपर भव्यलोक यात्राओं, अभिषेकों, सैकड़ों महान् उत्सवों, पूजाविधानों, चन्दोवों, नैवेद्यों, उपहारों, ध्वजाओं, कलशों, गीतों, वादित्रों, नृत्यों, जागरणों, घण्टा, चामर, दर्पण आदिके द्वारा उत्कृष्ट शोभाका विस्तार करके निरन्तर पुण्यका संचय करते हैं ॥३७॥

अथ कलौ वसतिविशेषं विना सतामप्यनवस्थितचित्तत्वं वर्णयति—

मनो मठकठेराणां वात्ययेवानवस्थया ।
चेक्षिप्यमाणं नाद्यत्वे क्रमते धर्मकर्मसु ॥३८॥

मठकठेराणां—वसतिदरिद्राणाम् । अद्यत्वे—इदानींतनकाले । क्रमते—उत्सहते ॥३८॥

अथ विमर्शस्थानं विना महोपाध्यायानामपि शास्त्रान्तस्तत्त्वज्ञानदो:स्थित्यं प्रथयति—

विनेयवद् विनेतॄणामपि स्वाध्यायशालया ।
विना विमर्शं शून्या धीर्दृष्टेऽप्यन्धायतेऽध्वनि ॥३९॥

विनेयवत्—शिष्याणां यथा । अध्वनि—मार्गे अर्थाच्छास्त्रे निःश्रेयसे वा ॥३९॥

अथ सत्रातुरोपचारस्थानयोरनुकम्प्यप्राण्यनुग्रहबुद्धया विधापनं बह्वारम्भरतानां गृहस्थानां जिनपूजार्थं पुष्पवाटिकादिनिर्मापणे दोषाभावं च प्रकाशयन्नाह—

सत्रमप्यनुकम्प्यानां सृजेदनुजिघृक्षया ।
चिकित्साशालवद्दुष्येन्नेज्यायै वाटिकाद्यपि ॥४०॥

आगे कहते हैं कि कलिकालमें मुनियोंका भी मन वसतिकाके बिना स्थिर नहीं रहता—

इस पंचम कालमें वायुमण्डलके द्वारा उड़ती हुई रुईकी तरह चंचल हुआ जंगलवासी मुनियोंका भी मन वसतिकाके बिना धार्मिक क्रियाओंमें उत्साहित नहीं होता ॥३८॥

विशेषार्थ—प्राचीन समयमें मुनि वनोंमें रहते थे। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें ग्यारहवीं प्रतिमाधारीको घर छोड़कर मुनिवनमें जानेका निर्देश[1] है। धीरे-धीरे मुनियोंका निवास ग्राम-नगरोंमें होने लगा। आचार्य गुणभद्रने अपने आत्मानुशासनमें[2] इसपर खेद प्रकट करते हुए कहा है कि जैसे रातके समय भीत मृग वनसे नगरोंके निकट आ जाते हैं उसी तरह कलिकालमें तपस्वी भी नगरोंमें रहने लगे हैं। तब उनके निवासके लिए श्रावक लोग गुफा वगैरह बनाने लगे। उसके बिना साधुओंका चित्त भी धर्ममें नहीं लगता। अतः मन्दिरोंकी तरह साधुओंके ठहरनेका स्थान भी बनाना चाहिए ॥३८॥

आगे कहते हैं कि स्वाध्यायशालाके बिना गुरुओंके भी शास्त्रज्ञानमें कमी आ जाती है—

स्वाध्यायशालाके बिना शिष्योंकी तरह गुरुओंकी भी विचारशून्य बुद्धि देखे हुए भी शास्त्र या मोक्षमार्गके सम्बन्धमें अन्धेके समान आचरण करती है। अर्थात् शिष्यकी तो बात ही क्या, पढ़ानेवाले गुरु भी यदि शास्त्रचिन्तन निरन्तर न करें तो वे भी तत्त्वको भूल जाते हैं—उलटा-सीधा बतलाने लगते हैं। इसलिए स्वाध्यायशाला अत्यन्त आवश्यक है ॥३९॥

आगे कहते हैं कि दयाके योग्य प्राणियोंके लिए भोजनशाला, औषधालय आदि भी बनवाना चाहिए—

भूख, प्यास और रोगसे पीड़ित गरीब प्राणियोंका उपकार करनेकी इच्छासे औषधालयकी तरह भोजनशाला भी बनवाना चाहिए। तथा पूजाके लिए बगीचा बनवानेमें भी दोष नहीं है ॥४०॥

---

१. 'गृहतो मुनिवनमित्वो...'।—रत्न. श्रा. १४७ श्लो.।

२. 'इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः ।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥—आत्मानु., १९७ श्लो.।

सत्रमपि—अपिशब्दात् प्रपामपि । अनुकम्प्यानां—क्षुत्तृष्णार्तानां व्याधितानां च । वाटिकादि—आदिशब्दाद् वापीपुष्करिण्यादि । अपिशब्देनानादरार्थेन विषयसुखार्थं कृष्यादिकं कुर्वतां यद्यपि धर्मबुद्धया वाटिकादि विधापने लोकव्यवहारानुरोधाद्दोषो न भवति । तथापि तदकुर्वतामेव क्रयक्रीतेन पुष्पादिना तेषामपि जिनं पूजयतां महान् गुणो भवतीति ज्ञाप्यते ।

यत्पठन्ति—

> 'एषा तटाकमिषतो ननु दानशाला
> मत्स्यादयो रसवति प्रगुणा सदैव ।
> पात्राणि ढेंकबकसारसचक्रवाकाः
> कीदृग्भवेदिह हि पुण्यमिदं न विद्मः ॥' [ ] ॥४०॥

अथ निर्व्याजभक्त्या येन केनापि प्रकारेण जिनं सेवमानानां सर्वदुःखोच्छेदमितस्ततः समस्तसमीहितार्थ-सम्पत्तिं चोपदिशति—

> **यथाकथंचिद् भजतां जिनं निर्व्याजचेतसाम् ।**
> **नश्यन्ति सर्वदुःखानि दिशः कामान् दुहन्ति च ॥४१॥**

यथाकथंचित्—ग्रामगृहादिदानप्रकारेणापि ॥४१॥

अथैवं जिनपूजां विधेयतयोपदिश्य तद्वत्सिद्धादिपूजामपि विधेयतयोपदेष्टुमाह—

> **जिनानिव यजन् सिद्धान् साधून धर्मं च नन्दति ।**
> **तेऽपि लोकोत्तमास्तद्वच्छरणं मङ्गलं च यत् ॥४२॥**

साधून्—सिद्धिं साधयन्तीति अन्वर्थतामात्रानुसरणादाचार्योपाध्याययतीन् ॥४२॥

विशेषार्थ—यह सब पाक्षिक श्रावकके लिए कथन है। पाक्षिक श्रावक जब विषयसुख-के लिए कृषि आदि कर्म करता है तो उसे परोपकारकी भावनासे भूखसे पीड़ित जनोंके लिए निःशुल्क भोजन प्राप्तिका स्थान तथा रोगियोंके लिए चिकित्सालय वगैरह भी बनवाना चाहिए। ग्रन्थकारने पूजाके निमित्त पुष्प प्राप्त करनेके लिए बगीचा लगानेमें भी दोष नहीं बताया है। तथापि वह बगीचा न लगाकर और बाजारसे पुष्प खरीदकर उनसे पूजा करना उत्तम मानते हैं। पुष्पोंमें होनेवाली अशुद्धि तथा हिंसाके कारण उत्तर कालमें अक्षतोंको पीला रँगकर उनमें पुष्पकी स्थापना की गयी ॥४०॥

आगे कहते हैं कि निष्कपट भक्तिसे जिस-किसी भी प्रकारसे जिन भगवान्की पूजा करनेवालोंके सब दुःख दूर होते हैं और समस्त इच्छित पदार्थोंकी प्राप्ति होती है—

अभिषेक, पूजा, स्तवन आदि जिस किसी भी प्रकारसे जो निष्कपट चित्तसे जिन भगवान्को भजते हैं उनके सब दुःख नष्ट हो जाते हैं और दिशाएँ उनके मनोरथोंको पूरा करती हैं। अर्थात् जिनदेवके पूजक जो-जो चाहते हैं वह उन्हें सर्वत्र प्राप्त होता है ॥४१॥

इस प्रकार जिनपूजाको कर्तव्य बतलाकर उसीकी तरह सिद्ध आदि पूजाको भी करने-का उपदेश देते हैं—

जिनदेवकी तरह मुक्तात्माओं, साधुओं और रत्नत्रय रूप धर्मको पूजनेवाला अन्तरंग और बहिरंग विभूतिसे सम्पन्न होकर आनन्द करता है, क्योंकि वे भी जिनदेवकी तरह लोकमें उत्कृष्ट हैं, शरण हैं और मंगलरूप हैं ॥४२॥

विशेषार्थ—'चत्तारि मंगलं' आदिमें अर्हन्त, सिद्ध, साधु और धर्मको मंगलस्वरूप, उत्कृष्ट तथा शरणभूत कहा है। साधुसे आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों लिये जाते हैं।

अथ सकलपूज्यपूजाविधिप्रकाशनेनानुग्राहिकायाः सम्यक् श्रुतदेवतायाः पूजायां सञ्जयन्नाह—

यत्प्रसादान्न जातु स्यात् पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ।
तां पूजयेज्जगत्पूज्यां स्यात्कारोड्डमरां गिरम् ॥४३॥

स्यात्कारोड्डमरां—स्यात्पदप्रयोगेण सर्वथैकान्तवादिभिरजय्यामित्यर्थः । यथाह—

'दुर्निवारनयानीकविरोधध्वंसनौषधिः ।
स्यात्कारजीविता जीयाज्जैनीसिद्धान्तपद्धतिः ॥' [ ]

अपि च—मिथ्याज्ञानतमोवृतलोकैकज्योतिरित्यादि ॥४३॥

अथ श्रुतपूजकाः परमार्थतो जिनपूजका एवेत्युपदिशति—

ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम् ।
न किंचिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः ॥४४॥

नेत्यादि । तथा पठन्ति—'श्रुतस्य देवस्य न किंचिदन्तरम्' इत्यादि ॥४४॥

शरणका मतलब है, कष्टको दूर करना और अनिष्टसे रक्षाका उपाय करना। तथा मंगलका अर्थ है पापकी हानि और पुण्यका संचय। इन चारोंके पजनसे ये सब कार्य होते हैं। इनके लिए किसी अन्य देवी-देवताको शरण लेना उचित नहीं है, इष्टका वियोग और अनिष्टका संयोग अपने ही पूर्वकृत कर्मोंका परिणाम है अतः उसे हम स्वयं ही अपने शुभ कर्मोंके द्वारा दूर कर सकते हैं ॥४२॥

सम्यक् श्रुत भी एक देवता है। वह सब पूज्योंकी पूजाकी विधि बतलाकर हमारा उपकार करती है। अतः उसकी पूजाका उपदेश करते हैं—

जिसके प्रसादसे कभी भी पूज्य अर्हन्त सिद्ध साधु और धर्मकी पूजामें यथोक्त विधिका लंघन नहीं होता, उस जगत्में पूज्य और स्यात् पदके प्रयोगके द्वारा एकान्तवादियोंसे न जीती जा सकनेवाली श्रुतदेवताको पूजना चाहिए ॥४३॥

विशेषार्थ—श्रुतदेवता या जिनवाणीके प्रसादसे ही हमें यह ज्ञात होता है कि पूजने योग्य कौन हैं और क्यों हैं? तथा उनकी पूजा हमें किस प्रकार करनी चाहिए। इसलिए जिनवाणी भी पूज्य है। अगर शास्त्र न होते तो हम देवके स्वरूपको भी नहीं जान सकते थे। फिर जिनवाणी स्याद्वादनय गर्भित है। स्याद्वाद कथनकी वह शैली है जिससे अनेकान्तात्मक वस्तुका कथन करते हुए किसी प्रकार विसंवाद पैदा नहीं होता। वस्तु नित्य भी और अनित्य भी है। द्रव्य रूपसे नित्य है और पर्याय रूपसे अनित्य है। इसके विपरीत एकान्तवादी दर्शन किसीको नित्य और किसीको अनित्य मानते हैं। जैसे उनके मतसे आकाश नित्य ही है और दीप अनित्य ही है। किन्तु जैन दृष्टिसे आकाश और दीप दोनों ही नित्य भी हैं और अनित्य भी हैं। अतः स्याद्वादी जैन दर्शन एकान्तवादी दर्शनोंके द्वारा अजेय है। वह वस्तुके यथार्थ स्वरूपको कहता है। उसकी उपलब्धि भी हमें जिनवाणी या श्रुतदेवताके प्रसादसे ही हुई है अतः उसको भी पूजना हमारा कर्तव्य है ॥४३॥

आगे कहते हैं कि जो श्रुतदेवताकी पूजा करते हैं वे परमार्थसे जिनदेवकी ही पूजा करते हैं—

जो भक्तिपूर्वक श्रुतको पूजते हैं वे परमार्थसे जिनदेवको ही पूजते हैं। क्योंकि सर्वज्ञ देवने श्रुत और देवमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं कहा है ॥४४॥

अथ साक्षादुपकारकत्वेन गुरूणामुपासने नित्यं नियुङ्क्ते—

उपास्या गुरवो नित्यमप्रमत्तैः शिवार्थिभिः ।
तत्पक्षतार्क्ष्यपक्षान्तश्चरा विघ्नोरगोत्तराः ॥४५॥

तदित्यादि । तेषां गुरूणां पक्षस्तदायत्ततया वृत्तिः स एव तार्क्ष्यपक्षो गरुडपतत्रं तस्यान्तर्मध्ये चरन्ति तदन्तश्चराः विघ्नोरगोत्तरा भवन्ति । विघ्नाः प्रक्रमाद्धर्मानुष्ठानविषयेऽन्तरायास्त एवोरगाः सर्पास्तेभ्य उत्तराः परे तद्दूरचारिणः । धर्मानुष्ठानप्रत्यूहसर्पैर्नाभिभूयन्ते इति भावः । उक्तं च—

'देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥' [पद्म. पञ्च. ६।७] ॥४५॥

अथ गुरूपास्तिविधिमाह—

निर्व्याजया मनोवृत्त्या सानुवृत्त्या गुरोर्मनः ।
प्रविश्य राजवच्छश्वद्विनयेनानुरञ्जयेत् ॥४६॥

सानुवृत्त्या—छन्दानुवृत्त........पं........सहितया । यन्नीतिः—

पूर्वं चित्तं प्रभोर्ज्ञेयं ततस्तदनुवर्तनम् ।
इति संक्षेपतः प्रोक्ता सेवाचर्यानुजीविनाम् ॥' [ ] ॥४६॥

अथ विनयेनानुरञ्जयेदित्यस्यार्थं व्यक्तयन्नाह—

विशेषार्थ—जिनदेवके मुखसे निकली और गणधरके द्वारा स्मृतिमें रखकर बारह अंगोंमें रची गयी जिनवाणीको ही श्रुत कहते हैं। श्रुतका शब्दार्थ होता है सुना हुआ। गणधरने भगवान्‌के मुखसे जो सुना वही श्रुत है। अतः जिनदेव और उनकी वाणीमें, जो परम्परासे आचार्यों द्वारा शास्त्रोंमें निबद्ध है, कोई अन्तर कैसे हो सकता है। व्यक्ति अपने वचनोंके कारण ही पूज्य बनता है। व्यक्तिके वचन व्यक्तिसे भिन्न नहीं होते ॥४४॥

इस प्रकार संक्षेपसे देवपूजाकी विधिको कहकर आगे साक्षात् उपकारी होनेसे गुरुओं-की भी नित्य उपासना करनेका उपदेश देते हैं—

परमकल्याणके इच्छुक पाक्षिक श्रावकोंको प्रमाद छोड़कर गुरुओंकी—धर्मकी आराधनामें लगानेवालोंकी नित्य उपासना करनी चाहिए। क्योंकि, जैसे गरुड़के पंख पास रहनेसे सर्प दूर रहते हैं वैसे ही गुरुओंके अधीन होकर चलनेवालोंके धार्मिक कार्यसे विघ्न दूर रहते हैं अर्थात् उनके कार्योंमें विघ्न नहीं आते हैं ॥४५॥

गुरुकी उपासनाकी विधि कहते हैं—

अपना कल्याण चाहनेवालेको छलरहित और अनुकूलता सहित मनोवृत्तिके द्वारा गुरुके मनमें प्रवेश करके राजाकी तरह विनयसे गुरुको सदा अपनेमें अनुरक्त करना चाहिए। अर्थात् जैसे सेवक वर्ग अपने निश्छल व्यवहार और विनयपूर्वक आज्ञा पालनसे राजाके मनमें प्रवेश करके उसे अपना अनुरागी बना लेता है उसी तरह गुरुके आनेपर खड़े होना आदि कायिक विनयसे, हित-मित भाषण आदि वाचनिक विनयसे और गुरुके प्रति शुभ चिन्तन आदि मानसिक विनयसे गुरुकी आज्ञाका पालन करते हुए गुरुके मनमें अपना स्थान बनाना चाहिए ॥४६॥

'गुरुको विनयसे अनुरक्त करे' इसको स्पष्ट करते हैं—

पार्श्वे गुरूणां नृपवत्प्रकृत्यभ्यधिकाः क्रियाः ।
अनिष्टाश्च त्यजेत्सर्वा मनो जातु न दूषयेत् ॥४७॥

प्रकृत्यभ्यधिकाः—स्वभावादतिरिक्ता वैकारिकीः कोप-हास्य-विवादादिकाः । अनिष्टाः—पर्यस्तिकोपाश्रयादिकाः । उक्तं च—

'निष्ठीवनमवष्टम्भं जृम्भणं गात्रभञ्जनम् ।
असत्यभाषणं नर्महास्यं पादप्रसारणम् ॥
अभ्याख्यानं करस्फोटं करेण करताडनम् ।
विकारमङ्गसंस्कारं वर्जयेद्यतिसंनिधौ ॥' [ ] ॥४७॥

अथ पात्राणि तर्पयेदित्यादि पूर्वोद्दिष्टदानादि विधिप्रपञ्चार्थमाह—

पात्रागमविधिद्रव्य-देश-कालानतिक्रमात् ।
दानं देयं गृहस्थेन तपश्चर्यं च शक्तितः ॥४८॥

स्पष्टम् । उक्तं च—

'यथाविधि यथादेशं यथाद्रव्यं यथागमम् ।
यथापात्रं यथाकालं दानं देयं गृहाश्रमैः ॥' [सो. उपा., ७६५ श्लो.] ॥४८॥

अथ सम्यग्दृशो नित्यमवश्यतया विधीयमानयोर्दानतपसोरवश्यं-भाविनं फलविशेषमाह—

नियमेनान्वहं किंचिद्यच्छतो वा तपस्यतः ।
सन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोका जिनश्रितः ॥४९॥

महीयांसः—इन्द्रादिपदलक्षणाः । जिनश्रितः—जिनं सेवमानस्य ॥४९॥

राजाकी तरह गुरुओंके समीपमें अस्वाभाविक तथा शास्त्रनिषिद्ध समस्त चेष्टाओंको नहीं करना चाहिए । तथा गुरुके मनको कभी भी दूषित नहीं करना चाहिए ॥४७॥

विशेषार्थ—गुरुओंके सामने थूकना, सोना, जँभाई लेना, शरीर ऐंठना, झूठ बोलना, ठठोली करना, हँसना, पैर फैलाना, दोष लगाना, ताल ठोकना, ताली बजाना, विकार करना तथा अंग संस्कार नहीं करना चाहिए । ये क्रियाएँ अस्वाभाविक कहलाती हैं ॥४७॥

पहले कहा था कि 'पात्रोंको सन्तुष्ट करना चाहिए', अतः दान आदिकी विधिको विस्तारसे कहते हैं—

गृहस्थको पात्र, आगम, विधि, द्रव्य, देश और कालके अनुसार शक्तिपूर्वक दान देना चाहिए और शक्ति अनुसार तप करना चाहिए । अर्थात् दान देते समय पात्र आदिका ध्यान रखकर तदनुसार ही दान देना चाहिए । यदि उत्तम पात्र है तो उसको आगमके अनुसार नवधा भक्ति पूर्वक ऐसा सात्त्विक आहार देना चाहिए जो ऋतुके अनुकूल होनेके साथ इन्द्रिय बलवर्धक और कामोद्दीपक न हो । इसी प्रकार समझ लेना चाहिए ॥४८॥

सम्यग्दृष्टिके द्वारा नित्य अवश्य दान देने और तप करनेका अवश्य होनेवाला फल कहते हैं—

परमात्माकी सेवा करनेवाला जो भव्य प्रतिदिन नियमपूर्वक शास्त्रविहित कुछ भी दान देता है और तपस्या करता है उसके परलोक अर्थात् आगेके जन्म अवश्य ही महान् होते हैं । अर्थात् दूसरे जन्ममें वह इन्द्र आदिके महान् पद पाता है ॥४९॥

अथ यदर्थं यद्दानं कर्तव्यं तत्तदर्थमाह—

धर्मपात्राण्यनुग्राह्याण्यमुत्र स्वार्थसिद्धये ।
कार्यपात्राणि चात्रैव कीर्त्यै त्वौचित्यमाचरेत् ॥५०॥

अनुग्राह्याणि—उपकार्याणि । अमुत्र स्वार्थः—स्वर्गादिसुखम् । अत्रैव—इहैव जन्मनि स्वार्थसिद्धये । उक्तं च—

'परलोकधिया कश्चित्कश्चिदैहिकचेतसा ।
औचित्यमनसा कश्चित्सतां वित्तव्ययस्त्रिधा ॥
परलोकैहिकौचित्येष्वस्ति येषां न धीः समा ।
धर्मः कार्यं यशश्चेति तेषामेतत्त्रयं कुतः ॥' [सो. उपा. ७६९-७७०] ॥५०॥

अथ धर्मपात्राणां यथागुणं सन्तर्पणीयत्वमाह—

समयिक-साधक-समयद्योतक-नैष्ठिक गणाधिपान् धिनुयात् ।
दानादिना यथोत्तरगुणरागात्सद्गृही नित्यम् ॥५१॥

समायिकः—गृही यतिर्वा जिनसमयाश्रितः । उक्तं च—

'गृहस्थो वा यतिर्वापि जैनं समयमास्थितः ।
यथाकालमनुप्राप्तः पूजनीयः सुदृष्टिभिः ॥' [सो. उपा. ८०९]

साधकः ज्योतिषादिवित् । उक्तं च—

'ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तज्ञः सुप्रज्ञः कार्यकर्मसु ।
मान्यः समयिभिः सम्यक् परोक्षार्थसमर्थधीः ॥ [ ]

आगे जिस हेतुसे जो दान करना चाहिए, उसे बतलाते हैं—

कल्याणके इच्छुक पाक्षिक श्रावकको परलोकमें स्वर्गादि सुख-सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिए रत्नत्रयकी साधनामें तत्पर गुरुओंकी सेवा आदि करनी चाहिए। और इसी जन्ममें पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिए अर्थमें सहायक कर्मचारियोंका काममें, सहायक पत्नीका उपकार करना चाहिए, उनकी हर तरहसे संरक्षा-सम्पोषण करना चाहिए। तथा कीर्तिके लिए उचित कार्य करना चाहिए अर्थात् दान और प्रिय वचनोंसे दूसरोंको सन्तुष्ट करना चाहिए ॥५०॥

आगे धर्मपात्रोंको उनके गुणोंके अनुसार सन्तुष्ट करनेकी प्रेरणा करते हैं—

जैनधर्मके पालक गृहस्थ या मुनिको समयिक कहते हैं। ज्योतिष मन्त्र आदि लोकोपकारक शास्त्रोंके ज्ञाताको साधक कहते हैं। जो शास्त्रार्थ आदिके द्वारा जिनमार्गकी प्रभावना करता है उसे समयद्योतक कहते हैं। जो मूल गुण और उत्तर गुणोंसे प्रशंसनीय तपमें लीन होता है उसे नैष्ठिक कहते हैं और धर्माचार्य या उसीके समान गृहस्थाचार्यको गणाधिप कहते हैं। इनमें जो-जो उत्कृष्ट हों उनके गुणोंमें अनुरागसे या जिसके जो उत्कृष्ट गुण हों उनमें अनुरागसे पाक्षिक श्रावकको सदा दान-सम्मान, आसनदान आदिके द्वारा पाँचोंको सन्तुष्ट करना चाहिए ॥५१॥

विशेषार्थ—उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रोंको दान देनेका कथन तो अनेक शास्त्रोंमें मिलता है। वह पात्रदान कहलाता है। आचार्य जिनसेनजी ने अपने महापुराणमें पात्रदान, दयादान, समक्रियादान और अन्वयदान ये चार भेद करके दानकी दिशाको नयी गति दी है। उसीका प्रतिफलन हमें सोमदेवके उपासकाध्ययनमें पाते हैं। उन्हींका अनुसरण

'दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्याः क्रियास्तद्विरहे कुतः ।
तदर्थं परपृच्छायां कथं च समयोन्नतिः ॥' [सो. उपा. ८१०-८११]

[समयद्योतकः-वादित्वादि-] ना मार्गप्रभावकः । नैष्ठिकः—मूलोत्तरगुणश्लाघ्यस्तपोऽनुष्ठाननिष्ठः । उक्तं च—

'मूलोत्तरगुणश्लाघ्यैः तपोभिर्निष्ठितस्थितिः ।
साधुः साधु भवेत्पूज्यः पुण्योपार्जनपण्डितैः ॥' [सो. उपा. ८१२]

गणाधिपः—धर्माचार्यस्तादृग्गृहस्थाचार्यो वा । उक्तं च—

'ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरःसरः ।
सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः ॥' [सोम. उपा. ८१३]

धिनुयात्—प्रीणयेत् । धर्मानुष्ठाने बलाधानेनोपकुर्यादित्यर्थः ।
यदाह—

'वर्यं-मध्य-जघन्यानां पात्राणामुपकारकम् ।
दानं यथायथं देयं वैयावृत्त्यविधायिना ॥' [अमि. श्रा. ९।१०७]

दानादिना—दान-मानासनसंभाषणादिना । यथोत्तरगुणरागात्—यो य उत्तरः समयिकादीनां मध्ये तस्य तस्य गुणेषु प्रीतितः । अथवा यो यो यस्योत्कृष्टो गुणस्तत्र तत्र प्रीत्या तं धिनुयादिति योज्यम् । अत्र श्रमणोपासकेषु मुमुक्षुषु रत्नत्रयानुग्रहबुद्धया संतर्पणं पात्रदत्तिर्बुभुक्षुषु च गृहस्थेषु वात्सल्येन यथार्हमनुग्रहः समानदत्तिरिति विभागः ॥५१॥

पं. आशाधरजी-ने किया है। सोमदेवजीने पात्रके पाँच भेद किये हैं—समयी, साधक, साधु, आचार्य और समयदीपक। गृहस्थ हो या साधु, जो जैनधर्मका अनुयायी है उसे समयी या समयिक कहते हैं। ये साधर्मी पात्र यथाकाल प्राप्त होनेपर सम्यग्दृष्टियोंको उनका आदर करना चाहिए। जिनकी बुद्धि परोक्ष अर्थको जाननेमें समर्थ है उन ज्योतिषशास्त्र, मन्त्रशास्त्र, निमित्तशास्त्रके ज्ञाताओंका तथा प्रतिष्ठाशास्त्रके ज्ञाता प्रतिष्ठाचार्योंका भी सम्मान करना चाहिए। यदि ये न हों तो मुनिदीक्षा, तीर्थयात्रा और बिम्बप्रतिष्ठा वगैरह धार्मिक क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं; क्योंकि मुहूर्त देखनेके लिए ज्योतिर्विदोंकी, प्रतिष्ठा करनेके लिए मन्त्र शास्त्रके पण्डितोंकी आवश्यकता होती है। यदि अन्य धर्मावलम्बी ज्योतिषियों और मान्त्रिकोंसे पूछना पड़े तो अपने धर्मकी उन्नति कैसे हो सकती है ? तथा अपने मुहूर्त-विचारमें भी दूसरोंसे अन्तर है। वैवाहिक विधि दूसरे करावें तो उनमें तो श्रद्धा ही नहीं होती। अतः जैन मन्त्रशास्त्र, जैन ज्योतिषशास्त्र और जैन क्रियाकाण्डके ज्ञाताओंका सम्मान करना आवश्यक है। मूल गुण और उत्तर गुणोंसे युक्त तपस्वीको साधु कहते हैं। उन्हें ही आशाधरजीने नैष्ठिक कहा है। उन्हें भी भक्तिभावसे पूजना चाहिए। जो ज्ञानकाण्ड और आचारमें चतुर्विध संघके मुखिया होते हैं तथा संसार-समुद्रसे पार उतारनेमें समर्थ हैं उन्हें आचार्य या गणाधिप कहते हैं। उनकी देवके समान आराधना करनी चाहिए। जो लोकज्ञता, कवित्व आदिके द्वारा और शास्त्रार्थ तथा वक्तृत्व कौशल-द्वारा जैनधर्मकी प्रभावना करनेमें

---

१. 'समयी साधकः साधुः सूरिः समयदीपकः । तत्पुनः पञ्चधा पात्रमामनन्ति मनीषिणः ।'
—सो. उपा. ८०८ श्लो. ।

२. 'लोकवित्वकवित्वाद्यैर्वादवाग्मित्वकौशलैः । मार्गप्रभावनोद्युक्ताः सन्तः पूज्या विशेषतः ॥'
—सो. उपा. ८१४ श्लो. ।

अथ समदत्तिविधानोपदेशार्थमादौ समयिकं स्तुवन्नाह—

स्फुरत्येकोऽपि जैनत्वगुणो यत्र सतां मतः ।
तत्राप्यजैनैः सत्पात्रैर्द्योत्यं खद्योतवद्रवौ ॥५२॥

एकः ज्ञानतपोरहितः, जैनत्वगुणः—जिन एव देवो मे भवार्णवोत्तारकत्वादित्यभिनिवेशधर्मः ॥५२॥

अथ श्रेयोर्थिनां जैनानुग्रहानुभावमाह—

वरमेकोऽप्युपकृतो जैनो नान्ये सहस्रशः ।
दलादिसिद्धान् कोऽन्वेति रससिद्धे प्रसेदुषि ॥५३॥

दलादि—आदिशब्देन वर्णोत्कर्षादि । प्रसेदुषि—प्रसन्ने सति ॥५३॥

अथ नामादिनिक्षेपविभक्तानां चतुर्णां जैनानां पात्रत्वं यथोत्तरं विशिनष्टि—

नामतः स्थापनातोऽपि जैनः पात्रायतेतराम् ।
स लभ्यो द्रव्यतो धन्यैर्भावतस्तु महात्मभिः ॥५४॥

पात्रायते तरां—अजैनपात्रेभ्योऽतिशयेन संयुज्यमाननिर्वाणकारणगुणलक्षणपात्रवदाचरति, सम्यक्त्व-सहकारिपुण्यास्रवणकारणत्वात् ॥५४॥

तत्पर रहते हैं उन्हें समयदीपक या समयद्योतक कहते हैं। उनका भी समादर करना कर्तव्य है। इन पाँच दानोंमें-से श्रमण और श्रावक मुमुक्षुओंको रत्नत्रयकी भावनासे जो दान दिया जाता है वह तो पात्रदत्ति है। तथा क्षुधापीड़ित गृहस्थोंको वात्सल्य भावसे जो यथायोग्य दिया जाता है वह समदत्ति है। यह विभाग कर लेना चाहिए ॥५१॥

आगे समदत्तिका उपदेश करते हैं—

जिसमें साधु जनोंको इष्ट एक भी जैनत्व गुण चमकता है उसके सामने सत्पात्र भी अजैन सूर्यके सामने जुगनूकी तरह प्रतीत होते हैं ॥५२॥

विशेषार्थ—जिन ही मेरे आराध्यदेव हैं क्योंकि संसार—समुद्रसे पार लगाते हैं, इस प्रकारके अभिप्रायको यहाँ जैनत्व गुण कहा है। उसके साथमें ज्ञान और तप न होनेसे उसे एक कहा है। जैसे सूर्यके सामने जुगनू निष्प्रभ हो जाते हैं उसी तरह जिसमें एक भी जैनत्व गुण भासमान है उस व्यक्तिके सामने मिथ्याज्ञान और मिथ्यातपसे युक्त मिथ्यादृष्टि धार्मिक प्रभाहीन हो जाते हैं ॥५२॥

आगे जैनपर अनुग्रह करनेका महत्त्व बतलाते हैं—

एक भी जैनका उपकार करना श्रेष्ठ है, हजारों भी अजैनोंको उपकृत करना श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि पारेसे गरीबी, रोग, बुढ़ापा आदिको दूर कर सकनेकी शक्तिसे युक्त पुरुषके प्रसन्न होनेपर बनावटी सुवर्ण आदिको बनानेमें प्रसिद्ध पुरुषको कौन पसन्द करता है? ॥५३॥

विशेषार्थ—यह कथन धार्मिकताको दृष्टिमें रखकर किया गया है। जैनधर्म प्रकारान्तर-से आत्मधर्म ही है। जैन वही है जो आत्माके निकट है। उसका उपकार करनेसे आत्म-धर्मको बल मिलता है और अनात्मधर्मका परिहार होता है। आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें आसक्ति ही अनात्मधर्म है। उसको बल नहीं देना धार्मिकका कर्तव्य है ॥५३॥

आगे नाम आदिके निक्षेपसे चारप्रकारके जैनोंमें उत्तरोत्तर विशेष पात्रता बतलाते हैं—

नामसे तथा स्थापनासे भी जैन अजैन पात्रोंसे विशिष्ट पात्र होता है। द्रव्यसे जैन पुण्यवानोंको प्राप्त होता है और भावसे जैन तो महाभागोंको ही मिलता है ॥५४॥

अथ भावजैनं प्रति निरुपाधिप्रीतिमतोऽभ्युदयनिःश्रेयससंपदं फलमाह—

प्रतीतजैनत्वगुणेऽनुरज्यन्निर्व्याजमासंसृति तद्गुणानाम्[1] ।
धुरि स्फुरन्नभ्युदयैरदृप्तस्तृप्तस्त्रिलोकीतिलकत्वमेति ॥५५॥

अनुरज्यन्—स्वयमेवानुरागं कुर्वन्। आसंसृति तद्गुणानां धुरिस्फुरन्—भवे भवे जैनानामग्रणीर्भवन्नित्यर्थः। अदृप्तः—अकृतमदः। सम्यक्त्वसहचारिपुण्योदययोगात् ॥५५॥

अथ गृहस्थाचार्याय तदभावे मध्यमपात्राय वा कन्यादिदानं पाक्षिकश्रावकस्य कर्तव्यतयोपदिशति—

निस्तारकोत्तमायाथ मध्यमाय सधर्मणे ।
कन्याभूहेमहस्त्यश्वरथरत्नादि निर्वपेत् ॥५६॥

अथ पक्षान्तरसूचने अधिकारे वा। तत्र जघन्यविषयां समदत्तिं व्याख्याय मध्यमविषया साऽत्राधिक्रियत इत्यर्थः। सधर्मणे—समान आत्मसमो धर्मः क्रियामन्त्रव्रतादिलक्षणो गुणो यस्य तस्मै। रत्नादि। आदिशब्देन वस्त्रगृहगवादि। निर्वपेत्—दद्यात्। उक्तं च चारित्रसारे (पृ. २१)—'समदत्तिः स्वसमक्रियामन्त्राय निस्तारकोत्तमाय कन्या-भूमि-सुवर्ण-हस्त्यश्व-रथ-रत्नादिदानं, स्वसमानाभावे मध्यमपात्रस्यापि दानमिति ॥५६॥

विशेषार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे निक्षेपके चार भेद हैं। जो मात्र नामसे जैन है उसे नामजैन कहते हैं। जिसमें 'यह जैन है' ऐसी कल्पना कर ली गयी है वह स्थापनाजैन है। जो आगे जैनत्व गुणकी योग्यतासे विशिष्ट होनेवाला है वह द्रव्य-जैन है। और जो वर्तमानमें जैनत्व गुणसे विशिष्ट है वह भावजैन है। इनमें-से सबसे निकृष्ट नामजैन और स्थापनाजैन हैं। किन्तु पात्रकी दृष्टिसे जैनेतर पात्रोंसे वे भी श्रेष्ठ हैं। क्योंकि उनमें जैनत्वका नाम तो है। रहे द्रव्य जैन और भावजैन, वे तो सच्चे पात्र हैं ही। इसीसे कहा है कि आजके समयमें यदि किसीको उपकार करनेके लिए ऐसा व्यक्ति मिल जाये जो आगे महान् जैनव्रती या ज्ञानी होनेवाला हो तो वह व्यक्ति धन्य है। और यदि पात्र मुनि आदि हो तब तो ऐसे पात्रको दान देनेवाला महाभाग्यशाली है ॥५४॥

आगे कहते हैं कि जो भावजैनके प्रति निश्छल प्रीति रखता है उसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है—

जिसका जैनत्व गुण प्रसिद्ध है ऐसे पुरुषमें निश्छल अनुराग करनेवाला व्यक्ति संसार पर्यन्त अर्थात् भव-भवमें प्रसिद्ध जैनत्व गुणवाले पुरुषोंमें अग्रणी होता हुआ, सम्यक्त्व सहचारी पुण्योदयके योगसे सांसारिक भोगोंसे विरक्त होकर तीनों लोकोंके तिलकपनेको अर्थात् परमपदको प्राप्त करता है ॥५५॥

आगे कहते हैं कि पाक्षिक श्रावकको सबसे प्रथम गृहस्थाचार्यको उसके अभावमें मध्यम पात्रको कन्या आदि देना चाहिए—

संसाररूपी समुद्रसे पार उतारनेवाले गृहस्थोंमें जो प्रमुख हो, उसके अभावमें मध्यम साधर्मीके लिए कन्या, भूमि, स्वर्ण, हाथी, घोड़ा, रथ, रत्न आदि देना चाहिए ॥५६॥

विशेषार्थ—कन्यादान भी समदत्तिमें आता है। पहले जो कहा था कि नाम और स्थापनासे जो जैन है वह भी पात्र है और उसे भी दान देना चाहिए। वह जघन्य समदत्तिका कथन है और यह मध्यम समदत्तिका कथन है। क्योंकि यदि गृहस्थ साधुकी अपेक्षा गुणोंमें अधिक भी हो तब भी मध्यम पात्र ही होता है उसे ही कन्या देना चाहिए। कन्या-

---

१. 'सद्गुणानाम्' इति टीकायाम्।

अथ सधर्मभ्यः कन्यादिदाने हेतुमाह—

आधानादिक्रियामन्त्रव्रताद्युच्छेदवाञ्छया।
प्रदेयानि सधर्मेभ्यः कन्यादीनि यथोचितम् ॥५७॥

मन्त्राः—प्रत्यासत्तेराधानादि क्रियासम्बन्धिन एवार्षोक्ताः अपराजितमन्त्रो वा ॥५७॥

अथ सम्यक्कन्यादानविधिं तत्फलं चाह—

निर्दोषां सुनिमित्तसूचितशिवां कन्यां वरार्हैर्गुणैः
स्फूर्जन्तं परिणाय्य धर्म्यविधिना यः सत्करोत्यञ्जसा।
दम्पत्योः स तयोस्त्रिवर्गघटनात्त्रैवर्गिकेष्वग्रणी-
र्भूत्वा सत्समयास्तमोहमहिमा कार्ये परेऽप्यूर्जति ॥५८॥

दानके योग्य वही पात्र होता है जो अपना सधर्मा हो, अर्थात् जिसका धर्म—क्रिया, मन्त्र, व्रत वगैरह अपने समान हो ॥५६॥

आगे सधर्माको ही कन्या क्यों देनी चाहिए, उसका कारण कहते हैं—

गर्भाधान आदि क्रियाएँ, उन क्रियाओं सम्बन्धी मन्त्र अथवा पंचनमस्कार मन्त्र और मद्य आदिके त्यागरूप व्रतोंको सदा बनाये रखनेकी इच्छासे यथायोग्य कन्या आदि साधर्मीको देना चाहिए ॥५७॥

विशेषार्थ—जैन धर्मकी धार्मिक क्रियाएँ, जिनका वर्णन महापुराणके ३८-३९ आदि पर्वोंमें भगवज्जिनसेनाचार्यने किया है, तथा उनके मन्त्र और पंच नमस्कार मन्त्र, व्रत नियम आदि अन्य धर्मोंसे भिन्न है। यदि लड़की अजैन कुलमें जाती हो तो उसके व्रत, नियम, देवपूजा, पात्रदान सब छूट जाते हैं। इस तरहसे उसका धर्म ही छूट जाता है। इसलिए कन्या साधर्मीको ही देनी चाहिए। धर्मके सामने संसारका ऐश्वर्य तुच्छ है। धर्मके रहनेसे वह भी मिल जाता है और धर्मके अभावमें प्राप्त भोग भी नष्ट हो जाते हैं। इसीसे चारित्रसारमें भी समदत्तिका स्वरूप बतलाते हुए अपने समान धर्म कर्मवाले मित्रको जो उत्तम गृहस्थ हो, कन्या, भूमि, स्वर्ण, हाथी, रथ, रत्न आदि देनेका विधान किया है। यदि अपने समान न मिले तो मध्यम पात्रको भी देनेका विधान किया है। किन्तु विधर्मी या अधर्मीको देनेका विधान नहीं किया ॥५७॥

आगे कन्यादानकी विधि और उसका फल कहते हैं—

जो गृहस्थ सामुद्रिक शास्त्रमें कहे गये दोषोंसे रहित तथा भावी शुभाशुभको जाननेके उपायोंके द्वारा ज्योतिर्विदोंने जिसका सौभाग्य सूचित कर दिया है, उस कन्याको वरके योग्य कुल, शील, परिवार, विद्या, सम्पत्ति, सौरूप्य, योग्यवय आदि गुणोंसे विचारशील मनुष्योंके चित्तमें जँचनेवाले वरके साथ धार्मिक विधिसे विवाह करके श्रद्धापूर्वक साधर्मीका सत्कार करता है, वह गृहस्थ अपनी कन्या और उसके वरको धर्म, अर्थ और कामपुरुषार्थके सम्पादन करनेसे धर्म, अर्थ और कामका पालन करनेवाले गृहस्थोंमें मुखिया होकर जिनागम अथवा आर्य पुरुषोंकी संगतिसे चारित्रमोहनीय कर्मकी गुरुता दूर होनेपर पारलौकिक कार्यमें भी समर्थ होता है ॥५८॥

---

१. 'समदत्तिः स्वसमक्रियाय मित्राय निस्तारकोत्तमाय कन्याभूमिसुवर्णहस्त्यश्वरथरत्नादि दानं, स्वसमानाभावे मध्यमपात्रस्यापि दानम्।'—चारित्रसार, पृ. २१।

निर्दोषां—उत्तरत्वं [उन्नतत्वं] कनीनिकयोर्लोमशत्वं जङ्घयोरमांसलत्वमूर्वोरचारुत्वं कटि-नाभि-जठर-कुचयुगलेषु, शिरालत्वाशुभसंस्थानत्वे बाह्वोः, कृष्णत्वं तालु-जिह्वाधर-हरीतिकीषु, विरलविषमभावो दशनेषु, सकूपत्वं कपोलयोः, पिङ्गलत्वमक्ष्णोर्लग्नत्वं चिल्लिकयोः, स्वपुटत्वं निडाले, दुःसन्निवेशत्वं श्रवणयोः, स्थूलपरुषकपिलभावः केशेषु, अतिदीर्घातिलघुन्यूनाधिकता-समविकट-कुब्जवामन-किरातांगत्वं जन्मदेहाभ्यां समानत्वाधिकत्वे च' (नीतिवा. ३१।१४)। इत्यादि कन्यादोषरहिताम्। यदाह—'वरं वेश्यापरिग्रहो नाविशुद्धकन्यापरिग्रहः' इति। सुनिमित्तसूचितशिवां—सुनिमित्तैः सामुद्रिकदूतज्योतिषादि-भविष्यच्छुभाशुभज्ञानोपायैः सूचितं प्रकाशितं शिवं स्वस्य वरस्य कल्याणं यस्यास्ताम्। किं च वरितरि दूते वा सहसा कन्यागृहं गते सति कन्या अभ्यक्ता व्याधिमती रुदती पतिघ्नी सुप्ता स्तोकायुरप्रसन्ना दुःखिता बहिर्गता, कुलटा कलहोद्युक्ता परिजनोद्वासिनी अप्रियदर्शना च दुर्भगा स्यादिति न तां वृणीत कन्याम्। वराहैर्गुणैः—कुलीन-सुशीलत्वादिभिः। उक्तं च—

'कुलं च शीलं च सनाथता च विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च।
एतान् गुणान् सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ॥' [ ]

कुलस्य प्रागुपादानमकुलीने कन्याविनियोगस्यात्यन्तनिषेधार्थम्। यदाह—

'वरं जन्मनाशः कन्याया ना...............

परिणाय्य—[युक्तितो वर-] णविधानमग्निदेवद्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहस्तं कारयित्वा। यदाह—'विवाहपूर्वो व्यवहारश्चातुर्वर्ण्यं कुलीनयतीति, [-नीतिवा. ३१।२] धर्म्यविधिना—धर्म्याः-धर्मादनपेताः ब्राह्मप्राजापत्यार्षदैवाश्चत्वारो विवाहाः। ततोऽन्ये गान्धर्वासुरराक्षसपैशाचाश्चत्वारोऽधर्म्याः। तल्लक्षणानि यथा—

विशेषार्थ—भारतीय धर्ममें गृहस्थाश्रमका बहुत महत्त्व है। आचार्य पद्मनन्दिने कहा[1] है कि इस कलिकालमें जिनालय, मुनि, धर्म और दान इन सबका मूल कारण श्रावक हैं। श्रावक न हों तो इनमें-से कोई भी रक्षित नहीं रह सकता। अतः इन सबकी स्थिति तभी तक है जब तक श्रावक और श्राविकाओंमें धार्मिक प्रेम है। इसीसे विवाह सम्बन्ध साधर्मियोंमें ही करनेपर जोर दिया है। भारतमें विवाहिताको केवल पत्नी नहीं कहते, धर्मपत्नी कहते हैं। क्योंकि वह पतिके धर्मकी भी सहचारिणी होती है। पत्नीके योग्य होनेपर ही पतिका भी योगक्षेम चलता है और धर्मसाधन होता है। अतः वैवाहिक सम्बन्ध बहुत सोच-समझकर किया जाता है। सबसे प्रथम कन्याका कुल शील सौभाग्य आदि देखा जाता है, इसी तरह कन्यापक्षकी ओरसे वरके गुण देखे जाते हैं तब विवाह होता है।

कन्या निर्दोष होना चाहिए—आँखकी पुतलियोंका उठा होना, जंघाओंपर रोम होना, ऊरुओंका मांसविहीन होना, कटि-नाभि-उदर और कुच युगलका सुन्दर न होना, बाहुओं पर नसोंका उभार तथा उनका आकार सुन्दर न होना, तालु, जीभ और ओठोंपर कालापन होना, दाँतोंका विरल और टेढ़े-मेढ़े होना, कपोलोंकी हड्डीका उठा होना, आँखोंमें पीलापना, भौंहोंका जुड़ा होना, मस्तकका उठा होना, कानोंकी रचना खराब होना, केशोंका स्थूल, कठोर और पीला होना, अतिलम्बी या अतिलघु होना, अंगोंका कुबड़ा बौना आदि होना दोष है। इत्यादि दोषोंसे रहित कन्या होना चाहिए। कहा है—वेश्याको स्वीकार करना उत्तम है किन्तु

1. 'संप्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहो मुनिस्थितिः। धर्मश्च दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम्' ॥
—पद्म. पञ्च. ६।६

'स ब्राह्मो विवाहो यत्र वरायालङ्कृत्य कन्या प्रदीयते-'त्वं भवास्य महाभागस्य सधर्मचारिणीति।' विनियोगेन कन्याप्रदानात् प्राजापत्यः। गो-भूमि-सुवर्णपुरस्सरं कन्याप्रदानादार्षः। स दैवो विवाहो यत्र यज्ञार्थमृत्विजः कन्याप्रदानमेव दक्षिणा। मातुः पितुर्बन्धूनां चाप्रामाण्यात्परस्परानुरागेण मिथः समवायाद् गान्धर्वः। पणबन्धेन (?) कन्याप्रदानादासुरः। सुप्तप्रमत्तकन्यादानात्पैशाचः। कन्यायाः प्रसह्यादानाद्राक्षसः। एते चत्वारोऽधर्म्या अपि नाधर्म्या यद्यस्ति वधूवरयोरनपवादं परस्परस्य भाव्यत्वम्।'—नीति वा. ३१।४-१३।

अत्राह मनुः—

'ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥
आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्म्यः प्रकीर्तितः॥
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्म्यं प्रचक्षते॥
एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्म्यः स उच्यते॥
सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य तु।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरोऽधर्म्य उच्यते॥
इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः॥

अविशुद्ध कन्याका ग्रहण उत्तम नहीं है। जो कन्या रोगी हो, अल्पायु हो, अप्रसन्न रहती हो, कुलटा हो, लड़ाकू हो, अभागिनी हो, देखनेमें अप्रिय हो उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिए। वर कुलीन और सुशील होना चाहिए। कहा है—कुल, शील, सनाथता, विद्या, धन, शरीर और आयु इन सात गुणोंकी परीक्षा करके ही कन्या देना चाहिए। सबसे प्रथम कुलको स्थान दिया है कि अकुलीनको कन्या कभी भी नहीं देना चाहिए। कहा है—'कन्याका मरना उत्तम है किन्तु अकुलीनको कन्या देना उत्तम नहीं है।'

विवाहके चार प्रकार कहे हैं—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष और दैव। इनके अतिरिक्त गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच विवाह अधर्म्य हैं। इनका लक्षण इस प्रकार है—कन्याको अलंकृत करके वरको देना कि तू इस भाग्यशालीकी धर्मपत्नी होओ, ब्राह्म विवाह है। बदलेमें कन्या देना प्राजापत्य विवाह है। गौ, भूमि, सुवर्णदान पूर्वक कन्या देना आर्ष विवाह है। जिसमें यज्ञके पुरोहितको यज्ञ करानेकी दक्षिणाके रूपमें कन्या दी जाती है वह दैवविवाह है। माता-पिता, बन्धु-बान्धवोंकी अनुमतिके बिना परस्परके अनुरागसे जो विवाह किया जाता है वह गान्धर्व है।.... कन्या देना आसुर विवाह है। सोती हुई या बेहोश कन्याको उठा ले जाना पैशाच विवाह है। जबरदस्ती कन्याको ले जाना राक्षस विवाह है। ये चारों विवाह अधर्म्य होनेपर भी यदि वधू और वरमें परस्परमें अपवादरहित भव्यता है तो अधर्म्य नहीं है। मनुने कहा है—'ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच आठ भेद हैं। श्रुति और शीलसे सम्पन्न वरको स्वयं आमन्त्रित करके पूजापूर्वक

हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसोऽधर्म उच्यते ॥
सुप्तां प्रमत्तां मत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति । ३
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचः प्रथितोऽष्टमः ॥
ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वकः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्राः जायन्ते शिष्टसंमताः ॥ ६
रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥
इतरेषु त्वशिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः । ९
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यानि वर्जयेत् ॥' [मनुस्मृ. ३।२१,२७-३४,३९-४२] १२

धर्म्यविवाहविधिरार्षोक्तो यथा—

'ततोऽस्य गुर्वनुज्ञानादिष्टा वैवाहिकी क्रिया ।
वैवाहिके कुले कन्यामुचितां परिणेष्यतः ॥ १५
सिद्धार्चनविधिं सम्यग् निर्वर्त्य द्विजसत्तमाः ।
कृताग्नित्रयसंपूज्याः कुर्युस्तत्साक्षिकां क्रियाम् ॥
पुण्याश्रमे क्वचित् सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयोः । १८
दम्पत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः ॥
वेद्यां प्रणीतमग्नीनां त्रयं द्वयमथैककम् ।
ततः प्रदक्षिणीकृत्य प्रशेय्य विनिवेशनम् ॥ २१

कन्यादान ब्राह्म विवाह है। यज्ञमें पधारे ऋत्विजको जो यज्ञकर्म करता है, अलंकृत करके कन्या देना दैवविवाह है। वरसे एक या दो गोमिथुन लेकर विधिवत् कन्या देना आर्ष विवाह है। दोनों मिलकर धर्मका पालन करना ऐसा कहकर कन्या देना प्राजापत्य विवाह है। ये चारों विवाह धर्म्य हैं। कुटुम्बियोंको कन्याके लिए धन देकर बलपूर्वक कन्यादान आसुर है। कन्या और वरका परस्परकी इच्छासे सम्बन्ध करना गान्धर्व विवाह है। यह विवाह कामज है। रोती-चिल्लाती हुई कन्याको बलपूर्वक हरण करना राक्षस विवाह है। सोती हुई या पागल या बेहोश कन्याके पास एकान्तमें जाना सब विवाहोंमें निकृष्ट पैशाच विवाह है। इनमें-से ब्राह्म आदि चार विवाहोंमें ही ब्रह्मविद् तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होते हैं और वे रूप, सत्त्व आदि गुणोंसे युक्त धनवान् , यशस्वी और धार्मिक होते हैं तथा सौ वर्ष तक जीते हैं। अन्य दुर्विवाहोंमें ब्रह्म और धर्मके द्वेषी, असत्यवादी क्रूर पुत्र उत्पन्न होते हैं। अनिन्दित स्त्रीविवाहोंसे अनिन्द्य सन्तान उत्पन्न होती है और निन्दितसे निन्दित। इसलिए मनुष्योंको निन्दित विवाह नहीं करना चाहिए।

महापुराणमें विवाह क्रियाका वर्णन करते हुए लिखा है—विवाहके योग्य कुलमें उत्पन्न हुई कन्याके साथ जो विवाह करना चाहता है गुरुकी आज्ञासे उसकी वैवाहिक क्रिया की जाती है। सबसे पहले अच्छी तरह सिद्ध भगवान्‌का पूजन करना चाहिए। फिर

---

१. प्रसज्य।

पाणिग्रहणदीक्षायां नियुक्तं तद्वधूवरम् ।
आसप्ताहं चरेद् ब्रह्मव्रतं देवाग्निसाक्षिकम् ॥
कृत्वा स्वस्योचितां भूमिं तीर्थभूमौ विहृत्य च ।
स्वगृहं प्रविशेद् भूत्या परया तद्वधूवरम् ॥
विमुक्तकंकणं पश्चात् स्वगृहे शयनीयकम् ।
अधिशय्य यथाकालं भोगाङ्गैरुपलालितम् ॥
सन्तानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत् ।
शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥' [महापु. ३८।१२७-१३४]

'शिथिले पाणिग्रहे वरः कन्यया परिभूयते । मुखं पश्यतो वरस्यानिमीलितलोचना कन्या भवति प्रचण्डा । सह शयानस्तूष्णींभवन् पशुवन्मन्येत । बलादाक्रामन्नाजन्मविद्वेष्यो भवति । धैर्य-चातुर्यायत्तं हि कन्याविस्रंभणम् । समविभवाभिजनयोरसमगोत्रयोश्च विवाहसंबन्धः । महतः कन्यापितुरैश्वर्यादल्पमवमन्यते[1] । अल्पस्य कन्यापितुर्दौर्विध्यान्महताऽवज्ञायेत[2] । अल्पस्य महता संव्यवहारे महान् व्ययो अल्पश्चायः । सम्यग्धृताऽपि कन्या तावत्सन्देहास्पदं यावन्न पाणिग्रहः । आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णं[3] कन्याभाजनानि ब्राह्मण-क्षत्रियविशः । देशकुलापेक्षो मातुलसंबन्ध इति ।' [नीति वा. ३१।१५-२९]

सत्समयः—जिनप्रवचनमार्यसंगतिर्वा । तेनास्तो—निराकृतो । मोहस्य—चारित्रमोहकर्मणो । महिमा—गुरुत्वं येन स तथोक्तः ।

तथा च—

'जन्मसन्तानसंपादि-विवाहादि-विधायिनः ।
स्वाः परे स्युः सकृत्प्राणहारिणो न परे परे ॥ [ ]
'सर्वं धर्ममयं क्वचित्क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं
क्वाप्येतद् द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि ।
तस्मादेष तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा,
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥' [ ]

तीनों अग्नियोंकी पूजापूर्वक वैवाहिक क्रिया की जाती है। किसी पवित्र स्थानमें बड़ी विभूतिके साथ सिद्ध भगवान्‌की प्रतिमाके सामने वर-वधूका विवाहोत्सव करना चाहिए। तीन अग्नियोंकी प्रदक्षिणा देकर वर-वधूको समीप ही बैठना चाहिए। तथा देव और अग्निकी साक्षीपूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिए। फिर किसी योग्य देशमें भ्रमण कर तथा तीर्थभूमिमें विहार करके वर-वधूका गृहप्रवेश करना चाहिए। फिर शय्यापर शयन कर केवल सन्तान उत्पन्न करनेकी इच्छासे ऋतुकालमें ही काम-सेवन करना चाहिए। काम-सेवनका यह क्रम काल तथा शक्तिकी अपेक्षा रखता है। अतः जो अशक्त हैं उनके लिए अन्य क्रम है। यह विवाहकी धार्मिक विधि है। नीतिवाक्यामृतमें कहा है—'प्रथम रात्रिको पत्नीके साथ सोते हुए यदि वर एकदम चुप रहता है तो उसे पशुके समान माना जाता है। यदि वह बलात्कार करता है तो उससे पत्नी जन्म-भर द्वेष रखती है। इसलिए धैर्य और चतुराईमें पत्नीका विश्वास प्राप्त करना चाहिए। विवाह-सम्बन्ध समान सम्पत्तिशाली

१. क्राम्स्वा—मु. ।
२. पितुर्दौस्थ्यं महता कष्टेन विज्ञायते ।—नी. वा. ।
३. वर्णाः कन्याभाजनाः—नी. वा. ।

इत्यादि सूक्तिसुधा........मितः । परेऽपि—पारलौकिके । ऊर्जति—समर्थो भवति । एतेनेदमपि संगृहीतम्—

'द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारमार्थिकः ।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः ॥
जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधा ।
श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ॥
स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत् ।
तत्क्रियाविनियोगाय जैनागमविधिः परम् ॥
यद्भव भ्रान्तिनिर्मुक्तिहेतुधीस्तत्र दुर्लभा ।
संसारव्यवहारे तु स्वतः सिद्धे वृथागमः ॥

तथा च—

सर्वं एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥' [सो. उपा. ४७६-४८०]

इति स्थितम् ॥५८॥

अथ सत्कन्याप्रदातुः साधर्मिकोपकारकरणद्वारेण महान्तं सुकृतलाभमवभासयन्नाह—

सत्कन्यां ददता दत्तः सत्रिवर्गो गृहाश्रमः ।
गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुड्यकटसंहतिम् ॥५९॥

किन्तु विभिन्न गोत्रवालोंमें होता है। यदि कन्याका पिता समृद्धिशाली हुआ तो कन्या अपनेसे हीन ऐश्वर्यवाले पतिका तिरस्कार करती है। छोटा आदमी यदि बड़ेके साथ सम्बन्ध करता है तो व्यय तो बहुत होता है और आय कम होती है। विवाहकी बात पक्की हो जानेपर भी जबतक विवाह न हो जाये तबतक सन्देह रहता है। अनुलोम विवाहमें ब्राह्मण चारों वर्णकी, क्षत्रिय तीन वर्णोंकी और वैश्य दो वर्णोंकी कन्यासे विवाह कर सकता है। देश विशेषमें मामाकी कन्यासे भी विवाह होता है।'

आचार्य कहते हैं—'यह गृहस्थाश्रम क्वचित्-क्वचित् धर्ममय है किन्तु प्रायः पापमय है। इसलिए यह अन्धेके रस्सी बटनेके समान या हाथीके स्नानके समान है। यह सर्वथा हितकर नहीं है।' गृहस्थके दो धर्म हैं—लौकिक और पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकरीतिके अनुसार चलता है। किन्तु पारलौकिक धर्म आगमके अनुसार होता है। सभी जैनोंको ऐसी लौकिक विधि मान्य होती है जिसके पालन करनेसे सम्यक्त्वकी हानि न हो और व्रतोंमें दूषण न लगे। सांसारिक व्यवहार तो स्वतःसिद्ध है उसके लिए आगमकी आवश्यकता नहीं है। आगमकी आवश्यकता तो संसार छोड़नेके लिए है। विवाहका भी यही लक्ष्य है, संसारमें रमना नहीं। जो विवाह द्वारा जीवनको सुखी बनाते हैं वे अन्तमें गृह त्यागकर अपने परलोकको भी सुधारनेमें समर्थ होते हैं ॥५८॥

आगे कहते हैं कि योग्य कन्याके दाता पिताको अपने साधर्मीका उपकार करनेसे महान् पुण्यबन्ध होता है—

सत्कन्या देनेवालेने धर्म-अर्थ-काम सहित गृहाश्रम दे दिया; क्योंकि पत्नीको ही गृह कहते हैं, दीवार और बाँस आदिके समूहको गृह नहीं कहते ॥५९॥

---

१. 'गृहिणी गृहमुच्यते न पुनः कुड्यकटसंघातः ।'—नीतिवा०, ३१।३१।

सत्रिवर्गः—धर्मार्थकामानां सद्गृहिणीमूलत्वात् । तथाहि धर्मः स्वदारसन्तोषाद्यात्मकसंयमासंयमलक्षणो देवादिपरिचरणस्वरूपः सत्पात्रदानादिस्वभावश्च । अर्थो वेश्यादिव्यसनव्यावर्तनेन निष्प्रत्यूहमर्थस्योपार्जनादुपार्जितस्य च रक्षणाद् रक्षितस्य च वर्धनाद्यथाभाव्यं ग्रामसुवर्णादिसंपत्तिः । कामश्च यथेष्टमाभिमानिकरसानुविद्धसर्वेन्द्रियप्रीतिहेतुः कुलाङ्गनासंगिनां सुप्रतीतः । तथा च स्वयं प्रायुङ्क्त सिद्धचक्रे—

'जगद्वधूद्याननगप्लवङ्गं या स्वोपभोगेन नियत्यचेतः ।
भर्तुः स भागन् जनयत्युरस्थान् प्रादान्न किं कन्यतमां ददत्ताम् ॥'
श्रीः सर्वभोगीणवपुःप्रयोगैरक्षिप्तचित्ते ध्रुवमिद्धरागा ।
विभर्ति पत्यौ समवेतु कामा तदेकभोग्यां सुकलत्रमूर्तिम् ॥
सर्वाणि लोके सुखसाधनानि स्वार्थक्रियावन्ति यतो भवन्ति ।
तामेव युक्त्वा क्षितमां स्वनेशा मनस्विनः स्वेत्तरयेत्सुधर्मः ॥' [ ] ॥५९॥

अथ कुलस्त्रीपरिग्रहं लोकद्वयाभिमतफलसम्पादकत्वात् त्रैवर्गिकस्य विधेयतयोपदिशति—

धर्मसन्ततिमक्लिष्टां रतिं वृत्तकुलोन्नतिम् ।
देवादिसत्कृतिं चेच्छन्सत्कन्यां यत्नतो वहेत् ॥६०॥

धर्मसन्ततिं—धर्मार्थान्यपत्यानि धर्माविच्छेदे वा । अक्लिष्टां—अनुपहताम् । कुलं—वंशो गृहं च । वहेत्—परिणयेत । उक्तं च—

'धर्मसन्ततिरनुपहता रतिः गृहवार्ता सुविहितत्त्वमाभिजात्याचारविशुद्धत्वं ।
देवद्विजातिथिबान्धवसत्कारानवद्यत्वं च दारकर्मणः फलम् ॥'
[नीतिवा. ३१।३०] ॥६०॥

विशेषार्थ—कुलीनता आदि गुणोंसे युक्त और सामुद्रिक शास्त्रमें कहे गये दोषोंसे रहित कन्याको सत्कन्या कहते हैं। जहाँ धर्मका अनुष्ठान होता है उसे आश्रम कहते हैं। घर भी एक आश्रम है जिसमें रहकर गृहस्थ धर्मपूर्वक अर्थ और कामका साधन करता है। धर्म अर्थ और कामकी मूल सती पत्नी ही होती है। पत्नीके सहयोगसे गृहस्थ स्वदार सन्तोष आदि रूप संयमका पालन करता है, देव आदिकी पूजन आदि करता है, सत्पात्रोंको दान देता है। ये सब धर्मके अंग हैं। पत्नीके होनेसे वेश्या-सेवन आदि व्यसनोंसे बचनेके कारण बिना बाधाके धनका उपार्जन करता है, उपार्जितकी रक्षा करता है और रक्षित धनको बढ़ाता है। इस तरह उसके पास ग्राम, सुवर्ण आदि सम्पत्ति संचित होती रहती है। सम्भोगकी अभिलाषाको काम कहते हैं। कुलांगनाके साथ इच्छानुसार कामभोगसे समस्त इन्द्रियोंकी तृप्ति होती है। इस तरह सत्कन्याकी प्राप्तिसे धर्म-अर्थ-काम सहित गृहाश्रम ही प्राप्त होता है। इसीसे लोकमें भी घर नाम घरवालीका ही है। योग्य घरवालीके अभावमें ईंट-पत्थरसे बनी दीवारोंके छाजनका नाम घर नहीं है। नीतिवाक्यामृतमें भी ऐसा ही कहा है। आशाधरजी ने अपने सिद्धचक्र महाकाव्यमें कहा है—'जो पत्नी पतिके मनको अपनेमें बाँधकर रखती है वैसी पत्नी जिसने दी उसने क्या नहीं दिया ?॥५९॥

सत्कन्याका पाणिग्रहण इस लोक और परलोकमें इष्ट फलका दायक होता है अतः गृहस्थको उसे करनेका उपदेश देते हैं—

धार्मिक सन्तानको जन्म देने या धर्मकी परम्परा चालू रखने, बिना किसी प्रकारकी बाधाके सम्भोग करने व चारित्र और कुलकी उन्नति तथा देव, द्विज और अतिथिका सत्कार करनेके इच्छुक श्रावकको सज्जनकी सत्कन्याको तत्परताके साथ बिवाहना चाहिए ॥६०॥

अथ दुष्कलत्रस्याकलत्रस्य वा पात्रस्य भूम्यादिदानान्न कश्चिदुपकारः स्यादित्यमुमर्थमवश्यं कन्या-विनियोगेन सधर्माणमनुगृह्णीयादिति विधिव्यवस्थापनार्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयते—

सुकलत्रं विना पात्रे भूहेमादिव्ययो वृथा ।
कीटैर्दन्दह्यमानेऽन्तः कोऽम्बुसेकाद् द्रुमे गुणः ॥६१॥

पात्रे—संयुज्यमानमोक्षकारणगुणे गृहिणि । गुणः—उपकारः ।

यल्लोकः—

'तणयं णासइ वंसो णासइ दियहो कुभोयणे भुत्ते ।
कुकलत्तेण य जम्मो णासई धम्मो विणु दयाए ॥' [ ] ॥६१॥

अथ विषयसुखोपभोगेनैव चारित्रमोहोदयोद्रेकस्य शक्यप्रतीकारत्वात्तद्द्वारेणैव तमपवर्त्यात्मानमिव साधर्मिकमपि विषयेभ्यो व्युपरमेदित्युपदेशार्थमाह—

विशेषार्थ—सोमदेवजीने भी अपने नीतिवाक्यामृतमें विवाहके ये ही फल बतलाये हैं। सबसे पहला फल है धर्मसन्तति। इसके दो अर्थ होते हैं—धार्मिक सन्तान और धर्मकी परम्परा। धार्मिक सन्तानसे ही धर्मकी परम्परा चलती है। और धार्मिक सन्तान तभी होती है जब माता-पिता दोनों धर्मात्मा हों। उनमें भी मातापर बहुत कुछ निर्भर है क्योंकि बालकके लालन-पालनमें माताका विशेष हाथ होनेसे उसीके संस्कार बालकमें आते हैं और ऐसे संस्कारित बालकोंसे धर्मकी परम्परा चलती है। विवाहका दूसरा फल है निर्बाध सम्भोग। अपनी पत्नीसे प्रेम करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र होता है उसमें किसी प्रकारका भय नहीं रहता। इससे निर्विघ्न कामशान्ति होनेसे मनुष्य आवारागर्दीसे बच जाता है और उसका चारित्र उन्नत होता है। यह विवाहका तीसरा फल है। स्वदार सन्तोष मनुष्यके चारित्रकी उन्नतिका ही सूचक है। चारित्रकी उन्नतिके साथ वंशकी उन्नति विवाहका चतुर्थ फल है। धर्मात्मा सन्तानसे जैसे धर्मकी परम्परा चलती है वैसे ही वंशकी भी परम्परा चलती है। पाँचवा फल है अतिथि सत्कार। अतिथिमें मुनि-व्रती आदि तो आते ही हैं बन्धु-बान्धव भी आते हैं। अपने घरमें इन सब आगन्तुकोंका सत्कार पत्नीके द्वारा ही सम्भव होता है। अतः विवाह करना आवश्यक है ॥६०॥

'सत्कन्या देकर साधर्मीका उपकार अवश्य करना चाहिए' इस विधिकी व्यवस्थाके लिए जिसके घरमें पत्नी नहीं है या दुष्टा पत्नी है उसे भूमि आदि देनेसे कोई लाभ नहीं है इस बातका समर्थन करते हैं—

सत्पत्नीके बिना गृहस्थको भूमि-सुवर्ण आदिका दान देना व्यर्थ है। जिस वृक्षके मध्य भागको कीटोंने बुरी तरह खा डाला हो, उसे पानीसे सींचनेसे क्या लाभ है ? किसीने कहा है—कुपुत्र वंशका नाशक है, कुभोजन करनेसे वह दिन ही नष्ट होता है। किन्तु कुपत्नीसे जन्म ही नष्ट हो जाता है ॥६१॥

विषय-सुखके उपभोगसे ही चारित्रमोहके तीव्र उदयका प्रतीकार हो सकता है, इस लिए उसके द्वारा ही स्वयं विषय-सेवनसे निवृत्त होकर अपनी ही तरह अन्य साधर्मियोंको भी विषय सेवनसे निवृत्त करना चाहिए, यह उपदेश देते हैं—

विषयेषु सुखभ्रान्तिं कर्माभिमुखपाकजाम् ।
छित्वा तदुपभोगेन त्याजयेत्तान् स्ववत्परम् ॥६२॥

स्पष्टम् ॥६२॥

अथ दुःषमकालवशात्प्रायेण पुरुषाणामाचारविप्लवदर्शनाद् विचिकित्साकुलितचित्तदातुः सौचित्य-विधानार्थं चतुरः श्लोकानाह—

दैवाल्लब्धं धनं प्राणैः सहावश्यं विनाशि च ।
बहुधा विनियुञ्जानः सुधीः समयिकान् क्षिपेत् ॥६३॥

विनियुञ्जानः—व्ययमानः । समयिकान्—समयाश्रितान् गृहस्थान् यतीन्वा । क्षिपेत्—धिगिमान् संभावणमात्रस्याप्ययोग्यानित्याद्यवर्णवादेन तिरस्कुर्यात् काक्वा न क्षिपेदिति प्रतिषेधे पर्यवस्यति ॥६३॥

किं तर्हि कुर्यादित्याह—

विन्यस्यैदंयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव ।
भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् कुतः श्रेयोऽतिचर्चिनाम् ॥६४॥

विन्यस्य—नामादि विधिना निक्षिप्य । ऐदंयुगीनेषु—अस्मिन् युगे साधुषु ॥६४॥

अपना फल देनेके लिए तैयार हुए चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे मनुष्यको विषयोंमें सुखकी भ्रान्ति होती है वह ये सुखरूप हैं या सुखके हेतु हैं ऐसा मानता है। उस भ्रान्तिको विषयोंका सेवन करनेसे दूर करना चाहिए। और फिर अपनी ही तरह दूसरोंको भी कन्या आदि देकर यह विषय छुड़ाना चाहिए।॥६२॥

विशेषार्थ—चारित्रमोहके उदयसे पीड़ित मनुष्यको विषय-सेवन अच्छा लगता है। वह मानता है कि विषयमें सुख है। उसका यह भ्रम दूर करनेका उपाय है कि उसका विवाह करा दिया जाये। इससे वह विषयोंकी यथार्थता समझकर स्वयं ही विषयोंसे विमुख होकर दूसरोंकी भी भ्रान्ति दूर करनेका प्रयत्न करेगा ॥६२॥

पंचम कालके प्रभावसे प्रायः मनुष्योंके आचारमें शिथिलता देखनेसे दाताका मन ग्लानिसे भर जाता है। अतः उनके चित्तके समाधानके लिए चार श्लोक कहते हैं—

पुण्य कर्मके उदयसे प्राप्त हुआ धन प्राणोंके साथ अवश्य नष्ट होनेवाला है। उस धन-को अनेक प्रकारसे खर्च करनेवाला गृहस्थ क्या साधर्मियोंका तिरस्कार करेगा? अर्थात् नहीं करेगा ॥६३॥

विशेषार्थ—संसारमें दैवकी ही बलवत्ता मानी जाती है और पौरुषको गौणता दी जाती है। दैवके अनुकूल होनेपर ही पौरुष भी सफल होता है। अतः धनकी प्राप्तिमें पुण्य कर्मका उदय प्रधान है। इसके साथ ही यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्यके मरते ही उसके लिए तो सब धन नष्ट ही हो जाता है। ऐसी स्थितिमें जब गृहस्थ शादी-विवाह, भोग-उपभोगमें खूब धन खर्च करता है तो यदि वह विचारशील है और लोक-परलोकको समझता है तो क्या वह धार्मिकोंका विशेषतया मुनियोंका यह कहकर तिरस्कार करेगा कि ये तो बात करने लायक भी नहीं है? ॥६३॥

ऐसी स्थितिमें क्या करना चाहिए, यह बतलाते हैं—

जैसे प्रतिमामें जिनदेवकी स्थापना करके उनकी पूजा करते हैं उसी तरह इस युगके साधुओंमें पूर्व मुनियोंकी स्थापना करके भक्तिपूर्वक पूजा करे। क्योंकि अत्यन्त नुक्ताचीनी करनेवालोंका कल्याण कैसे हो सकता है ॥६४॥

पुनस्तद् समर्थनार्थमाह—

भावो हि पुण्याय मतः शुभः पापाय चाशुभः।
तद्‌दुष्यन्तमतो रक्षेद्धीरः समयभक्तितः ॥६५॥ ३

विशेषार्थ—दिगम्बर जैन धर्मका मुनिमार्ग अत्यन्त कठिन है। और इस कालमें तो उसका पालन करना और भी कठिन है। फिर भी मुनिमार्ग चालू है। किन्तु उसमें शिथिलाचारिता बढ़ी है इसीसे मुनियोंकी आलोचना कुन्दकुन्द-जैसे महर्षियोंने अपने षट् प्राभृतोंमें की है। जब मुनिपदने भट्टारकोंका रूप लिया तब तो शास्त्रज्ञ श्रावकोंके द्वारा उनकी और भी अधिक आलोचना हुई। पं. आशाधरजीने अपने अनगारधर्मामृत (२।९६) में उन्हें म्लेच्छवत् आचरण करनेवाला कहा है और एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें कहा है कि चारित्रभ्रष्ट पण्डितों और बठर तपस्वियोंने निर्मल जिनशासनको मलिन कर दिया। लगता है दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दीमें शिथिलाचारी मुनियोंका विरोध इतना बढ़ा कि श्रावकोंने उन्हें आहार तक देना बन्द कर दिया। तब उदारमना सोमदेवाचार्यको इस ओर ध्यान देना पड़ा। उन्होंने अपने उपासकाचारमें लिखा है—भोजनमात्र देनेके लिए साधुओंकी परीक्षा नहीं करना चाहिए। वे सज्जन हों या दुर्जन, गृहस्थ तो दान देनेसे शुद्ध होता है। गृहस्थ अनेक आरम्भोंमें फँसे रहते हैं और उनका धन भी अनेक प्रकारसे खर्च होता है। अतः तपस्वियोंके आहारदानमें ज्यादा सोच-विचार नहीं करना चाहिए। मुनिजन जैसे-जैसे तप-ज्ञान आदिमें विशिष्ट हों वैसे-वैसे गृहस्थोंको उनका अधिक-अधिक समादर करना चाहिए। धन भाग्यसे मिलता है अतः भाग्यशाली पुरुषोंको कोई मुनि आगमानुकूल मिले या न मिले, उन्हें अपना धन धार्मिकोंमें अवश्य खर्च करना चाहिए। जिन भगवान्‌का यह धर्म अनेक प्रकारके मनुष्योंसे भरा है। जैसे मकान एक स्तम्भपर नहीं ठहर सकता, वैसे ही धर्म भी एक पुरुषके आश्रयसे नहीं ठहरता। नाम, स्थापना, द्रव्य और भावकी अपेक्षा मुनि चार प्रकारके होते हैं और वे सभी दान-सम्मानके योग्य हैं। किन्तु गृहस्थोंके पुण्य उपार्जनकी दृष्टिसे जिनबिम्बोंकी तरह उन चार प्रकारके मनियोंमें उत्तरोत्तर विशिष्ट विधि होती जाती है। यह बड़ा आश्चर्य है कि इस कलिकालमें जब मनुष्योंका मन चंचल रहता है और शरीर अन्नका कीड़ा बना रहता है, आज भी जिन रूपके धारक पाये जाते हैं। जैसे पाषाण वगैरहमें अंकित जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिकृति पूजने योग्य है, वैसे ही आजकल मुनियोंको भी पूर्वकालके मुनियोंकी प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिए। इस तरह सोमदेव सूरिने वर्तमान मुनियोंको पूर्व मुनियोंकी प्रतिकृति मानकर पूजनेका निर्देश किया है। पं. आशाधरजीने भी उन्हींका अनुसरण करते हुए वर्तमान मुनियोंमें पूर्व मुनियोंकी स्थापना करके उनको पूजनेकी प्रेरणा की है। आचार्य पद्मनन्दिने भी कहा है 'आज इस पंचमकालमें भरत क्षेत्रमें तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ केवली नहीं हैं किन्तु जगत्‌के स्वरूपको प्रकाशित करनेवाली उनकी वाणी विद्यमान है तथा उस वाणीके आलम्बन रत्नत्रयके धारी मुनिवर विद्यमान हैं। उनकी पूजा जिनवाणीकी ही पूजा है और जिनवाणीकी पूजा साक्षात् जिनेन्द्रदेवकी पूजा है' ॥६४॥

उसीके समर्थनमें पुनः कहते हैं—

शुभ भाव पुण्यके लिए और अशुभ भाव पापके लिए होता है। इसलिए भावोंमें विकार होनेपर धीर पुरुषको जिनशासनके अनुरागसे रक्षा करना चाहिए ॥६५॥

धीरः—अविकारप्रकृतिः । समयभक्तितः । तथाहि—

'सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणि-
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद् द्योतिकाः ।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तासां समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥'
[पद्म. पञ्च. १।६८] ॥६५॥

अथ ज्ञानतपसोः पृथक् समुदितयोश्च तद्वतां च पूज्यत्वे युक्तिमाह—

ज्ञानमर्च्यं तपोऽङ्गत्वात्तपोऽर्च्यं तत्परत्वतः ।
द्वयमर्च्यं शिवाङ्गत्वात्तद्वन्तोऽर्च्या यथागुणम् ॥६६॥

ज्ञानं साधकस्थं, तपः नैष्ठिकस्थम् । तत्परत्वतः—ज्ञानातिशयहेतुत्वात्, तत् ज्ञानं परममुत्कृष्टं यस्मादिति व्युत्पत्त्याश्रयणात् । द्वयं गणाधिपस्थम् । अत्राहुः श्रीसोमदेवपण्डिताः—

'भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम् ।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्धयति ॥
सर्वारम्भप्रवृत्तानां गृहस्थानां धनव्ययः ।
बहुधास्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा ॥
यथा यथा विशिष्यन्ते तपोज्ञानादिभिर्गुणैः ।
तथा तथाधिकं पूज्या मुनयो गृहमेधिभिः ॥
दैवाल्लब्धं धनं धन्यैर्वप्तव्यं समयाश्रिते ।
एको मुनिर्भवेल्लभ्यो न लभ्यो वा यथागमम् ॥
उच्चावचजनः प्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम् ।
नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः ॥
ते नाम स्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधाः ।
भवन्ति मुनयः सर्वे दानमानादिकर्मसु ॥
उत्तरोत्तरभावेन विधिस्तेषु विशिष्यते ।
पुण्यार्जने गृहस्थानां जिनप्रतिकृतिष्विव ॥' [सो. उपा., ८१८-८२४]

विशेषार्थ—शुभ भावसे पुण्यबन्ध और अशुभ भावसे पापबन्ध होता है यह सब जानते हैं। अतः मुनियोंके प्रति यदि भाव खराब होते हों तो कलिकालमें जिनशासनको धारण करनेवाले ये मुनि जिनकी तरह मान्य हैं इस अनुराग भावसे अपने भावोंको उनके प्रति बिगड़नेसे रोकना चाहिए ॥६५॥

ज्ञान और तपके पृथक्-पृथक् तथा सम्मिलित रूपसे पूज्य होनेमें तथा ज्ञानी, तपस्वीके पूज्य होनेमें युक्ति देते हैं—

तपका कारण होनेसे ज्ञान पूज्य है और ज्ञानकी अतिशयका कारण होनेसे तप पूज्य है और मोक्षका कारण होनेसे ज्ञान और तप दोनों पूज्य हैं तथा ज्ञानी, तपस्वी और ज्ञान तथा तप दोनोंसे युक्त महात्माओंको जो-जो गुण जिसमें अधिक हो उस-उस गुणके कारण विशेष रूपसे पूजना चाहिए ॥६६॥

विशेषार्थ—ज्ञान और तप दोनों परस्परमें एक दूसरेके साधक हैं। यदि ज्ञानी न हों तो पूजा-प्रतिष्ठा, शास्त्रचर्चा वगैरह बन्द हो जाये। ज्ञानके होनेसे ही सम्यक् तप होता है,

अपि च—

'काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके ।
एतच्चित्रं तदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥
यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम् ।
तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः संप्रति संयताः ॥' [सो. उपा., ७९६-७९७] ॥६६॥

अथ मिथ्यादृष्टेर्जघन्यादिपात्रत्रये कुपात्रे चान्नदानात् सद्दृष्टेश्च सुपात्रेष्वेवान्नदानादुत्पन्नपुण्यस्य फलविशेषमपात्रे चार्थविनियोगस्य वैयर्थ्यं प्रतिपादयितुमाह—

न्यग्मध्योत्तमकुत्स्यभोगजगती भुक्तावशेषाद्वृषा-
त्तादृक्पात्रवितीर्णभुक्तिरसुदृग्देवो यथास्वं भवेत् ।
सद्दृष्टिस्तु सुपात्रदानसुकृतोद्रेकात्सुभुक्तोत्तम-
स्वर्भूमर्त्यपदोऽश्नुते शिवपदं व्यर्थस्त्वपात्रे व्ययः ॥६७॥

न्यगित्यादि—न्यङ् जघन्यः एकपल्योपमभोग्यत्वात् । मध्यः द्विपल्योपमभोग्यत्वादुत्तमस्त्रिपल्योपमभोग्यत्वात् । कुत्स्यः सुस्वादुमृत्पुष्पफलाशनवृत्तित्वादेकोरुकादिदेहयोगाच्च । न्यङ् च मध्यमश्चोत्तमश्च कुत्स्यश्च न्यङ्मध्योत्तमकुत्स्यास्ते च ते भोगाश्च न्यङ्मध्योत्तमकुत्स्यभोगास्तैरुपलक्षिता जगत्यो भूमयो जघन्यभोगभूमिर्मध्यमभोगभूमिरुत्तमभोगभूमिः कुभोगभूमिश्चेति चतस्रस्तासु भुक्ताः कल्पवृक्षादिसंपादितेष्टविषयोपभोगसुखेन निर्जीर्णश्चासाववशेषश्चोद्धृतो यो वृषः पुण्यविशेषस्तस्मात् । तादृक्पात्रवितीर्णभुक्तिः—तादृग्भ्यो न्यङ्मध्योत्तमकुत्स्येभ्यः पात्रेभ्यो वितीर्णा दत्ता भुक्तिराहारो येन स तथोक्तः । पात्रापात्रलक्षणं शास्त्रे यथा—

'उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं
मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम् ।

ज्ञानके अभावमें तो केवल कायक्लेश होता है। इसी तरह ज्ञानाराधन स्वयं एक तप है। अन्तरंग तपके भेदोंमें स्वाध्यायको तप कहा है। तथा तपस्याके द्वारा ही केवल ज्ञानकी प्राप्ति होती है। तथा तप और ज्ञान दोनोंसे मुक्ति मिलती है इसलिए ज्ञान, तप, ज्ञानी तपस्वी ये सभी पूज्य हैं। सोमदेव सूरिने भी कहा है कि तपके बिना अकेला ज्ञान भी आदरके योग्य है, और ज्ञानके बिना अकेला तप भी पूज्य है। जिसमें ज्ञान तप दोनों होते हैं वह देवता है और जिसमें न ज्ञान है और न तप है वह तो केवल स्थान भरनेवाला है ॥६६॥

आगे मिथ्यादृष्टिके सुपात्रको ही आहारदान देनेसे उत्पन्न हुए पुण्यके फलकी विशेषता और अपात्र दानकी व्यर्थता बतलाते हैं—

जघन्य पात्र, मध्यम पात्र, उत्तम पात्र तथा कुपात्रको दान देनेवाला मिथ्यादृष्टि जघन्य भोगभूमि, मध्यम भोगभूमि उत्तम भोगभूमि, और कुभोगभूमिमें भोगनेसे बाकी बचे पुण्यसे यथायोग्य देव होता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि सुपात्र दानसे होनेवाले पुण्यके उदयसे उत्तम भोगभूमि, महर्द्धिक कल्पवासी देव और चक्रवर्ती आदि पदोंको यथेष्ट भोगकर मोक्षपदको पाता है। परन्तु अपात्रको दान देना व्यर्थ है ॥६७॥

---

१. 'मान्यं ज्ञानं तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम् । द्वयं यत्र स देवः स्याद् द्विहीनो गणपूरणः ।'
—सो. उपा., ८१५ श्लो.

निर्दशनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं
युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि ॥' [पद्म. पञ्च. २।४८]
'उत्तमपत्तं साहू मज्झिमपत्तं च सावया भणिया ।
अविरदसम्माइट्ठी जहण्णपत्तं मुणेयव्वं ॥' [ ]
'जं रयणत्तयरहियं मिच्छामय कहियधम्म अणुलग्गं ।
जइ विहु तवइ सुघोरं तहवि हु तं कुच्छियं पत्तं ॥
जस्स ण तवो ण चरणं न चावि जस्सत्थि वरगुणो को वि ।
तं जाणेह अपत्तं अफलं दाणं कयं तस्स ॥' [भावसं. ५३०।५३१]

आर्षे पुनः श्रेयो युवराजः पात्रापात्रलक्षणं भरतराजर्षिमन्वशीषत्—

'जघन्यं शीलवान्मिथ्यादृष्टिश्च पुरुषो भवेत् ।
सद्दृष्टिर्मध्यमं पात्रं निःशीलव्रतभावनः ॥
सद्दृष्टिः शीलसंपन्नः पात्रमुत्तममिष्यते ।
कुदृष्टिर्यो विशीलश्च नैव पात्रमसौ मतः ॥
कुमानुषत्वमाप्नोति जन्तुर्ददद‍पात्रके ।
अशोधितमिवालाम्बु तद्धि दानं विदूषयेत् ॥' [महापु. २०।१४०-१४२]

यथास्वं—यद्यत्स्वमात्मीयं दानं तत्तदनतिक्रमेणेत्यर्थः । तत्र मिथ्यादृष्टिर्जघन्यपात्रायाहारदानं दत्वा जघन्यभोगभूमौ निरातंकभोगान् भुक्त्वा स्वायुःक्षये यथाभाग्यं स्वर्गं गच्छेत् । तत्तत्पात्रसन्निधानात्तथाविधशुभपरिणामविशेषोपपत्त्या तादृक् पुण्यप्रचयानुभावात् । स एव च कुपात्राहारं दत्वा कुभोगभूमौ निर्भूषण-विवस्त्र-गुहा-वृक्षमूलनिवास्यैकोरुकादिशरीरो भूत्वा स्वसमानपत्न्या सह यथास्वं निराबाधतया भोगं भुक्त्वा पल्योपमात्रस्वायुःक्षये मृत्वा स्वर्गे वाहनदेवो वा ज्योतिष्को वा व्यन्तरो वा भवनवासी वा भूत्वा दीर्घं दुर्गतिदुःखानि भुञ्जानः संसरति । किञ्च, ये भोगभूमिषु ये च मानुषोत्तरपर्वताद् बहिः प्राक् च स्वयंप्रभपर्वतात्तिर्यञ्चो, ये च म्लेच्छराजगजतुरगादयो वेश्यादयो वा नीचात्मानो भोगभाजो दृश्यन्ते ते सर्वे कुपात्रदानतो यथापरिणाममुत्पन्नेन मिथ्यात्वसहचारिणा पुण्येन तथा स्युरिति निर्णयः । उक्तं च—

विशेषार्थ—मुनिको उत्तम पात्र, अणुव्रती श्रावकको मध्यम पात्र, सम्यग्दृष्टिको जघन्य पात्र, सम्यग्दर्शनसे रहित व्रतीको कुपात्र तथा सम्यग्दर्शन और व्रतसे रहितको अपात्र कहते हैं। अमितगति आचार्यने अपने श्रावकाचार (११।५-१८) में उत्तम पात्रका स्वरूप विस्तारसे बतलाते हुए लिखा है—वह जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थानके भेदोंको जानकर जीवोंकी रक्षा करता है। सूर्यकी तरह परोपकारमें तत्पर रहता है, हितमित वचन बोलता है। परधनको निर्माल्यकी तरह मानता है। दाँत साफ करनेके लिए तिनका तक नहीं उठाता। पशु, मनुष्य, देव और अचेतनके भेदसे चार प्रकारकी नारियोंसे ऐसे दूर रहता है मानो वे महामारी हैं। प्रासुक मार्गसे चार हाथ भूमि देखकर जीवोंकी रक्षा करते हुए गमन करता है। छियालीस दोषोंको टालकर नवकोटिसे विशुद्ध आहार करता है और सरस तथा विरस आहारमें समान बुद्धि रखता है। प्रत्येक वस्तुको सावधानीके साथ रखता तथा उठाता है। किसीको बाधा न पहुँचाते हुए प्रासुक तथा गुप्त स्थानमें मल-मूत्र करता है। चंचल चित्तको वशमें रखता है। कर्मोंके क्षयके लिए कायोत्सर्ग करता है। कृत्य और अकृत्यको जानता है। इस प्रकार जो सम्यक् रूपसे व्रत, समिति और गुप्तिको पालता है वह उत्तम

'कुच्छियपत्ते किंचिवि फलइ कुदेवेसु कुणरतिरिएसु ।
कुच्छियभोयधरासु य लवणंबुहि कालउयहीसु ॥
एए णरा पसिद्धा तिरिया य हवंति भोगभूमीसु ।
मणुसुत्तरवहिरेसु य असंखदीवेसु ते हुंति ॥
सव्वे मदंकसाया सव्वे निस्सेसवाहि परिहीणा ।
मरिऊण वितरा वि हु जोइसभवणेसु जायंति ॥
तत्थ चुया पुण संता तिरियणरा पुण हवंति ते सव्वे ।
काऊण तत्थ पावं पुणो वि णिरयावहा हुंति ॥
चंडाल भिल्ल छिप्पय लोलय कल्लाल एवमाईणि ।
दीसंति रिद्धिपत्ता कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥
केई पुण गयतुरया गेहे रायाण उण्णई पत्ता ।
दीसंति पच्च लोए कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥
केई पुण दिवलोए उववण्णा वाहणत्तणे मणुया ।
सोयंति जायदुःखा पिच्छिय रिद्धि सुदेवाणं ॥' [भावसं. ५३३, ५४०-५४५]

स्वर्भुवः—कल्पोपपन्नदेवाः । उक्तं च—

'पात्राय विधिना दत्वा दानं मृत्वा समाधिना ।
अच्युतान्तेषु कल्पेषु जायन्ते शुद्धदृष्टयः ॥
ज्ञात्वा धर्मप्रसादेन तत्र प्रभवमात्मनः ।
पूजयन्ति जिनार्चास्ते भक्त्या धर्मस्य वृद्धये ॥
सुखवारिधिमग्नास्ते सेव्यमानाः सुधाशिभिः ।
सर्वदा व्यवतिष्ठन्ते प्रतिबिम्बैरिवात्मनः ॥
नवयौवनसम्पन्ना दिव्यभूषणभूषिताः ।
ते वरेण्याद्यसंस्थाना जायन्तेऽन्तर्मुहूर्ततः ॥

पात्र है। जो एकसे लेकर ग्यारह तक प्रतिमा पालता है वह मध्यम पात्र है। निर्मल सम्यग्दृष्टि, जिसे जन्म-जरा-मरण आदिका भय नहीं सताता, संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त रहता है, निरन्तर अपनी निन्दा-गर्हा करता है, आत्मतत्त्व और परतत्त्वके विचारसे पण्डित है, किन्तु व्रताचरणकी ओर उत्सुक नहीं है वह जघन्य पात्र है। जो कठोर आचरण करता है, परोपकारी है, असत्य और कठोर वचन नहीं बोलता, धन-स्त्री परिग्रहसे निस्पृह है, कषाय और इन्द्रियोंका जयी है परन्तु घोर मिथ्यात्वसे युक्त है वह कुपात्र है। जो घोर मिथ्यात्वी होनेके साथ व्रतशील संयमसे भी रहित है वह अपात्र है। जैसे पात्रके चार भेद हैं वैसे ही भोगभूमिके भी उत्कृष्ट मध्यम आदि चार प्रकार हैं। दान देनेवाला यदि मिथ्यादृष्टि है, वह यदि जघन्य पात्र सम्यग्दृष्टिको दान देता है तो मरकर जघन्य भोगभूमिमें जन्म लेता है, यदि सम्यक्त्व और अणुव्रत सहित मध्यम पात्रको दान देता है तो मध्यम भोगभूमिमें जन्म लेता है। यदि सम्यग्दर्शन और महाव्रतसे भूषित उत्तम पात्रको दान देता है तो उत्तम भोगभूमिमें जन्म लेता है और वहाँ निर्बाध भोगोंको भोगकर अपनी आयु क्षय होनेपर यथायोग्य देव होता है। इसका कारण यह है कि जैसे पात्रको वह दान देता है उसी प्रकार के शुभ परिणाम होनेसे उसी जातिके पुण्यका बन्ध करता है। वही यदि सम्यक्त्वसे रहित

तेषां खेदमलस्वेदजरारोगादिवर्जिताः ।
जायन्ते भासुराकाराः स्फाटिका इव विग्रहाः ॥
निधुवनकुशलाभिः पूर्णचन्द्राननाभिः
स्तनभरनमिताभिर्मन्मथाध्यासिताभिः ।
पृथुतरजघनाभिर्बन्धुराभिर्वधूभिः
सममलवचोभिः सर्वदा ते रमन्ते ॥'
[अमि. श्रा. ११।१०२, ११२, ११३, ११६, ११७, १२०]

बद्धायुष्का मानुषास्तथा तिर्यञ्चोऽपि पात्रदानानुमोदनया अवश्यमुत्तमभोगभूमिषूत्पद्यन्ते । यदाह—

'बद्धाउया सुदिट्ठी मणुया अणुमोयणेण तिरिया वि ।
णियमेणुववज्जंते ते उत्तमभोगभूमीसु ॥' [वसु. श्रा. २४९ गा.]
'दिवोऽवतीर्योर्जितचित्तवृत्तयो महानुभावा भुवि पुण्यशेषतः ।
भवन्ति वंशेषु बुधार्चितेषु ते विशुद्धसम्यक्त्वधरा नरोत्तमाः ॥
अवाप्यते चक्रधरादिसम्पदं मनोरमामत्र विपुण्यदुर्लभाम् ।
नयन्ति कालं निखिलं निराकुला न लभ्यते किं खलु पात्रदानतः ॥
निषेव्य लक्ष्मीमिति शर्मकारिणीं प्रथीयसीं द्वित्रिभवेषु कल्मषम् ।
प्रदह्यते ध्यानकृशानुनाखिलं श्रयन्ति सिद्धि विदु.... पदं सदा ॥
विधाय सप्ताष्टभवेषु वा स्फुटं जघन्यतः कल्मषकक्षकर्तनम् ।
व्रजन्ति सिद्धि मुनिदानवासिता व्रतं चरन्तो जिननाथभाषितम् ॥' [ ]

किन्तु व्रत और तपसे युक्त कुपात्रको दान देता है तो कुभोगभूमिमें भूषण-वस्त्र रहित, गुफा या वृक्षके मूलमें निवास करनेवाला कुमनुष्य होकर अपने ही समान पत्नीके साथ यथायोग्य बाधा रहित भोगोंको भोगकर एक पल्य प्रमाण आयुके क्षय होनेपर मरकर वाहन जातिका देव, या ज्योतिष्क, या व्यन्तर, या भवनवासी देव होकर दीर्घ काल तक दुर्गतिके दुःखोंको भोगता हुआ संसारमें भ्रमण करता है। तथा कुभोगभूमियोंमें और मानुषोत्तर पर्वतसे बाहर तथा स्वयंप्रभ पर्वतसे पहले जो तिर्यंच पाये जाते हैं, तथा जो म्लेच्छ राजाओंके हाथी, घोड़े, वेश्या वगैरह नीच प्राणी भोग भोगते हुए पाये जाते हैं वे सब कुपात्र दानसे परिणामोंके अनुसार उत्पन्न हुए मिथ्यात्व सहचारी पुण्यके उदयसे होते हैं। सोमदेव सूरिने कहा है—जिनका चित्त मिथ्यात्वमें फँसा है और जो मिथ्या चारित्रको पालते हैं, उनको दान देना बुराईका ही कारण होता है। जैसे साँपको दूध पिलानेसे वह जहर ही उगलता है। ऐसे लोगोंको दयाभावसे या औचित्यवश कुछ दिया भी जाये तो जो अवशिष्ट भोजन हो वही दिया जावे, किन्तु घरपर न जिमाना चाहिए। जैसे विषैले भाजनके सम्बन्धसे जल भी विषैला हो जाता है वैसे ही इन मिथ्यादृष्टि साधुओंका सत्कार करनेसे श्रद्धान भी दूषित होता है। अतः कुपात्रको सम्यग्दृष्टि दान नहीं देता। वह तो सुपात्रको ही दान देता है। और महातपस्वियोंको या तीन प्रकारके पात्रोंको दिये गये दानसे होनेवाले पुण्यके उदयसे उत्तम भोगभूमिके सुख भोगकर महर्द्धिक कल्पवासी देवोंके सुख भोगता है फिर चक्रवर्ती आदि होकर मोक्ष प्राप्त करता है। आचार्य अमितगतिने अपने उपासकाचारमें विस्तारसे पात्रदानका वर्णन करते हुए लिखा है कि सम्यग्दृष्टि जीव विधिपूर्वक पात्रदान करके और समाधिपूर्वक मरण करके अच्युत पर्यन्त स्वर्गोंमें जन्म लेते हैं और वहाँ धर्मके प्रसादसे अपना जन्म हुआ

एतेन सद्दृष्टिना कुपात्राय न देयं देयं वा ...... विवशात् किञ्चिदुद्धृतमेवेत्युपदिष्टं स्यात् । तथा चोक्तम्—

'मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु चारित्राभासभागिषु ।
दोषायैव भवेद्दानं पयःपानमिवाहिषु ॥
कारुण्यादथवौचित्यात्तेषां किञ्चिद्दिशन्नपि ।
दिशेदुद्धृतमेवान्नं गृहे भुक्तिं न कारयेत् ॥
सत्कारादिविधावेषां दर्शनं दूषितं भवेत् ।
यथा विशुद्धमप्यम्बु विषभाजनसंगमात् ॥'

किं च—

'शाक्य-नास्तिक-यागज्ञ-जटिलाजीविकादिभिः ।
सहावासं सहालापं तत्सेवां च विवर्जयेत् ॥
अज्ञानतत्त्वचेतोभिर्दुराग्रहमलीमसैः ।
युद्धमेव भवेद् गोष्ठ्यां दण्डादण्डि कचाकचि ॥
भयलोभोपरोधाद्यैः कुलिङ्गेषु निषेवणे ।
अवश्यं दर्शनं म्लायेन्नीचैराचरणे सति ॥
बुद्धिपौरुषयुक्तेषु दैवायत्तविभूतिषु
नृषु कुत्सितसेवायां दैन्यमेवातिरिच्यते ॥' [सो. उपा. ८०१-८०७]

जानकर भक्तिपूर्वक जिनदेवका पूजन करते हैं। किन्तु सम्यक्त्व और व्रतसे रहित अपात्रमें दान देना व्यर्थ है। अमितगतिने कहा है कि अपात्रदानसे पापके सिवाय दूसरा फल नहीं होता। बालूको पेरनेसे खेद ही हाथ आता है। जो उत्तम पात्रको छोड़कर अपात्रको धन देता है वह साधुको छोड़कर चोरको धन देता है। अतः अपात्रको पात्रबुद्धिसे दान नहीं देना चाहिए, दयाभावसे देनेमें कोई हानि नहीं है।

भावसंग्रहमें देवसेनाचार्यने लिखा है—जो रत्नत्रयसे रहित है, मिथ्याधर्ममें आसक्त है वह कितना भी घोर तप करे फिर भी वह कुपात्र है। जिसमें न तप है, न चारित्र है, न कोई उत्कृष्ट गुण है उसे अपात्र जानो। उसको दान देना व्यर्थ है। कुपात्रको दान देनेसे कुदेवोंमें, कुमनुष्योंमें, तिर्यंचोंमें, लवणसमुद्र, कालोदधि समुद्रवर्ती कुभोग भूमियोंमें जन्म होता है। या मानुषोत्तर पर्वतसे बाहर असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें जन्म होता है। वे सब मन्द कषाय और समस्त आधिव्याधिसे रहित होते हैं। तथा वहाँसे मरकर व्यन्तर या ज्योतिषी देवोंमें उत्पन्न होते हैं। वहाँसे च्युत होकर वे सब तिर्यंच या मनुष्य होते हैं। और वहाँ पाप करके नरक जाते हैं। लोकमें जो चाण्डाल, भील, कलार, छीपी आदि धन सम्पन्न देखनेमें आते हैं यह सब कुपात्रदानका फल है। कुपात्रदानके फलसे कोई राजाओंके हाथी-घोड़े आदि होते हैं। कोई मनुष्य मरकर देवलोकमें वाहन जातिके देव होते हैं। वहाँ वे अन्य देवोंकी ऋद्धि देखकर दुःखी होते हैं।

यहाँ प्रसंगवश पल्यका स्वरूप कहते हैं—पल्यके तीन भेद हैं—व्यवहार पल्य, उद्धार पल्य, अद्धापल्य। ये सब नाम सार्थक हैं। प्रथमका नाम व्यवहारपल्य है क्योंकि वह आगेके दो पल्योंके व्यवहारका बीज है। इससे कुछ अन्य नहीं मापा जाता। दूसरेका नाम उद्धार पल्य है क्योंकि उससे उद्धृत (निकाले गये) रोमच्छेदोंसे द्वीप समुद्रोंकी गणना की जाती है।

व्यर्थः—विपरीतफलो निष्फलो वा। यदाह—

'अपात्रदानतः किंचिन्न फलं पापतः परम्।
लभ्यते हि फलं खेदो बालुकापुञ्जपेषणे ॥
विश्राणितमपात्राय विधत्तेऽनर्थमूर्जितम्।
अपथ्यभोजनं दत्ते व्याधिं किं न दुरुत्तरम् ॥
अपात्राय धनं दत्ते यो हित्वा पात्रमुत्तमम्।
साधुं विहाय चौराय तदर्पयति स स्फुटम् ॥' [अमि. श्रा. ११।९०, ९१, ९७]

अथ किं पल्योपममिति चेद् भ्रमः (?)—पल्यं त्रिविधं व्यवहारपल्यमुद्धारपल्यमद्धापल्यमिति। अन्वर्थसंज्ञा एताः। आद्यं व्यवहारपल्यमित्युच्यते उत्तरपल्यव्यवहारबीजत्वात्। नानेन किंचित् परिच्छेद्यमस्ति। द्वितीयमुद्धारपल्यं, तत उद्धृतै लोमच्छेदैः द्वीपसमुद्राः संख्यायन्त इति। तृतीयमद्धापल्यं, अद्धा कालस्थितिरित्यर्थः। तत्राद्यस्य प्रमाणं कथ्यते तत्परिच्छेदार्थत्वात्तद्यथा—

प्रमाणाङ्गुलपरिमितयोजनविष्कम्भायामावगाहानि त्रीणि पल्यानि कुसूला इत्यर्थः। एकादिसप्तान्ताहोरात्रजाताविबालाग्राणि तावच्छिन्नानि यावद् द्वितीयं कर्तरीच्छेदं नाप्नुवन्ति। तादृशैर्लोमच्छेदैः परिपूर्णं घनीकृतं व्यवहारपल्यमित्युच्यते। ततो वर्षशते वर्षशते एकैकलोमापकर्षणविधिना यावता कालेन तद्रिक्तं भवेत्तावत्कालो व्यवहारपल्योपमाख्यः। तैरेव रोमच्छेदैः प्रत्येकमसंख्येयवर्षकोटिसमयमात्रच्छिन्नैस्तत्पूर्णमुद्धारपल्यम्। ततः समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं भवति तावत्काल उद्धारपल्योपमाख्यः। एषामुद्धारपल्यानां दशकोटीकोट्य एकमुद्धारसागरोपमम्। अर्धतृतीयोद्धारसागरोपमानां यावन्तो रोमच्छेदास्तावन्तो द्वीपसमुद्राः। पुनरुद्धारपल्यरोमच्छेदैर्वर्षशतसमयमात्रच्छिन्नैः पूर्णमद्धापल्यम्। ततः समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं भवति तावत्कालोऽद्धापल्योपमाख्यः। एषामद्धापल्यानां दशकोटीकोट्य एकमद्धासागरोपमम्। दशाद्धासागरोपमकोटीकोट्य एकावसर्पिणी। तावत्येवोत्सर्पिणी। अनेनाद्धापल्येन नारकतैर्यग्योनानां देवमनुष्याणां च कर्मस्थितिर्भवस्थितिरायुःस्थितिः कायस्थितिश्च परिच्छेत्तव्या।'—[सर्वार्थसि. ३।३८] ॥६७॥

तीसरा अद्धापल्य है। अद्धाका अर्थ कालस्थिति है। पहले पल्यका प्रमाण कहते हैं—प्रमाणांगुलसे नापे गये योजन प्रमाण लम्बे-चौड़े-गहरे तीन पल्य अर्थात् गड्ढे करो। एक दिनसे सात दिन तकके जन्मे मेढ़ेके बालोंके अग्रभागको इतना काटो कि पुनः उन्हें कैंचीसे न काटा जा सके। पहले गढेको उनसे खूब ठोस रूपसे भर दो। उसे व्यवहारपल्य कहते हैं। सौ-सौ वर्षमें एक-एक बाल निकालनेपर जितने समयमें वह खाली हो उतने कालको व्यवहार पल्योपम कहते हैं। व्यवहार पल्यके प्रत्येक रोमके उतने खण्ड कल्पनासे करो जितने असंख्यात कोटिवर्षके समय होते हैं। और उन्हें दूसरे गड्ढेमें भर दो। उसे उद्धारपल्य कहते हैं। प्रति समय एक-एक रोम निकालनेपर जितने कालमें वह रिक्त हो उतने कालको उद्धार पल्योपम कहते हैं। दस कोड़ा-कोड़ी उद्धार पल्योंका एक उद्धार सागर होता है। अढ़ाई उद्धार सागरमें जितने रोम हों उतनी ही द्वीप समुद्रोंकी संख्या जानना। पुनः उद्धारपल्यके प्रत्येक रोमके उतने खण्ड करो जितने सौ वर्षके समय होते हैं और उन्हें तीसरे गढ़ेमें भर दो उसे अद्धापल्य कहते हैं। प्रतिसमय एक-एक रोमखण्ड निकालनेपर जितने समयमें वह रिक्त हो उतने कालको अद्धा पल्योपम कहते हैं। दस कोड़ा-कोड़ी अद्धा पल्योंका एक अद्धा सागर होता है। दस कोड़ा-कोड़ी अद्धा सागरोपम कालकी एक अवसर्पिणी होती है और उतनी ही

अथ पात्रदानपुण्योदयफलभाजां भोगभूमिजानां जन्मप्रभृति सप्ताहसप्तकभाविनीरवस्था निर्देष्टुमाह—

सप्तोत्तानशया लिहन्ति दिवसान्स्वाङ्गुष्ठमार्यास्ततः
कौ रिङ्गन्ति ततः पदैः कलगिरो यान्ति स्खलद्भिस्ततः ।
स्थेयोभिश्च ततः कलागुणभृतस्तारुण्यभोगोद्गताः
सप्ताहेन ततो भवन्ति सुदृगादानेऽपि योग्यास्ततः ॥६८॥

आर्याः—भोगभूमिजाः । कौ—भूमौ । रिङ्गन्ति—पद्भ्यां विना सर्पन्ति । कलाः—गीताद्याः । गुणाः—लावण्याद्याः । सुदृगादाने—सम्यक्त्वग्रहणे ।

उक्तं च—

'तदा स्त्रीपुंसयुग्मानां गर्भविलुंठितात्मनाम् ।
दिनानि सप्त गच्छन्ति निजाङ्गुष्ठावलेहनैः ॥
रिङ्गतामपि सप्तैव सप्तास्थिरपरिक्रमैः ।
स्थिरैश्च सप्त तैः सप्त कलासु च गुणेषु च ॥
सप्तभिश्च दिनैस्ते स्युः सम्पूर्णनवयौवनाः ।
सम्यक्त्वग्रहणेऽपि स्युर्योग्यास्ते सप्तभिर्दिनैः ॥' [ ] ॥६८॥

अथ मुनिदेयनिर्णयार्थमाह—

उत्सर्पिणी होती है। इस अद्धापल्यसे नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवोंकी कर्मस्थिति, भवस्थिति, आयुस्थिति और कायस्थिति ज्ञात होती है ॥६७॥

अब पात्रदानके पुण्यसे भोगभूमिमें जन्म लेनेवाले जीवोंकी जन्मसे लेकर सात सप्ताह तक होनेवाली अवस्थाको बतलाते हैं—

भोगभूमिमें जन्म लेनेवाले मनुष्य जन्मके अनन्तर सात दिन तक ऊपरको मुख करके सोते हुए अपने अँगूठेको चूसते हैं। प्रथम सप्ताहके अनन्तर सात दिन तक पृथ्वीपर रेंगते हैं। द्वितीय सप्ताहके अनन्तर सात दिन तक मनोहर वाणी बोलते हुए गिरते-पड़ते चलते हैं। तीसरे सप्ताहके अनन्तर सात दिन तक स्थिर पैरोंसे चलते हैं। चतुर्थ सप्ताहके अनन्तर सात दिनोंमें कला, गीत आदि गुणों और लावण्य आदिको धारण कर लेते हैं। पंचम सप्ताहके अनन्तर सात दिनोंमें युवा होकर भोगोंको भोगनेमें समर्थ हो जाते हैं। और छठे सप्ताहके अनन्तर सात दिनोंमें सम्यक्त्व ग्रहण करनेके योग्य हो जाते हैं ॥६८॥

विशेषार्थ—भोगभूमिमें दस प्रकार कल्पवृक्षोंसे मनुष्योंको भोग-उपभोगके सब पदार्थ प्राप्त होते हैं इसीसे उसे भोगभूमि कहते हैं। भोगभूमिमें नगर, ग्राम, राजा, कुल, शिल्प, कृषि आदि षट्कर्म, वर्ण आश्रम आदि नहीं होते। रात-दिनका भेद, सर्दी, परस्त्री रमण, परधन हरण आदि नहीं होते। परिवारमें स्त्री और पुरुष दो ही होते हैं। नौमास आयु शेष रहनेपर स्त्रीके गर्भ रहता है और मृत्युका समय आनेपर युगल बालक-बालिका जन्म देकर पुरुष छींकसे और स्त्री जँभाईके आनेसे मर जाते हैं। उत्कृष्ट भोगभूमिमें अँगूठा चूसने आदिमें तीन-तीन दिन लगते हैं। मध्यम भोगभूमिमें पाँच-पाँच दिन और जघन्य भोगभूमिमें सात-सात दिन लगते हैं। इस तरह उत्कृष्ट भोगभूमिमें २१ दिनमें, मध्यम भोगभूमिमें ३५ दिनमें और जघन्य भोगभूमिमें ४९ दिनमें वे युगल बालक-बालिका युवा होकर सम्यक्त्व ग्रहणके योग्य हो जाते हैं। और परस्परमें रमण करते हैं ॥६८॥

आगे मुनियोंको क्या देना चाहिए, इसका निर्णय करते हैं—

तपः श्रुतोपयोगीनि निरवद्यानि भक्तितः ।
मुनिभ्योऽन्नौषधावासपुस्तकादीनि कल्पयेत् ॥६९॥

निरवद्यानि—उद्गमादिदोषरहितानि । पुस्तकादीनि आदिशब्देन पिच्छिकाकमण्डल्वादीनि । कल्पयेत्—उपकारयेत् ॥६९॥

अथान्नादिदानफलानां क्रमेण निदर्शनान्याह—

भोगित्वाद्यन्तशान्तिप्रभुपदमुदयं संयतेऽन्नप्रदाना-
च्छ्रीषेणो रुग्निषेधाद्धनपतितनया प्राप सर्वौषधर्द्धिम् ।
प्राक्तज्जन्मर्षिवासावनशुभकरणात्शूकरः स्वर्गमग्र्यं-
कौण्डेशः पुस्तकार्चावितरणविधिनाऽप्यागमाम्भोधिपारम् ॥७०॥

भोगित्वाद्यन्तशान्तिप्रभुपदं—भोगित्वमुत्तमभोगभूमिजत्वमाद्यावन्ते च शान्तिप्रभोः शान्तिनाथतीर्थंकरस्य पदं यस्य । अन्नप्रदानात्—बीजत्वमात्रविवक्षात्र । तथाविधाभ्युदयस्योत्तरोत्तरपुण्यविशेषोदयसंपाद्यत्वात् । श्रीषेणः—स एव राजा । रुग्निषेधात्—व्याधिप्रतीकारादौषधादेः । धनपतितनया—वृषभसेनाभिधाना, पूर्वभवे राज्ञो देवकुलस्य संमार्जिका । प्राक्तज्जन्मनोः—पूर्वभवे च शुभकरणात् मुनिरक्षाभिप्रायेण शुभाभिसन्धिपरिणामात् । अग्र्यं—सौधर्मे महर्द्धिकदेवत्वमित्यर्थः । कौण्डेशः—गोविन्दाख्यगोपालचरो ग्रामकूटपुत्रः सन् कौण्डेशो नाम मुनिः ॥७०॥

मुनियोंको भक्तिपूर्वक तप और श्रुतज्ञानमें उपयोगी तथा अनगार धर्मामृतके पिण्डशुद्धि नामक अध्यायमें कहे गये उद्गम उत्पादन आदि दोषोंसे रहित, आहार, औषध, वसतिका और पुस्तक आदि देना चाहिए। आदि शब्दसे पीछी-कमण्डलु आदि आते हैं ॥६९॥

आगे क्रमसे आहार आदि दानका फल कहते हैं—

मुनियोंको विधिपूर्वक आहार देनेसे राजा श्रीषेण मरकर प्रारम्भमें उत्तम भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ और अन्तमें शान्तिनाथ नामक सोलहवें तीर्थंकरके पदको प्राप्त हुआ। धनपति सेठकी पुत्री रोग दूर करनेके लिए औषधदान देनेसे समस्त औषधोंकी ऋद्धिको प्राप्त हुई। पूर्व जन्ममें मुनियोंको आवास देनेके शुभ परिणामसे और उस जन्ममें मुनियोंकी रक्षा करनेके शुभ परिणामसे शूकर सौधर्म स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ। और कौण्डेश मुनि शास्त्रोंकी पूजा और दान करनेसे द्वादशांग श्रुतके पारको प्राप्त हुए ॥७०॥

विशेषार्थ—रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें दानके चार भेदोंके उक्त चार उदाहरण दिये हैं।[1] तदनुसार पं. आशाधरजीने भी दिये हैं। राजा श्रीषेणने अर्ककीर्ति और अमितगति नामक दो चारण मुनियोंको आहार दिया था। उस दानसे होनेवाले पुण्यबन्धके फलस्वरूप राजा श्रीषेणने मरकर भोगभूमिमें जन्म लिया। फिर वे अन्तमें शान्तिनाथ तीर्थंकर हुए। यद्यपि वे उसी पुण्यसे तीर्थंकर नहीं हुए। किन्तु उत्तरोत्तर पुण्य विशेषसे तीर्थंकर हुए। तथापि उसका बीज आहारदान था। औषधदानमें वृषभसेनाका उदाहरण उल्लेखनीय है। वृषभसेना धनपति सेठकी पुत्री थी। उसके स्नानके जलसे प्राणियोंकी शारीरिक व्याधि दूर हो जाती थी। एक मुनिराजसे इसका कारण पूछनेपर उन्होंने बतलाया कि पूर्वजन्ममें इसने औषध-

---

१. 'श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेशः सूकरश्च दृष्टान्ताः ।
वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः' ॥—रत्न. श्रा., ११८ श्लो. ।

अथ जिनधर्मानुबन्धार्थमसतां मुनीनामुत्पादने सतां च गुणातिशयसम्पादने प्रयत्नविधापनार्थमाह—

जिनधर्मं जगद्बन्धुमनुबद्धुमपत्यवत् ।
यतीञ्जनयितुं यस्येत्तथोत्कर्षयितुं गुणैः ॥७१॥

यस्येत्—प्रयतेत गृही । गुणैः—श्रुतज्ञानादिभिः ॥७१॥

अथ संप्रति पुरुषाणां दुष्कर्मगुरुत्वाद् गुणातिशयसिद्धयदर्शनात्तदुत्पादने निष्फलः प्रयत्न इति गृहिणां मनोभङ्गनिषेधार्थमाह—

श्रेयो यत्नवतोऽस्त्येव कलिदोषाद् गुणद्युतौ ।
असिद्धावपि तत्सिद्धौ स्वपरानुग्रहो महान् ॥७२॥

कलिः—पञ्चमकालः पापकर्म वा । गुणद्युतौ—गुणातिशयशालिनां विषये । यत्नवतः—श्रावकस्य । तेषामसिद्धावपि इत्यावृत्या योज्यम् ॥७२॥

अथ महाव्रतमणुव्रतं वा बिभ्रत्यः स्त्रियोऽपि धर्मपात्रतयानुग्राह्या इति समर्थयितुमाह—

दान किया था। उसीके फलस्वरूप इसे यह ऋद्धि प्राप्त हुई है। तीसरे आवासदानमें एक शूकरका नाम उल्लेखनीय है। मालवदेशमें एक कुम्भकार और एक नाईने एक वसतिका बनवायी। कुम्भकारने उसमें एक मुनिको ठहराया और नाई एक संन्यासीको ले आया। दोनोंने मिलकर मुनिको बाहर निकाल दिया। इसपर कुम्भकार और नाईकी लड़ाई हुई। कुम्भकार मरकर शूकर हुआ और नाई व्याघ्र। एक बार जिस गुफामें शूकर रहता उसी गुफामें दो मुनि आकर ठहरे। व्याघ्र मनुष्यकी गन्ध पाकर आया तो शूकर गुफाके द्वारपर उससे भिड़ गया और मरकर स्वर्गमें देव हुआ। शास्त्रदानके फलसे कौण्डेश मुनि शास्त्र पारगामी हुए। पूर्वजन्ममें उसे वनमें वृक्षके एक कोटरमें एक शास्त्र मिला। वह शास्त्र उसने एक मुनिको भेंट किया और उसकी पूजा करता रहा। मरकर वह उसी ग्रामके स्वामीका पुत्र हुआ। बड़ा होनेपर उसे पूर्वजन्मका स्मरण हुआ। मुनिदीक्षा लेकर वह कौण्डेश नामसे प्रसिद्ध जैनाचार्य हुआ। अतः चारों प्रकारका दान करना उचित है ॥७०॥

आगे कहते हैं कि जिनधर्मकी परम्परा चालू रखनेके लिए नवीन मुनियोंको उत्पन्न करनेका और विद्यमान मुनियोंके गुणोंमें विशेषता लानेका प्रयत्न करना चाहिए—

जैसे गृहस्थ अपने वंशकी परम्परा चलानेके लिए सन्तान उत्पन्न करता है और उसे गुणी बनानेका प्रयत्न करता है उसी तरह उसे लोकोपकारी जैनधर्मकी परम्पराको चालू रखनेके लिए नवीन मुनियोंको उत्पन्न करनेका और वर्तमान मुनियोंको श्रुतज्ञान आदिसे उत्कृष्ट बनानेका प्रयत्न करना चाहिए ॥७१॥

'आजकल पुरुषोंके दुष्कर्म बढ़ते जाते हैं, उनके गुणोंमें कोई उन्नति नहीं देखी जाती, अतः उसके उत्पन्न करनेका प्रयत्न निष्फल है' गृहस्थोंके इस प्रकारके निरुत्साहका निषेध करते हैं—

पंचमकालके अथवा पापकर्मके दोषसे मुनियोंके गुणोंमें विशेषता लानेके प्रयत्नके सार्थक नहीं होनेपर भी जो प्रयत्न करता है, उसका कल्याण अवश्य होता है। और यदि उसमें सफलता मिलती है तो उस प्रयत्नके करनेवाले मनुष्यका तथा साधर्मिजनों और जन-साधारणका महान् लाभ है ॥७२॥

महाव्रत अथवा अणुव्रतका पालन करनेवाली स्त्रियाँ भी धर्मपात्र होनेसे पात्रदानके योग्य हैं, इसका समर्थन करते हैं—

आर्यिकाः श्राविकाश्चापि सत्कुर्याद् गुणभूषणाः ।
चतुर्विधेऽपि सङ्घे यत्फलत्युप्तमनल्पशः ॥७३॥

स्पष्टं ॥७३॥

एवं धर्मपात्रानुग्रहं गृहस्थस्यावश्यकार्यतयोपदिश्य सम्प्रति कार्यपात्रानुग्रहविध्युपदेशार्थमाह—

धर्मार्थकामसध्रीचो यथौचित्यमुपाचरन् ।
सुधीस्त्रिवर्गसंपत्त्या प्रेत्य चेह च मोदते ॥७४॥

सध्रीचः—सहायान् ॥७४॥

एवं समदत्तिं पात्रदत्तिं च प्रबन्धेनाभिधायेदानीं दयादत्तिं विधेयतमत्वेनोपदिशन्नाह—

सर्वेषां देहिनां दुःखाद् बिभ्यतामभयप्रदः ।
दयार्द्रो दातृधौरेयो निर्भीः सौरूप्यमश्नुते ॥७५॥

दातृधौरेयः—अन्नादिदातृणामग्रणीः । यदाह—

'तेनाधीतं श्रुतं सर्वं तेन तप्तं परं तपः ।
तेन कृत्स्नं कृतं दानं यः स्यादभयदानवान् ॥' [सो. उपा. ७७५]

अपि च—

'धमार्थकाममोक्षाणां जीवितं मूलमिष्यते ।
तद्रक्षता न किं दत्तं हरता तन्न किं हृतम् ॥' [अमि. श्रा. ११।२]

श्रुत-तप-शील आदि गुणोंसे सुशोभित उपचरित महाव्रतकी धारी आर्यिकाओं और यथाशक्ति मूलगुण और उत्तर गुणोंकी धारी श्राविकाओंको तथा 'अपि' शब्दसे गुणभूषित किन्तु व्रतरहित नारियोंका भी गृहस्थको विनय आदि पूर्वक सत्कार करना चाहिए। क्योंकि मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविकाके भेदसे चतुर्विध संघमें दिया गया ज्ञान बहुत फल देता है ॥७३॥

विशेषार्थ—आशय यह है कि जिनबिम्ब, जिनालय और जिनवाणीमें व्यय किया गया धन ही बहुफल दायक नहीं होता, किन्तु चतुर्विध संघमें दिया गया दान भी बहु फल-दायक होता है। इस तरह गृहस्थके धन खर्च करनेके लिए ये सात स्थान जानने चाहिए ॥७३॥

इस प्रकार धर्मपात्रोंपर अनुग्रह करना गृहस्थका आवश्यक कर्तव्य बतलाकर अब कार्यपात्रोंपर अनुग्रह करनेका उपदेश देते हैं—

धर्म, अर्थ और काममें सहायकोंका यथायोग्य उपकार करनेवाला बुद्धिशाली गृहस्थ इस लोकमें और परलोकमें धर्म, अर्थ और कामरूप सम्पदासे सम्पन्न होकर आनन्दित होता है ॥७४॥

विशेषार्थ—जो धर्ममें सहायक ज्ञानी तपस्वीजन हैं, अर्थमें सहायक मुनीम गुमाश्ते हैं और काममें सहायक पत्नी है, इन सभीका यथायोग्य सत्कार करनेसे गृहस्थाश्रम सानन्द रहता है ॥७४॥

इस प्रकार समदत्ति और पात्रदत्तिको विस्तारसे कहनेके बाद अब दयादत्तिको अवश्य करणीय कहते हैं—

शारीरिक और मानसिक दुःखसे डरनेवाले सब प्राणियोंको अभयदान देनेवाला दयालु अन्न आदिका दान देनेवालोंमें अग्रणी होता है तथा वह सब ओरसे भयरहित होकर सौरूप्यको प्राप्त होता है ॥७५॥

'दानमन्यद्भवेन्मा वा नरश्चेदभयप्रदः ।
सर्वेषामेव दानानां यतस्तद्दानमुत्तमम् ॥' [सो. उपा. ७७४]
'यो भूतेष्वभयं दद्यात् भूतेभ्यस्तस्य नो भयम् ।
यादृग्वितीर्यते दानं तादृगभ्यास्यते फलम् ॥' [ ]

सौरूप्यं । उक्तं च—

'मनोभूरिव कान्ताङ्गः सुवर्णाद्रिरिव स्थिरः ।
सरस्वानिव गम्भीरो विवस्वानिव भास्वरः ॥
आदेयः सुभगः सौम्यस्त्यागी भोगी यशोनिधिः ।
भवत्यभयदानेन चिरजीवी निरामयः ॥
तीर्थकृच्चक्रिदेवानां सम्पदो बुधवन्दिताः ।
क्षणेनाभयदानेन दीयन्ते दलितापदः ॥' [अमि. श्रा. ११।९-११] ॥७५॥
भृत्वाऽऽश्रितानवृत्याऽऽर्तान्कृपयाऽनाश्रितानपि ।
भुञ्जीताह्न्यम्बुभैषज्य-ताम्बूलैलादि निश्यपि ॥७६॥

आदिशब्देन जातिफलकर्पूरादिमुखवासनप्रायद्रव्यपरिग्रहः ॥७६॥

विशेषार्थ—सोमदेव सूरिने अभयदानकी प्रशंसा करते हुए कहा है—जिसने अभय दान दिया उसने समस्त शास्त्रोंका अध्ययन कर लिया, उत्कृष्ट तप तथा और सब दान दिया। यदि मनुष्यने अभयदान दिया तो वह अन्य दान देवे या न देवे। क्योंकि अभयदान सब दानोंमें श्रेष्ठ है। जो प्राणियोंको अभयदान देता है उसे प्राणियोंसे कोई भय नहीं रहता। ठीक ही है जैसा दान दिया जाता है वैसा ही फल प्राप्त होता है। आचार्य अमितगतिने कहा है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका मूल जीवन है जिसने उसकी रक्षा की उसने क्या नहीं दिया और जिसने उसे हर लिया उसने क्या नहीं हर लिया। अभयदानसे कामदेवकी तरह सुन्दर शरीर, सुमेरु पर्वतकी तरह स्थिर, समुद्रकी तरह गम्भीर, सूर्यकी तरह प्रकाशमान तथा सौभाग्यशाली, सौम्य, त्यागी, भोगी, यशस्वी, नीरोग और चिरंजीवि होता है। अभयदानसे तीर्थंकर, चक्रवर्ती और देवोंकी विभूति क्षणमात्रमें प्राप्त होती है तथा आपत्तियाँ दूर होती हैं ॥७५॥

पहले कहा था कि श्रावकको धर्म और यशके कार्य करना चाहिए। उसीका विस्तार करते हुए अपने आश्रितोंके भरण-पोषण और दया बुद्धिसे जो अपने आश्रित नहीं हैं उनका भी भरण-पोषण करनेकी प्रेरणा करते हुए दिनमें भोजनका उपदेश देते हैं—

जीविकाके न होनेसे दुःखी अपने आश्रित मनुष्यों और तिर्यंचोंको तथा दयाभावसे जो अपने आश्रित नहीं हैं उनका भरण-पोषण करके गृहस्थको दिनमें भोजन करना चाहिए। तथा रात्रिमें भी जल, औषधी, पान, इलायची आदि ले सकता है ॥७६॥

विशेषार्थ—यह कथन पाक्षिक श्रावकके लिए है। पाक्षिक श्रावकको चारों प्रकारका आहार तो दिनमें ही करना चाहिए, रात्रिमें केवल औषधि, जल और मुखको शुद्ध तथा सुवासित करनेवाले द्रव्य ही खाना चाहिए। केवल अन्न मात्र रात्रिमें न लेनेकी और उसके सिवाय अन्य सब कुछ खानेकी परम्परा आगमिक नहीं है, लौकिक है। किन्तु आज तो

१. 'ताम्बूलमौषधं तोयं मुक्त्वाऽऽहारादिकां क्रियाम् ।
प्रत्याख्यानं प्रदीयेत यावत्प्रातर्दिनं भवेत्' ॥ [ ]

सेव्यानामप्यर्थानां सेवायामसम्भवत्यां कालपरिच्छित्या प्रत्याख्येयतामुपदिश्य तत्प्रत्याख्यानं फलवत्तया समर्थयते—

यावन्न सेव्या विषयास्तावत्तानाप्रवृत्तितः ।
व्रतयेत्सव्रतो दैवान्मृतोऽमुत्र सुखायते ॥७७॥

स्पष्टम् ॥७७॥

अथ 'तपश्चर्यं च शक्तितः' इत्युक्तं तद्विशेषविधिमभिधत्ते—

पञ्चम्यादिविधिं कृत्वा शिवान्ताभ्युदयप्रदम् ।
उद्योतयेद्यथासंपन्निमित्ते प्रोत्सहेन्मनः ॥७८॥

पं........॥७८॥

समीक्ष्य व्रतमादेयमात्तं पाल्यं प्रयत्नतः ।
छिन्नं दर्पात्प्रमादाद्वा प्रत्यवस्थाप्यमञ्जसा ॥७९॥

संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः ।
निवृत्तिर्वा [1]व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि ॥८०॥

उसका भी निर्वाह नहीं किया जाता। इस समय रात्रिभोजन जैनोंमें भी अजैनोंकी तरह ही प्रवर्तित है। यह बड़े खेदकी बात है। धार्मिकोंको इस ओर ध्यान देना चाहिए ॥७६॥

सेवनीय पदार्थ भी जबतक सेवनमें न आवें तबतक कालकी मर्यादा करके उनको त्यागनेका उपदेश देते हुए उसका फल बतलाते हैं--

जितने काल तक स्त्री, ताम्बूल आदि विषयोंके सेवन करनेकी सम्भावना न हो तबतक उन विषयोंका त्याग कर देना चाहिए। दैववश यदि व्रतके साथ मरण हुआ तो परलोकमें सुखको भोगता है ॥७७॥

पहले कहा था कि शक्तिके अनुसार तप भी करना चाहिए, उसीका विशेष कथन करते हैं—

इन्द्र चक्रवर्ती आदिके पदोंके साथ अन्तमें मोक्ष प्रदान करनेवाले पुष्पांजलि मुक्तावली रत्नत्रय आदि विधानको करके सम्पत्तिके अनुसार उद्यापन करना चाहिए। तथा नित्य कृत्यकी अपेक्षा नैमित्तिक अनुष्ठानमें मनको अधिक उत्साहित करना चाहिए ॥७८॥

अब व्रतोंको लेना, उनका रक्षण करना, यदि व्रत भंग हो जाये तो प्रायश्चित्त लेकर पुनः व्रत लेनेका उपदेश करते हैं—

अपने कल्याणके इच्छुक गृहस्थको अपनी तथा देश, काल, स्थान और सहायकोंकी अच्छी तरह समीक्षा करके व्रत ग्रहण करना चाहिए। और ग्रहण किये हुए व्रतको प्रयत्नपूर्वक पालना चाहिए। प्रमादसे या मदमें आकर यदि व्रतमें दोष लग जाये तो तत्काल प्रायश्चित्त लेकर पुनः व्रत ग्रहण करना चाहिए ॥७९॥

आगे व्रतका स्वरूप कहते हैं—

सेवनीय अपनी स्त्री और ताम्बूल आदिके विषयमें संकल्पपूर्वक नियम लेना, अथवा संकल्पपूर्वक अशुभ कर्म हिंसा आदिसे विरक्त होना, या संकल्पपूर्वक पात्रदान आदि शुभ कर्ममें प्रवृत्ति करना व्रत है ॥८०॥

---

१. 'व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः' ।—सर्वार्थ. ७।१।

न हिंस्यात्सर्वभूतानीत्यार्षं धर्मी[1] प्रमाणयन् ।
सागसोऽपि सदा रक्षेच्छक्त्या किं नु निरागसः ॥८१॥
....जन्तूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत् ॥८१॥ १
आरम्भेऽपि सदा हिंसां सुधीः साङ्कल्पिकीं त्यजेत् ।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः ॥८२॥
............किं अमुष्मतः स मासाद्यर्थित्वेन हन्मीति संकल्पपूर्विकाम्...........। ६
'[अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि-] न पापभाक् ।
अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥' [सो. उपा. ३४१] ॥८२॥

विशेषार्थ—यह इतनी वस्तु मैं इतने काल तक सेवन नहीं करूँगा, अथवा यह इतनी वस्तु इतने काल तक मैं सेवन करूँगा, इस प्रकारसे मनमें निर्णय करके नियम लेनेको व्रत कहते हैं। जबतक संकल्पपूर्वक नियम नहीं लिया जाता तबतक व्रत नहीं कहाता। नियम करनेसे मन उस वस्तुकी ओरसे निवृत्त हो जाता है। अन्यथा सेवनकी भावना बनी रहती है ॥८०॥

आगम विशेषपर विश्वासका आलम्बन लेकर प्राणिरक्षाका उपदेश देते हैं—

'समस्त त्रस और स्थावर जीवोंको नहीं मारना चाहिए' इस प्रकारके ऋषियोंके वचनको 'यही सत्य है' इस प्रकार प्रमाण माननेवाले धार्मिकको अपराध करनेवाले जीवोंकी भी सदा रक्षा करनी चाहिए। तब जो निरपराधी हैं उनका तो कहना ही क्या है? उनकी रक्षा तो अवश्य ही करनी चाहिए ॥८१॥

विशेषार्थ—'मा हिंस्यात्सर्वभूतानि'—सब प्राणियोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिए यह श्रुतिवचन है। जो वेदपर श्रद्धा रखते हैं उन्हें इस श्रुतिवाक्यको प्रमाण मानकर अपराधी जीवोंका भी प्राण नहीं लेना चाहिए। मनुस्मृतिमें कहा है—'जो अपने सुखके लिए अहिंसक जीवोंका वध करता है वह जीता हुआ और मरकर भी सुखी नहीं होता'[2] ॥८१॥

संकल्पी हिंसाके त्यागका उपदेश देकर दृष्टान्तके द्वारा उसका समर्थन करते हैं—

हिंसाके फलको निश्चित रूपसे जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष कृषि आदि आरम्भ करते हुए भी संकल्पी हिंसाको छोड़े। क्योंकि मारते हुए भी किसानसे नहीं मारता हुआ भी मछलीमार अधिक पापी है ॥८२॥

विशेषार्थ—हिंसाका पालन इसलिए अशक्य-जैसा प्रतीत होता है क्योंकि ऐसी कोई क्रिया नहीं है जिसमें हिंसा न होती हो। किन्तु इसीलिए जैन धर्ममें हिंसाके अनेक भेद करनेके साथ ही गौण और मुख्य भावोंपर विशेष बल दिया है। हिंसाके मुख्य दो भेद हैं—अनारम्भी या संकल्पी हिंसा और आरम्भी हिंसा। 'मैं मांस आदिके लिए अमुक प्राणीको मारूँ' यह संकल्पी हिंसा है। किन्तु आरम्भमें होनेवाली हिंसाको टालना तो अशक्य है क्योंकि गृहस्थाश्रम आरम्भके बिना चल नहीं सकता और आरम्भमें हिंसा अवश्य होती है। अतः आरम्भमें भी संकल्पी हिंसा नहीं करनी चाहिए। आरम्भी हिंसा करनेवालेसे संकल्पी हिंसा

१. धर्मे मु.।

२. 'योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥'—मनुस्मृ. ५।४५।

अथ परे [विधेयतया व्यवस्थाप्यमानं हिंस्रादिप्राणिनो वधं प्रतिविधातुमाह—]

हिंस्र-दुःखि-सुखि-प्राणिघातं कुर्यान्न जातुचित् ।
अतिप्रसङ्ग-श्वभ्रार्ति-सुखोच्छेदसमीक्षणात् ॥८३॥

[अत्र केचिदाहुः हिंस्रजीवा हन्तव्याः] हिंस्रे ह्येकस्मिन् हते भूयसां रक्षा कृता भवति । ततश्च धर्मा[-धिगमः पापोपरमश्च स्यात्] इति तदयुक्तमतिप्रसङ्गात् । सर्वेषां प्राणिनां हिंस्रतया [हन्तव्यतानुषङ्गात् । तथा च लाभमिच्छतां तथावादिनां मूलोच्छेदः स्यात् । न च बहुरक्षणाभिप्रायेणापि हिंस्रं हिंसतो धर्मः पा-]पोच्छेदो वा युज्यते दयामूलत्वात्तयोः । उक्तं च—

'केचिद् वदन्ति...हन्तव्यता स्यात् । लाभमिच्छार्मूलक्षतिः स्फुटा ।
अहिंसा......हेतुः कालकूटं चेविवतायन जायते ॥'

यच्च संसारमोचकाः [प्रचक्षते दुःखिनो जीवा हन्तव्यास्तेषां विनाशे दुःखविनाशसंभवादिति । तदप्ययुक्तं तेषां स्वल्पदुःखाना निहताना नरकेऽनन्त] दुःखसंयोजनाया दुर्निवारत्वात् । उक्तं च—

'दुःखवतां भवति वधे धर्मो नेदमपि युज्यते वक्तुम् ।
मरणे नरके दुःखं घोरतरं वार्यते केन ॥' [अमि. श्रा. ६।३९]

करनेवाला अधिक पापी होता है। उदाहरणके लिए एक किसान खेत जोत रहा है और खेत जोतनेसे बहुत-से जीवोंका घात हो रहा है। तथा एक मछलीमार पानीमें जाल डाले बैठा है उस समय वह किसी की जान नहीं लेता। फिर भी किसानसे मछलीमार अधिक पापी है। क्योंकि किसानका भाव जीव मारनेका नहीं है अन्न पैदा करनेका है और मछलीमारका भाव मछली मारनेका है। अतः दोनोंके भावोंमें बहुत भेद है ॥८२॥

कुछ लोग हिंसक आदि प्राणियोंको मारनेका विधान करते हैं। उनका निषेध करते हैं—

हिंसक, दुःखी और सुखी प्राणीका घात कभी भी नहीं करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करनेसे अतिप्रसंग, नरककी पीड़ा और सुखका विनाश देखा जाता है ॥८३॥

विशेषार्थ—कुछ लोग कहते हैं कि हिंसक जीवोंको मार देना चाहिए, क्योंकि एक शेर वगैरहको मार देनेपर बहुत-से जीवोंकी रक्षा हो जाती है। और ऐसा होनेसे धर्मकी प्राप्ति और पापसे छुटकारा होता है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, इसमें तो अतिप्रसंग आता है। क्योंकि यदि यह नियम बनाया जाता है कि हिंसकको मार देना चाहिए तो जो हिंसकको मारेगा वह भी हिंसक होगा। तब उसे भी मार देना चाहिए। उसे जो मारेगा वह भी हिंसक होगा। अतः उसे भी मार देना होगा। इस तरह सभीके हिंसक होनेसे सभीको मार डालनेका प्रसंग आयेगा। तब लाभके बदलेमें मूलका ही उच्छेद हो जायेगा। तथा बहुत जीवोंकी रक्षाके अभिप्रायसे हिंसकको मारनेवालेको न तो धर्म ही होना सम्भव है और न पापका ही उच्छेद होना सम्भव है। क्योंकि उनका मूल तो दया है। पहले एक मतवालोंका कहना था कि दुःखी जीवोंको मार देना चाहिए इससे वे दुःखसे छूट जाते हैं। किन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ तो उन्हें कम दुःख है। यदि मरनेपर वे नरकमें गये तो उनको अनन्त दुःख उठाना होगा। कहा है—दुखी जीवोंको मरनेमें धर्म होता है ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि मरनेपर नरकके घोर दुःखसे कौन बचा सकता है। किन्हीं-का मत है कि संसारमें सुख दुर्लभ है अतः सुखी जीवोंको मार देना चाहिए क्योंकि सुखी जीव मरकर अगले भवमें सुखी ही होंगे। यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि सुखीको

अन्ये त्वाहुः—सुखिनो हन्तव्याः यतः संसारे सुखं दुर्लभं, सुखिनश्च हताः सुखिन एव भवन्तीति। तदप्यसङ्गतं, सुखिनां हन्यमानानां दुःखावेशेन सुखोच्छेदस्यावश्यं भावात्, दुःखमृत्युना च दुर्ध्यानानुसन्धानाद्दुरन्तदुर्गतिदुःखावर्तनिर्वर्तनात्। तदलमतिप्रसङ्गेन। स्वगता परगता वा यथाकथंचित् क्रियामाणा हिंसा न धर्माय स्यात्। किं तर्हि? पातकसंभवायैवेति प्रतिपद्यमानैर्यथाशक्तितत्परित्यागे धर्मार्थिभिः सततं यतितव्यमित्याप्तसूत्रोपनिषत्। यदाह—

'को नाम विशतिमोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥' [पुरुषार्थ. ९०] ॥८३॥

अथ पाक्षिकस्य दृग्विशुद्ध्यर्थां लोकानुवृत्त्यर्थाश्च क्रियाः कृत्यतयोपदिशति—

स्थूललक्षः क्रियास्तीर्थयात्राद्या दृग्विशुद्धये।
कुर्यात्तथेष्टभोज्याद्याः प्रीत्या लोकानुवृत्तये ॥८४॥

स्थूललक्षः—स्थूलव्यवहारं लक्षयत्यालोचयतीति स्थूललक्षो व्यवहारप्रधानो बहुप्रदश्च। तीर्थयात्रा—तीर्थान्यूर्जयन्तादीनि पुण्यपुरुषाध्युषितस्थानानि। तेषु यात्रा—गमनम्। आद्यशब्देन रथयात्रा-क्षपकयात्रा-निषिद्धिकागमनादयः। इष्टभोज्याद्याः—सधर्म-स्वजन-मित्रादयो भोज्यन्ते-स्वगृहे भोजनं कार्यन्ते यस्यां सा इष्टभोज्या क्रिया। आद्यशब्देनातिथिपूजन-भूतबल्यादयः। अत्राह श्रीसोमदेवपण्डितः—

'आवेशिकातिथिज्ञातिदीनात्मसु यथाक्रमम्।
यथौचित्यं यथाकालं यज्ञपंचकमाचरेत् ॥' [सो. उपा. ७९५]

मारनेपर उसे दुःख होगा। और इससे उसके सुखका विनाश अवश्य होगा। तथा दुःखपूर्वक मरण करनेसे खोटे ध्यानके प्रभावसे दुर्गतिमें जन्म लेना होगा और तब वहाँ दुःखोंका अन्त नहीं रहेगा। इस प्रकार पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें हिंसाके सम्बन्धमें बहुत-से प्रचलित विकल्पोंका निराकरण किया है। अतः किसी भी प्रकारसे की गयी हिंसा धर्मके लिए नहीं होती। किन्तु पापके ही लिए होती है। इसलिए धर्मार्थीको यथाशक्ति हिंसाको छोड़नेमें प्रयत्नशील रहना चाहिए ॥८३॥

पाक्षिक श्रावकको सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि और लोगोंको अपने अनुकूल करनेके लिए करने योग्य क्रिया बतलाते हैं—

व्यवहारको प्रधानता देनेवाले पाक्षिक श्रावकको सम्यग्दर्शनको निर्मल करनेके लिए तीर्थयात्रा आदि क्रिया करनी चाहिए। तथा लोगोंके चित्तको अनुकूल करनेके लिए प्रेमपूर्वक जीमनवार आदि करना चाहिए ॥८४॥

विशेषार्थ—पाक्षिक श्रावकका आचार व्यवहार प्रधान होता है अतः उसे तीर्थयात्रा,

---

१. 'रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम् ॥
बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीया शरीरिणो हिंस्राः ॥
बहुदुःखाः संज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ॥
कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः।
सुखिन एव इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥—पुरुषार्थ. ८३-८६ श्लो.।

'होमभूतबली पूर्वेद्युको भक्तविशुद्धये ।
भुक्त्यादौ सलिलं सर्पिरूभस्यं च रसायनम् ॥
एतद्विधिर्न धर्माय नाधर्माय तदक्रिया ।
दर्भपुष्पाक्षतश्रोतृवन्दनादि विधानवत् ॥'

तथा—

'बहिर्विहृत्य संप्राप्तो नानाचम्य गृहं विशेत् ।
स्थानान्तरात्समायातं सर्वं प्रोक्षितमाचरेत् ॥'

[सो. उपा. ४७४, ४७५, ४७१] इत्यादि ॥८४॥

अथ श्रेयोर्थिनः कीर्तेरप्यर्जनीयत्वमाह—

अकीर्त्या तप्यते चेतश्चेतस्तापोऽशुभास्रवः ।
तत्तत्प्रसादाय सदा श्रेयसे कीर्तिमर्जयेत् ॥८५॥

अशुभास्रवः—पापहेतुः ॥८५॥

अथ कीर्त्युपार्जनोपायमाह—

परासाधारणान् गुण्यप्रगण्यानघमर्षणान् ।
गुणान् विस्तारयेन्नित्यं कीर्तिविस्तारणोद्यतः ॥८६॥

गुण्यप्रगण्यान्—गुणवद्भिः प्रकर्षेण माननीयान् । अघमर्षणान्—पापध्वंसिनः । गुणान्—दानसत्यशौचशीलादीन् ॥८६॥

रथयात्रा आदि करना चाहिए इससे उसकी श्रद्धामें प्रगाढ़ता और निर्मलता आती है। पहले लोग तीर्थयात्रासे लौटनेपर अपने इष्टमित्रों और साधर्मियोंको अपने घरपर भोजन कराया करते थे। इससे साधर्मी वात्सल्यमें वृद्धि होती है ॥८४॥

आगे यश कमानेपर भी जोर देते हैं—

यश न होनेसे मनुष्यके मनमें संक्लेश रहता है और चित्तमें संक्लेशके रहनेसे अशुभ कर्मोंका आस्रव होता है। इसलिए चित्तकी प्रसन्नताके लिए, जो कि पुण्य संचयका कारण है, सदा यश उपार्जन करना चाहिए ॥८५॥

विशेषार्थ—मनुष्य चाहता है कि लोगोंमें—समाजमें मेरा यश हो, लोग मेरे कार्योंकी बड़ाई करें। यदि ऐसा नहीं होता तो उसके मनमें दुःख रहता है। दुःखरूप परिणामोंसे पापकर्मका बन्ध होता है। अतः कल्याणके लिए पुण्यकर्मका उपार्जन आवश्यक है। और उसके लिए मनमें प्रसन्नता रहना जरूरी है। इसलिए गृहस्थको ऐसे भी काम करना चाहिए जिससे लोकमें ख्याति हो ॥८५॥

यश कमानेके उपाय कहते हैं—

अपना यश फैलानेमें तत्पर गृहस्थको दूसरोंमें न पाये जानेवाले, और गुणवानोंके द्वारा अति माननीय तथा पापोंका विनाश करनेवाले दान, सत्य, शौच, शील आदि गुणोंको नित्य बढ़ाना चाहिए ॥८६॥

विशेषार्थ—इन्होंने कीर्ति फैलानेका उपाय सद्गुणोंको फैलाना बतलाया है। यह कठिन है। किन्तु यथार्थमें यश तो सद्गुणोंके फैलावसे ही मिलता है। अन्यायसे धन उपार्जन करके उससे यश कमाना लौकिक दृष्टिमें भले ही उत्तम माना जाये। किन्तु सद्गुणोंके प्रकारमें योगदानसे अपना और सबका कल्याण होता है ॥८६॥

अथैवंविधाचारपरस्य श्रावकस्योत्तरोत्तरभूमिकाश्रयणेन सकलविरतिपदाधिरोहणविधिमुपदिशति—

सैष: प्राथमकल्पिको जिनवचोऽभ्यासामृतेनासकृ-
न्निर्वेदद्रुममावपन् शमरसोद्‍गारोद्धुरं बिभ्रति।
पाकं कालिकमुत्तरोत्तरमहान्त्येतस्य चर्याफला-
न्यास्वाद्योद्यतशक्तिरुद्धचरितप्रासादमारोहतु ॥८७॥

सैष:—स एष इत्यर्थ:। पादपूरणेऽत्र सेर्लोप:। प्राथमकल्पिक:—प्रारब्धदेशसंयम:। आवपन्—सिञ्चन्। उद्‍गार—अभिव्यक्ति:। कालिकं—कालकृतम्। चर्या:—दर्शनिकादिप्रतिमा:। उद्धचरितं—सल्लेखनान्तो यतिधर्म इति। भद्रम् ॥८७॥

इत्याशाधरदृब्धायां धर्मामृतपञ्जिकायां ज्ञानदीपिकापर-
संज्ञायामेकादशोऽध्याय:।

इस प्रकार पाक्षिकके आचारमें तत्पर श्रावकके उत्तरोत्तर प्रतिमाओंपर आरोहण करते हुए मुनिपद धारण करनेकी कामना करते हैं—

वही पाक्षिक श्रावक बार-बार जिनागमकी भावनारूप अमृतके द्वारा संसार शरीर भोगोंसे वैराग्यरूप वृक्षको सींचता हुआ, शान्तिरूपी रसकी अभिव्यक्तिसे लबालब भरे हुए काल पाकर पकनेवाले और उत्तरोत्तर महान् उस वृक्षके चारित्ररूपी फलोंको खाकर शक्तिके बढ़ जानेपर मुनिधर्मरूपी महलपर आरोहण करे ॥८७॥

विशेषार्थ—यहाँ वैराग्यको एक वृक्ष माना है। जैसे वृक्षको जलसे सींचते हैं वैसे ही यह वैराग्यरूपी वृक्ष बार-बार जिनेन्द्रके वचनोंके अभ्यासरूपी जलसे सींचा जाता है। फिर उसपर पहली, दूसरी, तीसरी आदि प्रतिमाके आचाररूप फल लगते हैं, जो समय पाकर पकते हैं और उत्तरोत्तर महान् होते हैं अर्थात् उत्तरोत्तर प्रतिमाओंमें चारित्र बढ़ता जाता है। तथा उन चारित्ररूपी फलोंमें शान्तिरूपी रस भरा होता है। उसके सेवनसे श्रावककी शक्ति बढ़ती जाती है और तब वह मुनिपद धारण करके सल्लेखनापूर्वक मरण करता है ॥८७॥

इस प्रकार पं. आशाधर रचित धर्मामृतके अन्तर्गत सागारधर्मकी भव्यकुमुद चन्द्रिका टीका तथा ज्ञानदीपिका पञ्जिकाकी अनुसारिणी हिन्दी टीकामें प्रारम्भसे ग्यारहवाँ और इस सागारधर्मकी अपेक्षा दूसरा अध्याय समाप्त हुआ॥

द्वादश अध्याय (तृतीय अध्याय)

अथ नैष्ठिकं दर्शयन्नाह—

देशयमघ्नकषायक्षयोपशमतारतम्यवशतः स्यात् ।
दर्शनिकाद्येकादशदशावशो नैष्ठिकः सुलेश्यतरः ॥१॥

देशयमघ्नाः—अप्रत्याख्यानावरणाख्याः । वशः—सामर्थ्यम् । दर्शनं निर्मलं मद्यादिविरत्याहिताशयं सम्यक्त्वमस्यास्तीत्यतिशायने ठावत इति ठः । एवं व्रतिकादयस्त्रयो व्युत्पाद्याः । उक्तं च—

'दंसण-वद-सामायिय-पोसह-सच्चित्त-राइभत्तेय ।
ब्रह्मारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठदेशविरदेदे ॥' [गो. जी. ४७६]

सुलेश्यतरः । लिम्पति स्वीकरोति पुण्यपापे स्वयं जीवो यया सा लेश्या ।
उक्तं च—

'लिम्पत्यात्मीकरोत्यात्मा पुण्यापुण्यैर्यथा स्वयम् ।
सा लेश्येत्युच्यते सद्भिर्द्विविधा द्रव्यभावतः ॥' [ ]

अथवा लिशत्यल्पीकरोत्यात्मानमिति लेश्या । कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिः । सैषा भावतः द्रव्यतस्तु शरीरच्छविर्लेश्या । सा च द्वितय्यपि कृष्णादिभेदात् षोढा । उक्तं च—

'प्रवृत्तिर्यौगिकी लेश्या कषायोदयरञ्जिता ।
भावतो द्रव्यतो देहच्छविः षाढोभयी मता ॥
कृष्णा नीलाथ कापोती पीता पद्मा सिता स्मृता ।
लेश्या षड्भिः सदा ताभिः गृह्यते कर्म जन्मिभिः ॥' [अमित. पञ्चसं. १।२५३-२५४]

नैष्ठिकका लक्षण कहते हैं—

देशचारित्रको घातनेवाली कषायके क्षयोपशमके उत्तरोत्तर उत्कर्षके कारण दर्शनिक आदि ग्यारह अवस्थाओंके अधीन तथा पाक्षिक की अपेक्षा उत्तम लेश्यावाला नैष्ठिक श्रावक होता है ॥१॥

विशेषार्थ—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ नामक कषाय देशचारित्रको घातती हैं। उसके क्षय अर्थात् उदयके अभावके साथ प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे विशिष्ट सदवस्थारूप उपशमको क्षयोपशम कहते हैं। यह क्षयोपशम पहलेसे दूसरी, दूसरीसे तीसरी, इस तरह ऊपरकी प्रतिमाओंमें बढ़ता जाता है। इसीके कारण दर्शनिक, व्रतिक आदि ग्यारह अवस्थाएँ होती हैं। उन सब अवस्थावाले श्रावक नैष्ठिक कहलाते हैं। उनके उत्तरोत्तर उत्तम लेश्या होती है। यहाँ लेश्याका वर्णन किया जाता है। जिसके द्वारा जीव अपनेको पुण्य-पापसे लिम्पित करता है उसे लेश्या कहते हैं। लेश्याके दो भेद हैं—भावलेश्या और द्रव्य-लेश्या। कषायके उदयसे रंगी मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको भावलेश्या कहते हैं। और शरीरके रंगको द्रव्यलेश्या कहते हैं। प्रत्येकके छह भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। प्रारम्भकी तीन लेश्या कषायकी तीव्रतामें होती हैं, शेष तीन कषायकी मन्दतामें होती हैं।

अपि च—

'योगाविरतिमिथ्यात्व-कषायजनितोऽङ्गिनाम् ।
संस्कारो भावलेश्यास्ति कल्मषास्रवकारणम् ॥
कापोती कथिता तीव्रो नीला तीव्रतरो जिनैः ।
कृष्णा तीव्रतमो लेश्या परिणामः शरीरिणाम् ॥
पीता निवेदिता मन्दः पद्मा मन्दतरो बुधैः ।
शुक्ला मन्दतमस्तासां वृद्धिः षट्स्थानयायिनी ॥
निर्मूलस्कन्धयोश्छेत्तुं भावाः शाखोपशाखयोः ।
उच्चये पतितादाने भावलेश्या फलार्थिनाम् ॥
षट् षट् चतुर्षु विज्ञेयास्तिस्रस्तिस्रः शुभास्त्रिषु ।
शुक्ला गुणेषु षट्स्वेका लेश्या निर्लेश्यमन्तिमम् ॥' [अमित. पं. सं. १।२६१-२६५]

तत्कर्माणः क्रमेण यथा—

'रागद्वेषग्रहाविष्टो दुर्ग्रहो दुष्टमानसः ।
क्रोधमानादिभिस्तीव्रैर्ग्रस्तोऽनन्तानुबन्धिभिः ॥
निर्दयो निरनुक्रोशो मद्यमांसादिलम्पटः ।
सर्वदा कदनासक्तः कृष्णलेश्यान्वितो नरः ॥
कोपी मानी मायी लोभी रागी द्वेषी मोही शोकी ।
हिंस्रः क्रूरश्चण्डश्चोरो मूर्खः स्तब्धः स्पर्धाकारी ॥
निद्रालुः कामुको मन्दः कृत्याकृत्यविचारकः ।
महामूर्छो महारम्भो नीललेश्यो निगद्यते ॥
शोकभीमत्सरासूया-परनिन्दा-परायणः ।
प्रशंसति सदात्मानं स्तूयमानः प्रहृष्यति ॥

जैसे कापोती तीव्र, नील तीव्रतर और कृष्णलेश्या तीव्रतम है। इसी तरह पीत मन्द, पद्म मन्दतर और शुक्ल मन्दतम है।

इन लेश्याओंमें षट्स्थान पतित हानि-वृद्धि हुआ करती है। एक दृष्टान्त द्वारा आगममें लेश्याओंका भाव स्पष्ट किया है कि छह पथिक जंगलमें मार्ग भूल गये। वे भूखे थे। उन्हें एक फलोंसे लदा वृक्ष मिला। एकने सोचा इस वृक्षको जड़से काटकर फल खायेंगे। उसके कृष्णलेश्या है। दूसरेने विचारा इसका तना काटकर फल खायेंगे। उसके नीललेश्या है। तीसरेके मनमें आया इसकी एक शाखा काटकर फल खायेंगे। उसके कापोतलेश्या है। चौथेके मनमें आया उपशाखा काटकर फल खायेंगे उसके पीतलेश्या है। पाँचवेंने विचारा पेड़पर चढ़कर फल तोड़कर खायेंगे उसके पद्मलेश्या है। छठेने विचारा—पेड़के नीचे गिरे फल चुनकर खायेंगे उसके शुक्ललेश्या है। प्रथम चार गुणस्थानोंमें छहों लेश्या होती हैं। पाँचवें, छठे, सातवें गुणस्थानोंमें तीन शुभलेश्या होती हैं। आठवेंसे तेरहवें तक छह गुणस्थानोंमें एक शुक्ललेश्या ही होती है। अन्तिम गुणस्थानमें लेश्या नहीं होती। इन लेश्यावाले जीवोंका लक्षण इस प्रकार है। जो राग द्वेष मदसे आविष्ट है, दुराग्रही है, दुष्ट अभिप्राय वाला है, अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभसे ग्रस्त है, निर्दयी है, मद्य मांसमें आसक्त है, अभक्ष्यभोजी है वह कृष्ण लेश्यावाला होता है। क्रोधी, मानी, मायाचारी, लोभी, रागी, द्वेषी, मोही,

वृद्धिहानी न जानाति न मूढः स्वपरान्तरम् ।
अहंकारग्रहग्रस्तः समस्तां कुरुते क्रियाम् ॥
श्लाघितो नितरां दत्ते रणे मर्तुमपीहते ।
परकीययशोध्वंसी युक्तः कापोतलेश्यया ॥
समदृष्टिरविद्विष्टो हिताहितविवेचकः ।
वदान्यो सदयो दक्षः पीतलेश्यो महामनाः ॥
शुचिर्दानरतो भद्रो विनीतात्मा प्रियंवदः ।
साधुपूजोद्यतः साधुः पद्मलेश्योऽनघक्रियः ॥
निर्निदानोऽनहंकारः पक्षपातोज्झितोऽशठः ।
रागद्वेषपराचीनः शुक्ललेश्यः स्थिराशयः ॥' [अमित. पं. सं. १।२७२-२८१]

शोभना तेजःपद्मशुक्लानामन्यतमा लेश्या यस्यासौ सुलेश्यः । सद्दृष्टिपाक्षिकाभ्यामतिशयेन सुलेश्यः सुलेश्यतरः, उत्तमसंवेगप्राप्तत्वात् । यदाह—

'तेजः पद्मा तथा शुक्ला लेश्यास्तिस्रः प्रशस्तिकाः ।
संवेगमुत्तमं प्राप्तः क्रमेण प्रतिपद्यते ॥' [ ]

लेश्याविशुद्ध्यादिनैव च महाव्रतिनोऽपि सद्गतिः । यदाह—

'यो यया लेश्यया युक्तः कालं कुर्यान्महाव्रती ।
तल्लेश्ययैव स स्वर्गे तल्लेश्यायुजि जायते ।' [ ] ॥१॥

अथ दर्शनिकादीनुद्दिशंस्तेषां गृहित्व-ब्रह्मचारित्व-भिक्षुकत्वानि जघन्य-मध्यमोत्तमत्वानि च विभक्तुमार्याद्वयमाह—

शोक करनेवाला, हिंसक, क्रूर, चोर, मूर्ख, ईर्ष्या करनेवाला बहुत सोनेवाला, कामुक, कृत्य-अकृत्यका विचार न करनेवाला, महा धन-धान्यमें अति आसक्त प्राणी नील लेश्यावाला होता है। बहुत शोक, बहुत भय करनेवाला, निन्दक, दूसरोंकी चुगली करनेवाला, दूसरोंका तिरस्कार करनेवाला, अपनी प्रशंसा करनेवाला, अपनी प्रशंसासे प्रसन्न होनेवाला, किसीका विश्वास न करनेवाला और अपनी ही तरह दूसरोंको भी माननेवाला, हानि-लाभकी परवाह न करनेवाला, युद्धमें मरने-मारनेको तैयार व्यक्ति कापोतलेश्यावाला है। सर्वत्र समदृष्टि, कृत्य-अकृत्य और हित-अहितको जाननेवाला, दया-दानमें लीन, विद्वान्, पीतलेश्यावाला होता है। त्यागी, क्षमाशील, भद्र, सरल परिणामी, साधुओंकी पूजामें तत्पर जीव पद्मलेश्या-वाला होता है। सर्वत्र समभावी, पक्षपातसे रहित, निदान न करनेवाला, और राग-द्वेषसे रहित आत्मा शुक्ललेश्यावाला होता है। जो उत्तम संवेग भाव रखता है उसके पीत-पद्म-शुक्ललेश्या होती है। पाक्षिकसे नैष्ठिककी लेश्या प्रशस्त होती है। तथा नैष्ठिकके भी ग्यारह भेदोंमें उत्तरोत्तर प्रशस्त लेश्या होती है। कहा है—'जो उत्तम संवेगभावको प्राप्त होते हैं उनके क्रमसे पीत-पद्म-शुक्ल तीन प्रशस्त लेश्या होती हैं।' लेश्याविशुद्धि आदिसे ही महाव्रतीकी भी सद्गति होती है। कहा है—'जो महाव्रती जिस लेश्यासे मरण करता है वह उस लेश्यासे ही उसी लेश्यावाले स्वर्गमें जन्म लेता है' ॥१॥

दर्शनिक आदिका नामोल्लेख करते हुए उनके गृहस्थ, ब्रह्मचारी और भिक्षुक तथा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद दो पद्योंसे कहते हैं—

दर्शनिकोऽथ व्रतिकः सामयिकी प्रोषधोपवासी च।
सचित्तदिवामैथुनविरतौ गृहिणोऽणुयमिषु हीनाः षट् ॥२॥
अब्रह्मारम्भपरिग्रहविरता वर्णिनस्त्रयो मध्याः।
अनुमतिविरतोद्दिष्टविरतावुभौ भिक्षुकौ प्रकृष्टौ च ॥३॥

अथ आनन्तर्यार्थः प्रत्येकं योज्यः। अणुयमिषु—श्रावकेषु मध्ये ॥२॥ भिक्षुकौ अल्पेकः प्रकृष्टौ च। चकाराद्-वर्णिनौ च। उक्तं च—

'षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः।
भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः ॥' [सो. उपा. ८५६]
'आद्यास्तु षट् जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः।
शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥' [चारित्रसार, पृ. २०] ॥३॥

अथ नैष्ठिकोऽपि यादृशः सन् पाक्षिकव्यपदेशं लभते तादृशं दर्शयति—

दुर्लेश्याभिभवाज्जातु विषये क्वचिदुत्सुकः।
स्खलन्नपि क्वापि गुणे पाक्षिकः स्यान्न नैष्ठिकः ॥४॥

दुर्लेश्याभिभवात्—दुर्लेश्यया कृष्णनीलकापोतीनामन्यतमया। अभिभवः—कुतश्चिन्निमित्ताच्चेतनशक्तेस्तादृक् संस्कारोद्बोधस्तस्माद्धेतोस्तं वाश्रित्य। क्वचित्—कामिन्यादीनामन्यतमे। उत्सुकः—सोत्कण्ठाभिलाषः। स्खलन्—अतीचारं गच्छन्, अनभ्यस्तपूर्वत्वात्संयमस्य दुर्धरत्वाद्वा मनसः। यद्वृद्धाः—'जोइय विसमिय जोयगइ' इत्यादि। क्वापि—मद्यविरत्यादीनामन्यतमे ॥४॥

दर्शनिक, व्रतिक, सामयिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, दिवामैथुनविरत ये छह गृहस्थ कहलाते हैं तथा श्रावकोंमें जघन्य होते हैं। अब्रह्मविरत, आरम्भविरत और परिग्रह-विरत, ये तीन वर्णी या ब्रह्मचारी कहलाते हैं और श्रावकोंमें मध्यम होते हैं। अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये दो भिक्षुक कहे जाते हैं और श्रावकोंमें उत्तम होते हैं ॥२-३॥

विशेषार्थ—सभी ग्रन्थोंमें ग्यारह प्रतिमाओंका यही क्रम पाया जाता है। अपवाद है सोमदेवका उपासकाचार। इसमें तीसरी प्रतिमाका नाम अर्चा है। अर्चा पूजाको कहते हैं। उन्होंने तीसरी प्रतिमामें पूजापर विशेष जोर दिया है। तथा पाँचवीं प्रतिमा है आरम्भ त्याग और आठवीं प्रतिमा है सचित्त त्याग। इस तरह व्यतिक्रम है। सोमदेवने भी आदिकी छह प्रतिमावालोंको गृहस्थ, आगेकी तीन प्रतिमावालोंको ब्रह्मचारी और दो अन्तिमको भिक्षुक कहा है। चारित्रसारमें प्रथम छहको जघन्य, उनसे आगेके तीनको मध्यम और दो अन्तिमको उत्कृष्ट कहा है ॥२-३॥

नैष्ठिक भी जिस अवस्थामें पाक्षिक कहलाता है उस अवस्थाको कहते हैं—

कृष्ण, नील या कापोत लेश्यामें-से किसी एक लेश्याके प्रभावसे चेतनशक्तिके पुराने संस्कारके उद्बुद्ध होनेसे किसी एक व्रतमें अतिचार लगानेवाला नैष्ठिक श्रावक नैष्ठिक नहीं रहता, पाक्षिक ही होता है ॥४॥

---

१. 'दंसण वय सामाइय पोसह सच्चित्त राइभत्तीय। बंभारंभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥'—चारित्तपाहुण २१, प्रा. पंचसंग्रह १।१३६। वारस अणुवेक्खा ६९, गो. जी. ४७६। वसु. श्रा. ४। महापु. १०।१९-१६०। 'मूलव्रतं व्रतान्यर्चा पर्वकर्माकृषिक्रियाः। दिवा नवविधं ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम् ॥ परिग्रहपरित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता। तद्धानी च वदन्त्येतान्येकादश यथाक्रमम् ॥'—सो. उ., ८५३-८५४।

अथ दर्शनिकादिनामास्वस्वानुष्ठानदार्ढ्याद् द्रव्यत एव दर्शनिकादिव्यपदेशः स्याद्भावतस्तु पूर्वः पूर्वोऽसाविति बोधयन्नाह—

तद्वद्दर्शनिकादिश्च स्थैर्यं स्वे स्वे व्रतेऽव्रजन् ।
लभते पूर्वमेवार्थाद्व्यपदेशं न तूत्तरम् ॥५॥

तद्वत्—नैष्ठिकमात्रवत् । स्वे स्वे व्रते–निरतिचाराष्टमूलगुणादिलक्षणे ॥५॥

एतदेव समर्थयितुमाह—

प्रारब्धो घटमानो निष्पन्नश्चार्हतस्य देशयमः ।
योग इव भवति यस्य त्रिधा स योगीव देशयमी ॥६॥

योगः—रत्नत्रयम् । योगीव—यथा प्रारब्धयोगो घटमानयोगो निष्पन्नयोगश्चेति नैगमादिनयापेक्षया त्रिविधो योगी तथा प्रारब्धदेशसंयमो घटमानदेशसंयमो निष्पन्नदेशसंयमश्चेति त्रिविधः श्रावकोऽपि स्यादित्यर्थः ॥६॥

एवं स्थलशुद्धिं विधाय दर्शनिकादिस्वरूपनिरूपणार्थं श्लोकद्वयमाह—

विशेषार्थ—जिस पाक्षिकने प्रतिमा धारण की है यदि वह कदाचित् पुराने संस्कारके जाग्रत् हो जानेसे किसी एक इन्द्रिय विषयकी तीव्र इच्छा करता है या संयमका अभ्यास न होनेसे और मनको वशमें करना कठिन होनेसे किसी व्रतमें दोष लगा लेता है तो वह पाक्षिक ही कहलाता है, नैष्ठिक नहीं ॥४॥

इसी प्रकार दर्शनिक आदि ग्यारह प्रतिमाओंके धारी भी यदि अपनी-अपनी प्रतिमामें दृढ़ नहीं हैं तो वे द्रव्यसे ही उस प्रतिमावाले कहलायेंगे, भावसे तो उससे पूर्व प्रतिमाके धारी ही कहे जायेंगे, यह बतलाते हैं—

उसी तरह दर्शनिक आदि श्रावक भी अपने-अपने व्रतमें यदि स्थिर न हों, कभी कहीं किंचित् भी डिग जाते हों तो परमार्थसे पहलेकी प्रतिमावाले ही कहलाते हैं, उस पर्वकी प्रतिमासे आगेकी प्रतिमावाले नहीं कहलाते ॥५॥

विशेषार्थ—जैसे पहली प्रतिमावाला यदि निरतिचार अष्टमूल गुणके पालनमें कभी किंचित् दोष लगा लेता है तो वह भावसे पाक्षिक ही कहलायेगा। द्रव्यसे उसे भले ही पहली प्रतिमाका धारी कहा जाये ॥५॥

इसीका समर्थन करते हैं—

जैसे योगी तीन प्रकारके होते हैं—एक योगकी प्रारम्भिक दशावाले, एक मध्यम दशावाले और पूर्ण दशावाले। इस तरह नैगम आदि नयकी अपेक्षा तीन प्रकारके योगी होते हैं। उसी तरह श्रावक भी तीन प्रकारके होते हैं—जिन भगवान्को ही एकमात्र शरण माननेवाले जिस श्रावकके देशसंयमकी प्रारम्भिक दशा होती है, दूसरे जिसके मध्यम दशा होती है और तीसरा जो पूर्ण देशसंयमको पालता है। ये तीनों ही देशसंयमी श्रावक होते हैं ॥६॥

इस प्रकार प्रारम्भिक कथन करके दो श्लोकोंसे दर्शनिक श्रावकका स्वरूप कहते हैं—

पाक्षिकाचारसंस्कारदृढीकृतविशुद्धदृक् ।
भवाङ्गभोगनिर्विण्णः परमेष्ठिपदैकधीः ॥७॥
निर्मूलयन्मलान्मूलगुणेष्वग्रगुणोत्सुकः ।
न्याय्यां वृत्तिं तनुस्थित्यै तन्वन्दर्शनिको मतः ॥८॥

भवाङ्गभोगाः—संसारशरीरेष्टविषयाः । अथवा भवाङ्गं—संसारकारणं यो भोगो बुद्धिपूर्वं कामिन्यादिविषयसेवनं, ततो निर्विण्णो—विरक्तः । प्रत्याख्यानावरणाख्य-चारित्रमोहकर्मविपाकवशात्कामिन्यादि-विषयान् भजन्नपि तत्राकृतसेवानिर्बन्ध इत्यर्थः । परमेष्ठीपदैकधीः—अर्हदादिपञ्चगुरुचरणेष्वेव धीरन्तर्दृष्टिर्यस्य । आपदाकुलितोऽपि दर्शनिकस्तन्निवृत्त्यर्थं शासनदेवतादीन् कदाचिदपि न भजते । पाक्षिकस्तु भजत्यपीत्येवमर्थमेकग्रहणम् ॥७॥

निर्मूलयन्—मूलादपि निरस्यन् ।

उक्तं च—

'आदावेतत्स्फुटमिह गुणा निर्मला धारणीयाः,
पापध्वंसिव्रतमपमलं कुर्वता श्रावकीयम् ।
कर्तुं शक्यं स्थिरमुरुभरं मन्दिरं गर्तपूरं
न स्थेयोभिर्दृढतममृते निर्मितं ग्रावजालैः ॥' [अमि. श्रा. ५।७३]

अग्रगुणः—व्रतिकपदम् । न्याय्यां—स्ववर्णकुलव्रतानुरूपाम् । वृत्तिं—कृष्यादिवार्ताम् । तनुस्थित्यै—शरीरवर्तनार्थं न विषयोपसेवनार्थम् ।

जिसने पूर्व अध्यायमें विस्तारसे कहे गये पाक्षिक श्रावकके आचारके आधिक्यसे अपने निर्मल सम्यग्दर्शनको निश्चल बना लिया है, जो संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त है, अथवा प्रत्याख्यानावरण नामक चारित्रमोहकर्मके उदयसे प्रेरित होकर स्त्री आदि विषयोंको भोगते हुए भी उनके भोगनेका आग्रह नहीं रखता, जिसकी एकमात्र अन्तर्दृष्टि अर्हन्त आदि पाँच गुरुओंके चरणोंमें ही रहती है, जो मूलगुणोंमें अतिचारोंको जड़-मूलसे ही दूर कर देता है और व्रतिक प्रतिमा धारण करनेके लिए उत्कण्ठित रहता है तथा शरीरकी स्थितिके लिए, (विषयसेवनके लिए नहीं) अपने वर्ण, कुल और व्रतोंके अनुरूप कृषि आदि आजीविका करता है वह दर्शनिक श्रावक माना गया है ॥७-८॥

विशेषार्थ—श्रावकाचारोंमें प्राचीनतम रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें सर्वप्रथम प्रत्येक प्रतिमाका स्वरूप वर्णित है। उसमें कहा है कि जिनेन्द्रदेवने श्रावकके ग्यारह पद कहे हैं जिनमें अपनी प्रतिमाके गुण पहलेकी प्रतिमाके गुणोंके साथ क्रमसे बढ़ते हुए स्थित रहते हैं। अतः जब श्रावकके ग्यारह पद होते हैं तो पाक्षिक श्रावकका पद ग्यारहमें सम्मिलित न होनेसे उसकी श्रावक संज्ञापर आपत्ति आती है। इससे पूर्वके किसी श्रावकाचारमें यह पद है भी नहीं। इस आशंकाके निवारणके लिए पं. आशाधरजीने अपनी टीकामें पाक्षिकको नैगमादि नयकी अपेक्षा दर्शनिक कहा है क्योंकि पाक्षिक भी सम्यग्दर्शनके साथ अष्ट मूल-

---

१. श्रावकपदानि देवैरेकादशदेशितानि येषु खलु ।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥
सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।
पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥—रत्न. श्रा. १३६–१३७ ।

उक्तं च—

'कृषिं वाणिज्यं गोरक्ष्यमुपायैर्गुणिनं नृपम् ।
लोकद्वयाविरुद्धां च धनार्थी संश्रयेत्क्रियाम् ॥' [ ]

मत:—एवंभूतनयादिष्ट:। एतेन नैगमनयादेशात्पाक्षिकस्यापि दर्शनिकत्वमनुज्ञातं स्यात्। ततो न 'श्रावकपदानि देवैरेकादशदेशितानि' इत्यनेन विरोधः स्यात् पाक्षिकस्य द्रव्यतो दर्शनिकत्वात् ॥८॥

अथ मद्यादिव्रतद्योतनार्थं तद्विक्रयादिप्रतिषेधमाह—

मद्यादिविक्रयादीनि नार्यः कुर्यान्न कारयेत् ।
न चानुमन्येत मनोवाक्कायैस्तद्व्रतद्युते ॥९॥

विक्रयादीनि—आदिशब्देन संधानसंस्कारोपदेशाद्युपादानम्। तद्व्रतद्युते—मद्यविरत्याद्यष्टमूलगुणनिर्मलीकरणार्थम् ॥९॥

अथ यच्छीलनान्मद्यादिव्रतक्षतिः स्यात्तदुपदेशार्थमाह—

भजन् मद्यादिभाजस्स्त्रीस्तादृशैः सह संसृजन् ।
भुक्त्यादौ चैति साकीर्ति मद्यादिविरतिक्षतिम् ॥१०॥

गुणका पालन करता है किन्तु अतीचारोंकी ओर उसकी दृष्टि नहीं रहती। दर्शनिक श्रावक निरतिचार पालन करता है। उसका सम्यग्दर्शन भी निर्दोष और दृढ़ होता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें दर्शनिकको सम्यग्दर्शनसे शुद्ध, संसार और शरीर एवं भोगोंसे विरक्त, पंचपरमेष्ठीको ही अपना एकमात्र शरण माननेवाला और तत्त्वपथका पक्षवाला कहा है। उसीका शब्दशः अनुसरण करते हुए पं. आशाधरजीने कथन किया है। रत्नकरण्डमें दर्शनिकके अष्ट मूलगुण पालनकी कोई चर्चा नहीं है और न न्याय्य आजीविकाकी ही चर्चा है। ये दोनों बातें सम्भवतया 'तत्त्वपथगृह्य'में समाविष्ट हैं। परमेष्ठीके चरणोंमें एकमात्र दृष्टिको स्पष्ट करते हुए पं. आशाधरजीने अपनी टीकामें लिखा है—कि आपत्तियोंसे व्याकुल होनेपर भी दर्शनिक उनको दूर करनेके लिए कभी शासन देवता आदिकी आराधना नहीं करता। पाक्षिक कर भी लेता है यह बतलानेके लिए 'एक' पद रखा है ॥७-८॥

मद्यत्याग आदि व्रतोंको निर्मल करनेके लिए मद्य आदिके व्यापारका भी निषेध करते हैं—

दर्शनिक श्रावक मद्यत्याग आदि आठ मूल गुणोंको निर्मल करनेके लिए मन, वचन और कायसे मद्य, मांस, मधु, मक्खन आदिका व्यापार न करे, न करावे और न उसकी अनुमोदना करे ॥९॥

विशेषार्थ—पाक्षिक श्रावक मद्यादिके सेवनका नियम लेता है कि मैं इनका सेवन नहीं करूँगा। किन्तु उनके व्यापार आदि न करनेका नियम नहीं करता। दर्शनिक उसका भी नियम लेता है ॥९॥

आगे जिनके साथ सम्बन्ध रखनेसे मद्यत्याग आदि व्रतको हानि पहुँचती है उसको बतलाते हैं—

मद्य-मांस आदिका सेवन करनेवाली स्त्रियोंको सेवन करनेवाला और खान-पान आदिमें मद्य-मांसका सेवन करनेवाले पुरुषोंका साथ करनेवाला अर्थात् उनके साथ खान-पान करनेवाला दर्शनिक श्रावक निन्दाके साथ अष्ट मूल गुणोंकी हानि करता है ॥१०॥

तादृशैः—मद्यादिभाग्भिः पुम्भिः। संसृजन्—संसर्गं कुर्वन्। भुक्त्यादौ—भोजनभाजनासनादौ। साकीर्ति—वाच्यतासहिताम्। उक्तं च—

'मद्यादि-स्वादिगेहेषु पानमन्नं च नाचरेत्।
तदमत्रादिसंपर्कं न कुर्वीत कदाचन॥
कुर्वन्नव्रतिभिः सार्धं संसर्गं भोजनादिषु।
प्राप्नोति वाच्यतामत्र परत्र च न सत्फलम्॥' [सो. उपा. २९७-२९८] ॥१०॥

अथैवं सामान्यं मूलव्रतातिचारनिवृत्तिमभिधाय मद्यव्रतातिचारनिवृत्त्यर्थमाह—

सन्धानकं त्यजेत्सर्वं दधि तक्रं द्व्यहोषितम्।
काञ्जिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽन्यथा॥११॥

सर्वं—एतेन काञ्जिकवटकादेरपि हेयत्वं दर्शयति। उक्तं च—

'जायन्तेऽनन्तशो यत्र प्राणिनो रसकायिकाः।
संधानानि न वल्भ्यन्ते तानि सर्वाणि भाक्तिकाः॥' [ ]

द्व्यहोषितं—अहोरात्रद्वयमतिक्रान्तम्। पुष्पितमपि—अपिशब्दाद् द्व्यहोषितं च॥११॥

अथ मांसविरत्यतीचारानाह—

चर्मस्थमम्भः स्नेहश्च हिंग्वसंहृतचर्म च।
सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते॥१२॥

चर्मस्थं—दृत्यादिस्थं जलं कुतुपादिस्थं च घृतादिकमुपयुज्यमानम्। एतेन खट्टिकादिस्थ-बडिकादिस्थ-चूतफलादीनां चर्मोपनद्धचालनी-शूर्पटिकाद्युपस्कृतकणिकादीनां च त्याज्यतामुपलक्षयति। उक्तं च—

'दृतिप्रायेषु पानीयं स्नेहं च कुतुपादिषु।
व्रतस्थो वर्जयेन्नित्यं योषितश्चाव्रतोचिताः॥' [सो. उपा. २९९]

विशेषार्थ—मद्य-मांस आदि स्वयं न खाकर भी यदि मद्य-मांससेवी स्त्री-पुरुषोंके साथ खान-पान आदिका सम्बन्ध रखता है तो मद्य-मांसके सेवनका ही दोष लगता है। आचार्य सोमदेवने भी कहा है कि मद्य-मांसका सेवन करनेवाले लोगोंके घरोंमें खान-पान नहीं करना चाहिए। तथा उनके बरतनोंको भी काममें नहीं लाना चाहिए। जो मनुष्य मद्य आदिका सेवन करनेवाले पुरुषोंके साथ खान-पान करता है उसकी यहाँ निन्दा होती है और परलोकमें भी उसे अच्छे फलकी प्राप्ति नहीं होती॥१०॥

इस प्रकार सामान्यसे अष्टमूल गुणोंमें अतिचारकी निवृत्तिका कथन करके अब मद्य आदिके व्रतोंमें अतिचार दूर करनेका कथन करते हैं—

दर्शनिक श्रावक सभी प्रकारके अचार, मुरब्बोंको, दो दिन दो रातके बासी दही और मट्ठेको तथा फफून्दी हुई और दो दिन दो रातकी बासी कांजीको भी त्याग दे। नहीं तो उसके सेवनसे मद्यव्रतमें अतिचार लगता है॥११॥

मांस विरतिके अतिचारको दूर करनेके लिए कहते हैं—

चमड़ेकी मशकका जल और चमड़ेके कुप्पेमें रखा घी-तेल तथा चमड़ेसे ढका हुआ, या बँधा हुआ या फैलाया हुआ हींग और जिसका स्वाद बिगड़ गया है ऐसा समस्त भोजन खानेसे मांसत्याग व्रतमें अतिचार लगता है॥१२॥

विशेषार्थ—चमड़ेसे सम्बद्ध किसी भी वस्तुके खानेसे मांस-भक्षणका दोष लगता है। सोमदेव सूरिने भी मशकके पानी और चमड़ेकी कुप्पोंमें रखे घी-तेलका निषेध किया है।

असंहृतचर्म—असंहृतं स्वस्वभावेनापरिणामितं चर्म येन तत्। उपलक्षणमेतत्। तेन तथाभूतं लवणाद्यपि। व्यापन्नं—कुथितं स्वादचलितमिति यावत्।

३ उक्तं च—

'आहारो निःशेषो निजस्वभावान्यभावमुपयातः।
योऽनन्तकायिकोऽसौ परिहर्तव्यो दयालीढैः॥' [ ] ॥१२॥

मुस्लिम युगमें रची गयी लाटी संहितामें प्रकृत चर्चाका विस्तारसे वर्णन करते हुए कहा है–'श्रावकको मद्य-मांस और मधुका सेवन नहीं करना चाहिए।' इसपर यह शंका की गयी कि जैन लोग तो इनको खाते ही नहीं तब इसके कहनेकी क्या आवश्यकता है ? इसके समाधानमें कहा है कि साक्षात् तो नहीं खाते, किन्तु उसके कुछ अतीचार अनाचारके समान हैं, उन्हें छोड़ना चाहिए उनको गिनाना शक्य नहीं है। फिर भी व्यवहारके लिए कुछ कहते हैं—चमड़ेके बरतनमें रखे घी-तेल-जल वगैरह नहीं खाने चाहिए क्योंकि चमड़ेके आश्रयसे त्रसकायके जीव हो जाते हैं। शायद कोई कहे कि हम कैसे जानें कि उसमें वे होते हैं या नहीं ? तो इसके उत्तरमें हमारा कहना है कि सर्वज्ञ देवने केवलज्ञानरूप चक्षुसे देखकर ही ऐसा कहा है। अतः उसे मानना चाहिए। शायद इसपर भी कोई तर्क करे कि उनके खानेसे पाप होता है, इसमें क्या प्रमाण है ? किन्तु ऐसा तर्क करना उचित नहीं है क्योंकि जैनागममें मांस खानेवालेको अवश्य ही पापका भागी कहा है। अतः उसमें सन्देह नहीं करना चाहिए। मूँग आदि अन्न, सोंठ आदि औषधी, शक्कर आदि खाद्य और ताम्बूल आदि स्वाद्य, दूध आदि पेय, तैलमर्दन आदि लेप ये चार प्रकारके आहार कहे हैं। आहारके लिए शुद्ध द्रव्य देख-भालकर ही काममें लेना चाहिए। ऐसा न करनेसे मांसभक्षणका दोष लगता है, क्योंकि उनमें त्रस जीव हो सकते हैं। घुना हुआ अन्न इसीसे अभक्ष्य कहा है। उसका आप कितना भी शोधन करें फिर भी उसमें त्रसजीवोंकी सम्भावना रहती ही है। जिस अन्नादिमें यह सन्देह हो कि इसमें त्रसजीव हैं या नहीं, उसे भी मनकी निर्मलताके लिए नहीं खाना चाहिए। जो निर्दोष और बिना घुना हो उसे भी अच्छी तरहसे शोध कर ही खाना चाहिए। शायद कोई कहे कि जो शुद्ध अन्न है उसे शोधनेकी क्या जरूरत है ? किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। इसमें प्रमादका दोष लगता है। जितनी तरल वस्तुएँ हैं जैसे घी, तेल, दूध, पानी वगैरह, उन्हें मजबूत वस्त्रसे छानकर ही काममें लेना चाहिए। ऐसा न करनेसे मांसत्याग व्रतमें अतीचार लगता है क्योंकि उनमें मरे हुए त्रसजीवोंके कलेवर हो सकते हैं। यदि शोधन भी किया किन्तु प्रमादवश असावधानीसे किया तो वह बेकार होता है। इसलिए व्रतकी रक्षा और मांसभक्षणके दोषसे बचनेके लिए अपने हाथों और अपनी आँखोंसे ही अन्न आदिका शोधन करना चाहिए। जैसे अपने लिए सुवर्ण खरीदनेवाला देख-भालकर खरीदता है वैसे ही व्रतीको सुनिरीक्षित आहार करना चाहिए। अज्ञानी साधर्मी और ज्ञानी विधर्मीके द्वारा शोधे हुए और पकाये हुए भोजनको भी व्रतीको नहीं खाना चाहिए। शायद कोई कहे कि अपने किसी परिचित साधर्मी या विधर्मीके द्वारा शोधित और पकाये गये भोजनमें क्या हानि है ? किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि किसीका अत्यधिक विश्वास व्रतकी हानि करनेवाला है। जिसका आचरण ठीक नहीं है और जो निर्दय है उसका संयममें अधिकार नहीं है। एक बार शोधनेपर भी यदि बहुत समय हो जाये तो उसे पुनः शोधन करके ही ग्रहण करना चाहिए। केवल अग्निसे पकाया गया अथवा घीसे मिश्रित बासी भोजन भी

अथ मधुव्रतातिचारनिवृत्त्यर्थमाह—

प्रायः पुष्पाणि नाश्नीयान्मधुव्रतविशुद्धये ।
वस्त्यादिष्वपि मध्वादिप्रयोगं नार्हति व्रती ॥१३॥

'प्रायः', एतेन मधूक-भल्लातकपुष्पाणां शक्यशोधनत्वान्नात्यन्तं निषेधः । शुष्कत्वाच्च नागकेसरादीनामपि । वस्त्यादिषु—वस्तिकर्म-पिण्डप्रदान-नेत्राञ्जनसेचन-लूताप्रासादिषु । व्रती—मधु-मांस-मद्येभ्योऽतिशयेन विरतः ॥१३॥

अथ पञ्चोदुम्बरविरत्यतिचारपरिहारार्थमाह—

सर्वं फलमविज्ञातं वार्ताकादि त्वदारितम् ।
तद्वद्भल्लादिसिम्बीश्च खादेन्नोदुम्बरव्रती ॥१४॥

वार्ताकादि । आदिशब्देन कर्चर-बदर-पूगफलादि । भल्लादिशिम्बीः—भल्लराजमाषप्रमुखफलिकाः ॥१४॥

नहीं करना चाहिए क्योंकि अधिक काल बीतनेपर उसमें सूक्ष्म त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं । कहा है—'जो भोजन अपना स्वभाव छोड़कर अन्य भावरूप हो गया है वह सब अनन्तकायिक होनेसे छोड़ देना चाहिए' ॥१२॥

आगे मधुव्रतके अतीचारोंको दूर करनेके लिए कहते हैं—

मधुत्याग व्रतमें अतीचारसे बचनेके लिए प्रायः पुष्प नहीं खाना चाहिए। मधु, मांस और मद्यके सर्वथा त्यागीको बस्ति आदि कर्ममें भी मधु, मांस तथा मद्यका प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥१३॥

विशेषार्थ—मधु या शहद फूलोंसे ही संचित होता है अतः फूलोंके भक्षणसे मधुत्यागव्रतमें दूषण लगता है। किन्तु 'प्रायः' शब्द देनेसे सभी पुष्प अभक्ष्य नहीं होते। पण्डित आशाधरजीने अपनी टीकामें लिखा है कि मधूक (महुआ) और भल्लातक (भिलावा) के फूलोंका शोधन करना शक्य है इसलिए अत्यन्त निषेध नहीं है। इसी तरह नागकेसर आदिके फूल सूख जाते हैं। उन्हें काममें लिया जाता है। सम्भवतः फूलोंके अभक्ष्य होनेसे ही पूजनमें फूलोंके स्थानमें केसरिया चावलका प्रयोग किया गया है। जो वस्तु अभक्ष्य है वह भगवान्को कैसे चढ़ायी जा सकती है। तथा मधु आदिके व्रतीको मधु आदिका प्रयोग औषधीके रूपमें भी नहीं करना चाहिए। वस्तिकर्मके लिए, नेत्रोंमें अंजनके रूपमें, मकड़ीके काटे आदिपर भी शहद वगैरहका प्रयोग त्याज्य है। ऐसी स्थितिमें स्वास्थ्य, इन्द्रियपुष्टि आदिके लिए उनका प्रयोग कैसे किया जा सकता है। यह 'अपि' शब्दसे आशय है ॥१३॥

आगे पाँच उदुम्बरोंसे विरतिके अतीचारोंको दूर करनेके लिए कहते हैं—

पीपल आदिके फलोंके त्यागीको समस्त अनजान फल, बैंगन, कचरी, बेर आदि भीतरसे देखे बिना, तथा उसी तरह अर्थात् अन्दरसे शोधे बिना उड़द, सेम आदि की फलियोंको नहीं खाना चाहिए ॥१४॥

विशेषार्थ—आचार्य हेमचन्द्रने भी अनजान फलको खानेका निषेध किया है और उसका कारण यह बतलाया है कि निषिद्ध या विषफलको खानेमें उसकी प्रवृत्ति न हो। क्योंकि अज्ञानवश निषिद्ध फल खानेसे व्रतभंग होता है। और विषफल खानेसे तो जीवन ही खतरेमें पड़ जाता है ॥१४॥

---

१. 'स्वयं परेण वा ज्ञातं फलमद्याद्विशारदः । निषिद्धे विषफले वा मा भूदस्य प्रवर्तनम् ॥'—योगशास्त्र ३।४७।

अथानस्तमितभोजनव्रतातिचारार्थमाह—

मुहूर्तेऽन्त्ये तथाऽऽद्येऽह्नो वल्भानस्तमिताशिनः ।
गदच्छिदेऽप्याम्रघृताद्युपयोगश्च दुष्यति ॥१५॥

अनस्तमिताशिनः—अनस्तमिते सूर्ये अश्नाति तद्व्रतः । आम्रघृताद्युपयोगः—चूत-चार-चोचमोचादिफलानां घृतक्षीरेक्षुरसादीनां च सेवनम् ॥१५॥

रात्रिभोजनत्याग व्रतके अतीचार कहते हैं—

सूर्योदयके रहते हुए ही भोजन करनेका नियमवाले मनुष्यको दिनके प्रथम तथा अन्तिम मुहूर्तमें भोजन करना और रोग दूर करनेके लिए आम्र, घृत आदिका सेवन करना दोष है ॥१५॥

विशेषार्थ—रात्रिभोजन त्यागका अर्थ है सूर्यके उदय रहते हुए ही भोजन करना। उसमें भी सूर्योदय हुए जब एक मुहूर्त हो जाये तब कुछ खान-पान करना चाहिए तथा सूर्यास्त होनेमें जब एक मुहूर्त शेष रहे तब बन्द कर देना चाहिए, क्योंकि आदि और अन्तिम मुहूर्तमें सूर्यका प्रकाश मन्द होनेसे जीव-जन्तु भ्रमणशील रहते हैं। आदि और अन्तिम मुहूर्तमें भोजनकी बात तो दूर, रोग निवृत्तिके लिए भी आम्र, केला आदि फलोंका तथा घी, इक्षुरस, दूध आदिका सेवन करनेसे भी दोष लगता है। किन्तु उत्तरकालीन लाटी संहितामें छठी प्रतिमा [रात्रिभोजनत्याग है। अतः दर्शनिकके लिए उसमें ऐसा प्रतिबन्ध नहीं है। लिखा है—व्रतधारी नैष्ठिक श्रावकोंको मांसभक्षणके दोषसे बचनेके लिए रात्रि-भोजनका त्याग करना चाहिए। शायद आप कहें कि यहाँ रात्रिभोजनत्यागका कथन नहीं करना चाहिए क्योंकि छठी प्रतिमामें इसका त्याग कराया गया है। आपका कथन सत्य है। छठी प्रतिमामें सर्वात्मना रात्रिभोजनका त्याग होता है। यहाँ सातिचार त्याग होता है। अर्थात् यहाँ अन्न मात्र आदि स्थूल भोज्यका त्याग होता है किन्तु रात्रिमें जलादि या ताम्बूल आदिका त्याग नहीं होता। छठी प्रतिमामें ताम्बूल, जल आदि भी निषिद्ध हैं। प्राणान्त होनेपर भी रात्रिमें औषधि-सेवन नहीं किया जाता। शायद आप कहें कि दर्शनिक श्रावक रात्रिमें किसीको अन्नका भोजन करायेगा, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। एक कुलाचार भी होता है उसके बिना दर्शनिक नहीं होता। मांस मात्रका त्याग करके रात्रिमें भोजन न करना तो सबसे जघन्य व्रत है। इससे नीचे तो कुछ है ही नहीं। शायद कहें कि पाक्षिकके तो व्रत नहीं होते, केवल पक्ष मात्र होता है किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो सर्वज्ञ भगवान्‌की आज्ञाको नहीं मानता वह पाक्षिक कैसे हो सकता है। सर्वज्ञकी आज्ञा है कि क्रियावान् ही श्रावक होता है। जो निकृष्ट श्रावक है वह भी कुलाचार नहीं छोड़ता। यह सब लोकमें प्रसिद्ध है कि रात्रिमें दीपकके पासमें पतंग आदि त्रस जीव गिरते ही हैं। और वे वायुके आघातसे मरते हैं। उनके कलेवरोंसे मिश्रित भोजन निरामिष कैसे हो सकता है। रात्रिभोजनमें उचित-अनुचितका भी विचार नहीं रहता। रात्रिमें मक्खी तक नहीं दिखाई देती तब मच्छरकी तो बात ही क्या है। इसलिए संयमकी वृद्धिके लिए रात्रि भोजन छोड़ना चाहिए। यदि शक्ति हो तो चारों प्रकारके आहारका त्याग करना चाहिए, नहीं तो उनमें-से

---

१. 'निषिद्धमन्नमात्रादि स्थूलभोज्यं व्रते दृशः। न निषिद्धं जलाद्यत्र ताम्बूलाद्यपि वा निशि ॥'

—लाटी सं., पृ. १९।

अथ जलगालनव्रतातिचारनिवृत्त्यर्थमाह—

मुहूर्तयुग्मोर्ध्वमगालनं वा दुर्वाससा गालनमम्बुनो वा ।
अन्यत्र वा गालितशेषितस्य न्यासो निपानेऽस्य न तद्व्रतेऽर्च्यः ॥१६॥

मुहूर्तयुग्मोर्ध्वं—घटिकाचतुष्टयादुपरि । दुर्वाससा—अल्पसच्छिद्रजर्जरादिवस्त्रेण । अन्यत्र—स्वाधार-जलाशयात् । तद्व्रते—गालितजलपाननिष्ठायां अर्च्यो न, निन्द्य इत्यर्थः ।

अथ—

'पंचुंबर सहियाइं सत्तवि वसणाई जो विवज्जेइ ।
सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ ॥' [वसु. श्रा. ५७] ॥१६॥

इति वसुनन्दिसैद्धान्तमतेन दर्शनिकस्य द्यूतादिव्यसननिवृत्तिमुपदेष्टुं तेषामिहामुत्र चापायावद्यप्रायत्व-मुदाहरणद्वारेण व्याहरन्नाह—

[1]द्यूताद्धर्मतुजो बकस्य पिशितान्मद्याद्यदूनां विप-
च्चारोः कामुकया शिवस्य चुरया यद्ब्रह्मदत्तस्य च ।

किसी एक अन्न आदिका त्याग करना चाहिए। जब मांसके दोषसे बासी भोजन ही अभक्ष्य कहा है तब आसव, अरिष्ट, अचार वगैरहको तो बात ही क्या है। जिसका रूप, गन्ध, रस और स्पर्श बिगड़ गया है उसे नहीं खाना चाहिए क्योंकि उसमें अवश्य त्रसजीव उत्पन्न हो गये हैं। इसी तरह दही, मठा, रस, वगैरह मर्यादामें ही भक्ष्य है। उसके बाद अभक्ष्य है। यह सब कथन लाटी संहितामें किया है ॥१५॥

आगे जलगालन व्रतके अतिचारोंको दूर करनेके लिए कहते हैं—

एक बार छाने हुए जलको दो मुहूर्तके बादमें न छानना, अथवा छोटे और छिद्र सहित जीर्ण वस्त्रसे पानीका छानना, अथवा छाननेके बाद बचे हुए जलको जिस जलाशयका वह जल है उसीमें न डालकर अन्य जलाशयमें डालना, जलगालन व्रतमें निन्दनीय माना गया है ॥१६॥

विशेषार्थ—जलको मोटे स्वच्छ वस्त्रसे छानकर ही काममें लेना चाहिए। छने हुए जलकी मर्यादा भी दो मुहूर्त है। दो मुहूर्तके बाद छने जलको पुनः छानना चाहिए। और बिलछानीको उसी जलाशयमें डालना चाहिए जिससे जल लिया हो; क्योंकि एक जलाशय-के जीव दूसरे जलाशयमें जाकर मर जाते हैं। पानीमें जीव तो आज खुर्दबीनसे देखे जाते हैं ॥१६॥

आचार्य वसुनन्दि सैद्धान्तीके मतसे जो विशुद्ध सम्यग्दृष्टि पाँच उदुम्बर फलोंके साथ सात व्यसनोंको छोड़ता है वह दर्शनिक श्रावक कहा जाता है। अतः दर्शनिकको जुआ आदि सात व्यसनोंके त्यागका उपदेश करनेके लिए व्यसनोंको इस लोक और परलोकमें उदाहरणके द्वारा विनाशकारी और निन्दनीय ठहराते हैं—

यतः जुआ खेलनेसे युधिष्ठिरको, मांसभक्षणसे बक राजाको, मद्यपानसे यादवोंको,

---

१. 'द्यूताद्धर्मसुतः पलादिह बको मद्याद्यदोर्नन्दनाः,
चारुः कामुकया मृगान्तकतया स ब्रह्मदत्तो नृपः ।
चौर्यत्वाच्छिवभूतिरन्यवनितादोषाद्दशास्यो हठात्
एकैकव्यसनाहता इति जनाः सर्वैर्न को नश्यति ॥—पद्म. पंच. १।३१।

पापर्द्धर्या परदारतो दशमुखस्योच्चैरनुभूयते
द्यूतादिव्यसनानि घोरदुरितान्युज्झेत्तदार्यस्त्रिधा ॥१७॥

वेश्यासेवनसे चारुदत्त सेठको, चोरी करनेसे शिवभूति ब्राह्मणको, शिकार खेलनेसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीको, परस्त्रीगमनकी अभिलाषासे रावणको बड़ी भारी विपत्ति भोगनी पड़ी, यह वृद्धपरम्परासे सुना जाता है। अतः दर्शनिक श्रावकको घोर पापके कारण द्यूत, मांस, मद्य, वेश्या, चोरी, शिकार, और परस्त्रीसेवनको मन, वचन, काय कृत कारित अनुमोदनासे छोड़ना चाहिए ॥१७॥

विशेषार्थ—पद्मनन्दि पंचविंशतिकामें ग्यारह प्रतिमाओंसे प्रथम सप्त व्यसन त्यागपर जोर दिया है। क्योंकि समस्त व्रतोंकी प्रतिष्ठा सप्त व्यसन त्यागपर ही निर्भर है। जुआ, मांस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी, परस्त्री ये सात व्यसन हैं। ये महापाप हैं। जुआ निन्दनीय है, सब व्यसनोंमें मुख्य है, समस्त आपत्तियोंका घर है, पापका कारण है, नरकके मार्गोंका मुखिया है। जो दुर्बुद्धि मनुष्य हैं वे ही इसे अपनाते हैं, विवेकी मनुष्य इसके पास भी नहीं जाते। यदि मनुष्यका मन जुएमें न रमे तो उसका अपयश और निन्दा न हो, क्रोध और लोभकषाय उत्पन्न ही न हों, चोरी आदि अन्य व्यसन भी दूर ही रहें। क्योंकि समस्त दुर्व्यसनोंका यह जुआ ही मुखिया है। क्या महाभारतमें युधिष्ठिरने कौरवोंके साथ जुआ खेलकर अपनी राज्य सम्पदा और द्रौपदी तकको नहीं हारा था और उसके कारण उसे वनवासका जीवन बिताकर घोर विपदाएँ नहीं सहनी पड़ी थीं। दूसरा व्यसन है मांस। मांस पशु पक्षियोंके घातसे उत्पन्न होता है। अपवित्र है, महापुरुष उसे छूते भी नहीं हैं, खानेकी बात तो बहुत दूर है। हमारा कोई सम्बन्धी बाहर जाकर यदि नहीं लौटता तो हम विकल हो जाते हैं। और वही हम दूसरोंको मारकर खा जाते हैं यह कितने खेदकी बात है। राजा बकको मांस बड़ा प्रिय था। एक बार उसके रसोइयेने अन्य मांस न मिलनेसे तुरन्तके मरे हुए बालकका मांस पकाकर उसे खिलाया। तबसे वह मनुष्यके मांसका लोलुपी हो गया। पता लगनेपर प्रजाने उसे गद्दीसे उतार दिया। तब वह मनुष्योंको पकड़कर खाने लगा और राक्षस कहा जाने लगा। अन्तमें वसुदेवने उसे मार डाला। तीसरा व्यसन मदिरापान है। मदिराके व्यसनी न धर्मका साधन कर सकते हैं, न अर्थ और कामका साधन कर सकते हैं। वे निर्लज्ज होते हैं। उन्हें माता और पत्नीका भी विवेक नहीं रहता। बेहोश होकर मार्गमें गिर जाते हैं और कुत्ता उनके मुँहमें पेशाब कर देता है। यादव इसी मदिरापानके कारण नष्ट हुए। उनकी द्वारिकापुरी द्वीपायनके कोपसे जलकर राख हो गयी। कुछ यादव कुमारोंने मदिरा पीकर द्वीपायनको त्रस्त किया था। उसीका फल उन्हें इस रूपमें भोगना पड़ा। हरिवंश पुराणमें इसकी विस्तृत कथा वर्णित है। चतुर्थ व्यसन वेश्या है। वेश्या मांस खाती है, मद्य पीती है, झूठ बोलती है, केवल धनके लिए स्नेह करती है, नीचसे नीच पुरुष उन्हें भोगता है। इसीलिए शास्त्रकारोंने उन्हें धोबियोंके कपड़ा धोनेके पत्थरकी उपमा दी है। जैसे उसपर सभी प्रकारके कपड़े धोये जाते हैं वही स्थिति वेश्याओंकी है। चारुदत्त सेठ इसी वेश्या-व्यसनमें फँसकर अपनी समस्त सम्पत्ति गँवा बैठा था। तब वेश्याकी माताने उसे घरसे निकाल दिया। घरमें पत्नी और माता कष्टसे जीवन निर्वाह करती थीं। तब वह धनोपार्जनके लिए विदेश गया। वहाँ भी उसे बहुत कष्ट भोगना पड़ा। अतः वेश्या-व्यसनसे बचना चाहिए। पाँचवाँ व्यसन शिकार खेलना है। बेचारी हरिणी

धर्मतुजः—युधिष्ठिरस्य। चारोः—चारुदत्तनाम्नः। शिवस्य—शिवभूतिनाम्नः। घोरदुरितानि। उक्तं च—

'जूदं मज्जं मंसं वेस्सा पारद्धि चोर परयारं।
दुग्गइ गमणस्सेदाणि हेदुभूदाणि पावाणि ॥' [वसु. श्रा. ५९] ॥१७॥

अथ व्यसनशब्दनिरुक्तिद्वारेण द्यूतादेर्घोरदुरितश्रेयःप्रत्यावर्तनहेतुत्वं समर्थ्य तद्विरतस्य तत्समानफलत्वाद्धातुवादाद्युपव्यसनानामपि दूरपरिहरणीयतामुपदिशति—

आग्रस्तीव्रकषायकर्कशमनस्कारार्पितैर्दुष्कृतै-
श्चैतन्यं तिरयत्तमस्तरदपि द्यूतादि यच्छ्रेयसः।
पुंसो व्यस्यति तद्विदो व्यसनमित्याख्यान्त्यतस्तद्व्रतः
कुर्वीतापि रसादिसिद्धिपरतां तत्सोदरीं दूरगाम् ॥१८॥

जंगलमें तृण खाकर रहती है, उसका कोई रक्षक नहीं है। स्वभावसे ही डरपोक है, किसीको सताती नहीं। खेद है कि मांसके लोभी उस हरिणीका भी शिकार करते हैं। यदि हमें चींटी भी काटती है तो तलमला जाते हैं। किन्तु वनमें हरिणीको बाणसे बींध डालते हैं। कहावत है कि जो किसीको मारता है या ठगता है वह उसीके द्वारा मारा और ठगा जाता है। शिकारका शौक अत्यन्त क्रूर है। राजा ब्रह्मदत्त शिकारका प्रेमी था। प्रतिदिन वनमें शिकार खेलने जाता था। एक बार उस वनमें एक मुनिराज आ गये। उनके कारण राजाको शिकारमें सफलता नहीं मिली। एक दिन राजाने जब मुनि आहारके लिए गये उनकी शिला खूब गर्म करा दी। मुनि लौटकर उसपर बैठ गये। मुनिको तो केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई और राजा ब्रह्मदत्त मरकर नरकमें गया। छठा व्यसन परस्त्रीगमन है। परस्त्रीगामीको इसी जन्ममें सदा चिन्ता सताती रहती है कि कोई उसे देख न ले। प्रायः ऐसे लोग उस परस्त्रीके पति द्वारा मार डाले जाते हैं। रावणने सती सीताका हरण करके अपने जीवनके साथ सोनेकी लंकाको नष्ट कर दिया। परस्त्रीकी अभिलाषाके पापका यह फल है। अतः परस्त्रीसे सदा दूर रहना चाहिए। सातवाँ व्यसन चोरी है। चोर तो लोकमें ही निन्द्य होता है। धन मनुष्योंका प्राण है अतः जो किसीका धन हरता है वह उसके प्राण हरता है। शिवदत्त पुरोहितने अपनेको सत्यघोष नामसे प्रसिद्ध कर रखा था। एक बार एक सेठ कुछ रत्न उसे सौंपकर विदेश गया। विदेशसे लौटते हुए उसका जहाज डूब जानेसे वह निर्धन हो गया। उसने शिवभूतिसे अपने रत्न माँगे तो वह साफ मुकर गया और उसे पागल कहकर घरसे निकाल दिया। पीछे रानीके प्रयत्नसे राजाने उससे वे रत्न प्राप्त किये और शिवभूतिको देशसे निकाल दिया। ये सात तो मुख्य व्यसन हैं मगर व्यसनोंकी कोई गिनती नहीं है क्योंकि खोटे काम बहुत हैं। ये सभी व्यसन दुर्गतिके कारण हैं। प्रारम्भमें ये मीठे लगते हैं, किन्तु इनका परिणाम कटुक होता है। इसलिए जो अपना हित चाहते हैं उन्हें इन व्यसनोंसे दूर ही रहना चाहिए ॥१७॥

अब व्यसन शब्दकी निरुक्तिके द्वारा द्यूत आदि महापापोंको आत्माके श्रेयसे दूर करनेवाला बतलाकर, जो उनके त्यागी हैं उन्हें उसीके समान फलवाले उपव्यसनोंको भी दूरसे ही त्यागनेका उपदेश देते हैं—

यतः निरन्तर उदयमें आनेवाले तीव्र क्रोधादि कषायोंके द्वारा कठोर हुए मनोभावोंसे किये गये पापोंसे मिथ्यात्वको भी परास्त करनेवाले चैतन्यको ढकनेवाले द्यूत आदि पुरुषको

मनस्कारः—चित्तप्रणिधानम् । तमस्तरत्—मिथ्यात्वमतिक्रामत् । आख्यान्ति । यदाह—व्यस्यति प्रत्यावर्तयत्येनं पुरुषं श्रेयस इति व्यसनमिति । रसादि—आदिशब्देनाञ्जनगुटिका-पादुका-विवरप्रवेशादि । तत्सोदरीं—दुरन्तदुष्कृतश्रेयःप्रत्यावर्तनहेतुत्वाविशेषात् ॥१८॥

अथ द्यूतनिवृत्त्यतिचारमाह—

> **दोषो होढाद्यपि मनोविनोदार्थं पणोज्झिनः ।**
> **हर्षामर्षोदयाङ्गत्वात् कषायो ह्यंहसेऽञ्जसा ॥१९॥**

होढा—परस्परस्पर्धया धावनादि । आदिशब्देन द्यूतदर्शनादि । अपि मनोविनोदार्थं—मनोऽपि रमयितुं प्रयुज्यमानं दोषः किं पुनर्धनार्थम् । पणोज्झिनः—पणं द्यूतमुज्झयतीत्येवं व्रतस्य ॥१९॥

अथ वेश्याव्यसनातिचारनिवृत्त्यर्थमाह—

> **त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्तिं वृथाटयां षिड्गसङ्गतिम् ।**
> **नित्यं पण्याङ्गनात्यागी तद्गेहगमनादि च ॥२०॥**

तौर्यत्रिकासक्ति—गीतनृत्यादिवाद्येषु सेवानिर्बन्धम् । एतेन चैत्यालयादौ धर्मार्थं गीतश्रवणादिकं न दोष इति लक्षयति । वृथाटयां—प्रयोजनं विना विचरणम् । गमनादि । आदिशब्देन संभाषणसत्कारादि ॥२०॥

कल्याणमार्गसे भ्रष्ट कर देते हैं इसलिए विद्वान् उन्हें व्यसन कहते हैं। जिनने उनका व्रत लिया है वे उन द्यूत आदि व्यसनोंकी बहिन रस आदिको सिद्ध करनेकी तत्परताको भी दूर करें अर्थात् उसका भी त्याग करें ॥१८॥

विशेषार्थ—व्यसन शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक अस् धातुसे बना है जिसका अर्थ होता है भ्रष्ट करना या गिराना। ये जुआ आदि मनुष्यको उसके कल्याणसे गिराते हैं। उसका कारण यह है कि इन व्यसनोंके सेवी व्यक्तियोंकी कषाय बड़ी तीव्र होती है और उसका निरन्तर उदय रहनेसे उनका मनोभाव बड़ा कठोर हो जाता है। उससे ही वे इन पापकार्योंमें प्रवृत्त होते हैं। एक दृष्टिसे ये व्यसन बड़े प्रभावशाली होते हैं क्योंकि मिथ्यात्वमें वर्तमान मिथ्यादृष्टि आत्माकी तो बात ही क्या, किन्तु मिथ्यात्वका अतिक्रमण करनेवाले आत्माको भी अपने जालमें फँसा लेते हैं इसीलिए इन्हें व्यसन कहते हैं। इनके छोटे भाई-बहन कुछ उपव्यसन भी हैं, जैसे स्वर्ण आदि बनानेकी ठगविद्या, या ऐसा अंजन जिसे लगानेसे अदृश्य हो जाये या ऐसी खड़ाऊँ बनावे कि जिससे जहाँ चाहे जा सके। इत्यादि कार्य भी व्यसनोंकी तरह ही घोर पापके कारण होनेसे मनुष्यको कल्याणमार्गसे भ्रष्ट करते हैं अतः हेय हैं। श्रावकको किसी भी प्रकारके व्यसनमें नहीं पड़ना चाहिए ॥१८॥

अब द्यूत त्यागके अतिचार कहते हैं—

जुआ वगैरहके त्याग करनेवाले श्रावकको मनोविनोदके लिए भी परस्परमें स्पर्धासे दौड़ना वगैरह भी दोष है क्योंकि हारने पर क्रोध उत्पन्न होता है और जीतने पर प्रसन्नता होती है। हर्ष और क्रोध दोनों कषाय हैं और कषायसे पापबन्ध होता है ॥१९॥

विशेषार्थ—धनोपार्जनके लिए शर्त लगाकर दौड़ना आदि तो दोष है ही। मनके बहलावके लिए भी ऐसा करना बुरा है ॥१९॥

वेश्याव्यसन त्यागके अतिचार कहते हैं—

जिसने वेश्यासेवनका त्याग किया है वह गाने बजाने और नाचमें आसक्तिको, बिना प्रयोजन बाजारोंमें घूमनेको, व्यभिचारी पुरुषोंकी संगतिको तथा वेश्याके घर आना-जाना, उसके साथ वार्तालाप, उसका आदर-सत्कार आदि भी सदाके लिए छोड़ दे ॥२०॥

अथ चौर्यव्यसनव्रतमलोपदेशार्थमाह—

दायादाज्जीवतो राजवर्चसाद् गृह्णतो धनम् ।
दायं वाऽपह्नुवानस्य क्वाचौर्यव्यसनं शुचि ॥२१॥

दायादात्—दायं कुलसाधारणं द्रव्यमादत्त इति दायादो भ्रात्रादिः । अपह्नुवानस्य—भ्रात्रादिभ्योऽपलपतः ॥२१॥

अथ पापर्द्धि-विरत्यतीचारनिषेधार्थमाह—

वस्त्र-नाणक-पुस्तादि न्यस्तजीवच्छिदादिकम् ।
न कुर्यात्त्यक्तपापर्द्धिस्तद्धि लोकेऽपि गर्हितम् ॥२२॥

वस्त्राणि—पञ्चरङ्गपटादीनि । नाणकानि—सीतारामटङ्कादीनि । पुस्तादीनि—लेप्यचित्रकाष्ठाश्मादिशिल्पानि । च्छिदादि—खण्डनावर्तनभञ्जनादि ॥२२॥

अथ परदारव्यसनव्रतदोषनिषेधार्थमाह—

कन्यादूषणगान्धर्वविवाहादि विवर्जयेत् ।
परस्त्रीव्यसनत्यागव्रतशुद्धिविधित्सया ॥२३॥

कन्यादूषणं—कुमार्या अभिगमनं स्वविवाहनार्थं दोषोद्भावनं वा । विवाहादि—आदिशब्देन झाटविवाहहठहरणादि । मद्य-मांस-व्यसननिवृत्त्योस्त्वतीचाराः प्रागेवोक्ताः ॥२३॥

इदानीं यतो लोकद्वयविरुद्धबुद्ध्या आत्मना विरतिः क्रियते परस्मिन्नपि तत्प्रयोगं तद्व्रतशुद्ध्यर्थं न विदध्यादित्यनुशास्ति—

चोरी व्यसन त्यागके अतीचार कहते हैं—

राजाके प्रतापसे जीवित दायादसे जो गाँव सोना आदि ले लेता है या अपने भाई वगैरहके हिस्सेको छिपा लेता है उस पुरुषका अचौर्य व्रत कैसे पवित्र रह सकता है ॥२१॥

विशेषार्थ—पैतृक सम्पत्तिके हिस्सेदार भाई वगैरहको दायाद कहते हैं। यदि किसी हिस्सेदारका हिस्सा न्यायालयसे झूठा मुकदमा जीतकर भी लिया जाता है तो चोरीका दोष अवश्य लगता है ॥२१॥

शिकार खेलनेके त्यागके अतीचार कहते हैं—

शिकारके त्यागी श्रावकको वस्त्र, ठप्पा तथा काष्ठ, पत्थर, दाँत, धातु आदिपर यह अमुक जीव है इस प्रकारसे स्थापित किये गये जीवोंका छेदन-भेदन आदि नहीं करना चाहिए; क्योंकि यह काम लोकमें भी निन्दनीय माना जाता है ॥२२॥

परस्त्री व्यसन त्यागके दोष बतलाते हैं—

परस्त्रीके त्यागीको परस्त्रीव्यसन त्याग व्रतको निर्दोष करनेकी इच्छासे कन्यादूषण और गान्धर्वविवाह आदि नहीं करना चाहिए ॥२३॥

विशेषार्थ—कुमारीके साथ रमण करना या उसके साथ अपना विवाह करानेके लिए उसे दूषण लगाना कन्या दूषण है। माता-पिता और बन्धु-बान्धवोंकी सम्मतिके बिना वधू और वर परस्परके अनुरागसे जो आपसमें सम्बन्ध कर लेते हैं उसे गान्धर्व विवाह कहते हैं। आदि शब्दसे कन्याका हरण करके उसके साथ विवाह करना आदि लेना चाहिए। इन सब कार्योंसे परस्त्रीत्यागव्रतमें दूषण लगता है ॥२३॥

मद्यव्यसन निवृत्ति और मांस व्यसन निवृत्तिके अतिचार पहले ही कह आये हैं। अब, इस लोक और परलोकका विरोधी जानकर जिस बातका स्वयं नियम लेते हो

व्रत्यते यदिहामुत्राप्यपायावद्यकृत्स्वयम् ।
तत्परेऽपि प्रयोक्तव्यं नैव तद्व्रतशुद्धये ॥२४॥

व्रत्यते—संकल्पपूर्वकं नियम्यते ॥२४॥

अथैवं प्रतिपन्नदर्शनस्य श्रावकस्य स्वप्रतिज्ञानिर्वाहार्थमुत्तरप्रबन्धेन शिक्षां प्रयच्छन्नाह—

अनारम्भवधं मुञ्चेच्चरेन्नारम्भमुद्धुरम् ।
स्वाचाराप्रातिलोम्येन लोकाचारं प्रमाणयेत् ॥२५॥

अनारम्भवधं—तपःसंयमादिसाधनतनुस्थित्यर्थायाः कृष्यादिक्रियाया अन्यत्र प्राणिहिंसाम् । एतेन यदुक्तं स्वामिसमन्तभद्रदेवैः—'दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः' इति दर्शनप्रतिमालक्षणं तदपि संगृहीतं तथाविधहिंसाविरतिविध्युपदेशेन पञ्चाणुव्रतानुसरणविधानोपदेशात् । उद्धुरं—आत्मनिर्वाह्यभरम् । परेण हि कृष्यादिक्रियां कारयतो द्वन्द्वलाघवान्न तादृशी प्रतिज्ञातधर्मकर्मानुष्ठाने गृहिणो विहंस्तता भवति यादृशी तामात्मना कुर्वतः सा स्यात् द्वन्द्वावर्तविवर्तनात् । लोकाचारं—स्वामिसेवाक्रयविक्रयादिकम् ॥२५॥

उस व्रतकी शुद्धिके लिए उसका प्रयोग दूसरेमें भी नहीं करना चाहिए, ऐसा उपदेश देते हैं—

इस लोकमें और परलोकमें सांसारिक अभ्युदय और मोक्षसे भ्रष्ट करनेवाली तथा निन्दनीय जिस वस्तुको स्वयं संकल्पपूर्वक त्यागा जाता है उस व्रतकी निर्मलताके लिए उस त्यागी हुई वस्तुका प्रयोग दूसरे पुरुषमें भी नहीं करना चाहिए॥२४॥

विशेषार्थ—जैसे यदि हमने बुरा जानकर रात्रिभोजनका या अभक्ष्य भक्षणका त्याग किया है तो दूसरोंको भी रात्रिभोजन और अभक्ष्य भक्षण नहीं कराना चाहिए॥२४॥

इस प्रकार दर्शन प्रतिमाको स्वीकार करनेवाले श्रावकको अपनी प्रतिज्ञाके निर्वाहके लिए आगे शिक्षा देते हैं—

दर्शनिक श्रावकको तप संयम आदिके साधन शरीरकी स्थितिके लिए प्रयोजनीभूत कृषि आदि क्रियामें होनेवाली हिंसाके अतिरिक्त जीवहिंसा नहीं करनी चाहिए। तथा ऐसा कृषि आदि आरम्भ नहीं करना चाहिए जिसका भार स्वयंको ही उठाना पड़े। और अपने द्वारा स्वीकृत व्रतोंको हानि न पहुँचाते हुए ही लोकाचार—नौकरी, लेन-देन आदि करना चाहिए॥२५॥

विशेषार्थ—यहाँ जो कृषि आदि क्रियासे अन्यत्र जीव हिंसा न करनेका विधान किया है इससे स्वामि समन्तभद्राचार्यने जो दर्शनिकको 'तत्त्वपथगृह्यः' कहा है उसका संग्रह किया गया है। इस प्रकारकी हिंसाके त्यागके उपदेशसे पाँच अणुव्रतोंके अनुसरणके विधानका उपदेश दिया है। तथा अपने ही ऊपर जिसका पूरा भार हो ऐसा आरम्भ न करनेका जो उपदेश दिया है उसका कारण यह है कि दूसरेसे कृषि आदि करानेसे मनुष्यकी झंझटें कम होनेसे प्रतिज्ञात धर्म कर्मके अनुष्ठानमें वैसी बाधा नहीं पहुँचती जैसी स्वयं ही करनेसे पहुँचती है। तीसरी बात है लोकाचारकी। दर्शनिकको वही लोकाचार मानना चाहिए जिससे उसके द्वारा स्वीकृत व्रतोंमें हानि न पहुँचे। आचार्य सोमदेवने कहा है कि सभी जैनोंको वह लोकाचार मान्य है जिससे सम्यक्त्वमें हानि न हो और न व्रतोंमें दूषण लगे।

---

१. 'सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रत दूषणम्' ॥—सो. उपा., ४८० श्लो.।

अथ धर्मे पत्न्याः सुतरां व्युत्पादनविधिमुपदिशति—

व्युत्पादयेत्तरां धर्मे पत्नीं प्रेम परं नयन् ।
सा हि मुग्धा विरुद्धा वा धर्माद् भ्रंशयतेतराम् ॥२६॥

व्युत्पादयेत्तराम्—अर्थादिव्युत्पाद्याद्धर्मेऽतिशयेन व्युत्पन्नां कुर्यात् ।

यदाह—

'कुलीना भक्तिका शान्ता धर्ममार्गविचक्षणा ।
एकैव विदुषा कार्या भार्या स्वस्य हितैषिणा ॥' [ ]

अथवा धर्मविषये सर्वमपि परिवारजनं च पत्नीं च व्युत्पादयन् पत्नीं ततोऽतिशयेन तत्र व्युत्पादयेदिति व्याख्येयम् । 'सा हि' इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यं धर्ममजानानो विरक्तश्च परिजनो नरं धर्मात्प्रच्यावयति । ततोऽप्यतिशयेन तादृग्विधा गृहिणी तदधीनत्वाद् गृहिणो धर्मकार्याणाम् ।

यदाह मनुः—

'अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥' [मनुस्मृ. ९।२८] ॥२६॥

अथ 'प्रेम परं नयन्' इत्यस्य समर्थनार्थमाह—

यही बात यहाँ भी कही गयी है। जैसे लोकमें सूतक माननेका चलन है तो उसे मानना चाहिए। विवाह कार्यमें बहुत-से लोकाचार चलते हैं। उन्हें गृहस्थ करता है। किन्तु यदि कहीं कुदेव पूजाका चलन हो तो श्रावक उसे नहीं करता। जैसे दीवालीके अवसरपर पूजनमें लक्ष्मी और गणेशका पूजन जैन गृहस्थ नहीं करते। इसी तरह होलिका दहनमें सम्मिलित नहीं होते। शीतलाका प्रकोप होनेपर शीतला देवीकी आराधना नहीं करते। अन्य भी लोक प्रचलित मिथ्यात्व श्रावक नहीं करता। शासन देवताओंकी आराधना भी उसीमें सम्मिलित है ॥२५॥

धर्मके विषयमें पत्नीको स्वयं शिक्षित करनेकी विधि कहते हैं—

दर्शनिक श्रावकको अपने तथा धर्मके विषयमें उत्कृष्ट प्रेम उत्पन्न कराते हुए पत्नीको धर्मके सम्बन्धमें अधिक व्युत्पन्न करना चाहिए। क्योंकि यदि वह धर्मके विषयमें मूढ़ हो या धर्मसे द्वेष करती हो तो धर्मसे दूसरोंकी अपेक्षा अधिक भ्रष्ट कर देती है ॥२६॥

विशेषार्थ—पत्नीको धर्मके विषयमें अधिक व्युत्पन्न करना चाहिए। इससे दो अभिप्राय लिये गये हैं। एक, पत्नीको अर्थ और कामके विषयमें भी व्युत्पन्न करना चाहिए किन्तु धर्मके सम्बन्धमें उनसे भी अधिक व्युत्पन्न करना चाहिए। दूसरे, गृहस्थको अपने परिवारके सभी जनोंको धर्मका ज्ञान कराना चाहिए, किन्तु उनमें भी पत्नीको उनसे अधिक धार्मिक ज्ञान कराना चाहिए; क्योंकि पति-पत्नी गृहस्थाश्रमरूपी गाड़ीके दो पहिये हैं। गाड़ीका यदि एक भी पहिया खराब हुआ तो गाड़ी चल नहीं सकती। अतः यदि पत्नी धर्मसे द्वेष करनेवाली हुई तो वह समस्त परिवारकी अपेक्षा गृहस्थको धर्मसे अधिक च्युत कर सकती है क्योंकि गृहस्थका खान-पान, अतिथि-सत्कार आदि सब उसीपर निर्भर रहता है। कहा है—'अपना हित चाहनेवाले बुद्धिमान् गृहस्थको अपनी भार्याको कुलीन और धर्म मार्गमें विदुषी बनाना चाहिए ॥२६॥

स्त्रीको बड़े प्रेमसे धर्ममें व्युत्पन्न करनेका समर्थन करते हैं—

स्त्रीणां पत्युरुपेक्षैव परं वैरस्य कारणम् ।
तन्नोपेक्षेत जातु स्त्रीं वाञ्छन् लोकद्वये हितम् ॥२७॥

उपेक्षैव न वैरूप्यनिर्धनत्वादि ॥२७॥

अथ 'कुलस्त्रियापि धर्मादिकमिच्छन्त्या भर्तुश्छन्दानुवृत्तिरेव कर्तव्या' इति प्रासङ्गिकीं स्त्रियाः शिक्षां प्रयच्छन्नाह—

नित्यं भर्तृमनीभूय वर्तितव्यं कुलस्त्रिया ।
धर्मश्रीशर्मकीर्त्येककेतनं हि पतिव्रताः ॥२८॥

केतनं गृहं ध्वजा वा । यन्मनुः—

'पतिं या नातिचरति मनोवाक्कायकर्मभिः ।
सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥
व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री [1]लोकान् प्राप्नोति निन्दितान् ।
शृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥' [मनुस्मृ. ५।१६५, १६४] ॥२८॥

अथ कुलस्त्रियामप्यासक्तिं निषेधयन्नाह—

भजेद्देहमनस्तापशमान्तं स्त्रियमन्नवत् ।
क्षीयन्ते खलु धर्मार्थकायास्तदतिसेवया ॥२९॥

स्पष्टम् ॥२९॥

पतिकी उपेक्षा ही स्त्रियोंके अत्यधिक वैरका कारण है। इसलिए इस लोक और परलोकमें सुख और सुखके कारणोंके चाहनेवाले श्रावकको अपनी स्त्रीकी कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ॥२७॥

आगे प्रसंगवश स्त्रीको शिक्षा देते हैं कि उसे पतिकी इच्छाके अनुकूल बर्ताव करना चाहिए—

कुलीन स्त्रियोंको सदा पतिके मनके अनुकूल व्यवहार करना चाहिए; क्योंकि पतिव्रता स्त्रियाँ धर्म, लक्ष्मी, सुख और यशकी एकमात्र ध्वजा होती हैं ॥२८॥

विशेषार्थ—मनुस्मृतिमें भी कहा है—'जो स्त्री मन-वचन-कर्मसे पतिकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करती वह स्वर्गलोकको पाती है और सब उसे साध्वी कहते हैं। जो इसके विपरीत आचरण करती है वह लोकमें निन्दा पाती है और मरकर शृगाल योनिमें जाती है तथा पापसे पीड़ित रहती है' ॥२८॥

धर्म, अर्थ और कामके इच्छुक श्रावकको अपनी धर्मपत्नीमें भी अति आसक्ति करनेका निषेध करते हैं—

दर्शनिक श्रावकको शारीरिक और मानसिक सन्तापकी शान्तिपर्यन्त ही स्त्रीको अन्नकी तरह सेवन करना चाहिए। अन्नकी तरह स्त्रीका भी अतिमात्रामें उपभोग करनेसे धर्म, धन और शरीर नष्ट हो जाते हैं ॥२९॥

विशेषार्थ—विवाह यथेच्छ कामसेवनका लाइसेंस नहीं है, किन्तु विषयासक्तिको सीमित करनेका साधन है। अतः अपनी पत्नीका उपभोग भी अन्नकी ही तरह करना चाहिए। जैसे भूख लगनेपर ही पाचनशक्तिके अनुसार भोजन करना उचित होता है वैसे

---

१. 'लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्'—मनुस्मृ. ।

[पुत्रस्योत्पादनादि-] प्रयत्नविधिमाह—

प्रयतेत सधर्मिण्यामुत्पादयितुमात्मजम् ।
व्युत्पादयितुमाचारे स्ववत्त्रातुमथापथात् ॥३०॥

सधर्मिण्यां—समानो धर्मोऽस्या नित्यमस्तीति नित्ययोगे इन् । कुलस्त्रियामित्यर्थः । यन्मनुः—
'विशिष्टं कुत्रचिद् बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित् ।
उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥' [मनुस्मृ. ९।३४]

आत्मजं—औरसं पुत्रं क्षेत्रजादीनामनभ्युपगमात् । स्मृतिकारा हि द्वादश पुत्रानाहुः । यन्मनुः—
'औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च ।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवास्तु षट् ॥
कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा ।
स्वयं दत्तश्च शौद्रश्च षट् दायादबान्धवाः ॥
स्वक्षेत्रे तु संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम् ।
तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥
यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा ।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥
माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दात्रिमः सुतः ॥
सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् ।
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयस्तु कृत्रिमः ॥
उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्यचित् ।
स्वगृहे गूढ उत्पन्नः तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥
मातृपितृभ्यामुत्सृष्टं ताभ्यामन्तरेण वा ।
यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥
पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥
या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञाताऽपि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥

ही रमणकी अत्यधिक इच्छा होनेपर ही विषयभोग करना चाहिए। उसकी अति करनेसे ही क्षय आदि रोग होते हैं और इस तरह धर्म-कर्म, धन और शरीर मिट्टीमें मिल जाते हैं ॥२९॥

अब पुत्र उत्पन्न करने आदिकी विधि कहते हैं—

दर्शनिक श्रावक अपनी धर्मपत्नीमें औरस पुत्रको उत्पन्न करनेका प्रयत्न करे। अपनी तरह उसे कुल और लोकके व्यवहारमें उत्कृष्ट ज्ञान देनेका प्रयत्न करे। तथा अपनी ही तरह उसे कुमार्गसे बचानेका प्रयत्न करे ॥३०॥

विशेषार्थ—अपनी धर्मपत्नीसे पुत्रोत्पत्तिका प्रयत्न तो सभी करते हैं। किन्तु ग्रन्थकार-ने सधर्मिणी शब्दका प्रयोग किया है जो बतलाता है कि जिसका धर्म अपने समान होता है वह सधर्मिणी ही धर्मपत्नी होती है। पहले भी ग्रन्थकारने साधर्मीको ही कन्या देनेका

क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातृपित्रोर्यमन्तिकात् ।
स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥
या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वात् स पौनर्भव उच्यते ॥
सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा ।
पौनर्भवेण भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥
मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयं दत्तस्तु स स्मृतः ॥
यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम् ।
स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥'

[मनुस्मृ. ९।१५९, १६०, १६६-१७८]

तत्रात्मनो जात आत्मज इत्यन्वर्थतासिद्धयर्थं कुलस्त्रीरक्षायां नित्यं यतितव्यम् । तद्रक्षाविधिर्मनूक्तो यथा—

'अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषये सज्यमानाश्च संस्थाप्या ह्यात्मनो वशे ॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥
सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥
स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥
यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ।
तस्मात् प्रजाविशुद्धयर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥
अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपङ्क्त्यां च पारिणाह्यस्य रक्षणे ॥
पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगेहे वासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥

विधान किया है। अतः सधर्मिणीमें पुत्र उत्पन्न करनेसे जब पति-पत्नीका धर्म समान होगा तो पुत्रके भी संस्कार उत्तम होंगे। तथा उत्तम संस्कारोंके साथ पुत्रको कुलाचार और लोक-व्यवहारका ज्ञान करानेका भी प्रयत्न करना चाहिए। पुत्रको उत्पन्न कर देनेसे ही पिताका कर्तव्य पूरा नहीं होता। और न उसके लिए बहुत-सा धन कमाकर रख देनेसे ही कर्तव्य पूरा होता है। कर्तव्य पूरा होता है पुत्रको लोकव्यवहार और कुलके आचारमें चतुर बनानेसे, साथ ही उसे ऐसा शिक्षित करनेसे कि वह बुरी संगतिमें पड़कर दुराचारी न बने। इसके लिए पिताको प्रारम्भसे ही सावधान रहना होता है। पुत्रोत्पत्तिसे पहले विवाह करते समय यह ज्ञान होना जरूरी है कि विवाह कितनी उम्रमें करना चाहिए और विवाहके बाद पति-पत्नीका सम्बन्ध कैसा होना चाहिए। सन्तान किस तरह पैदा होती है, यह सब ज्ञान विवाहसे पहले करा देना आवश्यक है। इससे युवक और युवती सावधान हो जाते हैं।

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥
यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।
तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालने ।
प्रीत्यर्थं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥'
[मनुस्मृ. ९।२, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १४, २२, २७]

नीतिकारोऽप्यत्राह—'गृहकर्मविनियोगः परिमितार्थत्वमस्वातन्त्र्यं सदा च मातृव्यञ्जनस्त्रीजनावरोध इति कुलवधूनां रक्षणोपाया इति ।'—नीतिवा. ३१-३२ ।

पुत्रोत्पादनविधिस्त्वयमष्टाङ्गहृदयोक्तः—

'पूर्णं षोडशवर्षा स्त्री पूर्णं विंशेन सङ्गता ।
शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ॥
वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाब्दयोः पुनः ।
रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ॥
शुक्रं शुक्लं गुरु स्निग्धं मधुरं बहुलं बहु ।
घृतमाक्षिकतैलाभं सद्गर्भायार्तवं पुनः ॥
लाक्षारसशशास्राभं धौतं यच्च विरज्यते ।
शुद्धशुक्रार्तवं स्वस्थं संरक्तं मिथुनं मिथः ॥
स्नेहैः पुंसवनैः स्निग्धं शुद्धं शीलितवस्तिकम् ।
नरं विशेषात् क्षीराज्यैर्मधुरौषधसंस्कृतैः ॥
नारी तैलेन माषैश्च पित्तलैः समुपाचरेत् ।
क्षामप्रसन्नवदनां स्फुरच्छ्रोणिपयोधराम् ॥
स्रस्ताक्षिकुक्षिं पुंस्कामां विद्यात् ऋतुमतीं स्त्रियम् ।
पद्मं सङ्कोचमायाति दिनेऽतीते यथा तथा ।
ऋतावतीते योनिः स्याच्छुक्रं नातः प्रतीच्छति ॥
मासेनोपचितं रक्तं धमनिभ्यामृतौ पुनः ।
ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखान्नुदेत् ॥
ततः पुष्पेक्षणादेव कल्याणध्यायिनी त्र्यहम् ।
स्रजालङ्काररहिता दर्भसंस्तरशायिनी ॥

वैद्यक ग्रन्थ अष्टांग हृदयमें पुत्रोत्पादनकी विधि इस प्रकार कही है—पूर्ण सोलह वर्षकी स्त्रीका पूर्ण बीस वर्षके युवासे संयोग होनेपर वीर्यवान् पुत्र उत्पन्न होता है। इससे कम उम्रमें यदि सन्तान होती है तो वह रोगी और अल्पायु होती है। पुरुषका वीर्य सफेद, वजनदार, चिक्कण, मीठा, गाढ़ा, परिमाणमें बहुत और घी या मोमकी आभावाला हो तो गर्भधारणके योग्य होता है। स्त्रीका रज लाखके रसके समान या खरगोशके रक्तके समान आभावाला होता है। तथा धोनेपर दूर हो जाता है। शुद्ध रज और वीर्यवाले स्वस्थ दम्पति परस्परमें अनुरक्त होने चाहिए। तभी योग्य सन्तान उत्पन्न होती है। मनुष्यको औषधोंसे युक्त मीठा दूध पीना चाहिए और स्त्रीको तेल, उड़द तथा पित्तकारक पदार्थोंका सेवन करना चाहिए।

क्षैरेयं यावकं स्तोकं कोष्ठशोधनकर्शनम् ।
पर्णे शरावे हस्ते वा भुञ्जीत ब्रह्मचारिणी ॥
चतुर्थेऽह्नि ततः स्नाता शुक्लमाल्याम्बरा शुचिः ।
इच्छन्ती भर्तृसदृशं पुत्रं पश्येत्पुरः पतिम् ॥
ऋतुस्तु द्वादश निशाः पूर्वास्तिस्रोऽत्र निन्दिताः ।
एकादशी च युग्मासु स्यात्पुत्रोऽन्यासु कन्यका ॥
[अष्टांगहृ. (शारीर संस्थान) १।९, १०,१८-२६]

मनुस्त्वाह—

'ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषाः स्युः प्रशस्ता दश रात्रयः ॥' [मनुस्मृ. ३।४६-४७] इति ।
'उपाध्यायोऽथ पुत्रीयं कुर्वीत विधिवद्विधिम् ।
नमस्कारपरायास्तु शूद्राया मन्त्रवर्जितम् ॥
अवन्ध्या एवं संयोगः स्यादपत्यं च कामतः ।
सन्तो ह्याहुरपत्यार्थं दम्पत्योः संगतं रहः ॥
दुरपत्यं कुलाङ्गारो गोत्रे जातं महत्यपि ।
इच्छेतां यादृशं पुत्रं तद्रूपचरितौ च तौ ॥
चिन्तयेतां जनपदांस्तदाचारपरिच्छदान् ।
कर्मान्ते च पुमान् सर्पिः क्षीरशाल्योदनाशिनः ॥
प्राग्दक्षिणेन पादेन शय्यां मौहूर्तिकाज्ञया ।
आरोहेत्स्त्री तु वामेन तस्य दक्षिणपार्श्वतः ॥
तैलमाषोत्तराहारात्तत्र मन्त्रं प्रयोजयेत् ।
सान्त्वयित्वा ततोऽन्योन्यं संविशेतां मुदान्वितौ ॥
उत्ताना तन्मना योषित्तिष्ठेदङ्गे सुसंस्थितैः ।
यथा हि बीजं गृह्णाति दोषैः स्वस्थानमाश्रितैः ॥
लिङ्गं तु सद्यो गर्भाया योन्यां बीजस्य संग्रहः ।
तृप्तिर्गुरुत्व स्फुरणं शुक्रास्रानुबन्धनम् ॥

जब स्त्रीका मुख क्षीण किन्तु प्रसन्न हो, कटि प्रदेश और स्तनोंमें थोड़ा-सा कम्पन हो, आँख और कोख गलित-से प्रतीत हों, पुरुष समागमकी इच्छा हो तो स्त्रीको रजस्वला जानना चाहिए। जैसे दिन बीतनेपर कमल संकुचित हो जाता है वैसे ही ऋतुकाल बीतनेपर योनि संकुचित हो जाती है अतः वह वीर्यको ग्रहण नहीं करती। एक मासमें जो रक्त संचित होता है वह ऋतुकालमें बाहर निकल जाता है। वह रक्त कुछ कालेपनको लिये हुए दुर्गन्ध रहित होता है। उस समय तीन दिन तक स्त्रीको अपने विचार पवित्र रखना चाहिए, अलंकार आदि धारण नहीं करना चाहिए, चटाई वगैरहपर सोना चाहिए, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिए और पेट साफ करनेके लिए हलका दूधमें पकाया जौ पत्ते या सकोरेमें लेना चाहिए। उसके बाद चतुर्थ दिन स्नान करके स्वच्छ सफेद वस्त्र और माला धारण

हृदयस्पन्दनं तन्द्रा तृड् ग्लानिर्लोमहर्षणम् ।
अव्यक्तं प्रथमे मासि सप्ताहात्कललं भवेत् ॥
गर्भः पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्तेः प्रयोजयेत् ।
बली पुरुषकारो हि देवमप्यतिवर्तते ॥
पुष्ये पुरुषकं हैमं राजतं वाऽथवायसम् ।
कृत्वाग्निवर्णं निर्वाप्य क्षीरे तस्याञ्जलिं पिवेत् ॥
गौरदण्डमपामार्गं जीवकर्षभकसैर्यकान् ।
पिवेत् पुष्ये जले पिष्टानेकद्वित्रिः समस्तशः ॥
क्षीरेण श्वेतबृहतीमूलं नामापुटे स्वयम् ।
पुत्रार्थं दक्षिणे सिञ्चेद्वामे दुहितृवाञ्छया ॥
उपचारः प्रियहितैर्भर्त्रा भृत्यैश्च गर्भधृक् ।' [अष्टांगहृ १।२८] इत्यादि ।

आचारे—कुललोकसमयव्यवहारे । त्रातुं—रक्षितुं निर्वर्तयितुमित्यर्थः ॥३०॥

अथ सत्पुत्ररहितेन श्रावकेणोत्तरपदं प्रति प्रोत्साहो दुष्करः स्यादिति दृष्टान्तेनोपष्टम्भयन्नाचष्टे—

विना सुपुत्रं कुत्र स्वं न्यस्य भारं निराकुलः ।
गृही सुशिष्यं गणिवत् प्रोत्सहेत परे पदे ॥३१॥

परे पदे—व्रतकप्रतिमायाम । वानप्रस्थाद्याश्रमे वा ।
पक्षे—आत्मसंस्कारादौ मोक्षे वा ॥३१॥

करके पतिके समान पुत्रकी इच्छा करते हुए सबसे प्रथम पतिका मुख देखना चाहिए। ऋतुकाल बारह दिनका होता है। उसमें पहली तीन रात्रियाँ तथा ग्यारहवीं रात्रि निन्दनीय है। शेष रात्रियोंमें-से सम संख्यावाली रात्रियोंमें समागम करनेसे पुत्र और विषम संख्यावाली रातोंमें समागम करनेसे पुत्री पैदा होती है। यह पुत्रोत्पादनकी प्राचीन आयुर्वेद सम्मत विधि है। इसका ज्ञान विवाहसे पूर्व करा देना उचित है ॥३०॥

सुपुत्रके बिना श्रावकको आगेकी प्रतिमाओंको धारण करनेका उत्साह नहीं होता, यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

उत्तम शिष्यके बिना धर्माचार्यकी तरह अपने समान योग्य पुत्रके बिना दर्शनिक श्रावक अपने परिवार आदिका भार किसपर रखकर निराकुलतापूर्वक आगेकी प्रतिमाओंको या मुनिपदको धारण करनेमें उत्साहित हो सकता है ॥३१॥

विशेषार्थ—वैदिक धर्ममें कहा है कि पुत्रके बिना सद्गति नहीं होती क्योंकि मरनेपर जब पुत्र पिण्डदान करता है तब उसके पूर्वज प्रेतयोनिसे निकलते हैं। किन्तु जैनधर्ममें ऐसा नहीं है। अपनी गति अपने हाथमें है पुत्रके हाथमें नहीं है। फिर भी सद्गतिके लिए गृह त्यागकर धर्माराधन करना आवश्यक होता है। और यह तभी सम्भव है जब घरका भार उठानेमें समर्थ सुपुत्र हो। इसलिए धर्मसाधनके लिए सुपुत्रकी आवश्यकता है। जैसे संघके अधिपति आचार्य जब संघके उत्तरदायित्वसे मुक्त होकर विशेष आत्मकल्याणमें लगना चाहते हैं तो किसी योग्य शिष्यको आचार्य पद प्रदान करके उसपर संघका भार सौंप देते हैं। यदि कोई ऐसा शिष्य न हो तो आचार्य जीवनपर्यन्त संघके भारसे मुक्त नहीं हो सकते। और ऐसी स्थितिमें वे अपना विशेष कल्याण नहीं कर सकते। इसी तरह गृहस्थ

अथ प्रकृतमुपसंहरन् व्रतिकप्रतिमारोहणयोग्यतां चासूत्रयन्नाह—

दर्शनप्रतिमामित्थमारुह्य विषयेष्वरम् ।
विरज्यन् सत्त्वसज्जः सन् व्रती भवितुमर्हति ॥३२॥

विरज्यन्—स्वयमेव विरक्तिं गच्छन् । सत्त्वसज्जः—सात्त्विकभावनिष्ठ इति भद्रम् ॥३२॥

इत्याशाधरदृब्धायां धर्मामृतपञ्जिकायां ज्ञानदीपिकापरसंज्ञायां
द्वादशोऽध्यायः ।

भी सुपुत्रके बिना घरबार छोड़कर आत्मकल्याणमें नहीं लग सकता। अतः गृहस्थाश्रममें रहकर योग्य सन्तान पैदा करना चाहिए ॥३१॥

अब दर्शनप्रतिमाके कथनका उपसंहार करते हुए व्रतिक प्रतिमा धारण करनेकी योग्यता बताते हैं—

इस प्रकार श्रावक दर्शनप्रतिमाका पूर्ण रूपसे पालन करके स्त्री आदि विषयोंमें पाक्षिक-की अपेक्षा और अपनी पहली अवस्थाकी अपेक्षा अधिक विरक्त तथा धीरता आदि सात्त्विक गुणोंसे युक्त होता हुआ व्रती होनेके योग्य होता है ॥३२॥

इस प्रकार पं. आशाधर रचित धर्मामृतके अन्तर्गत सागार धर्मकी भव्यकुमुदचन्द्रिकाटीका
तथा ज्ञानदीपिकापंजिकाकी अनुसारिणी हिन्दी टीकामें प्रारम्भसे बारहवाँ
और सागार धर्मकी अपेक्षा तीसरा अध्याय पूर्ण हुआ ।

त्रयोदश अध्याय (चतुर्थ अध्याय)

अथ व्रतिकप्रतिमामध्यायत्रयेण प्रपञ्चयिष्यन् प्रथमं तावत्तल्लक्षणं संगृह्णन्नाह—

संपूर्णदृग्मूलगुणः निःशल्यः साम्यकाम्यया ।
धारयन्नुत्तरगुणानक्षूणान् व्रतिको भवेत् ॥१॥

शृणोति हिनस्तीति शल्यं शरीरानुप्रवेशिकाण्डादि । शल्यमिव शल्यं कर्मोदयविकारः शारीरमानसबाधाहेतुत्वात् । तत्त्रिविधं मायामिथ्यात्वनिदानभेदात् । तत्र मिथ्यात्वमाये बहुशो प्राग्व्याख्याते । निदानं तु तपःसंयमाद्यनुभावेन काङ्क्षाविशेषः । तद् द्वेधा प्रशस्तेतरभेदात् । प्रशस्तं पुनर्द्वेधं विमुक्तिसंसारनिमित्तभेदात् । तत्र विमुक्तिनिमित्तं कर्मक्षयाद्याकाङ्क्षा । उक्तं च—

'कर्मव्यपायं भवदुःखहानिं बोधिं समाधिं जिनबोधसिद्धिम् ।
आकाङ्क्षतः क्षीणकषायवृत्तेर्विमुक्तिहेतुः कथितं निदानम् ॥' [अमि. श्रा. ७।२१]

जिनधर्मसिद्धयर्थं तु जात्याद्याकाङ्क्षणं संसारनिमित्तम् । उक्तं च—

'जातिं कुलं बन्धुविवर्जितत्वं दरिद्रतां वा जिनधर्मसिद्धयै ।
प्रयाचमानस्य विशुद्धवृत्तेः संसारहेतुर्गदितं निदानम् ॥' [अमित. श्रा. ७।२२]

अप्रशस्तमपि द्वेधा भोगार्थमानार्थभेदात् । घातकत्वादिनिदानस्य मानार्थनिदानेऽन्तर्भावात् । तत्र विमुक्तिनिमित्तमप्यधस्तनभूमिकायामेव प्रशस्तं न पुनः संसारनिमित्तादित्रयं कदाचिदपि पारंपर्येण साक्षाच्च संसारदुःखानुबन्धनिमित्तत्वात् । यदाह—

'मोक्षेऽपि मोहादभिलाषदोषो विशेषतो मोक्षनिषेधकारी ।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो मुमुक्षुर्भवेत्किमन्यत्र कृताभिलाषः ॥' [पद्म. पञ्च. १।५५]

आगे तीन अध्यायोंमें व्रत प्रतिमाका कथन करेंगे। सबसे प्रथम उसका लक्षण कहते हैं—

जिसका सम्यग्दर्शन और मूलगुण परिपूर्ण है, तथा जो माया मिथ्यात्व और निदान रूप तीन शल्योंसे रहित है, और इष्ट विषयोंमें राग तथा अनिष्ट विषयोंमें द्वेषको दूर करने रूप साम्य भावकी इच्छासे निरतिचार उत्तर गुणोंको बिना किसी कष्टके धारण करता है वह व्रतिक होता है ॥१॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन और मूल गुणोंका अन्तरंग आश्रय तो जीवका उपयोग मात्र है और बहिरंग आश्रय चेष्टामात्र है। दोनों ही आश्रयोंसे अतिचार न लगनेपर सम्यग्दर्शन और मूलगुण सम्पूर्ण या अखण्ड होते हैं। जब ये सम्पूर्ण हो जायें तभी श्रावक व्रत प्रतिमाका अधिकारी होता है। इसके साथ ही वह निःशल्य भी होना चाहिए। शरीरमें घुस जानेवाले कील-काँटोंको शल्य कहते हैं क्योंकि वह कष्ट देते हैं। उसी तरह कर्मके उदयसे होनेवाला विकार जीवको शारीरिक और मानसिक कष्ट देता है अतः उसे शल्यके समान होनेसे शल्य कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—माया, मिथ्यात्व और निदान। तत्त्व और देव शास्त्र

शल्यान्निष्क्रान्तो निःशल्यः। ननु च 'सम्पूर्णदृग्मूलगुण' इत्यनेनैव शल्यपरिहारस्य सिद्धत्वाद् व्यर्थमिदमिति चेत्, सत्यं, किन्त्वचिरप्रतिपन्नव्रतस्य पूर्वविभ्रमसंस्कारोपरोप्यमाणतत्परिणामानुसरणनिवारणार्थं भूयो यत्नः क्रियते। उपदेशे च पौनरुक्त्यं न दोषः। यदाह—

'सज्झाय जाण तवओ सहेसु उवएसु थुइपयाणेसु।
सत्तगुणकित्तणासु य ण हुंति पुणरुत्तदोसाओ॥' [ ]

अक्षूणान्—निरतिचारान्। उक्तं च—

'निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः॥' [रत्न. श्रा १३८] ॥१॥

अथ शल्यत्रयोद्धरणे हेतुमाह—

सागारो वाऽनगारो वा यन्निःशल्यो व्रतीष्यते।
तच्छल्यवत्कुदृङ्मायानिदानान्युद्धरेद्व्रुवः॥२॥

गुरुके विषयमें विपरीत अभिप्रायको मिथ्यात्व कहते हैं। ठगनेको माया कहते हैं। तप संयम आदिके प्रभावसे होनेवाली इच्छा विशेषको निदान कहते हैं। निदान प्रशस्त भी होता है और अप्रशस्त भी होता है। प्रशस्त निदानके भी दो भेद हैं—एक मुक्ति निमित्त प्रशस्त निदान और दूसरा संसार निमित्त प्रशस्त निदान। कर्म क्षय आदिकी इच्छा करना मुक्ति निमित्त निदान है और जैन धर्मकी सिद्धिके लिए उच्च जाति आदिकी इच्छा करना संसार निमित्त प्रशस्त निदान है। आचार्य अमितगतिने कहा है—कर्मोंका अभाव, संसारके दुःखकी हानि, दर्शन ज्ञानरूप बोधि, तपरूप समाधि, या समाधिपूर्वक मरण और केवलज्ञानकी सिद्धिको चाहना मुक्ति हेतु निदान है। जिनधर्मकी सिद्धिके लिए जाति, कुल, बन्धु-बान्धवोंका अभाव और दरिद्रपनेको चाहना संसार हेतु निदान है। क्योंकि संसारके बिना जाति आदिकी प्राप्ति नहीं होती। और संसार दुःखोंका घर है। अप्रशस्त निदानके दो भेद हैं—एक भोगके लिए और दूसरा मानके लिए। पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषा भोगार्थ निदान है। और अपनी प्रतिष्ठाकी चाहना मानार्थ निदान है। ये दोनों ही निदान संसारमें भटकानेवाले हैं। अतः संसारके निमित्त निदानकी तो बात ही क्या, मोक्षकी अभिलाषा भी मोक्षमें रुकावट पैदा करनेवाली है। इसलिए मुमुक्षुको अन्यकी अभिलाषा न करके अध्यात्ममें लीन होना चाहिए।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि सम्पूर्ण सम्यग्दर्शन और मूलगुण कहनेसे ही तीनों शल्योंका परिहार हो जाता है तब निःशल्य कहना व्यर्थ ही है। यह शंका उचित है, किन्तु जो नये व्रत धारण करता है उसको पुराने संस्कारवश कदाचित् परिणामोंमें कुछ विकृति हो सकती है। उसीके निवारणके लिए यह कहा है क्योंकि उपदेशमें पुनरुक्तिको दोष नहीं माना जाता। कहा है—'स्वाध्यायमें, ज्ञानार्जनमें, तपमें, उपदेशमें, स्तुतिपदोंमें और गुणकीर्तनमें पुनरुक्तिको दोष नहीं माना है।' ॥१॥

तीनों शल्योंको क्यों दूर करना चाहिए, यह बताते हैं—

यतः गृहस्थ हो या मुनि हो, जो निःशल्य होता है वही व्रती माना जाता है। इसलिए व्रतोंके अभिलाषीको शल्यकी तरह माया, मिथ्यात्व और निदानको हृदयसे निकाल देना चाहिए॥२॥

'निःशल्यो व्रती',—[तत्त्वा. सू. ७।१८]। अत्रेयं भावना, 'शल्यापगमे सत्येव व्रतसंबन्धाद् व्रती मन्यते न हिंसाद्युपरतिमात्रव्रतसंबन्धात्। यथा बहुक्षीरघृतो गोमानिति व्यपदिश्यते। बहुक्षीरघृताभावात् सतीष्वपि गोषु न गोमान्। तथा सशल्यात् सत्स्वपि व्रतेषु न व्रती। यस्तु निःशल्यः स व्रतीति।'—[सर्वार्थ. ७।१८]।

उद्धरेत्—निष्काशयेत्। हृदः—हृदयात् ॥२॥

अथ शल्यसहचारीणि व्रतानि धिक्कुर्वन्नाह—

> **आभान्त्यसत्यदृङ्मायानिदानैः साहचर्यतः।**
> **यान्यव्रतानि व्रतवद् दुःखोदर्काणि तानि धिक् ॥३॥**

दुःखोदर्काणि—दुःखमुदर्कं उत्तरफलं येषां, मिथ्याव्रतानां सुरनरतिर्यग्भवकिंचित्सुखसंपादनपूर्वक-दुर्वारदुर्गतिदुःखानुबन्धनिबन्धनत्वात् ॥३॥

अथोत्तरगुणनिर्णयार्थमाह—

> **पञ्चधाऽणुव्रतं त्रेधा गुणव्रतमगारिणाम्।**
> **शिक्षाव्रतं चतुर्धेति गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे ॥४॥**

विशेषार्थ—तत्त्वार्थ सूत्रमें (७।१८) निःशल्यको व्रती कहा है। उसकी टीका सर्वार्थसिद्धिमें यह शंका की गयी है कि शल्यका अभाव होनेसे निःशल्य और व्रत धारण करनेसे व्रती होता है, निःशल्यसे व्रती कैसे हो सकता है? क्या देवदत्त दण्ड हाथमें लेनेसे छातेवाला हो सकता है? इसके समाधानमें कहा है कि व्रती होनेके लिए दोनों बातोंका होना आवश्यक है। यदि शल्योंका अभाव न हो तो केवल हिंसा आदिके त्याग करनेसे व्रती नहीं होता। शल्योंका अभाव होनेपर व्रत धारण करनेसे व्रती होता है। जैसे जिसके घर बहुत दूध-घी होता है उसे गोमान् कहते हैं। बहुत दूध-घी न होनेपर बहुत-सी गाय होते हुए भी गोमान् नहीं कहते। उसी तरह यदि शल्य हैं तो व्रत धारण करनेपर भी व्रती नहीं है ॥२॥

आगे शल्यके सहचारी व्रतोंकी निन्दा करते हैं—

मिथ्यात्व, मायाचार और निदानके साथ होनेसे जो अव्रत व्रतकी तरह प्रतीत होते हैं; उनका उत्तरफल दुःख ही है, उन व्रताभासोंको धिक्कार है ॥३॥

विशेषार्थ—जिसको सात तत्त्वोंकी और देव शास्त्र गुरुकी यथार्थ प्रतीति नहीं है, भले ही वह जन्मसे जैन हो और स्वर्गोंके लोभसे व्रत धारण किये हो, फिर भी वह शास्त्रानुसार व्रती, श्रावक या साधु नहीं है। और ऐसे व्रतोंसे आगामी जन्ममें दुःख ही भोगना पड़ता है ॥३॥

अब श्रावकके उत्तरगुण कहते हैं—

पाँच प्रकारका अणुव्रत, तीन प्रकारका गुणव्रत और चार प्रकारका शिक्षाव्रत, ये गृहस्थोंके बारह उत्तरगुण होते हैं ॥४॥

---

१. 'पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि। सिक्खावय चत्तारि संजमचरणं च सायारं ॥'—चरित्तपाहुड़, गा. २। 'गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम्। पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातम्' ॥—रत्न. श्रा., ५१ श्लो.। 'अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिःप्रकारगुणव्रतम्। शिक्षाव्रतानि चत्वारि इत्येतद्द्वादशात्मकम् ॥'—वरांग चरित १५।१११। 'व्रतान्यणूनि पञ्चैषां शिक्षा चोक्ता चतुर्विधा। गुणास्त्रयो यथाशक्ति नियमास्तु सहस्रशः ॥'—पद्म पु. १४।१८३। पद्म. पंच. ६।२४। अमित. श्रा. ६।२।

अणुव्रतं—महाव्रतापेक्षया लघुव्रतमहिंसादि। अस्य पञ्चधात्वं बहुमतत्वाद्विवक्ष्यते। क्वचित्तु रात्र्यभोजनमप्यणुव्रतमुच्यते। यथाह चारित्रसारे—

'बधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद् ग्रन्थान्निवर्तनम्।
पञ्चधाणुव्रतं रात्र्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम् ॥' [ ]

गुणव्रतं—गुणार्थमणुव्रतानामुपकारार्थं व्रतं, दिग्विरत्यादीनामणुव्रतानुबृंहणार्थत्वात्। शिक्षाव्रतं—शिक्षायै अभ्यासाय व्रतम्। देशावकाशिकादीनां प्रतिदिवसाभ्यसनीयत्वात्। अत एव गुणव्रतादस्य भेदः। गुणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविकमाहुः। अथवा शिक्षा—विद्योपदानम्। शिक्षा प्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतं देशावकाशिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञानभावनापरिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात्। उत्तरे—मूलगुणानन्तरसेव्यत्वादुत्कृष्टत्वाच्च। तदुक्तम्—

'मद्यादिभ्यो विरतैर्व्रतानि कार्याणि भक्तितो भव्यैः।
द्वादश तरसा छेत्तुं शस्त्राणि सितानि भववृक्षम् ॥' [अमि. श्रा. ६।१] ॥४॥

अथ सामान्येन पञ्चाणुव्रतानि लक्षयन्नाह—

विरतिः स्थूलवधादेर्मनोवचोऽङ्गकृतकारितानुमतैः।
क्वचिदपरेऽप्यननुमतैः पञ्चाहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः ॥५॥

विरतिरित्यादि। स्थूलजीवादिविषयत्वान्मिथ्यादृष्टीनामपि हिंसादित्वेन प्रसिद्धत्वाद्वा। स्थूलवधादिः—स्थूलहिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहा इत्यर्थः। ततो मनसा वचसा कायेन च पृथक्करणकारणानुमननैर्निवृत्तिरहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाख्यानि पञ्चाणुव्रतानि क्वचिद् गृहवासनिवृत्ते श्रावके भवेयुरित्युत्कर्षवृत्त्याणुव्रतान्युपदिश्यन्ते। यानि त्वपरे गृहवासनिरते श्रावके अननुमतैरनुमतिविवर्जितैर्मनस्करणादिभिः षड्भिः

विशेषार्थ—महाव्रतकी अपेक्षा लघु अहिंसादि व्रतोंको अणुव्रत कहते हैं। हिंसा आदि पाँचों पापोंके सर्वदेश त्यागको महाव्रत और एकदेश त्यागको अणुव्रत कहते हैं। अणुव्रत पाँच हैं। चारित्रसारमें रात्रिभोजन त्यागको छठा अणुव्रत कहा है किन्तु बहुमतसे अणुव्रत पाँच ही हैं। गुणव्रत तीन हैं। गुणका अर्थ है उपकार। जो व्रत अणुव्रतोंका उपकार करते हैं, उनकी वृद्धि आदिमें सहायक होते हैं उन्हें गुणव्रत कहते हैं। तथा जो व्रत शिक्षा अर्थात् अभ्यासके लिए होते हैं उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं क्योंकि इनका अभ्यास प्रतिदिन किया जाता है। इसी कारणसे गुणव्रतोंसे शिक्षाव्रतमें भेद है। क्योंकि गुणव्रत प्रायः जीवनपर्यन्त होते हैं। अथवा शिक्षाप्रधान व्रतको शिक्षाव्रत कहते हैं। अर्थात् जो विशिष्ट श्रुतज्ञान भावनारूप परिणत होते हैं वे ही शिक्षा व्रतोंका निर्वाह कर सकते हैं। ये चार हैं। इस तरह श्रावकोंके बारह उत्तरगुण हैं। गुण कहते हैं संयमके भेदोंको। ये मूलगुणोंके पश्चात् पाले जाते हैं इसलिए और उत्कृष्ट होनेसे उत्तरगुण कहलाते हैं। आचार्य अमितगतिने कहा है—'मद्य आदिके त्यागी भव्यको बारह व्रत पालने चाहिए। ये संसारवृक्षको छेदनेके लिए तीक्ष्ण शस्त्र हैं ॥४॥

सामान्यसे पाँच अणुव्रतोंका लक्षण कहते हैं—

गृहत्यागी श्रावकमें मन, वचन, काय और इनमें-से प्रत्येकके कृत, कारित, अनुमोदना, इस प्रकार नौ भंगोंके द्वारा स्थूल हिंसा आदिका त्याग पाँच अहिंसा आदि अणुव्रत होते हैं। और घरमें रहनेवाले श्रावकमें अनुमोदनाको छोड़कर शेष छह भंगोंके द्वारा स्थूल हिंसा आदिक त्यागरूप पाँच अहिंसा आदि अणुव्रत होते हैं ॥५॥

स्थूलहिंसाविनिवृत्त्या संपद्यन्ते तानि मध्यमवृत्त्याणुव्रतानि अभिमन्यन्ते । तस्यापत्याविभिः हिंसादिकरणे तत्कारणे वा अनुमतेरशक्यप्रतिषेधत्वात् । स एव द्विविधत्रिविधाख्यः स्थूलहिंसादिविरतिभङ्गो बहुविषयत्वाज्ज्यायान् ।

'अनुयायात्प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम् ।' [ ]

इत्यन्यैरप्यभिधानाच्च । यथाह—

'द्विविधा त्रिविधेन मता विरतिर्हिंसादितो गृहस्थानाम् ।
त्रिविधा त्रिविधेन मता गृहचारकतो निवृत्तानाम् ॥' [अमि. श्रा. ६।१९]

अपिशब्दः प्रकारान्तरेणापि स्थूलहिंसाविनिवृत्तेरणुव्रतत्वख्यापनार्थम् । शक्त्या हि व्रतं प्रतिपन्नं सुखनिर्वाहं श्रेयोऽर्थं च स्यात् ।

यन्नीतिः—

'तद्व्रतमाश्रयितव्यं यत्र न संशयतुलामारोहतः शरीरमनसी ।'

[नीतिवा. १।९] इति

तथैव ठक्कुरोऽप्यपाठीत—

'कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा ।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ॥' [पुरुषार्थ. ७६]

तद्विरतिभङ्गाः करणत्रिकेण योगत्रिकेण च विशेष्यमाणा एकोनपञ्चाशद् भवन्ति । यथा—हिंसां न करोति मनसा १ वाचा २ कायेन ३ मनसा वाचा ४ मनसा कायेन ५ वाचा कायेन ६ मनसा वाचा कायेन ७ एते करणेन सप्त भङ्गाः । एवं कारणेन सप्त । अनुमत्यापि सप्त । तथा हिंसां न करोति न कारयति च मनसा १ वाचा २ कायेन ३ मनसा वाचा ४ मनसा कायेन ५ वाचा कायेन ६ मनसा वाचा कायेन ७ । एते करण-कारणाभ्यां सप्त । एवं करणानुमतिभ्यां सप्त । कारणानुमतिभ्यामपि सप्त । करणकारणानुमतिभिरपि सप्त ।

विशेषार्थ—जैनधर्ममें जीवोंके दो भेद किये हैं—त्रस और स्थावर। त्रस जीव स्थूल होनेसे चलते-फिरते दृष्टि गोचर होते हैं उनकी हिंसाको स्थूल हिंसा कहते हैं और उसके त्यागको अहिंसाणुव्रत कहते हैं। स्नेह और मोह आदिके वशीभूत होकर ऐसा झूठ बोलना जिससे कोई घर उजड़ जाये या गाँव ही नष्ट हो जाये, उसे स्थूल असत्य कहते हैं और उसका त्याग दूसरा सत्याणुव्रत है। जिससे दूसरेको कष्ट हो और राजदण्डका भय हो ऐसी दूसरेकी वस्तुको ले लेना स्थूल चोरी है और उसका त्याग तीसरा अचौर्याणुव्रत है। परस्त्री और वेश्यासे सम्भोग न करना चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुव्रत है। धन, धान्य, जमीन-जायदाद आदिका इच्छानुसार परिमाण करना पाँचवाँ परिग्रहपरिमाण अणुव्रत है। ये स्थूल हिंसा आदि मनसे, वचनसे, कायसे तथा कृत कारित और अनुमोदनासे किये जाते हैं। अतः जो श्रावक गृहवाससे निवृत्त हो गया है वह मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनु-मोदनासे पाँचों स्थूल हिंसा आदिका त्याग करता है। ये उत्कृष्ट अणुव्रत कहे जाते हैं। किन्तु जो श्रावक घरमें रहता है वह अनुमोदना सम्बन्धी तीन विकल्पोंको छोड़कर शेष छह विकल्पोंसे ही स्थूल हिंसा आदिका त्याग करता है। उन्हें मध्यम अणुव्रत कहते हैं। क्योंकि घरमें रहनेवाले श्रावकके पुत्र-पौत्रादि जो हिंसा आदि करते या कराते हैं उनकी अनुमतिसे वह नहीं बच सकता, उनमें उसकी अनुमति होती है। इस प्रकार स्थूल हिंसा आदिकी

---

१. त्रिविधा द्विविधेन—अमि. श्रा. । १. मा चरितव्यं—नीतिवा. ।

एवं सर्वे मिलिता एकोनपञ्चाशद् भवन्ति ॥४९॥ एते च त्रिकालविषयत्वात्प्रत्याख्यानस्य कालत्रयेण गुणिताः सप्तचत्वारिंशदधिकं शतं भवन्ति ॥१४७॥ त्रिकालविषयता चातीतस्य निन्दया साम्प्रतिकस्य संवरणेनानागतस्य च प्रत्याख्यानेनेति । एते भङ्गा अहिंसाव्रतवद् व्रतान्तरेष्वपि द्रष्टव्याः । अत्रेयं भावना दिक् । तत्र तावद् बाहुल्येनोपदेशाद् द्विविधत्रिविधभङ्गमाश्रित्योच्यते । स्थूलहिंसा न करोत्यात्मना न कारयत्यन्येन मनसा वचसा कायेन चेति । तथा स्थूलहिंसा न करोति न कारयति मनसा वचसा, यद्वा मनसा कायेन, यद्वा वाचा कायेनेति । तत्र यदा मनसा वाचा न करोति न कारयति तदा मनसा अभिसन्धिरहित एव वाचापि हिंसकमब्रुवन्नेव कायेनैव दुश्चेष्टितादिना असंज्ञिवत् करोति । यदा तु मनसा कायेन न करोति न कारयति तदा मनसाभिसन्धिरहित एव कायेन दुश्चेष्टितादि परिहरन्नेवाभोगाद् वाचैव हन्मि घातयामि वेति ब्रूते । यदा तु वाचा कायेन न करोति न कारयति तदा मनसैवाभिसन्धिमधिकृत्य करोति कारयति च । अनुमतिस्तु त्रिभिरपि सर्वत्रैवास्ति । एवं शेषविकल्पा अपि भावनीयाः । उक्तं च—

'विरतिः स्थूलहिंसादेर्द्विविधा त्रिविधा......ना ।
अहिंसादीनि पञ्चाणुव्रतानि जगदुर्जिनाः ॥' [ ]

किंच, स्थूलग्रहणमुपलक्षणम् । तेन निरपराधसंकल्पपूर्वकहिंसादीनामपि ग्रहणम् । एतेन—

'दण्डो हि केवलो लोकमिमं चामुं च रक्षति ।
राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथादोषं समं धृतः ॥' [ ]

इति वचनादपराधकारिषु यथाविधि दण्डप्रणेतॄणामपि चक्रवर्त्यादीनामणुव्रतादिधारणं पुराणादिषु बहुशः श्रूयमाणं न विरुध्यते, आत्मीयपदवीशक्त्यनुसारेण तैः स्थूलहिंसादिविरतेः प्रतिज्ञानात् । तत्रार्षे चक्रलाभोत्तरकालं पुरुदेवदेशनाप्रतिबुद्धस्य भरतराजर्षेः व्रतादिलाभवर्णनं यथा—

'ततः सम्यक्त्वशुद्धिं च व्रतशुद्धिं च पुष्कलाम् ।
निष्कलां भरतो भेजे परमानन्दमुद्वहन् ॥' [ ]

निवृत्तिके अनेक प्रकार हैं क्योंकि शक्तिके अनुसार धारण किया गया व्रत यदि सुखपूर्वक पाला जाता है तो वह कल्याणकारी होता है। उन हिंसा आदिकी विरतिके भंग कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, कायके संयोगसे ४९ होते हैं। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—१. मनसे हिंसा नहीं करता। २. वचनसे हिंसा नहीं करता। ३. कायसे हिंसा नहीं करता। ४. मन और वचनसे हिंसा नहीं करता। ५. मन और कायसे हिंसा नहीं करता। ६. वचन और कायसे हिंसा नहीं करता। ७. मन, वचन और कायसे हिंसा नहीं करता। ये स्वयं न करनेकी अपेक्षा सात भंग होते हैं। इसी तरह न कराने और न अनुमति देनेकी अपेक्षा भी सात-सात भंग होते हैं। १. मनसे न हिंसा करता है और न कराता है। २. वचनसे न हिंसा करता है और न कराता है। ३. कायसे हिंसा न करता है न कराता है। ४. मन और वचनसे न हिंसा करता है न कराता है। ५. मन और कायसे हिंसा न करता है न कराता है। ६. वचन और कायसे हिंसा न करता है न कराता है। ७. मन, वचन, कायसे हिंसा न करता है न कराता है। ये करने और न करानेकी अपेक्षा सात भंग होते हैं। इसी तरह न करने और न अनुमति देनेकी अपेक्षा भी सात भंग होते हैं, न कराने और न अनुमति देनेकी अपेक्षा भी सात भंग होते हैं, तथा न करना, न कराना और न अनुमति देनेकी अपेक्षा भी सात भंग होते हैं। ये सब मिलकर ४९ होते हैं। चूँकि त्याग तीनों कालोंको लेकर किया जाता है जो भूतकालमें पाप किये हैं उनकी निन्दा की जाती है, जो वर्तमानमें सम्भव हैं उन्हें रोका जाता है और जो भावी हैं उन्हें त्यागा

अपि च—

'स लेभे गुरुमाराध्य सम्यग्दर्शननायकाम् ।
व्रतशीलावलिं मुक्तेः कण्ठिकामिव निर्मलाम् ॥' [महापु. २४।१६३, १६५]

तथा तस्यैव राजर्षेः स्वप्नार्थं शान्तिकर्मानन्तरं चतुर्विधश्रावकधर्ममनुतिष्ठतः शीलवर्णनं यथा—

'शीलानुपालने यत्नो विभोरस्य महानभूत् ।
शीलं हि रक्षितं यत्नादात्मानमनुरक्षति ॥
व्रतानुपालनं शीलं व्रतान्युक्तान्यगारिणाम् ।
स्थूलहिंसाविरत्यादिलक्षणानि विचक्षणैः ॥
सभावनानि तान्येष यथायोग्यं प्रपालयन् ।
प्रजानां पालकः सोऽभूद्धौरेयो गृहमेधिनाम् ॥' [महापु. ४१।१०९-१११]

तथा शान्तिपुराणे अपराजितराजस्य सगमहाकविरपि श्रावकधर्मस्वीकारमुवाच—

'जाततत्त्वरुचिः साक्षात्तत्राणुव्रतपञ्चकम् ।
भव्यतानुगृहीतत्वादगृहीदपराजितः ॥' [ ]

जाता है इस तरह तीन कालोंकी अपेक्षा ४९×३=१४७ भेद होते हैं। ये भेद अहिंसा व्रतकी तरह शेष सत्यादि व्रतोंमें भी होते हैं। दो और तीन भंगोंको लेकर भी भेद बतलाते हैं—मन, वचन, कायसे स्थूल हिंसा न स्वयं करता है न दूसरेसे कराता है। मन और वचनसे स्थूल हिंसा न स्वयं करता है और न दूसरेसे कराता है। मन और कायसे स्थूल हिंसा न स्वयं करता है और, न दूसरेसे कराता है। मन और कायसे स्थूल हिंसा न स्वयं करता है और न दूसरोंसे कराता है। वचन और कायसे स्थूल हिंसा न स्वयं करता है, न दूसरेसे कराता है। जब मनसे और वचनसे न करता है न कराता है तब मनसे तो मारनेका अभिप्राय नहीं है, वचनसे भी हिंसकको नहीं कहता, किन्तु शरीरसे ही संकेत आदि करता है। जब मनसे और कायसे न करता है न कराता है तब मनसे तो अभिप्राय-रहित है ही शरीरसे भी संकेतादि नहीं करता, केवल वचनसे ही कहता है कि मैं मारूँ या मैं घात करवाऊँ। जब वचन और कायसे न करता है न कराता है तब केवल मानसिक अभिप्रायसे ही करता और कराता है। किन्तु सर्वत्र ही मन, वचन, कायसे अनुमति तो है ही। इसी प्रकार अन्य विकल्प भी विचार लेना चाहिए।

'स्थूल' शब्दका ग्रहण तो उपलक्षण है। उससे निरपराध जीवोंकी संकल्पपूर्वक हिंसा आदि भी लेना चाहिए। आगे बतलायेंगे कि संकल्पी हिंसा एकदम छोड़ने योग्य है। अब प्रश्न होता है कि पुराण आदिमें कथन आता है कि चक्रवर्ती आदि राजन्यवर्ग भी अणुव्रत धारण करता था। किन्तु राजाको तो अपराधियोंको कानूनके अनुसार दण्ड देना होता है तब वे अहिंसाणुव्रतका पालन कैसे कर सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि राजा निष्पक्ष होकर जो शत्रु और पुत्रको दोषानुसार दण्ड देता है उसका वह दण्ड इस लोककी भी रक्षा करता है क्योंकि उससे अपराध रुकते हैं और परलोककी भी रक्षा करता है। इस नीतिके अनुसार जो प्रशासक होता है वह अपनी पदवी और शक्तिके अनुसार स्थूल हिंसा आदिका त्याग करता है। अतः उसमें कोई विरोध नहीं आता। महापुराणमें चक्ररत्नकी प्राप्तिके पश्चात् भगवान् ऋषभदेवके उपदेशसे प्रतिबुद्ध राजर्षि भरतके व्रतादि ग्रहणके वर्णनमें कहा है—'भगवानका उपदेश सुननेके अनन्तर परमानन्दका अनुभव करते हुए भरतने सम्पूर्ण

एतदेव चानुसरन् हेमचन्द्रोऽपीदमवोचत्—

'पङ्गु कुष्ठिकुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः ।
निरागस्त्रसजन्तूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत् ॥' [योगशास्त्र २।१९] ॥५॥

अथ स्थूलविशेषणं व्याचष्टे—

स्थूलहिंस्याद्याश्रयत्वात् स्थूलानामपि दुर्दृशाम् ।
तत्त्वेन वा प्रसिद्धत्वाद् वधादि स्थूलमिष्यते ॥६॥

स्थूलेत्यादि । स्थूला—बादरा हिंस्यादयो—हिंस्य-भाष्य-मोष्य-परिभोग्यपरिग्राह्या आश्रया आलम्बनानि यस्य तत्तदाश्रयं तद्भावात् । तत्त्वेन—वधादिभावेन । वा शब्देन स्थूलकृतत्वाच्चेति समुच्चीयते ॥६॥

इदानीमौत्सर्गिकमहिंसाणुव्रतं व्याचष्टे—

सम्यक्त्व विशुद्धि और व्रतविशुद्धिको समझा । तथा भगवान्‌की आराधना करके सम्यग्दर्शनपूर्वक व्रतशीलावलीको जो मुक्तिकी निर्मल कण्ठीके समान है, धारण किया ।'

तथा उसी राजर्षि भरतके स्वप्नोंकी शान्तिके लिए शान्तिकर्म करनेके अनन्तर चार प्रकारके श्रावक धर्मका पालन करते हुए शीलका वर्णन इस प्रकार किया है—'महाराज भरतने शीलोंके अनुपालनमें महान् प्रयत्न किया । क्योंकि शीलकी रक्षा करनेसे आत्माकी रक्षा होती है । व्रतोंके पालनका नाम ही शील है । गृहस्थोंके स्थूल हिंसा विरति आदि व्रत कहे हैं । भावना सहित उन व्रतोंका यथायोग्य पालन करते हुए प्रजापालक भरत गृहस्थोंका अग्रणी हो गया ।'

तथा शान्तिपुराणमें असग महाकविने अपराजित राजाके श्रावक धर्म स्वीकार करनेका कथन किया है । यथा—

'भव्यत्वभावके अनुग्रहसे तत्त्वोंमें रुचि होनेपर अपराजित राजाने पाँच अणुव्रतोंको स्वीकार किया ।'

इसीका अनुसरण करते हुए हेमचन्द्राचार्यने भी कहा है—

'हिंसाका फल पंगुपना, कुष्ठिपना, कानापना आदि देखकर बुद्धिमान्‌को निरपराध त्रस जन्तुओंकी संकल्पी हिंसा छोड़ देनी चाहिए ।' ॥५॥

स्थूल विशेषणको स्पष्ट करते हैं—

स्थूल प्राणीकी हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी आदिके आश्रय होनेसे तथा स्थूल बुद्धिवाले मिथ्यादृष्टियोंकी दृष्टिमें भी हिंसा, झूठ आदिके रूपमें प्रसिद्ध होनेसे हिंसा आदिको स्थूल कहा है ॥६॥

विशेषार्थ—स्थूलका अर्थ होता है मोटा । यह सूक्ष्मका उलटा है । हिंसा आदिको स्थूल कहनेके दो हेतु दिये हैं । प्रथम, चलते-फिरते दिखाई देते प्राणीकी हिंसा स्थूल हिंसा है क्योंकि जिसकी हिंसा की गयी वह स्थूल है, सूक्ष्म नहीं है । इसी तरह स्थूल झूठ वगैरह भी समझना । दूसरे, ऐसी हिंसा वगैरहको साधारण लोग भी हिंसा, झूठ आदि कहते हैं । अतः उसे स्थूल कहा है । सारांश यह है कि जिसे आम लोग भी हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार और परिग्रह कहते हैं, उनका त्याग अणुव्रती करता है ॥६॥

अब अहिंसाणुव्रतका लक्षण कहते हैं—

शान्ताद्यष्टकषायस्य संकल्पैर्नवभिस्त्रसान् ।
अहिंसतो दयार्द्रस्य स्यादहिंसेत्यणुव्रतम् ॥७॥

संकल्पैरुत्तरसूत्रद्वयनिर्दिष्टैर्हिंसाभिसन्धिभिः । नवभिः मनोवाक्कायैः पृथक्करणकारणानुमननैरित्यर्थः । अत्र करणग्रहणं कर्तुः स्वातंत्र्यप्रतिपत्त्यर्थं, कारणाश्रयणं परप्रयोगापेक्षं, अनुमननोपादानं प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थम् । तथाहि—मनसा त्रसहिंसां स्वयं न करोमि, त्रसान् हिनस्मीति मनःसंकल्पं न करोमीत्यर्थः । तथा मनसा त्रसहिंसामन्यं न कारयामि, त्रसान् हिंसय हिंसयेति मनसा अन्यप्रयोजको न भवामीत्यर्थः । अत्र हिंसयेति हन्त्यर्थाच्चेति हिनस्तेश्चुरादिपाठाण्णिजन्तस्य रूपम् । तथाऽन्यं त्रसहिंसां कुर्वन्तं मनसा नानुमन्ये सुन्दरमनेन क्रियत इति मनःसंकल्पं न करोमि इत्यर्थः । एवं वाचा स्वयं त्रसहिंसां न करोमि, त्रसान् हिनस्मीति स्वयं वाचं नोच्चारयामीत्यर्थः । तथा वाचा त्रसहिंसां न कारयामि, 'त्रसान् हिंसय हिंसयेति वाचं नोच्चारयामीत्यर्थः । [तथाऽन्यं त्रसहिंसां कुर्वन्तं वाचा नानुमन्ये 'साधु क्रियते त्वया' इति वाचं नोच्चारयामीत्यर्थः] तथा कायेन त्रसहिंसां स्वयं न करोमि त्रसहिंसने दृष्टिमुष्टिसन्धाने स्वयं कायव्यापारं न करोमीत्यर्थः । तथा कायेन त्रसहिंसां न कारयामि, त्रसहिंसने हस्तादिसंज्ञया कायेन परं न प्रेरयामीत्यर्थः । तथा त्रसहिंसा कुर्वन्तमन्यं कायेन नानुमन्ये, त्रसहिंसने प्रवर्तमानमन्यं नखच्छोटिकादिना नाभिनन्दामीत्यर्थः । यत्स्वामी—

'संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान् ।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलबधाद्विरमणं निपुणाः ॥' [रत्न. श्रा. ५३] ॥७॥

आदिकी आठ कषायोंके—अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभके—शान्त होनेपर जो दयालु नौ संकल्पोंसे त्रस जीवोंकी हिंसा नहीं करता, उसके अहिंसाणुव्रत होता है ॥७॥

विशेषार्थ—अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयमें जीवके परिणाम हिंसा आदिसे निवृत्त नहीं होते। जब ये दोनों प्रकारकी कषाएँ शान्त रहती हैं अर्थात् इनका क्षयोपशम हो जाता है तब जीवके परिणामोंमें सच्ची दयालुताका भाव आता है और वह मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदनारूप नौ संकल्पोंके द्वारा दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंके द्रव्य प्राण और भाव प्राणोंका घात न करनेका नियम लेता है। यद्यपि गृहस्थाश्रममें रहनेके कारण प्रयोजनवश उसे कदाचित् स्थावर जीवोंके घातमें प्रवृत्ति करनी पड़ती है फिर भी उसका हृदय दयासे भीगा होता है। इसीको अहिंसाणुव्रत कहते हैं। आचार्य समन्तभद्रके रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें भी अहिंसाणुव्रतका यही लक्षण किया है। नौ संकल्पोंको आगे कहेंगे फिर भी यहाँ उन्हें स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा। कृत कर्ताकी स्वतन्त्रताका बोध कराता है। कारितका अर्थ है दूसरेसे कराना। और अनुमत प्रयोजकके मनके भाव बतलाता है। यथा—मैं स्वयं त्रसहिंसा नहीं करता हूँ अर्थात् 'त्रसोंको मारूँ' इस प्रकारका मनमें संकल्प नहीं करता हूँ। तथा मनसे अन्यसे त्रसहिंसा नहीं कराता हूँ, अर्थात् त्रसोंको मारो-मारो, इस प्रकार मनसे अन्यका प्रयोजक नहीं होता हूँ। तथा त्रसहिंसा करनेवाले अन्य व्यक्तिकी मनसे अनुमोदना नहीं करता हूँ, अर्थात् यह सुन्दर कार्य करता है इस प्रकारका मनमें संकल्प नहीं करता हूँ। इसी प्रकार वचनसे स्वयं त्रसहिंसा नहीं करता

---

१. 'तसघादं जो ण करदि मणवयकायेहि णेव कारयदि ।
कुव्वंतं पि ण इच्छदि पढमवयं जायदे तस्स ॥'—कार्तिकेयानु. ३३२ गा. ।

एतदेव पद्यद्वयेन संगृह्णन्नाह—

इमं सत्त्वं हिनस्मीति हिन्धि हिन्ध्येष साध्विमम् ।
हिनस्तीति वधं नाभिसन्दध्यान्मनसा गिरा ॥८॥
वर्तेत न जीववधे करादिना दृष्टिमुष्टिसन्धाने ।
न च वर्तयेत्परं तत्परे नखच्छोटिकादि न च रचयेत् ॥९॥

इमं—पुरोवर्तिनं, हिन्धि हिन्धि-मारय मारय । नाभिसन्दध्यात्—न संकल्पयेत् ॥८॥

दृष्टीत्यादि । उक्तं च—

'गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत् ।'

अपि च—

'आसनं शयनं यानं मार्गमन्यत्र तादृशम् ।
अदृष्टं तन्न सेवेत यथाकाल भजन्नपि ॥' [सो उपा. ३२१-३२२]

तत्परे—जीवबन्धे स्वयमेव प्रवर्तमाने पुंसि ॥९॥

हूँ, अर्थात् मैं त्रसोंको मारता हूँ इस प्रकारका वचन स्वयं नहीं बोलता। तथा वचनसे त्रसहिंसा नहीं कराता हूँ अर्थात् त्रसोंको मारो-मारो इस प्रकारके वचन नहीं बोलता हूँ। त्रसहिंसा करनेवाले दूसरे व्यक्तिकी वचनसे अनुमोदना नहीं करता हूँ। अर्थात् तुम अच्छा करते हो, ऐसे वचन नहीं बोलता हूँ। तथा कायसे स्वयं त्रसहिंसा नहीं करता, अर्थात् त्रस-को मारनेमें स्वयं शारीरिक व्यापार नहीं करता। कायसे त्रसहिंसा नहीं कराता, अर्थात् त्रसों को मारनेमें हाथ आदिके संकेतसे दूसरेको प्रेरित नहीं करता। त्रसहिंसा करनेवालेकी कायसे अनुमोदना नहीं करता अर्थात् त्रसहिंसा करनेवालेका नख, चुटकी आदिसे अभिनन्दन नहीं करता हूँ। यह नौ संकल्पोंसे हिंसाका त्याग है ॥७॥

उक्त नौ संकल्पोंको दो श्लोकोंसे कहते हैं—

मैं इस प्राणीको मारता हूँ, तुम इस प्राणीको मारो-मारो, यह पुरुष इस प्राणीको अच्छा मारता है, इस प्रकारसे मनके द्वारा और वचनके द्वारा त्रससे निवृत्त श्रावकको हिंसा-का संकल्प नहीं करना चाहिए। तथा दृष्टि और मुष्टिका जिसमें संयोजन किया जाता है ऐसे त्रस जीवोंके घातमें हस्तादिकके द्वारा स्वयं प्रवृत्ति न करे और न दूसरोंको प्रवृत्त करे। तथा स्वयं ही जीववध करनेवाले पुरुषमें नाखूनोंसे चुटकी आदिका प्रयोग न करे ॥८-९॥

विशेषार्थ—इस प्रकारके नौ संकल्पोंसे गृहत्यागी श्रावक त्रसहिंसाका त्याग करता है। यहाँ जीववधको दृष्टि और मुष्टि का सन्धानवाला कहा है। दृष्टि तो आँखको कहते हैं यह ज्ञान क्रियाका उपलक्षण है और हाथकी अंगुलियोंके बन्ध विशेषको मुष्टि कहते हैं यह ग्रहण आदि करनेका उपलक्षण है। जो बतलाता है कि पुस्तक, आसन आदि उपकरणोंको देख-भाल करके ही ग्रहण करना चाहिए। सोमदेव सूरिने कहा है—घरके सब काम देख-भालकर करना चाहिए। आसन, शय्या, मार्ग, अन्न तथा अन्य भी जो वस्तु हो, समयपर उसका उपयोग करते समय बिना देखे उपयोग नहीं करना चाहिए ॥८-९॥

---

१. स्मीमं हि–आ. ।
२. वदन्नाभि -मु. ।

एवं त्यक्तगृहस्योपासकस्याहिंसाणुव्रतविधानमुपदिश्येदानीं गृहवर्तिनस्तद्विधानमतिदिशन्नाह—

इत्यनारम्भजां जह्याद्धिंसामारम्भजां प्रति ।
व्यर्थस्थावरहिंसावद्यतनामावहेद् गृही ॥१०॥

इति—अनेन त्यक्तगृहोपासकोपदिष्टेन प्रकारेण । **अनारम्भजां**—अमुं जन्तुं मांसाद्यर्थित्वेन हन्मीति संकल्पप्रभवाम् । द्विविधा हिंसा आरम्भजा अनारम्भजा च । तत्र त्यक्तगृहो द्वयीमपि जहाति । गृही तु नियमादनारम्भजामेव त्यजति, आरम्भजायास्तेन त्यक्तुमशक्यत्वात् । उक्तं च—

'हिंसा द्वेधा प्रोक्ताऽऽरम्भानारम्भभेदतो दक्षैः ।
गृहवासतो निवृत्तो द्वेधापि त्रायते तां च ॥
गृहवाससेवनरतो मन्दकषायः प्रवर्तितारम्भः ।
आरम्भजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतम् ॥' [अमि. श्रा. ६।६-७]

जह्यात्—योगत्रयस्य करणकारणाभ्यां त्यजेच्छक्त्या । तदनुमत्यापि त्यजतो न दोषः किं तर्हि गुण एव भवेत् । **यतनां**—समितिपरताम् ॥१०॥

अथ स्थावरवधादपि निवृत्तिमुपपादयति—

यन्मुक्त्यङ्गमहिंसैव तन्मुमुक्षुरुपासकः ।
एकाक्षवधमप्युज्झेद् यः स्यान्नावर्ज्यभोगकृत् ॥११॥

मुमुक्षुः—बुभुक्षोर्नास्ति नियम इति भावः । उज्झेत् । उक्तं च—

'जे तसकाया जीवा पुव्वुद्दिट्ठा ण हिंसियव्वा ते ।
एइंदिया वि णिक्कारणेण पढमं वयं थूलं ॥' [वसु. श्रा. २०९]

अवर्ज्यभोगकृत्—अवर्जनीया वर्जयितुमशक्या, आवर्जनीया वा अर्जनीयानां सेव्यार्थानां कारणं यो न स्यात् । तदुक्तम्—

इस प्रकार गृहत्यागी श्रावकके अहिंसाणुव्रतका कथन करके अब घरमें रहनेवाले श्रावकके अहिंसाणुव्रतका कथन करते हैं—

गृहत्यागी श्रावकके लिए कहे गये विधिके अनुसार ही घरमें रहनेवाले श्रावकको उठने-बैठने आदिमें होनेवाली हिंसाको छोड़ना चाहिए। बिना प्रयोजनके एकेन्द्रियघातकी तरह कृषि आदि आरम्भमें होनेवाली हिंसाके प्रति सावधानता बरते ॥१०॥

विशेषार्थ—रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें भी तो संकल्पोंसे त्रसहिंसाके त्यागको अहिंसाणुव्रत कहा है। किन्तु वहाँ उसको दो भागोंमें नहीं विभाजित किया। किन्तु आचार्य अमितगतिने हिंसाके दो भेद किये हैं—आरम्भी और अनारम्भी। जो श्रावक गृहवाससे निवृत्त हो जाता है वह दोनों प्रकारकी हिंसाको बचाता है। किन्तु जो गृहस्थाश्रममें रहता है, आरम्भ करता है वह आरम्भी हिंसाको नहीं छोड़ सकता। फिर भी उसमें सावधानी रखता है। जैसे वह व्यर्थ एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा नहीं करता, वैसे ही आरम्भमें भी करता है ॥१०॥

अब स्थावर जीवोंकी भी हिंसा न करनेका उपदेश देते हैं—

यतः द्रव्यहिंसा और भावहिंसासे विरतिरूप अहिंसा ही मोक्षका कारण है, इसलिए जो श्रावक मोक्षकी प्राप्तिका इच्छुक है उसे ऐसे एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा भी छोड़नी चाहिए जो ऐसे सेवनीय पदार्थोंके कारण होती है जिनको छोड़ना शक्य नहीं है ॥११॥

'स्तोकैकेन्द्रियघाताद्‌गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ॥' [पुरुषार्थ. ७७]

अपि च—

'भूपयःपवनाग्नीनां तृणादीनां च हिंसनम् ।
यावत्प्रयोजनं स्वस्य तावत् कुर्यादजन्तुजित् ॥' [सो. उपा. ३४७] ॥११॥

अथ साकल्पिकवधवर्जनं नियमयति—

गृहवासो विनारम्भान्न चारम्भो विना वधात् ।
त्याज्यः स यत्नात्तन्मुख्यो दुस्त्यजस्त्वानुषङ्गिकः ॥१२॥

मुख्यः—साङ्कल्पिक, इत्यर्थः । आनुषङ्गिकः—कृष्याद्यनुषङ्गे जातः ॥१२॥

प्रयत्नहेयां हिंसामुपदिशति—

दुःखमुत्पद्यते जन्तोर्मनः संक्लिश्यतेऽस्यते ।
तत्पर्यायश्च यस्यां सा हिंसा हेया प्रयत्नतः ॥१३॥

दुःखं—शरीरक्लेशः । जन्तोः—स्वजीवस्य परजीवस्य वा । अस्यते—विनाश्यते ॥१३॥

विशेषार्थ—एकेन्द्रिय जीवोंके पाँच प्रकार हैं—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। इन पाँचोंके बिना गृहस्थाश्रम नहीं चलता। मकान आदि बनवानेके लिए मिट्टी, जमीन खोदनी पड़ती है, जल, वायु, अग्निका उपयोग करना ही पड़ता है। यही स्थिति वनस्पतिकी भी है। फिर भी इनका अनावश्यक उपयोग नहीं किया जाता। प्रायः सभी शास्त्रकारोंने त्रसहिंसाके त्यागी श्रावकको अनावश्यक एकेन्द्रिय घातसे बचनेकी ही प्रेरणा की है और उसे भी अणुव्रतका अंग माना है ॥११॥

संकल्पी हिंसाके त्यागका उपदेश देते हैं—

गृहस्थाश्रम आरम्भके—कृषि आदि जीविकाके बिना सम्भव नहीं है और आरम्भ हिंसाके बिना नहीं होता। इसलिए जो मुख्य संकल्पी हिंसा है उसे सावधानतापूर्वक छोड़ना चाहिए। और कृषि आदि कर्ममें होनेवाली हिंसाका छोड़ना तो अशक्य है ॥१२॥

विशेषार्थ—हिंसाके दो रूप हैं—मुख्य और आनुषंगिक। जो हिंसा जान-बूझकर हिंसाके लिए ही की जाती है वह मुख्य हिंसा है। जैसे मैं इस प्राणीको मांस आदिके लिए मारता हूँ। और जो हिंसा जान-बूझकर नहीं की जाती किन्तु सावधानी रखते हुए भी हो जाती है वह आनुषंगिक है। जो घरमें रहता है उसे अपनी जीविकाके लिए कोई आरम्भ करना ही पड़ता है किन्तु आरम्भ हिंसामूलक नहीं होना चाहिए। फिर भी उसमें हिंसा हो जाती है। ऐसी हिंसासे बचना गृहस्थके लिए सम्भव नहीं है ॥१२॥

हिंसाको क्यों छोड़ना चाहिए, यह बताते हैं—

जिस हिंसामें जीवको दुःख उत्पन्न होता है, उसके मनमें संक्लेश होता है, और उसकी वर्तमान पर्याय छूट जाती है उस हिंसाको पूरे प्रयत्नसे छोड़ना चाहिए ॥१३॥

विशेषार्थ—किसी भी प्राणीको जब मारा जाता है तो उसे शारीरिक कष्ट होनेके साथ मानसिक क्लेश भी होता है। इसके साथ ही उसकी जीवनलीला भी समाप्त हो जाती है, ऐसी हिंसासे कौन नहीं बचना चाहेगा। किसीकी जान ले लेना बहुत ही क्रूर कार्य है ॥१३॥

अथाहिंसाणुव्रताराधनोपदेशार्थमुत्तरप्रबन्धः । तत्र तावत् प्रयोक्तारमाश्रित्येदमुच्यते—

सन्तोषपोषतो यः स्यादल्पारम्भपरिग्रहः ।
भावशुद्ध्येकसर्गोऽसावहिंसाणुव्रतं भजेत् ॥१४॥

भावशुद्ध्येकसर्गः—मनःशुद्धावेकाग्रः । यल्लोकः—

'सत्यपूतं वदेद्वाक्यं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं मनःपूतं समाचरेत् ॥' [मनुस्मृ. ६।४६]
'व्रतानि सातिचाराणि सुकृताय भवन्ति न ।
अतीचारास्ततो हेयाः पञ्च पञ्च व्रते व्रते ॥' [ ] ॥१४॥

इत्यङ्गीकृत्य बन्धाद्यतीचारपञ्चकं मुञ्चन् वाग्गुप्त्यादिभावनापञ्चकेनाहिंसाणुव्रतमुपयुञ्जीतेत्युपदिशति—

[1]मुञ्चन् बन्धं वधच्छेदावतिभारा[2]धिरोपणम् ।
भुक्तिरोधं च दुर्भावाद्भा[3]वनाभिस्तदाविशेत् ॥१५॥

अहिंसाणुव्रतकी आराधनाका उपदेश देनेके लिए आगेका कथन करते हुए सबसे प्रथम यह बतलाते हैं कि अहिंसाणुव्रतका पालक कौन हो सकता है—

जो सन्तोषसे पुष्ट होनेके कारण थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रहवाला है तथा मनकी शुद्धिकी ओर ध्यान रखता है वह अहिंसाणुव्रतका पालन कर सकता है ॥१४॥

विशेषार्थ—आरम्भ और परिग्रह हिंसाकी खान हैं। इनकी बहुतायतमें हिंसाकी भी बहुतायत होती है और इनके कम होनेसे हिंसामें भी कमी होती है। किन्तु वह अल्प-आरम्भ और अल्पपरिग्रह सन्तोषजन्य होने चाहिए अभावजन्य नहीं। दुनियामें विशेषतया भारतमें गरीबीसे पीड़ित जन ऐसे भी हैं जिनके पास न कोई आरम्भ है और न परिग्रह। किन्तु इससे वे महान् दुःखी रहते हैं। उनकी बात नहीं है। ऐसेमें भी जो सन्तुष्ट रहते हैं या सन्तोषके कारण आरम्भ और परिग्रह घटा लेते हैं वे अहिंसाणुव्रत पालनेके योग्य होते हैं। इसके साथ ही मानसिक शुद्धिकी ओर सतत ध्यान रहना जरूरी है क्योंकि मानसिक अशुद्धिका नाम ही भावहिंसा है और जैन धर्ममें भावहिंसाका नाम ही हिंसा है। भावहिंसासे सम्बद्ध होनेसे द्रव्यहिंसाको भी हिंसा कहा जाता है। अतः अहिंसाणुव्रतका पालन करना हो तो मनकी शुद्धिकी ओरसे सदा सावधान रहना चाहिए। मनुस्मृतिमें भी कहा है—'सत्यसे पवित्र वचन बोलना चाहिए। वस्त्रसे छाना जल पीना चाहिए। दृष्टिसे आगेकी पृथ्वीको देखकर पैर रखना चाहिए और शुद्ध मनसे काय करना चाहिए' ॥१४॥

आगे उपदेश देते हैं कि पाँच अतिचारोंको दूर करते हुए पाँच भावनाओंसे अहिंसाणुव्रतको संयुक्त करे—

खोटे परिणामोंसे बन्ध, वध, छेद, अतिभार लादना और भुक्तिरोधको छोड़नेवाले व्रत-प्रतिमाके धारीको भावनाओंसे अहिंसाणुव्रतको बढ़ाना चाहिए ॥१५॥

---

१. 'बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ।'—तत्त्वार्थसूत्र ७।२५। रत्नकरण्ड श्रा., ५४ श्लो.। पुरुषार्थ सि. १८३ श्लो.।

२. राधिरो–मु.।

३. 'वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥'—त. सू. ७।४।

बन्धं—रज्ज्वादिना गोमनुष्यादीनां नियन्त्रणम् । स च पुत्रादीनामपि विनयग्रहणार्थं विधीयते । अतो दुर्भावादित्युक्तम् । दुर्भावं—दुष्परिणामं प्रबलकषायोदयलक्षणमाश्रित्य क्रियमाणो यो बन्धस्तं वर्जयन्नित्यर्थः । अत्रायं विधिः—बन्धो द्विपदानां चतुष्पदानां वा स्यात् । सोऽपि सार्थको वाऽनर्थको वा । तत्रानर्थकस्तावच्छ्रावकस्य कर्तुं न युज्यते । सार्थकः पुनरसौ द्वेधा-सापेक्षो निरपेक्षश्च । तत्र सापेक्षो यो दामग्रन्थिना शिथिलेन चतुष्पदानां विधीयते । यश्च प्रदीपनादिषु मोचयितुं छेत्तुं वा शक्यते । निरपेक्षो यन्निश्चलमत्यर्थममी बध्यन्ते । द्विपदानां तु दासदासीचोरशठादिप्रमत्तपुत्रादीनां यदि बन्धो विधीयते तदा सविक्रमणा एवामी बन्धनीया रक्षणीयाश्च यथाग्निभयादिषु न विनश्यन्ति । यद्वा द्विपदचतुष्पदाः श्रावकेण त एव संग्राह्या येऽबद्धा एव तिष्ठन्तीति प्रथमोऽतिचारः । वधं—दण्डकशाद्यभिघातम् । सोऽपि दुर्भावाद्विधीयमानो बन्धवदतीचारः । यदि पुनः कोऽपि न करोति विनयं तदा तं मर्माणि मुक्त्वा लतया दवरकेण वा सकृद् द्विर्वा ताडयेदिति द्वितीयः । छेदः—कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनम् । सोऽपि दुर्भावात्क्रियमाणोऽतिचारो निर्दयं हस्तादीनां छेद इत्यर्थः । स्वास्थ्यापेक्षया तु गण्डव्रणादिच्छेदनदहनादिकं ससान्त्वनं कुर्वतोऽपि नातिचारः स्यादिति तृतीयः । अतिभारादिरोपणं—न्याय्यभारादतिरिक्तस्य वोढुमशक्यभारस्याधिरोपणं वृषभादीनां पृष्ठस्कन्धादौ वहनायाधिरोहणम् । तदपि दुर्भावात् क्रोधाल्लोभाद्वा क्रियमाणमतीचारः । अत्राप्ययं विधिः—श्रावकेण तावद् द्विपदादिवाहनेन जीविका प्रागेव मोक्तव्येति एषः श्रेष्ठ पक्षः । अथान्योऽसौ न स्यात्तदा द्विपदो यावन्तं भारं स्वयमुत्क्षिपत्यवतारयति च तावन्तमेव वाह्यते मोच्यते चोचितवेलायाम् । चतुष्पदस्य तु यथोचितभारः

विशेषार्थ—अहिंसाणुव्रतके पाँच अतीचार कहे हैं—रस्सी आदिसे गाय, मनुष्य आदिके बाँधनेको बन्ध कहते हैं । पुत्र आदिको भी विनीत बनानेके लिए माता-पिता बाँधते हैं । इसलिए 'दुर्भाव या खोटे परिणामसे' कहा है । अतः प्रबल कषायके उदयरूप दुर्भाव या दुष्परिणामसे जो बन्ध किया जाता है उसे छोड़ना चाहिए । इसकी विधि इस प्रकार है—बन्ध या तो दोपायोंका होता है या चौपायोंका होता है । वह भी सप्रयोजन या निष्प्रयोजन होता है । उनमें-से निष्प्रयोजन बन्ध तो श्रावकको नहीं करना चाहिए । सप्रयोजन बन्धके भी दो भेद है—सापेक्ष और निरपेक्ष । ढीली गाँठ लगाकर चौपायोंका जो बन्ध किया जाता है, जिसे आग वगैरह लगनेपर सरलतासे खोला या तोड़ा जा सके वह सापेक्ष है । और जो दृढ़तासे बाँधा जाता है कि वे गरदन तक न हिला सकें, वह निरपेक्ष बन्ध है । दासी, दास, चोर, व्यभिचारी, पागल आदि दोपायोंको जब बाँधा जाये तो उन्हें इस तरह बाँधना चाहिए कि अग्नि आदिका भय उपस्थित होनेपर वे जलकर मर न जायें । अथवा श्रावकको ऐसे ही दोपाये और चौपाये रखने चाहिए जिन्हें बाँधनेकी आवश्यकता न हो । यह पहले अतिचारका कथन हुआ । डण्डे या कोड़े वगैरहसे पीटनेको वध कहते हैं । वह भी यदि दुर्भावसे किया जाये तो बन्धकी तरह अतीचार होता है । यदि कोई अवज्ञा करता है तो उसके मर्म स्थानोंको छोड़कर हल्केसे एक या दो बार ताड़ना करना चाहिए । यह दूसरे अतीचारका कथन हुआ । नाक-कान आदि अवयवोंके काटनेको छेद कहते हैं । वह भी दुर्भावसे करनेपर अतीचार है । स्वास्थ्यके लिए फोड़े वगैरहको चीरना या हाथ-पैर काटना अतीचार नहीं है । निर्दयतापूर्वक हाथ आदिका काटना अतीचार है । यह तीसरे अतीचारका कथन हुआ । जितना बोझा उचित हो उससे अधिक, जिसे ढोना शक्य न हो, इतना बोझा लादना अतिभारारोपण नामक अतीचार है । वह भी दुर्भावसे अथवा क्रोध या लोभसे करनेपर अतीचार है । इसकी भी विधि इस प्रकार है—श्रावक को दोपायों या चौपायोंकी सवारीसे आजीविका करना छोड़ ही देना चाहिए यह उत्तम पक्ष है । यदि यह सम्भव न हो तो

किञ्चिदूनः क्रियते। हलशकटादिषु पुनरुचितवेलायामसौ मुच्यत इति चतुर्थः। भुक्तिरोधं—अन्नपानादिनिषेधम्। सोऽपि दुर्भावाद् बन्धवदतीचारः। तीक्ष्णक्षुधापीडितः प्राणी म्रियते इत्यन्नादिनिरोधो न कस्यापि कर्तव्यः। अपराधकारिणि च वाचैव वदेदद्य ते न दास्यते भोजनादिकमिति। स्वभोजनवेलायां तु नियमत एवान्यान् विधृतान् भोजयित्वा स्वयं भुञ्जीतान्यत्रोपवासचिकित्स्यव्याधितेभ्यः। शान्तिनिमित्तं चोपवासाद्यपि कारयेदिति पञ्चमः॥ किं बहुना मूलगुणस्याहिंसालक्षणस्यातिचारो न भवति तथा यतनया वर्तितव्यम्॥१५॥

अथ व्याख्यातमेवार्थं मुग्धधियां सुखस्मृत्यर्थं किञ्चिद्विशेषं गृह्णन्नाह—

> सवाद्यैर्नैष्ठिको वृत्तिं त्यजेद्बन्धादिना विना।
> भोग्यान् वा तानुपेयात्तं योजयेद्वा न निर्दयम्॥१६॥

नैष्ठिकः, पाक्षिकस्य तु नास्ति नियमः। एषः प्रशस्यतमः पक्षः। भोग्यान्—वाहदोहादावुपयोक्तुं शक्यान्। उपेयात्—परिगृह्णीयात्। एष मध्यमः। योजयेत्—स्वयमन्येन वा, एषोऽधमः। अत्राह कश्चित्—ननु हिंसैव श्रावकेण प्रत्याख्याता न बन्धादयः। ततस्तत्करणेऽपि न दोषो हिंसाविरतेरखण्डितत्वात्। अथ बन्धादयोऽपि प्रत्याख्यातास्तदा तत्करणे व्रतभङ्ग एव विरतिखण्डनात्। किञ्च, बन्धादीनां प्रत्याख्येयत्वे व्रतेयत्ता विशीर्येत प्रतिव्रतमतिचारव्रतानामाधिक्यादिति। एवं च न बन्धादीनामतिचारतेति। अत्रोच्यते—सत्यं हिंसैव प्रत्याख्याता न बन्धादयः। केवलं तत्प्रत्याख्यानेऽर्थतस्तेऽपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्या हिंसोपायत्वात्तेषाम्। न च बन्धादिकरणेऽपि व्रतभङ्गः किन्त्वतीचार एव। द्विविधं हि व्रतमन्तर्वृत्त्या बहिर्वृत्त्या च। तत्र मारयामीति विकल्पाभावेन यदा कोपाद्यावेशात् परप्राणप्रहाणमविगणयन् बन्धादौ प्रवर्तते न च हिंसा भवति

आदमी जितना भार स्वयं उठा सके और उतार सके उतना ही भार उससे उठवाना चाहिए वह भी उचित समयमें। घोड़ों पर लादे जानेवाले यथायोग्य भारमें भी कुछ कमी करना चाहिए। गाड़ी, हल वगैरहमें भी उचित समय तक काम लेनेके बाद उसे आराम देना चाहिए। यह चौथा अतीचार हुआ। दुर्भावसे खाना-पीना न देना पाँचवाँ अतीचार है। अतः अहिंसाणुव्रतमें अतीचार न लगे इस प्रकारका प्रयत्न करना चाहिए। इसके सिवाय अहिंसाव्रतकी भावनाओंसे उनको स्थिर रखना चाहिए। वे भावना भी पाँच हैं—वचन गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन। अहिंसाव्रतके पालकको वचन और मनको वशमें रखना चाहिए क्योंकि इनके द्वारा हिंसाकी सम्भावना रहती है। इसी प्रकार देख भालकर चलना चाहिए और देख भाल कर ही प्रत्येक वस्तुको ग्रहण करना और रखना चाहिए। तथा देख भाल कर दिनमें ही भोजन करना चाहिए॥१५॥

आगे मन्द बुद्धियोंको सरलतासे स्मरण करानेके लिए उक्त अर्थका विशेष कथन करते हैं—

नैष्ठिक श्रावक गाय, बैल आदि जानवरोंके द्वारा आजीविका करना छोड़े। अथवा दूहने और बोझा ढोनेके लिए समर्थ उन पशुओंको बिना बाँधे हुए रखे। अथवा बाँधे तो निर्दयता पूर्वक न बाँधे॥१६॥

विशेषार्थ—नैष्ठिक श्रावक गाय, भैंस, घोड़े आदि पशुओंसे आजीविका न करे अर्थात् गाय, भैंस रखकर दूध आदि न बेचे और न बैल गाड़ी या घोड़ा ताँगा रखकर उससे आजीविका करे। यह उत्तम पक्ष है। पाक्षिक श्रावकके लिए यह नियम नहीं है। यदि नैष्ठिक अपने भोगनेके लिए गाय भैंस रखे या अपने आने-जाने आदिके लिए बैलगाड़ी

तथा निर्दयता विरत्यनपेक्षतया प्रवृत्तत्वेनान्तर्वृत्त्या व्रतस्य भङ्गो, हिंसाया अभावाच्च बहिर्वृत्त्या पालनमिति देशस्य भञ्जनाद्देशस्यैव पालनादतीचारव्यपदेशः प्रवर्तते । तदुक्तम्—

'न मारयामीति कृतव्रतस्य विनैव मृत्युं क इहातिचारः ।
निगद्यते यः कुपितो वधादीन् करोत्यसौ स्यान्नियमेऽनपेक्षः ॥
मृत्योरभावान्नियमोऽस्ति तस्य कोपाद्दयाहीनतया तु भग्नः ।
देशस्य भङ्गादनुपालनाच्च पूज्या अतीचारमुदाहरन्ति ॥' [ ]

यच्चोक्तं व्रतेयत्ता विशीर्येतेति तदयुक्तं, विशुद्धाहिंसासद्भावे हि बन्धनादीनामभाव एव । ततः स्थितमेतत् बन्धादयोऽतिचारा एवेति ॥१६॥

या घोड़ा वगैरह रखे तो उन्हें बाँधकर न रखे। यह मध्यम पक्ष है। यदि बाँधकर रखना पड़े तो निर्दयता पूर्वक न बाँधे। यह जघन्य पक्ष है। आचार्य अमितगतिने कहा है—अतिचार सहित व्रतोंका पालन पुण्यके लिए नहीं होता। क्या लोकमें कहीं भी मल सहित धान्यको उपजते हुए देखा है।

शंका—यहाँ कोई कहता है कि श्रावकने तो हिंसाका ही त्याग किया है, बन्धादिका त्याग नहीं किया। अतः वध बन्ध आदि करने पर भी कोई दोष नहीं है क्योंकि हिंसाका त्याग उससे खण्डित नहीं होता। यदि कहोगे कि श्रावकने हिंसाके साथ वध आदिका भी त्याग किया है तब तो वध बन्ध आदि करने पर व्रतका ही भंग हुआ कहा जायेगा क्योंकि जो व्रत उसने लिया था उसे तोड़ दिया। दूसरे यदि हिंसाके साथ वध आदि भी त्याज्य हैं तो फिर व्रतोंका कोई परिमाण नहीं रहेगा, क्योंकि प्रत्येक व्रतके अतिचारोंका भी व्रत लेनेसे व्रतोंकी संख्या बढ़ जायेगी। और ऐसा होने पर बन्ध आदि अतीचार नहीं कहलायेंगे।

समाधान—शंकाकारका यह कथन सत्य है कि उसने हिंसाका ही त्याग किया है, बन्ध आदिका त्याग नहीं किया। फिर भी हिंसाका त्याग करने पर वास्तवमें बन्ध आदिका भी त्याग समझना चाहिए; क्योंकि वे सब हिंसाके कारण हैं। किन्तु बन्ध आदि करने पर व्रतका भंग नहीं होता, केवल अतीचार लगता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—व्रतके दो प्रकार होते हैं—आन्तरिक और बाह्य। 'मैं मारूँ' इस विकल्पका अभाव होनेसे जब क्रोध आदिके आवेशमें आकर दूसरेके प्राणोंको कष्ट पहुँचने की उपेक्षा करके बन्ध आदि करता है तब हिंसा तो नहीं करता किन्तु निर्दयतासे विरत होनेकी अपेक्षा न करके प्रवृत्ति करता है अतः आन्तरिक दृष्टिसे तो व्रतका भंग होता है और हिंसा न होनेसे बाह्य रूपसे व्रतका पालन भी होता है। इस प्रकार एकदेशका भंग और एक देशका पालन होनेसे अतीचार कहा जाता है। कहा है—"मैं नहीं मारूँगा" इस प्रकारका जिसने व्रत लिया है वह बिना जान लिये क्रुद्ध होकर जो वध आदि करता है वह अतीचार कहा जाता है। चूँकि प्राणीकी मृत्यु नहीं करता इसलिए उसका व्रत सुरक्षित है। किन्तु क्रुद्ध होकर दयाहीन हुआ इसलिए व्रतका भंग भी हुआ। इसलिए एक देशका भंग और एक देशकी रक्षा होनेसे पूज्य आचार्य अतीचार कहते हैं। तथा शंकाकारने जो यह आपत्ति की थी कि यदि वध आदि अतीचारोंको भी व्रतमें लिया जायेगा तो व्रतोंका परिमाण नहीं रहेगा, यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि जहाँ विशुद्ध अहिंसा होती वहाँ वध-बन्ध आदि नहीं होते। अतः यह स्थित हुआ कि बन्ध आदि अतीचार ही हैं ॥१६॥

एतदेव संगृह्णन्नाह—

न हन्मीति व्रतं क्रुध्यन्निर्दयत्वान्न पाति न ।
भनक्त्यघ्नन् देशभङ्गत्राणात्त्वतिचरत्यधीः ॥१७॥

अघ्नन्—प्राणैरवियोजयन् । देशभङ्गत्राणात्—भङ्गश्च त्राणं च भङ्गत्राणं, देशस्यान्तर्बहिर्वृत्त्युभयरूपव्रतैकदेशस्य भङ्गत्राणमन्तर्वृत्त्या भञ्जनं बहिर्वृत्त्या च पालनं ततः । अधीः—अज्ञो असमीक्ष्यकारीत्यर्थः ॥१७॥

अथ अतिचरतीति पदार्थमभिव्यक्तुं 'भुक्तिरोधं च' इत्यत्र च शब्देन समुच्चितं चातिचारजातं वक्तुमाह—

सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽशभञ्जनम् ।
मन्त्रतन्त्रप्रयोगाद्याः परेऽप्यूह्यास्तथाऽत्ययाः ॥१८॥

सापेक्षस्य—प्रतिपन्नमहिंसादिव्रतं न भनज्मीत्यपेक्षमाणस्य । परेऽपि शास्त्रान्तरनिर्दिष्टाः । तथा—तेन व्रतापेक्षापूर्वकदेशभञ्जनलक्षणेन प्रकारेण ॥१८॥

अथ मन्त्रादिकृतबन्धादीनामतिचारत्वसमर्थनपुरस्सरमतिचारपरिहारे यत्नं कारयन्नाह—

मन्त्रादिनाऽपि बन्धादिः कृतो रज्ज्वादिवन्मलः ।
तत्तथा यतनीयं स्यान्न यथा मलिनं व्रतम् ॥१९॥

मलः—यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धत्वादहिंसाणुव्रतेऽतिचारः स्यात्तदेकदेशभञ्जकत्वाविशेषात् । यतनीयं—मैत्र्यादिभावनालक्षणया प्रमादपरिहारपूर्वकचेष्टारूपया च यतनया वर्तितव्यम् । स्यादित्यादि, अन्यथा व्रतनैष्फल्यप्रसङ्गात् । तदुक्तम्—

इसी बातको आगे कहते हैं—

क्रोध करनेवाला अज्ञानी व्रती पुरुष 'मैं जीवोंको नहीं मारूँगा' इस व्रतको निर्दय होनेके कारण पालता नहीं है तथा उस प्राणीकी जान नहीं लेता इसलिए तोड़ता भी नहीं है। किन्तु एकदेशका भंग और एकदेशका पालन करनेसे व्रतमें अतिचार लगाता है ॥१७॥

आगे अतिचारका लक्षण कहते हुए पन्द्रहवें श्लोकमें आये 'भुक्ति रोधं च' च शब्दसे सूचित अन्य अतिचारोंको कहते हैं—

'मैं स्वीकार किये हुए अहिंसा व्रतको नहीं तोड़ता हूँ' इस प्रकार व्रतकी अपेक्षा करनेवाला व्रती पुरुष जब अन्तर्वृत्ति या बाह्यवृत्तिसे व्रतके एकदेशका भंग करता है तो उसे अतिचार कहते हैं। इसी लक्षणके अनुसार मन्त्र-तन्त्रके प्रयोग आदि तथा अन्य शास्त्रोंमें कहे गये अतिचार भी समझ लेना चाहिए ॥१८॥

विशेषार्थ—जो अक्षरोंका समूह इष्ट कार्यके साधनेमें समर्थ होता है और पाठ करनेसे सिद्ध हो जाता है उसे मन्त्र कहते हैं। और सिद्ध औषधि आदि क्रियाको तन्त्र कहते हैं। मन्त्र-तन्त्रके द्वारा किसीकी गतिका या मतिका स्तम्भन करना या उच्चाटन आदि करना भी उक्त रीतिसे अतिचारकी कोटिमें आता है ॥१८॥

आगे मन्त्र आदिके द्वारा किये गये बन्ध आदि भी अतिचार हैं, इस बातका समर्थन करते हुए अतिचारोंको दूर करनेमें प्रयत्न करनेकी प्रेरणा करते हैं—

मन्त्र आदिके द्वारा भी किया गया बन्ध आदि रस्सी वगैरहसे किये गये बन्ध आदिकी तरह ही अतिचार है। इसलिए इस प्रकारका प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे व्रत मलिन न हो ॥१९॥

'व्रतानि पुण्याय भवन्ति जन्तोर्न सातिचाराणि निषेवितानि ।
सस्यानि किं क्वापि फलन्ति लोके मलोपलीढानि कदाचनापि ॥'
[अमि. श्रा. ७।१] ॥१९॥

अथाहिंसाणुव्रतस्वीकारविधिमाह—

हिंस्य-हिंसक-हिंसातत्फलान्यालोच्य तत्त्वतः ।
हिंसां तथोज्झेन्न यथा प्रतिज्ञाभङ्गमाप्नुयात् ॥२०॥

तथा—तेन स्वशक्त्यनुसारलक्षणेन प्रकारेण ॥२०॥

अथ हिंसकादींल्लक्षयति—

प्रमत्तो हिंसको हिंस्या द्रव्यभावस्वभावकाः ।
प्राणास्तद्विच्छिदा हिंसा तत्फलं पापसञ्चयः ॥२१॥

प्रमत्तः—कषायाद्याविष्टः । प्रपञ्चितं चैतदहिंसामहाव्रतोपदेशप्रस्तावे प्रागिति न पुनरिह प्रपञ्च्यते ॥२१॥

अथ गृहिणोऽप्यहिंसाणुव्रतनैर्मल्याय विधिविशेषमाह—

विशेषार्थ—जैसे रस्सीके द्वारा बाँधनेसे अतिचार होता है वैसे ही किसी मन्त्र-तन्त्रके द्वारा कीलित करनेसे भी अतिचार होता है क्योंकि किसीकी जान न लेकर उसे मन्त्र-तन्त्रके द्वारा कीलित कर देनेसे भी यद्यपि बाह्य रूपसे व्रतकी रक्षा होती है किन्तु अन्तरंग रूपसे व्रतका भंग होता है । इसलिए व्रतीको सदा विशुद्ध परिणाम रखते हुए मैत्री आदि भावना तथा प्रमादसे रहित चेष्टाके द्वारा प्रवृत्ति करना चाहिए जिससे व्रतमें मलिनता न आवे ॥१९॥

आगे अहिंसाणुव्रतको स्वीकार करनेकी विधि बताते हैं—

हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाके फलका यथार्थ रूपसे विचार करके हिंसाको इस प्रकारसे छोड़ना चाहिए जिससे व्रती प्रतिज्ञाके भंगको प्राप्त न हो ॥२०॥

विशेषार्थ—अहिंसाणुव्रत स्वीकार करनेसे पहले श्रावकको अपने गुरु, साधर्मी तथा अन्य मुमुक्षु जनोंके साथ हिंस्य आदिके स्वरूपको अच्छी तरहसे समझ लेना चाहिए और उसके बाद ही अपनी शक्तिके अनुसार हिंसाका त्याग करना चाहिए । ऐसा करनेसे नियमके टूटनेका भय नहीं रहता है ॥२०॥

आगे हिंसक आदिका लक्षण कहते हैं—

कषायसे युक्त आत्मा हिंसक है । द्रव्यात्मक अर्थात् पुद्गलकी पर्यायरूप और भावात्मक अर्थात् चेतनके परिणामरूप प्राण हिंस्य है । उन द्रव्यभावरूप प्राणोंका वियोग करना हिंसा है और उस हिंसाका फल है पापसंचय अर्थात् दुष्कर्मका बन्ध ॥२१॥

विशेषार्थ—हिंसक वह है जो हिंसा करता है । जो प्रमादी है, कषायसे युक्त है वह हिंसक है । इसका विवेचन अहिंसा महाव्रतके कथनमें कर आये हैं अतः यहाँ नहीं किया । जो पुद्गलकी पर्यायरूप हैं वे द्रव्यप्राण हैं जैसे शरीर, इन्द्रियाँ वगैरह । और जो चेतनके परिणाम हैं वे भावप्राण हैं । उनको घातना या कष्ट पहुँचाना हिंसा है । तथा हिंसाका फल पापकर्मका बन्ध है ॥२१॥

गृहस्थके भी अहिंसाव्रतको निर्मल रखनेकी विधि बताते हैं—

कषाय-विकथा-निद्रा-प्रणयाक्षविनिग्रहात् ।
नित्योदयां दयां कुर्यात्पापध्वान्तरविप्रभाम् ॥२२॥

कषायेत्यादि, कषायादिप्रमादपञ्चदशकस्य विधिपूर्वकनिरोधात् । तत्र विकथाः मार्गविरुद्धाः कथा भक्तस्त्रीदेशराजसंबन्धिन्यः । तत्र भक्तकथा—इदं चेदं च श्यामाकमाषमोदकादिः साधु भोज्यं, साध्वनेन भुज्यते, अहमपि च इदं भोक्ष्ये इत्यादिरूपा । तथा स्त्रीकथा—स्त्रीणां नेपथ्याङ्गहारहावभावादिवर्णनरूपा, 'कर्णाटी सुरतोपचारचतुरा लाटी विदग्धा प्रिया' इत्यादिरूपा वा । तथा देशकथा—दक्षिणापथः प्रचुरान्नपान-स्त्रीसंभोगप्रधानः, पूर्वदेशो विचित्रवस्त्रगुडखण्डशालिमद्यादिप्रधानः, उत्तरापथे शूराः पुरुषाः जविनो वाजिनो गोधूमप्रधानानि धान्यानि, सुलभं कुङ्कुमं, मधुराणि द्राक्षादाडिमकपित्थादीनि । पश्चिमदेशे सुखस्पर्शानि वस्त्राणि, सुलभा इक्षवः, शीतं वारीत्येवमादिः । तथा राजकथा—शूरोऽस्मदीयो राजा सधनः शौण्डः, गजपतिर्गौडः, अश्वपतिस्तुरुष्क इत्यादिरूपा । एवं प्रतिकूला अपि भक्तादिकथा वाच्याः । यदा तु रागद्वेषा-नास्कन्दन् धर्मकथाङ्गत्वेनार्थकामकथे कथयति तदा न वैकथिकः स्यात् ।

तदुक्तमार्षे—

'पुरुषार्थोपयोगित्वात्त्रिवर्गकथनं कथा ।
तत्रापि सत्कथां धर्म्यामामनन्ति मनीषिणः ॥
तत्फलाभ्युदयाङ्गत्वादर्थकामकथा कथा ।
अन्यथा विकथैवासवपुण्यास्रवकारणम् ॥' [महापु. ११८–११९]

अहिंसाणुव्रतको निर्मल रखनेके इच्छुक श्रावकको कषाय, विकथा, निद्रा, मोह और इन्द्रियोंका विधिपूर्वक निग्रह करनेसे सदैव ही प्रकाशित रहनेवाली दयाको करना चाहिए जो दया पाप रूपी अन्धकारको दूर करनेके लिए सूर्यकी प्रभाके समान है ॥२२॥

विशेषार्थ—ऊपर प्रमादीको हिंसक कहा है। प्रमाद पन्द्रह हैं—चार कषाय, चार विकथा, एक निद्रा, एक मोह और पाँच इन्द्रियाँ। क्रोध-मान-माया-लोभको कषाय कहते हैं। मार्गविरुद्ध कथाको विकथा कहते हैं। वे चार हैं—भोजनसम्बन्धी, स्त्रीसम्बन्धी, देशसम्बन्धी और राजसम्बन्धी कथा। अमुक चावल, लड्डू आदि खानेमें स्वादिष्ट होते हैं। अमुक आदमी अच्छी रीतिसे भोजन करता या कराता है। मैं भी अमुक वस्तु खाऊँगा, इत्यादि कथाको भक्तकथा कहते हैं। स्त्रियोंके हावभाव, आभूषण आदिकी चर्चाको स्त्री-कथा कहते हैं। जैसे, साहित्य शास्त्रमें आता है कि कर्णाटक देशकी स्त्री सम्भोगका उपचार करनेमें चतुर होती है। लाट देशकी स्त्रियाँ चतुर और प्रिय होती हैं। यह सब स्त्रीकथा है। दक्षिण देशमें अन्नपानकी बहुलता है तथा स्त्रीसम्भोगकी प्रधानता है, पूर्व देशमें विचित्र वस्त्र, गुड़, खाँड़, चावल तथा मद्य आदिकी बहुतायत है, उत्तरापथके मनुष्य शूर होते हैं, घोड़े वेगवान् होते हैं, गेहूँ बहुत होता है, केसर सुलभ है, मीठे दाख, अनार आदि पैदा होते हैं। पश्चिम देशमें कोमल वस्त्र होते हैं, ईख सुलभ है, इत्यादि देशकथा है। हमारा राजा शूर और धनी है, गौड़ देशके राजाके पास बहुत हाथी हैं, तुर्कोंके पास उत्तम घोड़े हैं इत्यादि कथा राजकथा है। ये कथाएँ नहीं करना चाहिए। किन्तु जब राग-द्वेष न करते हुए धर्मकथा-के अंगरूपसे अर्थ और कामकी कथा की जाती है तो उसे विकथा नहीं कहते। कहा है—'पुरुषार्थमें उपयोगी होनेसे धर्म-अर्थ-कामके कथनको कथा कहते हैं। उनमें भी मनीषीगण धर्मकथाको ही सत्कथा कहते हैं। उसका फल अभ्युदयका अंग होनेसे अर्थ और कामकी कथा भी कथा कही जाती है यदि ऐसा न हो तो वह विकथा ही है और पापाश्रवका कारण

प्रणयः स्नेहः । तस्यापि धर्मविरोधित्वेनैव प्रमादत्वम् । तदुक्तं—

'प्रेमानुविद्धहृदयो ज्ञानचारित्रान्वितोऽपि न श्लाघ्यः ।
दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य ॥' [आत्मानु. २३१]

पापं बन्धाद्यतीचारदुष्कृतं तत् ध्वान्तमिव पुण्यप्रकाशविरोधित्वात् , तत्र रविप्रभा तदनवग्राह्यत्वात् । तदुक्तम्—

'पुण्यं तेजोमयं प्राहुः प्राहुः पापं तमोमयम् ।
तत्पापं पुंसि किं तिष्ठेद्दयादीधितिमालिनि ॥' [सो. उपा. ३३९] ॥२२॥

अथ गृहस्थस्याहिंसा दुष्परिपालत्वशङ्कामपाकरोति—

विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत ।
भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥२३॥

विष्वग्जीवचिते—समन्ताज्जन्तुव्याप्ते । यत्पठन्ति—

'तिहुयणुचि यदघियह अलिज्जरुणाखतेंहि ।
तेहइ णिवसंता हं कहिं मुणिवरदयठाइ ॥' [ ]

अमोक्ष्यत—मोक्षमगमिष्यत । भावैकसाधनौ—भावः परिणाम एकमुत्कृष्टं प्रधानं साधनं निमित्तं ययोः । तत्र शुभाशुभोपयोगौ पुण्यपापरूपबन्धस्य शुद्धोपयोगश्च मोक्षस्य प्रधानं कारणमिति विभागः । तदुक्तम्—

है ।' प्रणय स्नेहको कहते हैं । वह भी धर्मका विरोधी होनेसे ही प्रमाद होता है । कहा है—'जिसका हृदय प्रेमसे बिंधा हुआ है वह ज्ञान और चारित्रसे युक्त होनेपर भी प्रशंसनीय नहीं है । जैसे दीपकका कार्य कज्जलसे मलिन करना प्रशंसनीय नहीं है, यद्यपि वह प्रकाशदाता होता है ।' इन पन्द्रह प्रमादोंको दूर करनेसे, इनके वशमें न होनेसे अहिंसाका पालन ठीक रीतिसे होता है । इस तरह अहिंसाका पालन करना चाहिए, क्योंकि वह पापरूपी अन्धकारको दूर करनेके लिए सूर्यकी प्रभाके समान है । जैसे सूर्यकी प्रभासे अन्धकार दूर हो जाता है उसी तरह अहिंसासे पाप कट जाता है । कहा भी है—पुण्यको प्रकाशमय कहा है और पापको अन्धकारमय कहा है । जिस मनुष्यमें दयारूपी सूर्य चमकता है उसमें पाप कैसे ठहर सकता है' ॥२२॥

जो यह शंका करते हैं कि गृहस्थके लिए अहिंसाका पालन अशक्य जैसा है, उनकी शंकाका समाधान करते हैं—

यदि बन्ध और मोक्षका प्रधान कारण जीवका परिणाम न होता तो सर्वत्र जन्तुओंसे भरे हुए इस जगत्में कहीं भी चेष्टा करनेवाला कोई भी मुमुक्षु क्या मोक्ष जा सकता था, अर्थात् नहीं जा सकता था ॥२३॥

विशेषार्थ—इस जगत्में सर्वत्र जीव भरे हैं । जल, थल, आकाशका कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ सूक्ष्म या स्थूल जीव न हों । और वे हमारी चेष्टाओंसे, हाथ-पैर हिलाने या श्वास लेनेसे मरते भी हैं । किन्तु जैनधर्म इस प्रकारके प्रत्येक जीवघातको हिंसा नहीं मानता । हिंसाके दो प्रकार हैं—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा । सकषायरूप आत्मपरिणामके योगसे प्राणोंके घातको हिंसा कहते हैं । जहाँ सकषायरूप आत्मपरिणाम नहीं है वहाँ प्राणघात हो

---

१. स्नेहानु—आत्मानु. ।

'ननु शुभ उपयोगः पुण्यबन्धस्य हेतुः
प्रभवति खलु पापं तत्र यत्राशुभोऽसौ।
निजमहिमनि रागद्वेषमोहैरपोढः
परिदृढदृढभावं याति शुद्धो यदा स्यात् ॥' [ ]

तथा—

'भावेण कुणइ पावं पुण्णं भावेण तह य मोक्खं वा।
इयमंतरणाऊण जं सेयं तं समायरह ॥' [भाव सं. ५ गा.]
'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धोऽत्र विषयासक्तेर्मोक्षो निर्विषये स्मृतः ॥' [ ] ॥२३॥

अथैवमतिचारपरिहारद्वारेणाहिंसाणुव्रतपरिपालनमुपदिश्य साम्प्रतं रात्रिभोजनवर्जनव्रतबलेन तदुपदिशन्नाह—

अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥२४॥

चतुर्धा अपि। यत्स्वामी—

'अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभक्तविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥' [रत्न. श्रा. १४२] ॥२४॥

जानेपर भी हिंसा नहीं है। जैसे एक साधु ईर्यासमितिसे चलता है फिर भी यदि अचानक कोई जन्तु उड़ता हुआ आकर उसके पैरसे दबकर मर जाता है तो उस साधुको उस जीवके वधका थोड़ा भी पाप नहीं लगता; क्योंकि साधुमें प्रमादका योग नहीं है यह अपनी क्रियामें सावधान है। किन्तु जो असावधानीसे प्रवृत्ति करता है, जीवोंके नहीं मरनेपर भी उसे हिंसाका पाप अवश्य लगता है। अतः हिंसा युक्त परिणाम ही वास्तवमें हिंसा है। इसलिए हिंसा भावोंपर प्रवलम्बित है। अतः अपने भावोंको ठीक रखकर प्रवृत्ति करनेसे जीवघात होनेपर भी हिंसा नहीं कही जाती। जीवके भाव तीन प्रकारके होते हैं—शुभ-अशुभ और शुद्ध। शुभोपयोग और अशुभोपयोग पुण्यबन्ध और पापबन्धके प्रधान कारण हैं तथा शुद्धोपयोग मोक्षका प्रधान कारण है। कहा है—'शुभ उपयोग पुण्यबन्धका कारण है और जहाँ अशुभ उपयोग होता है वहाँ पापबन्ध होता है। जब शुद्ध उपयोग होता है तब राग-द्वेष-मोहसे रहित होकर अपनी आत्मामें दृढ़ होता है तथा—भावसे पाप, भावसे पुण्य और भावसे ही मोक्ष होता है। इनके अन्तरको जानकर जो आचरणीय है उसका आचरण कर।' और भी कहा है—'मनुष्योंका मन ही बन्ध और मोक्षका कारण है। विषयासक्त होनेसे बन्ध होता है और निर्विषय होनेपर मोक्ष होता है।' ॥२३॥

इस तरह अतिचारोंसे बचावके द्वारा अहिंसाणुव्रतके पालनका उपदेश देकर अब रात्रिभोजन त्यागके द्वारा उसके पालनका उपदेश देते हैं—

अहिंसाणुव्रतकी रक्षाके लिए और मूल गुणोंको निर्मल करनेके लिए धीर व्रतीको मन-वचन-कायसे जीवनपर्यन्तके लिए रात्रिमें चारों प्रकारके भोजनका त्याग करना चाहिए ॥२४॥

विशेषार्थ—आचार्य अमृतचन्द्रने अपने पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें पाँच अणुव्रतोंका कथन करनेके पश्चात् रात्रिभोजनके त्यागका कथन किया है और आचार्य अमितगतिने अपने

अथ दृष्टादृष्टदोषभूयिष्ठमपि रात्रिभोजनमाचरन्तं वक्रभणित्या तिरस्कुर्वन्नाह—

जलोदरादिकृद्यूकाद्यङ्कमप्रेक्ष्यजन्तुकम् ।
प्रेताद्युच्छिष्टमुत्सृष्टमप्यश्नन्निश्यहो सुखी ॥२५॥

जलोदरादिकृद्यूकाद्यङ्कं—जलोदरमादिर्येषां कुष्ठादीनामपायानां तत्कृतो यूका आदिर्येषां मर्कटिकादीनां ते तथाविधा अङ्काः—कलङ्का अङ्के वा उत्सङ्गे यस्यान्नपानादेर्भोज्यवस्तुनस्तत्तथोक्तम् । तदुक्तम्—

'मेधां पिपीलिका हन्ति यूका कुर्याज्जलोदरम् ।
कुरुते मक्षिका वान्ति कुष्ठरोगं च कौलिकः ॥
कण्टको दारुखण्डश्च वितनोति गलव्यथाम् ।
व्यञ्जनान्तर्निपतितस्तालु विध्यति वृश्चिकः ॥
विलग्नश्च गले बालः स्वरभङ्गाय जायते ।
इत्यादयो दृष्टदोषाः सर्वेषां निशि भोजने ॥' [योगशा. ३।५०-५२]

अप्रेक्ष्यजन्तुकं—अप्रेक्ष्यास्तमसा छन्नत्वात् द्रष्टुमशक्या जन्तुका अल्पजन्तवः सूक्ष्मजीवाः कुन्थ्वादयो जलघृतादिमध्यपतिता मोदकखर्जूराद्यनुषङ्गिणो वा यत्र तत् । तदुक्तम्—

'घोरान्धकाररुद्धाक्षैः पतन्तो यत्र जन्तवः ।
नैव भोज्ये निरीक्ष्यन्ते तत्र भुञ्जीत को निशि ॥' [योगशा. ३।४९]

श्रावकाचारमें अणुव्रतोंसे पहले रात्रिभोजनका निषेध किया है। श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रने अपने योगशास्त्रमें भोगोपभोग परिमाण व्रतके विवेचनमें रात्रिभोजनका निषेध किया है। किन्तु पं. आशाधरजीने पाक्षिक और अहिंसाणुव्रती नैष्ठिकके कथनमें रात्रिभोजन त्यागका कथन किया है। पाक्षिक श्रावक रात्रिमें जल, औषधि वगैरह ले सकता है। किन्तु अहिंसाणुव्रतका पालक व्रती नैष्ठिक रात्रिमें यावज्जीवनके लिए मन, वचन, कायसे अन्न, पान, लेह्य और खाद्य चारों प्रकारके आहारका त्याग करता है। इस तरह पाक्षिक और नैष्ठिकके रात्रिभोजन त्यागमें बहुत अन्तर है। इसके त्यागसे जहाँ अहिंसाव्रतकी रक्षा होती है वहाँ मूलगुणोंमें निर्मलता भी आती है क्योंकि रात्रिभोजनमें जीवघात तो होता ही है मांसभक्षणका भी दोष लगता है ॥२४॥

रात्रिभोजनमें देखे जा सकनेवाले और न देखे जा सकनेवाले अनेक दोष हैं फिर भी जो रात्रिभोजन करते हैं उनका वक्रोक्तिसे तिरस्कार करते हैं—

जिसमें जलोदर आदि रोगोंको उत्पन्न करनेवाले जूँ आदि जन्तु वर्तमान रहते हैं, तथा जिसमें वर्तमान जन्तुओंको देखा नहीं जा सकता, भूत-प्रेत आदि जिसे जूठा कर जाते हैं ऐसे भोजनको तथा त्यागी हुई वस्तुको भी न देख सकनेके कारण रात्रिमें खानेवाला अपनेको सुखी मानता है यह बड़ा आश्चर्य है ॥२५॥

विशेषार्थ—रात्रिभोजनमें दृष्ट और अदृष्ट दोष पाये जाते हैं। रात्रिमें जीवोंका संचार बढ़ जाता है और कितना ही प्रकाश करनेपर भी दिनकी तरह रात्रिमें दिखाई नहीं देता। फलतः भोजनमें गिर पड़नेवाले मक्खी, मकड़ी, जूँ वगैरह दृष्टिगोचर नहीं होते और उनके भक्षणसे अनेक भयानक रोग हो सकते हैं। शास्त्रकारोंने कहा है कि भोजनमें यदि चींटी खायी जाये तो मेधाका घात करती है, जूँ के खानेसे जलोदर रोग होता है। मक्खी खा लेनेसे वमन होता है। मकड़ी खा लेनेसे कुष्ठ रोग होता है। काँटा या लकड़ीसे गलेमें कष्ट हो जाता है। यदि बिच्छू भोजनमें गिर जाये तो तालुको डंकसे बींध देता है। बाल

किंच निशाभोजने क्रियमाणेऽवश्यं पापः संभवति। तत्र षड्जीवनिकायवधोऽवश्यं भोजनधावनादौ च जलगतजन्तुविनाशो जलोज्झने च भूमिगतकुन्थुपिपीलकादिजन्तुघातश्च भवति। प्रेताद्युच्छिष्टं—प्रेता अधमव्यन्तरा आदयो येषां पिशाचराक्षसादीनां तैरुच्छिष्टं—स्पर्शनादिना अभोज्यतां नीतम्। तदुक्तम्—

> 'अन्नं प्रेतपिशाचाद्यैः संचरद्भिर्निरङ्कुशैः।
> उच्छिष्टं क्रियते यत्र तत्र नाद्याद्दिनात्यये ॥' [योगशा. ३।४८]

उत्सृष्टं—नियमितं वस्तु, घोरान्धकाररुद्धदृशां तदुपलक्षणासंभवात्। अहो—आश्चर्यं कष्टं वा। सुखी, इहामुत्र च दुःखभागेवेत्यर्थः। तदाह—

> 'अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
> निशायां वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥' [सो. उपा. ३२५] ॥२५॥

अथ वनमालोदाहरणेन रात्रिभोजनदोषस्य महत्तां दर्शयति—

> **त्वां यद्युपैमि न पुनः सुनिवेश्य रामं,**
> **लिप्ये वधादिकृदघैस्तदिति श्रितोऽपि।**
> **सौमित्रिरन्यशपथान्वनमालयैकं**
> **दोषाशिदोषशपथं किल कारितोऽस्मिन् ॥२६॥**

वधादिकृदघैः—गोस्त्र्यादिघातकादिपापैः। सौमित्रिः—लक्ष्मणः। दोषाशिनः—रात्रिभोजिनः। किल—एवं हि रामायणे श्रूयते। तद्यथा—लक्ष्मणो दशरथपितृनिर्देशात् सह रामेण सीतया दक्षिणापथे प्रस्थितः। अन्तरा कूर्चनगरे महीधरतनयां वनमालां परिणीतवान्। ततश्च रामेण सह परतो देशान्तरं यियासन्

गलेमें लगकर स्वर भंग कर देता है। इत्यादि दोष रात्रिभोजनमें देखे जाते हैं। प्रतिवर्ष समाचार पत्रोंमें जहरीले भोजनसे मरनेवालोंका समाचार पढ़नेमें आता है। चायकी केतलीमें या हलवाईकी दूधकी कढ़ाईमें छिपकलीके गिर जानेसे विषैली चाय और विषैला दूध, दही, खानेवाले प्रतिवर्ष मरते सुने जाते हैं। बिच्छूकी भी एक घटना प्रकाशित हुई थी। मुरादाबादके किसी प्रदेशमें एक लड़का अपनी खाटके नीचे पानी रखकर सो गया। पानीमें कहींसे बिच्छू आ गिरा। लड़केको प्यास लगी तो उसने पानी पिया। पानीके साथ बिच्छू भी उसके मुँहमें चला गया और लड़केका तालु पकड़कर उसमें अपना डंक मारता रहा। बहुत प्रयत्न करनेपर भी बिच्छू अलग नहीं हुआ और लड़का तीव्र वेदनासे मर गया। अतः रात्रिभोजनके ये दोष तो सर्वत्र देखे जा सकते हैं। पुरानी मान्यताके अनुसार रात्रिमें भूत-प्रेत विचरण करते हैं और वे भोजन जूठा कर जाते हैं। तथा रात्रिमें दिखाई न देनेसे कभी-कभी ऐसी वस्तु भी खानेमें आ जाती है जिसे खानेवालेने छोड़ा हुआ था। फिर भी लोग रात्रिभोजनमें आनन्द मानते हैं यही आश्चर्य है। आचार्य सोमदेवने कहा है—'अहिंसा व्रतकी रक्षा और मूलव्रतोंमें विशुद्धिके लिए रात्रि भोजन छोड़ना चाहिए। यह इस लोक और परलोकमें दुःखदायी है' ॥२५॥

आगे वनमालाके दृष्टान्तमें रात्रिभोजन दोषकी महत्ता बतलाते हैं—

जैन रामायण पद्मपुराणमें सुना जाता है कि 'रामचन्द्रजीको अच्छी तरह व्यवस्थित करके यदि मैं तुम्हारे पास न आऊँ तो मुझे गोहत्या, स्त्रीहत्या आदिका पाप लगे।' इस प्रकार अन्य शपथोंके करनेपर भी वनमालाने लक्ष्मणसे एक यही शपथ करायी कि मुझे रात्रि-भोजनका पाप लगे ॥२६॥

स्वभार्यां वनमालां प्रतिमोचयति स्म । सा तु तद्विरहकातरा पुनरागमनमसंभावयन्ती लक्ष्मणं शपथानकारयत् । यथा—प्रिये ! रामं मनोषिते देशे संस्थाप्य यद्यहं भवतीं स्वदर्शनेन न प्रीणयामि तदा प्राणातिपाताद्विपातकिनां गतिं यामीति । सा तु तैः शपथैरतुष्यन्ती यदि रात्रिभोजनकारिणां शपथं करोषि तदा त्वां प्रतिमुञ्चामि नान्यथेति । स च तथेत्यभ्युपगत्य देशान्तरं प्रस्थितवानिति । तदुक्तम्—

'श्रूयते ह्यन्यशपथाननादृत्यैव लक्ष्मणः ।
निशाभोजनशपथं कारितो वनमालया ॥' [योगशा. ३।६८] ॥२६॥

अथ लौकिकसंवाददर्शनेनापि रात्रिभोजनप्रतिषेधमाह—

यत्र सत्पात्रदानादि किंचित् सत्कर्मनेष्यते ।
कोऽद्यात्तत्रात्ययमये स्वहितैषी दिनात्यये ॥२७॥

'नेष्यते बाह्यैरपीति शेषः । तच्छास्त्रं यथा—
त्रयी तेजोमयो भानुः सर्ववेदविदो विदुः ।
तत्करैः पूतमखिलं शुभं कर्म समाचरेत् ॥
नैवाहुतिर्न च स्नानं न श्राद्धं देवतार्चनम् ।
दानं चाविहितं रात्रौ भोजनं तु विशेषतः ॥
दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभूते दिवाकरे ।
नक्तं तद्धि विजानीयान्न नक्तं....शि भोजनम् ॥
देवैस्तु पूर्वाह्णे मध्याह्ने ऋषिभिस्तथा ।
अपराह्णे तु पितृभिः सायाह्ने दैत्यदानवैः ॥
सन्ध्यायां यक्षरक्षोभिः सदा भुक्तं कुलोद्वह ।
सर्ववेलां व्यतिक्रम्य रात्रौ भुक्तमभोजनम् ॥' [ ]

विशेषार्थ—जब सीता और लक्ष्मणके साथ रामचन्द्रजी वनवासमें थे तो उस प्रदेशमें पहुँचे जहाँ लक्ष्मण की ससुराल थी। लक्ष्मण स्थानकी खोजमें भटकते हुए एक वृक्षके नीचे पहुँचे जहाँ उनकी पत्नी वनमाला उनके वियोगमें आत्मघात करनेके लिए तत्पर थी। परिचय होनेपर वनमाला उन्हें छोड़ती नहीं थी और लक्ष्मणको रामचन्द्रजीके ठहरने आदिकी व्यवस्था करनी थी। अतः लक्ष्मणने लौटकर आनेके लिए अनेक कसमें खायीं। किन्तु वनमालाने रात्रिभोजनके पापकी कसम दिलायी। इससे प्रमाणित होता है रात्रिभोजनसे लगनेवाला पाप हत्यासे भी बड़ा माना जाता था ॥२६॥

आगे लौकिक संवाद दिखाकर भी रात्रिभोजनका निषेध करते हैं—

जिस रात्रिमें अन्य मतावलम्बी भी सत्पात्रको दान देना, स्नान, देवार्चन आदि कोई भी शुभकर्म नहीं मानते, उस दोष-भरी रात्रिमें इस लोक और परलोकमें अपना हित चाहनेवाला कौन समझदार व्यक्ति भोजन करेगा ? ॥२७॥

विशेषार्थ—सनातन धर्ममें भी रात्रिमें शुभकर्म करनेका निषेध है। कहा है—'समस्त वेदज्ञाता जानते हैं कि सूर्य प्रकाशमय है। उसकी किरणोंसे समस्त जगत्के पवित्र होनेपर ही समस्त शुभकर्म करना चाहिए। रात्रिमें न आहुति होती है, न स्नान, न श्राद्ध, न देवार्चन, न दान। ये सब अविहित हैं और भोजन तो विशेषरूपसे वर्जित है।' 'दिनके आठवें भागमें सूर्यका तेज मन्द हो जाता है। उसीको रात्रि जानना। रात्रिमें भोजन नहीं करना चाहिए।'

अत्ययमये—दोषभूयिष्ठे दोषनिवृत्ते वा। स्वहितैषी—आत्मनो लोकद्वयेऽपि पथ्यमिच्छन्। तथा चोक्तमायुर्वेदेऽपि—

'हृन्नाभिपद्मसंकोचश्चण्डरोचिरपायतः।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं सूक्ष्मजीवादनादपि॥' [ ] ॥२७॥

अथ दिनरात्रिभोजनद्वारेण पुंसामुत्तममध्यमजघन्यभावमाह—

[1]भुञ्जतेऽह्नः सकृद्वर्या द्विर्मध्याः पशुवत्परे[2]।
रात्र्यहस्तद्व्रतगुणान् ब्रह्मोद्यान्नावगामुकाः॥२८॥

अह्नः—दिवसस्य मध्ये। ब्रह्मोद्यान्—सर्वज्ञप्रतिपाद्यान्। नावगामुकाः—अजानानाः। यदाह—

'रात्रिभोजनविमोचिनो गुणा ये भवन्ति भवभागिनां पराः।
तानपास्य जिननाथमीशते वक्तुमत्र न परे जगत्त्रये॥'

[अमि. श्रा. ५।६७] ॥२८॥

अथ शास्त्रं निदर्शनं च विना सकलजनानुभवसिद्धं रात्रिभोजननिवृत्तेः फलमाह—

[3]योऽत्ति त्यजन् दिनाद्यन्तमुहूर्तौ रात्रिवत् सदा।
स वर्ण्येतोपवासेन स्वजन्मार्द्धं नयन् कियत्॥२९॥

देव पूर्वाह्णमें, ऋषि मध्याह्नमें और पितृगण अपराह्णमें भोजन करते हैं। दैत्य-दानव सायाह्नमें भोजन करते हैं। यक्ष-राक्षस सदा सन्ध्यामें भोजन करते हैं। इन सब वेलाओंको लांघकर रात्रिमें भोजन करना अनुचित है। आयुर्वेदमें भी कहा है—'सूर्यके अस्त हो जानेसे हृदय और नाभिमें स्थित कमल भी बन्द हो जाता है इसलिए रात्रिमें भोजन नहीं करना चाहिए। तथा रात्रिमें सूक्ष्म जीवोंके भी खाये जानेका प्रसंग रहता है' ॥२७॥

दिन और रात्रिभोजनके द्वारा मनुष्योंका उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यपना बताते हैं—

उत्तम पुरुष दिनमें एक बार, मध्यम पुरुष दो बार और सर्वज्ञके द्वारा कहे गये रात्रि-भोजन त्यागके गुणोंको न जाननेवाले जघन्य पुरुष पशुओंकी तरह रात-दिन खाते हैं। अर्थात् जो दिनमें केवल एक बार भोजन करते हैं वे उत्तम हैं, जो दो बार भोजन करते हैं वे मध्यम हैं और जो रात-दिन खाते हैं वे पशुके तुल्य हैं ॥२८॥

आगे शास्त्रके उदाहरणके बिना रात्रिभोजनके त्यागका जो फल सब लोगोंके अनुभवमें आया हुआ है उसे कहते हैं—

जो रात्रिकी तरह दिनका प्रथम और अन्तिम मुहूर्त छोड़कर सदा भोजन करता है वह अपना आधा जीवन उपवासपूर्वक बिताता है उसकी कितनी प्रशंसा की जावे ॥२९॥

---

१. भुज्यते गुणवतैकदा सदा मध्यमेन दिवसे द्विरुज्ज्वले।
येन रात्रिदिनयोरनारतं भुज्यते स कथितो नरोऽधमः॥—अमि. श्रा. ५।४६।

२. 'वल्भते दिननिशीथयोः सदा यो निरस्तयमसंयमक्रियः।
शृंगपुच्छशफसंगवर्जितो भण्यते पशुरयं मनीषिभिः॥—अमि. श्रा. ५।४४
'वासरे च रजन्यां च यः खादन्नेव तिष्ठति। शृङ्गपुच्छपरिभ्रष्टः स्पष्टं स पशुरेव हि॥'
—योगशास्त्र ३।६२।

३. 'अह्नो मुखेऽवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजन्। निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम्॥'
—योगशास्त्र ३।६३।

दिनाद्यन्तमुहूर्तौ—दिवसस्यादावन्ते च द्वे द्वे घटिके । तदुक्तम्—

'ये विवर्ज्य वदनावसानयोर्वासरस्य घटिकाद्वयं सदा ।
भुञ्जते जितहृषीकवाजिनस्ते भवन्ति भवभारवर्जिनः ॥' [अमि. श्रा. ५।४७]

स्वजन्मार्धम् । समांशो विषमांशो वार्धशब्दो व्याख्येयः । तदुक्तम्—

'करोति विरतिं धन्यो यः सदा निशि भोजनात् ।
सोऽर्धं पुरुषायुष्यस्य स्यादवश्यमुपोषितः ॥' [योगशा. ३।६९] ॥२९॥

अथ रात्रिभोजनवर्जनवन्मूलव्रतविशुद्ध्यङ्गत्वादहिंसाव्रतरक्षाङ्गत्वाच्च श्रावकस्य भोजनान्तरायान् श्लोकचतुष्टयेन व्याचष्टे—

**अतिप्रसङ्गमसितुं परिवर्धयितुं तपः ।
व्रतबीजवृतीर्भक्तेरन्तरायान् गृही श्रयेत् ॥३०॥
दृष्ट्वाऽऽर्द्रचर्मास्थिसुरामांसासृक्पूयपूर्वकम् ।
स्पृष्ट्वा रजस्वलाशुष्कचर्मास्थिशुनकादिकम् ॥३१॥**

विशेषार्थ—नैष्ठिक श्रावक रातमें तो भोजन करता ही नहीं है। दिनमें भी सूर्योदयके प्रथम मुहूर्तमें भोजन नहीं करता और सूर्यास्त होनेसे एक मुहूर्त पहले ही अपना सब खान-पान समाप्त कर देता है इस तरहसे उसका आधा जीवन उपवासपूर्वक बीतता है ॥२९॥

रात्रिभोजन त्यागकी तरह अन्तरायोंको टालकर भोजन करना भी मूलगुणोंकी विशुद्धिका तथा अहिंसाव्रतकी रक्षाका अंग है। अतः चार श्लोकोंसे भोजनके अन्तरायोंको कहते हैं—

व्रती गृहस्थ अतिप्रसंगको छोड़नेके लिए और तपको बढ़ानेके लिए, व्रतरूपी बीजकी रक्षाके लिए बाड़के समान भोजनके अन्तरायोंको पाले ॥३०॥

विशेषार्थ—जिनके उपस्थित होनेपर भोजन करना बीचमें ही छोड़ दिया जाता है उन्हें भोजनके अन्तराय कहते हैं। ये अन्तराय व्रतरूपी बीजके उसी प्रकार रक्षक होते हैं जैसे खेतके चारों ओर लगायी गयी बाड़ खेतमें बोये गये बीजकी रक्षक होती है। इनके पालनेके दो हेतु हैं। पहला हेतु है अतिप्रसंगसे बचना और दूसरा है तपको बढ़ाना। उदाहरणके लिए, भोजन करते हुए हमारी दृष्टिके सामने मांस आ जाता है या भोजनमें मक्खी वगैरह गिर जाती है और हम भोजन करते रहते हैं। तो ऐसा करनेसे मांस आदिके प्रति हमारे मनमें जो ग्लानिका भाव है उसमें कमी आयेगी और तब धीरे-धीरे वह कमी बढ़ती गयी तो हम एक दिन मांस आदिको अच्छा भी मान सकते हैं। इसे ही अतिप्रसंग कहते हैं। दूसरे, इच्छाके रोकनेका नाम तप है। हमारी भोजनकी इच्छा है और उसमें विघ्न आनेपर भोजन छोड़ दिया तो हमने अपनी इच्छाको रोककर तपमें वृद्धि की है। इन हेतुओंसे भोजनके अन्तरायोंको पालना उचित है। आचार्य सोमदेवने भी कहा है—'अतिप्रसंग दोषको दूर करनेके लिए और तपकी वृद्धिके लिए महापुरुषोंने अन्तराय कहे हैं जो व्रतरूपी बीजकी रक्षाके लिए बाड़के समान हैं।' पूर्ववृद्धाचार्योंने कहा है कि दर्शनकी विशुद्धिके लिए अन्तराय पालना चाहिए ॥३०॥

आगे तीन श्लोकोंसे उन्हीं अन्तरायोंको कहते हैं—

व्रती गृहस्थ ताजा चमड़ा, हड्डी, शराब, मांस, खून, पीब आदिको देखकर, रजस्वला स्त्री, सूखा चमड़ा, हड्डी, कुत्ते आदिको स्पर्श करके अर्थात् इनसे छू जानेपर, 'इसका सिर

श्रुत्वाऽतिकर्कशाक्रन्दविड्वरप्रायनिःस्वनम् ।
भुक्त्वा नियमितं वस्तु भोज्येऽशक्यविवेचनैः ॥३२॥
संसृष्टे सति जीवद्भिर्जीवैर्वा बहुभिर्मृतैः ।
इदं मांसमिति दृष्टसंकल्पे वाशनं त्यजेत् ॥३३॥

अतिप्रसङ्गं—विहितातिक्रमेण प्रवृत्ति ॥३०॥ आर्द्रं चर्मस्थीनि, ये च पूर्वकं वसादि दृष्ट्वा स्पृष्ट्वेति योज्यम् । शुनकादि—मार्जारश्वपचादि स्पृष्ट्वैव न दृष्ट्वेति व्याख्येयम् ॥३१॥ अतिकर्कशं—अस्य मस्तकं कृन्त इत्यादि रूपम् । आक्रन्दं—हा हा इत्याद्यार्तस्वरस्वभावम् । विड्वरप्रायं—परचक्रागमनातङ्कप्रदीपनादिविषयम् ॥३२॥ जीवैः—पिपीलिकादिभिः । बहुभिः—त्रिचतुरादिभिः । ईदृक्षसंकल्पे—सादृश्यादिदं रुधिरमिदमस्थि 'अयं सर्पं' इत्यादिरूपेण मनसा विकल्प्यमाने भोज्यवस्तुनीत्यर्थः । अशनं—तात्कालिकमेवाहारं न तु वैकालिकादिकम् । उक्तं च—

'दर्शनस्पर्शसंकल्पसंसर्गत्यक्तभोजिताः ।
हिंसनाक्रन्दनप्रायाः प्रायः प्रत्यूहकारिणः ॥
अतिप्रसंगहानाय तपसः परिवृद्धये ।
अन्तरायाः स्मृताः सद्भिर्व्रतबीजव्रतिक्रियाः ॥' [सो. उपा. ३२३-३२४]

वृद्धास्त्वेवं पठन्ति—

'रुहिरामिस चम्मट्ठी सुर पच्चंखिउ बहुजंतु ।
अंतराय पालहि भविय दंसणसुद्धिणिमित्तु ॥' [साव. दोहा ३३] ॥३३॥

अथ हिंसाणुव्रतशीलत्वेन मौनव्रतं व्याचिख्यासुः पञ्चश्लोकीमाह—

गृद्धयै हुंकारादिसंज्ञां संक्लेशं च पुरोऽनु च ।
मुञ्चन् मौनमदन् कुर्यात्तपःसंयमबृंहणम् ॥३४॥

काटो' इत्यादि अत्यन्त कठोर शब्दको, 'हाय-हाय' इत्यादि चिल्लानेके शब्दको, शत्रुसेनाके आक्रमण या आग लगाने आदिके शब्दोंको सुनकर, त्यागी हुई वस्तु खा लेनेपर, भोजनसे जिनको अलग करना शक्य नहीं है इस तरहके जीवित दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय जीवोंके भोजनमें मिल जाने पर या भोजनमें बहुतसे मरे जीवोंके गिर जानेपर और भोज्य पदार्थमें यह तो मांसके समान है इत्यादि विकल्प मनमें आनेपर भोजन छोड़ देना चाहिए ॥३१-३३॥

विशेषार्थ—भोजन करते समय यदि उक्त प्रकारकी गन्दी वस्तुओंको देख लिया जाये, या उनसे छू जाये, या हृदयभेदी शब्द कानमें आवे, या कोई त्यागी हुई वस्तु भूलसे खा ली जाये या भोजनमें जीवित जन्तु इस रूपमें गिर जाये कि उन्हें निकालना अशक्य हो या मरे हुए जीव गिर जायें, या खाते समय किसी व्यंजनको देखकर उसमें किसी बुरी वस्तुका संकल्प हो आवे तो भोजन छोड़ देना चाहिए। यह भोजन छोड़नेकी बात उसी समयके लिए है, अन्य समय सम्बन्धी भोजनके लिए नहीं है ॥३१-३३॥

मौनव्रत अहिंसाणुव्रतका पोषक है। अतः पाँच श्लोकोंसे उसको कहते हैं—

अपनेको रुचिकर व्यंजनकी प्राप्तिके लिए हुंकार खकार आदिसे संकेत करनेको तथा भोजनसे पहले और भोजनके पश्चात् लड़ाई झगड़ा आदि सम्बन्धी संक्लेश रूप परिणामोंको छोड़ते हुए गृहस्थको खाते समय तप और संयमको बढ़ानेवाला मौन धारण करना चाहिए ॥३४॥

---

१. वाश मु.।

गृद्धये—इष्टभोज्यार्थम् । तन्निषेधार्थं हुंकारादिना स्वाभिप्रायज्ञापनं (न) दोषः । तदुक्तम्—

'हुंकारांगुलिखात्कारभ्रूमूर्धचलनादिभिः ।
मौनं विदधता संज्ञा विधातव्या न गृद्धये ॥' [अमि. श्रा. १२।१०७]

अथवा गृद्धये—भोजनाभिकाङ्क्षाप्रवृत्त्यर्थम् । यदाह—

'भ्रूनेत्र-हुंकार-कराङ्गुलीभिर्गृद्धिप्रवृत्त्यै परिवर्ज्य संज्ञाम् ।
करोति भुक्तिं विजिताक्षवृत्तिः स शुद्धमौनव्रतवृद्धिकारी ॥' [ ]

संक्लेशं—कोपदैन्याद्यविशुद्धिपरिणामम् । अनु—पश्चात् । उक्तं च—

'कोपादयो न संक्लेशा मौनव्रतफलार्थिना ।' [ ]

पुरः—पश्चात् । कर्तव्य (?) अदन्—भोजनं कुर्वन् । यदाह—

'सर्वदा शस्यते जोषं भोजने तु विशेषतः ।
रसायनं सदा श्रेष्ठं सरोगत्वे पुनर्न किम् ॥' [अमि. श्रा. १२।१०२]

तप इत्यादि । यदाह—

'सन्तोषो भाव्यते तेन वैराग्यं तेन दर्श्यते ।
संयमः पोष्यते तेन मौनं येन विधीयते ॥' [अमि. श्रा. १२।१०३] ॥३४॥

अथ मौनस्य तपोवर्धकत्वं श्रेयःसंचायकत्वं च श्लोकद्वयेन समर्थयते—

अभिमानावने गृद्धिरोधाद्वर्धयते तपः ।
मौनं तनोति श्रेयश्च श्रुतप्रश्रयतायनात् ॥३५॥
शुद्धमौनान्मनःसिद्धया शुक्लध्यानाय कल्पते ।
वाक्सिद्धया युगपत्साधुस्त्रैलोक्यानुग्रहाय च ॥३६॥

विशेषार्थ—भोजन करते समय न बोलनेको मौन कहते हैं । मौन पूर्वक भोजन करना प्राचीन भारतीय पद्धति है । इससे जहाँ एक ओर इच्छाको रोकनेसे तपकी वृद्धि होती है वहीं दूसरी ओर प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयममें भी वृद्धि होती है क्योंकि किसी रुचिकर व्यंजनकी इच्छा होनेपर भी माँग नहीं सकते अतः इच्छाको रोकना पड़ता है । साथ ही इन्द्रियतृप्तिकारक पदार्थके न मिलनेसे इन्द्रियोंका भी पोषण सीमित होता है । किन्तु मौन धारण करके भी इशारोंसे इच्छित वस्तुको माँगना अनुचित है । उससे तो मौनका उद्देश ही व्यर्थ हो जाता है । तथा भोजनसे पहले या बादमें क्रोधादि करनेसे भोजनका पाक भी ठीक नहीं होता, यह चिकित्साशास्त्र भी मानता है । अमितगतिने भी भोजनके समय इन बातोंका निषेध किया है । हाँ, यदि कोई वस्तु न लेनी हो तो मना करनेके लिए हुँकार आदिसे संकेत कर सकते हैं ॥३४॥

आगे मौन तपको बढ़ानेवाला और पुण्यका संचय करनेवाला है इसका समर्थन दो श्लोकोंसे करते हैं—

मौन धारण करनेसे अभिमानकी रक्षा होती है क्योंकि किसीसे कुछ माँगना नहीं होता, तथा भोजनकी लिप्साको रोकना होता है अतः तपकी वृद्धि होती है । और जूठे मुँहसे न बोलनेसे श्रुतज्ञानकी विनय होती है और उससे पुण्यका संचय होता है ॥३५॥

देशव्रती श्रावक और साधु भोजन आदिमें निरतिचार मौनव्रत पालन करनेसे चित्तको वशमें करनेके द्वारा शुक्लध्यान करनेमें समर्थ होता है । और वचनकी सिद्धिके द्वारा एक साथ तीनों लोकोंके भव्य जीवोंका उपकार करनेमें समर्थ होता है ॥३६॥

अभिमानावने....अयाचकत्वव्रतरक्षायां सत्याम् । गृद्धिरोधात्—भोजलौल्यप्रतिबन्धात् ॥३५॥ मनःसिद्धया—मनोवशीकरणेन । वाक्सिद्धया—युगपत्त्रिजगदनुग्रहसमर्थभारतीविभूत्या । तथा चोक्तम्—

'लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षणम् ।
ततश्च समवाप्नोति मनःसिद्धिं जगत्त्रये ॥
श्रुतस्य प्रश्रयाच्छ्रेयः समृद्धेः स्यात्समाश्रयः ।
ततो मनुजलोकस्य प्रसीदति सरस्वती ॥' [सो. उपा. ८३५-८३६]

अपि च—

'वाणी मनोरमा तस्य शास्त्रसन्दर्भगर्भिता ।
आदेया जायते येन क्रियते मौनमुज्ज्वलम् ॥
पदानि यानि विद्यन्ते वन्दनीयानि कोविदैः ।
सर्वाणि तानि लभ्यन्ते प्राणिना मौनकारिणा ॥'

[अमि. श्रा. १२।११४-११५] ॥३६॥

अथ नियतकालिकसार्वकालिकमौनयोरुद्यापनविशेषनिर्णयार्थमाह—

उद्योतनं महेनैकघण्टादानं जिनालये ।
असार्वकालिके मौने निर्वाहः सार्वकालिके ॥३७॥

महेन—उत्सवेन पूजया वा सह । उक्तं च—

विशेषार्थ—आचार्य अमितगतिने कहा है कि मौन सर्वदा प्रशंसनीय है किन्तु भोजन के समय विशेषरूपसे प्रशंसनीय है। जैसे रसायनका सेवन सदा उत्तम है किन्तु सरोग अवस्थामें तो कहना ही क्या है। जो मौनका पालन करता है वह सन्तोषकी भावना भाता है, वैराग्यके दर्शन करता है और संयमको पुष्ट करता है। उसकी वाणी मनोरम और शास्त्रोंके रहस्यको लिये हुए होती है। आचार्य सोमदेवने कहा है—भोजनकी लिप्सा त्यागनेसे तपकी वृद्धि होती है और अभिमानकी रक्षा होती है। और उनसे मन वशमें होता है। श्रुतकी विनय करनेसे कल्याण होता है। सम्पत्ति मिलती है और उससे मनुष्यलोकपर सरस्वती प्रसन्न होती है। इन्हीं बातोंको पं. आशाधरजीने ऊपर बहुत ही सयुक्तिक सुन्दर रीतिसे चित्रित किया है। वह कहते हैं कि निरतिचार मौन पालनेसे एक ओर मन वशमें होता है, दूसरी ओर वचन। मनको वशमें करनेसे शुक्लध्यानको ध्यानेमें समर्थ होता है। शुक्लध्यानसे ही अर्हन्त अवस्था प्राप्त होती है। जिसे प्राप्त कर लेनेपर दिव्यध्वनि खिरती है और उससे एक साथ तीनों लोकोंके जीवोंका उपकार होता है; क्योंकि समवसरणमें अधोलोकमें रहनेवाले भवनवासी और व्यन्तर देव, मध्यलोकके वासी मनुष्य और तिर्यञ्च तथा स्वर्गलोकके देव उपस्थित होकर भगवान्‌की वाणी सुनते हैं। यह वाणीकी सिद्धिका प्रभाव है। इस तरह मौनव्रतका बड़ा भारी फल है ॥३६॥

मौनके दो प्रकार हैं—नियतकालिक और सार्वकालिक। दोनों ही प्रकारके मौनव्रतमें उद्योतन विशेष बतलाते हैं—

अपनी शक्तिके अनुसार नियत कालके लिए किये गये मौन व्रतमें जिनालयमें पूजा-महोत्सवके साथ एक घण्टा देना उद्योतन है। और जीवन पर्यन्तके लिए किये गये मौन व्रतमें उसको निराकुलतापूर्वक पालना ही उद्योतन है ॥३७॥

'भव्येन शक्तितः कृत्वा मौनं नियतकालिकम् ।
जिनेन्द्रभवने देया घण्टैका समहोत्सवम् ॥' [अमि. श्रा. १२।१०९]

निर्वाहः । उक्तं च—

'न सार्वकालिके मौने निर्वाहव्यतिरेकतः ।
उद्योतनं परं प्राज्ञैः किञ्चनापि विधीयते ॥' [अमि. श्रा. १२।११०] ॥३७॥

अथावश्यकादिषु शक्तितः सर्वदापि मौनविधानेन वाग्दोषोच्छेदमाह—

[1]आवश्यके मलक्षेपे पापकार्ये च वान्तिवत् ।
मौनं कुर्वीत शश्वद्वा भूयोवाग्दोषविच्छिदे ॥३८॥

मलक्षेपे—विण्मूत्रोत्सर्गे । पापकार्ये—हिंसादिकर्मणि परेण क्रियमाणे । च शब्देन स्नानमैथुनादौ च । यतेस्तु भ्रामरीप्रवेशेऽपि । वान्तिवत्—छर्द्यां यथा छर्दनादनन्तरमाचमनं यावदित्यर्थः । भूयांसः—कायदोषापेक्षया बहुतराः ॥३८॥

अथ सत्याणुव्रतलक्षणार्थमाह—

कन्यागोक्ष्मालीककूटसा[2]क्षिन्यासापलापवत् ।
स्यात्सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन् ॥३९॥

विशेषार्थ—व्रतकी पूर्ति होनेपर उसका माहात्म्य प्रकट करनेके लिए जो समारोह किया जाता है उसे उद्योतन कहते हैं। यह उद्योतन जिसे लोकमें उद्यापन कहते हैं, नियतकालके लिए स्वीकार किये गये व्रतकी पूर्ति होनेपर किया जाता है। जीवनपर्यन्तके लिए धारण किये गये व्रतोंका उद्यापन तो उन व्रतोंको जीवनपर्यन्त पालना ही है। यहाँ जीवनपर्यन्त मौनव्रतका मतलब यह नहीं है कि इस व्रतका धारी जीवन-भर कभी बोलेगा ही नहीं। किन्तु जिस-जिस समय मौनका विधान है उस-उस समयमें वह जीवनपर्यन्त मौन रखता है ॥३७॥

आगे अन्य जिन कार्योंके समय मौन रखना आवश्यक है उन्हें बतलाते हैं—

साधु और श्रावकको वमनकी तरह सामायिक आदि छह आवश्यकोंमें, मलमूत्र त्यागते समय, यदि कोई पाप कार्य करता हो तो मौन धारण करना चाहिए। अथवा शारीरिक दोषोंकी अपेक्षा बहुत अधिक वचन सम्बन्धी दोषोंको दूर करनेके लिए सदा मौन धारण करना चाहिए ॥३८॥

विशेषार्थ—जैसे वमन होनेपर जबतक मुखशुद्धि नहीं करते तबतक मौन रहते हैं उसी तरह सामायिक देवपूजा आदि षट्कर्म करते समय, मलमूत्र त्याग करते समय, अन्य कोई बुरा कार्य करता हो तो उस समय और 'च' शब्दसे स्नान-भोजन और मैथुन करते समय मौन रहना चाहिए। इसके साथ ही बिना आवश्यकताके नहीं बोलना चाहिए; क्योंकि कठोर आदि वचन मुखसे निकल जानेपर पापकर्मका आस्रव होता है और परस्परमें कलह होती है। अतः मौन ही श्रेयस्कर है ॥३८॥

अब सत्याणुव्रतका स्वरूप कहते हैं—

कन्याअलीक, गोअलीक, क्ष्मालीक, कूटसाक्षि और न्यासापलापकी तरह जिससे अपने पर या दूसरोंपर विपत्ति आती हो ऐसे सत्यको भी छोड़ता हुआ सत्याणुव्रती होता है ॥३९॥

---

१. 'आवश्यके मलक्षेपे पापकार्ये विशेषतः । मौनी न पीड्यते पापैः संनद्धः सायकैर्विना' ॥—अमि.श्रा.१२।१११।

२. साक्ष्य —मु. ।

कन्यालीकं—भिन्नकन्यामभिन्नां विपर्ययं वा वदतो भवति । इदं च सर्वस्य कुमारादिद्विपदविषयस्यालीकस्योपलक्षणम् । गवालीकं—अल्पक्षीरां गां बहुक्षीरां विपर्ययं वा वदतः स्यात् । इदमपि सर्वचतुष्पदविषयालीकस्योपलक्षणम् । क्ष्मालीकं—परस्वकामपि भूमिमात्मस्वकां विपर्ययं वा वदतो भवेत् । इदं चाशेषपादपाद्यपदद्रव्यविषयालीकस्योपलक्षणम् । कन्याद्यलीकानां च लोके विगर्हिततत्वेन रूढत्वात् द्विपदादिग्रहणं न क्रियते । कन्याद्यलीकत्रयं लोकविरुद्धत्वान्न वाच्यम् । कूटसाक्ष्यं—प्रमाणीकृतस्य लंचमत्सरादिना कूटं वदतः स्यात् । यथाऽहमत्र साक्षीति । अस्य च परपापसमर्थकत्वविशेषेण पूर्वेभ्यो भेदः । तच्च धर्मविपक्षत्वान्न वदेत् । धर्मं ब्रूयान्नाधर्ममिति विवादिभिरभ्यर्थहितत्वात् । न्यासापलापः—न्यस्यते रक्षणार्थमन्यस्मै समर्प्यत इति न्यासः सुवर्णादि । तदपलापं नालपेत् विश्वसितघातकत्वात् । तदुक्तम्—

'कन्यागोभूम्यलीकानि न्यासापहरणं तथा ।
कूटसाक्ष्यं च पञ्चेति स्थूलासत्यान्यकीर्तयन् ॥'

तथा—

'सर्वलोकविरुद्धं यद्यद्विश्वसितघातकम् ।
यद्विपक्षश्च पुण्यस्य न वदेत्तदसूनृतम् ॥' [योगशा. २।५४-५५]

किञ्चाज्ञानसंशयादिनाप्यसत्यं न ब्रूयात् किंपुना रागद्वेषाभ्याम् । तदुक्तम्—

'असत्यवचनं प्राज्ञः प्रमादेनापि नो वदेत् ।
श्रेयांसि येन भज्यन्ते वात्ययेव महाद्रुमाः ॥' [योगशा. २।५६]

विशेषार्थ—स्वामी समन्तभद्राचार्यने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें स्थूल अलीक न स्वयं बोलता है और न दूसरेसे बुलवाता है उसे सत्याणुव्रत कहा है। आचार्य हेमचन्द्रने अपने योगशास्त्रमें स्थूल अलीक (असत्य) पाँच कहे हैं—कन्या अलीक, गोअलीक, भूमि अलीक, कूटसाक्ष्य और न्यासापलाप। तदनुसार पं. आशाधरजीने भी इन पाँच स्थूल अलीकोंको छोड़नेवालेको सत्याणुव्रती कहा है। कन्याके विषयमें झूठ बोलना कन्यालीक है। शादी-विवाहके समय माता-पिता भी अपनी सदोष कन्याको निर्दोष कहते हैं। तथा विरोधी लोग निर्दोष कन्याको भी दोष लगाते हैं। यहाँ 'कन्या'से केवल कन्या ही नहीं लेना चाहिए, किन्तु जितने दो पैरवाले हैं वे सब लेना चाहिए। अतः लड़कोंके विषयमें तथा अन्य स्त्री-पुरुषोंके सम्बन्धमें झूठ बोलना भी उसमें गर्भित समझना चाहिए। गायके विषयमें झूठ बोलना गो-अलीक है। जैसे थोड़ा दूध देनेवाली गायको बहुत दूध देनेवाली या बहुत दूध देनेवाली गायको थोड़ा दूध देनेवाली कहना। यहाँ गौसे भी केवल गौ ही नहीं लेना चाहिए किन्तु जितने भी चौपाये हैं उन सबके सम्बन्धमें झूठ बोलना भी उसमें शामिल है। भूमिके सम्बन्धमें झूठ बोलना क्ष्मालीक है। जैसे परायी भूमिको अपनी बतलाना या परिस्थितिवश अपनी भूमिको परायी बतलाना। यहाँ भी क्ष्मालीकसे केवल भूमिसम्बन्धी झूठ नहीं लेना चाहिए, किन्तु बिना पैरकी जितनी वस्तुएँ हैं, जैसे पेड़ वगैरह, उन सबके सम्बन्धमें झूठ बोलना इसीमें आता है। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि जब कन्यालीकमें सब दोपाये, गो अलीकमें सब चौपाये और क्ष्मालीकमें सब बिना पैरकी वस्तुएँ ली गयी हैं तो इन असत्योंको कन्यालीक, गोअलीक और क्ष्माअलीक नाम क्यों दिया? द्विपद अलीक आदि नाम क्यों नहीं दिया? इसका समाधान यह है कि लोकमें कन्या, गाय और भूमिके सम्बन्धमें झूठ बोलनेको अतिनिन्दनीय माना जाता है। अतः लोकविरुद्ध होनेसे ये तीनों झूठ नहीं बोलना चाहिए। घूसके लालचसे या ईर्ष्यावश झूठी बातको सच और सच्ची बातको झूठ कहना कि मैंने ऐसा देखा,

सत्यं—चौरे चोरोऽयमित्यादिरूपम्। स्वान्यापदे—स्वपर-[विपत्त्यर्थ-] मित्यर्थः। त्यजन्—यस्मिन्नुक्ते स्वपरयोर्वधबन्धादिकं राजादिभ्यो भवति तत्स्थूलासत्यम्। तादृक् सत्यं च स्वयमवदन् परांश्चावादयन्नित्यर्थः। तदुक्तम्—

'स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥' [रत्न. श्रा. ५५]

अपि च—

'अत्युक्तिमन्यदोषोक्तिमसभ्योक्तिं च वर्जयेत्।
भाषेत वचनं नित्यमभिजातं हितं मितम् ॥
तत्सत्यमपि नो वाच्यं यत्स्यात्परविपत्तये।
जायन्ते येन वा स्वस्य व्यापदश्च दुरास्पदाः ॥' [सो. उपा. ३७६-३७७] ॥३९॥

मैं इसका साक्षी हूँ, यह कूट साक्ष्य है। इसके द्वारा दूसरेके पापका समर्थन होता है अतः ये पहलेके तीन झूठोंसे भिन्न हैं। यह धर्मका विरोधी है अतः नहीं बोलना चाहिए। सुरक्षाके लिए जो वस्तु दूसरेके पास रख दी जाती है उसे न्यास कहते हैं। जैसे सोना वगैरह। उस धरोहरको अपने पास रखकर झूठ नहीं बोलना चाहिए कि मेरे पास नहीं रखी थी। यह तो विश्वासघात है। अधिक क्या कहा जाये, अज्ञान और संशयमें भी झूठ नहीं बोलना चाहिए, राग-द्वेषसे झूठ बोलनेकी तो बात ही क्या है। यह पं. आशाधरजीने सत्याणुव्रतका स्वरूप कहा है। दिगम्बर परम्पराके श्रावकाचारोंमें इस तरहका लक्षण, जिसमें कुछ असत्योंका नाम लिया गया हो, नहीं मिलता। सबने स्थूल असत्य या उसके भेदोंके त्यागको सत्याणुव्रत कहा है। यथा—अमृतचन्द्राचार्यने तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार असत् कथनको झूठ कहा है और उसके चार भेद कहे हैं—सत्का निषेध। यथा देवदत्तके घरमें होते हुए भी कहना कि वह नहीं है। असत्का विधान। जो नहीं है उसे 'है' कहना। तीसरा अन्यको अन्य कहना, जैसे बैलको घोड़ा बतलाना। चौथा, गर्हित, पाप सहित, और अप्रिय वचन बोलना। इन सबका त्याग सत्याणुव्रत है। सोमदेवाचार्यने किसी बातको बढ़ाकर कहना, दूसरेके दोषोंको कहना, असभ्य वचन बोलनेको असत्य कहा है और उनके त्यागको सत्याणुव्रत कहा है। अमितगतिने[2] भी निन्दनीय और धार्मिकोंके द्वारा अनादरणीय वचनको तथा अनिष्ट वचन को असत्य कहा है। इन्होंने अमृतचन्द्रजीके द्वारा कहे गये असत्यके चार भेदोंको भी बताया है। वसुनन्दिने[3] राग या द्वेषसे झूठ न बोलनेको तथा प्राणियोंका घात करनेवाला सत्य वचन भी न बोलनेको सत्याणुव्रत कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थसूत्रके 'असत् कथनको असत्य कहते हैं' इस लक्षणको आगेके ग्रन्थकारोंने विस्तृत या स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। स्वामी समन्तभद्रने उसे स्थूल झूठके रूपमें लिया और जिस सत्यसे अपने पर या दूसरोंके प्राणोंपर विपत्ति आती हो ऐसे सत्यको भी असत्य ठहराया है क्योंकि वह भी असत्की

१. 'यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥'—पुरुषार्थ. ९१ श्लो.।

२. अमि. श्रा. ६।४९-५८।

३. अलियं ण जंपणीयं पाणिवहकरं तु सच्चवयणं पि।
रायेण य दोसेण य णेयं बिदियं वयं थूलं ॥'—वसु. श्रा. २१० गा.।

अथ लोकव्यवहाराविरोधेन वाक्प्रयोगं तद्विरोधेन च तदप्रयोगमुपदिशति—

लोकयात्रानुरोधित्वात्सत्यसत्यादिवाक्त्रयम् ।
ब्रूयादसत्यासत्यं तु तद्विरोधान्न जातुचित् ॥४०॥

स्पष्टम् ॥४०॥

अथ सत्यसत्यादीनि श्लोकत्रयेण लक्षयन्नाह—

यद्वस्तु यद्देशकाल-प्रमाकारं प्रतिश्रुतम् ।
तस्मिंस्तथैव संवादि सत्यसत्यं वचो वदेत् ॥४१॥

परिभाषामें आता है । 'जिससे किसी प्राणीको पीड़ा पहुँचे वह सब वचन अप्रशस्त या असत् है चाहे वह विद्यमान अर्थको कहता हो चाहे अविद्यमान अर्थको कहता हो ।' यह परिभाषा असत्‌की पूज्यपाद स्वामीने की है। अतः जो वस्तु जैसी देखी हो या सुनी हो उसको वैसा ही कहना, यह सत्यकी एकांगी परिभाषा है । जैन धर्ममें मूल व्रत अहिंसा है। अतः जिस सत्यसे हिंसा होती हो वह सब असत्यकी कोटिमें आता है । वैसे तो सत्य बोलनेसे स्वार्थका घात होना है और स्वार्थका घात होनेसे व्यक्तिको कष्ट पहुँचता है । किन्तु ऐसे सत्य वचनको हिंसा नहीं कह सकते । यदि कहें तो फिर सत्य बोलना ही असम्भव हो जायेगा । अतः स्वार्थघाती सत्य असत्य नहीं है किन्तु प्राणघाती सत्य ही असत्यमें सम्मिलित है । ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए। पं. आशाधरजीने जो कूटसाक्ष्य और न्यासापहारके त्यागीको सत्याणुव्रती कहा है और आगे सत्याणुव्रतके अतीचारोंमें इन दोनोंको गिनाया है उसमें आपत्ति आती है क्योंकि जिसको त्याग चुका उसीके करनेसे तो व्रतभंगका प्रसंग आता है। अतः सत्याणुव्रतकी जो परम्परागत व्याख्या है वही समुचित प्रतीत होती है। पूज्यपाद स्वामीने तो स्नेह-मोह आदिके वशमें होकर ऐसा झूठ न बोलनेको सत्याणुव्रत कहा है जो किसी घर या गाँवको ही विनष्ट करनेमें कारण हो । व्याख्यामें स्थूल झूठका त्याग आ ही जाता है। स्थूल झूठके ही तो वे चार भेद हैं जिन्हें अमृतचन्द्र और अमितगतिने गिनाया है ॥३९॥

आगे लोकव्यवहारमें विरोध पैदा न करनेवाले वचनोंको बोलनेका और लोकव्यवहारमें विरोध पैदा करनेवाले वचनोंको न बोलनेका उपदेश देते हैं—

सत्याणुव्रती लोकव्यवहारमें सहायक होनेसे आगे कहे जानेवाले सत्यसत्य आदि तीन प्रकारके वचनोंको बोले । किन्तु लोकव्यवहारके विरुद्ध होनेसे असत्यासत्यको कभी भी न बोले ॥४०॥

विशेषार्थ—वचनके चार प्रकार हैं—सत्यसत्य, सत्यअसत्य, असत्यसत्य और असत्यअसत्य । इनका लक्षण आगे कहेंगे। इनमें-से प्रथम तीन वचन तो लोकव्यवहारके सहायक हैं । किन्तु असत्यासत्य लोकव्यवहारका घातक है अतः उसे कभी भी नहीं बोलना चाहिए ॥४०॥

आगे तीन श्लोकोंसे सत्यसत्य आदिका लक्षण कहते हैं—

जो वस्तु जिस देश, जिस काल, जिस प्रमाण और जिस आकारको लेकर प्रतिज्ञात

---

१. 'प्राणिपीडाकरं यत्तदप्रशस्तम् विद्यमानार्थविषयं वाऽविद्यमानार्थविषयं वा । उक्तं च प्रागेवाहिंसापरिपालनार्थमितरद्व्रतमिति । तस्माद्धिंसाकर्मवचोऽनृतमिति निश्चेयम् ।'—सर्वार्थसि. ७।१४ ।

प्रतिश्रुतं—प्रतिपन्नम् ॥४१॥

असत्यं वय वासोऽन्धो रन्धयेत्यादि सत्यगम् ।
वाच्यं कालातिक्रमेण दानात्सत्यमसत्यगम् ॥४२॥

सत्यगं—असत्यमपि किञ्चित्सत्यमेवेत्यर्थः । कालातिक्रमेण दानात्—यथाऽर्धमासतमे दिवसे तवेयं देयमित्यास्थाय मासतमे संवत्सरतमे वा दिवसे ददातीति ॥४२॥

यत्स्वस्य नास्ति तत्कल्ये दास्यामीत्यादिसंविदा ।
व्यवहारं विरुन्धानं नासत्यासत्यमालपेत् ॥४३॥

संविदा—प्रतिज्ञया । उक्तं च —

'तुरीयं वर्जयेन्नित्यं लोकयात्रा त्रये स्थिता ।
सा मिथ्यापि न गीर्मिथ्या या गुर्वादिप्रसादिनी ॥' [सो. उपा. ३८४] ॥४३॥

अथ सावद्यव्यतिरिक्तानृतपञ्चकस्य नित्यं वर्जनीयत्वमाह—

भोक्तुं भोगोपभोगाङ्गमात्रं सावद्यमक्षमा ।
ये ते ऽप्यन्यत्सदा सर्वं हिंसेत्युज्झन्तु वाऽनृतम् ॥४४॥

की गयी है उसको उसी देश, उसी काल, उसी प्रमाण, उसी आकारमें उपस्थित करना सत्य-सत्य है। ऐसा वचन बोलना चाहिए ॥४१॥

विशेषार्थ—जैसे हमने किसीसे वादा किया कि हम आपको अमुक वस्तु अमुक स्थानपर, अमुक समयमें, अमुक परिमाणमें देंगे तो उस वस्तुको अपने वचनके अनुसार उसी स्थानपर, उसी समयमें, उसी परिमाणमें और उसी आकार-प्रकारमें प्रदान करना, ऐसा वचन सत्यसत्य कहा जाता है। ऐसे वचनसे प्रामाणिकता प्रकट होती है। लोकमें अपनी साख जमती है। लोकव्यवहारमें विश्वास पैदा होता है ॥४१॥

हे जुलाहे, वस्त्र बुनो। हे रसोइये, भात पकाओ। इत्यादि वचन असत्य होनेपर भी किंचित् सत्य होनेसे असत्यसत्य हैं। कालका अतिक्रम करके देनेसे सत्य होते हुए भी असत्य होनेसे सत्यासत्य कहलाता है। ये वचन सत्याणुव्रती बोल सकता है ॥४२॥

विशेषार्थ—लोकव्यवहारमें ऐसा बोला जाता है—वस्त्र बुनो, भात पकाओ। किन्तु न तो वस्त्र बुना जाता है और न भात पकाया जाता है। धागे बुने जाते हैं और चावल पकाये जाते हैं। अतः वस्त्रके योग्य धागोंमें वस्त्र शब्दका प्रयोग और चावलमें भात शब्दका प्रयोग असत्य है। किन्तु लोकमें ऐसा व्यवहार होनेसे सत्य है। अतः ऐसे वचनको असत्य सत्य कहते हैं। तथा किसीने कहा कि मैं पन्द्रहवें दिन आपकी यह वस्तु लौटा दूँगा। किन्तु पन्द्रहवें दिन न लौटाकर एक मास या एक वर्षमें लौटाता है। चूँकि उसने वस्तु लौटा दी इसलिए उसका वचन सत्य है और समयपर न लौटानेसे असत्य है अतः सत्यासत्य है। लोकव्यवहारमें ऐसा चलन होनेसे इस तरहके वचन सत्याणुव्रती बोल सकता है ॥४२॥

जो वस्तु अपनी नहीं है और अपने पास भी नहीं है उसके सम्बन्धमें इस प्रकारका वादा करना कि कल यह वस्तु दूँगा असत्यासत्य है। ऐसा वचन लोकव्यवहारमें बाधा डालनेवाला है। अतः उसे नहीं बोलना चाहिए ॥४३॥

आगे सावद्य वचनके सिवाय पाँच प्रकारके असत्य वचनोंको सदा छोड़ने योग्य बताते हैं—

यहाँ बहुत न कहकर इतना कहना ही पर्याप्त है कि जो भोग और उपभोगमें साधन

सावद्यं—'क्षेत्रं कृष' इत्यादि । उक्तं च—

'छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि ।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥' [पुरुषार्थ. ९०]

अन्यत्—सदपलपनादि । तथाहि—नास्त्यात्मेत्यादि सदपलपनम् ।

उक्तं च—

'स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि च यस्मिन्निषिध्यते वस्तु ।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥' [पुरुषार्थ. ९२]

सर्वगत आत्मा, श्यामाकतण्डुलमात्रो वेत्यादिकमसद्भावनम् । उक्तं च—

'असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः ।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथाऽस्ति घटः ॥' [पुरुषा. ९३]

गामश्वमभिवदतो विपरीतम् । उक्तं च—

'वस्तु सदपि स्वरूपात्पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनृतमिदं तु तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्वः ॥' [पुरुषा. ९४]

काणं काणमभिदधानस्याप्रियम् । अरे बान्धकिनेय इत्यादि गर्हितम् । साक्रोशमित्यन्यत् । हिंसेति प्रमादयोगाविशेषात् । यत्र तु प्रमत्तयोगो नास्ति तद्धियानुष्ठानाद्यनुवदनं नासत्यम् ।

'हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् ।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ।' [पुरुषार्थ. १००]

उज्झन्तु । उक्तं च—

'भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम् ।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ॥' [पुरुषार्थ. १०१] ॥४४॥

सावद्य वचनको छोड़नेमें असमर्थ हैं वे भी भोग-उपभोगमें साधन मात्र सावद्य वचनको छोड़कर अन्य सब प्रकारके झूठ वचनोंको हिंसा मानकर सदा त्याग दें ॥४४॥

विशेषार्थ—ऊपर श्लोकमें जो 'वा' शब्द है उसका यह अभिप्राय है कि समस्त सावद्य वचनोंको छोड़नेमें जो असमर्थ हैं वे केवल अमुक प्रकारके सावद्य वचन ही बोलें। शेष सबका त्याग कर दें। गृहस्थके लिए आवश्यक भोजन, स्त्री आदि जो भोग-उपभोग हैं उनमें जिन सावद्य वचनोंकी आवश्यकता होती है, जैसे खेत जोतो, पानी दो, धान काटो आदि, उन्हें वह बोल सकता है। किन्तु इनके सिवाय जो पाँच प्रकारके असत्य वचन हैं, जिनका उसके भोग-उपभोगसे कोई सम्बन्ध नहीं है वे उसे नहीं बोलने चाहिए, क्योंकि सभी असत्य वचन हिंसाकी पर्याय होनेसे हिंसारूप ही है क्योंकि उनमें प्रमादका योग रहता है। जहाँ प्रमादका योग नहीं है वहाँ असत्य बोलना असत्य नहीं है क्योंकि ऐसा असत्य कल्याणकी भावनासे ही बोला जाता है। जो पाँच प्रकारका असत्य कभी भी नहीं बोलना चाहिए, वह इस प्रकार है—१. सत्का अपलाप, जैसे आत्मा नहीं है, परलोक नहीं है इत्यादि। २. असत्का उद्भावन, जैसे आत्मा व्यापक है या चावलके बराबर है। ३. विपरीत बोलना, जैसे, गायको घोड़ा कहना। ४. अप्रिय वचन बोलना, जैसे काने आदमीको काना कहना। ५ साक्रोश वचन बोलना, जैसे अरे राँडके। इसे गर्हित भी कहते हैं। इस प्रकारके निरुपयोगी सावद्य वचन कभी नहीं बोलना चाहिए। सदा हित मित प्रिय वचन बोलना चाहिए ॥४४॥

अथ सत्याणुव्रतस्य पञ्चातिचारान् हेयत्वेनाह—

मिथ्योदिशं रहोऽभ्याख्यां कूटलेखक्रियां त्यजेत् ।
न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञां मन्त्रभेदं च तद्व्रतः ॥४५॥

मिथ्यादिशं—मिथ्योपदेशाभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेष्वन्यस्यान्यथा प्रवर्तनम् । परेण संदेहापन्नेन पृष्टेऽज्ञानादिनाऽन्यथा कथनमित्यर्थः । अथवा प्रतिपन्नसत्यव्रतस्य परपीडाकरं वचनं असत्यमेव । प्रमादात्परपीडाकारणे उपदेशेऽतिचारो, यथा वाह्यन्तां खरोष्ट्रादयो, हन्यन्तां दस्यव इति निष्प्रयोजनं वचनम् । यद्वा विवादे स्वयं परेण वाऽन्यतरातिसन्धानोपायोपदेशो मिथ्योपदेशः ॥१॥ रहोभ्याख्यां—रहस्येकान्ते स्त्रीपुंसाभ्यामनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्याभ्याख्या प्रकाशनं यया दम्पत्योरन्यस्य वा पुंसः स्त्रिया वा रागप्रकर्ष उत्पद्यते । सा च हास्यक्रीडादिनैव क्रियमाणोऽतिचारो न त्वभिनिवेशेन । तथा सति व्रतभङ्ग एव स्यात् ॥२॥ कूटलेखक्रिया—अन्येनानुक्तमननुष्ठितं च यत्किंचित्तस्य परप्रयोगवशादेवं तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वञ्चनानिमित्तं लेखनम् । अन्यसरूपाक्षरमुद्राकरणमित्यन्ये ॥३॥ न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञां—न्यस्तस्य निक्षिप्तस्य हिरण्यादिद्रव्यस्य अंशमेकदेशं विस्मर्तुर्विस्मरणशीलस्य निक्षेप्तुरनुज्ञा । द्रव्यनिक्षेप्तुर्विस्मृततत्संख्यस्याल्पसंख्यं तद्गृह्णत एवमित्यनुमतिवचनम् । सोऽयं न्यासापहाराख्योऽतिचारः ॥४॥ मन्त्रभेदं—अङ्गविकारभ्रूविक्षेपादिभिः पराभिप्रायं ज्ञात्वाऽसूयादिना तत्प्रकटनम् । विश्वसितमित्रादिभिर्वा आत्मना सह मन्त्रितस्य लज्जादिकरस्यार्थस्य प्रकाशनम् । यत्तु—

आगे सत्याणुव्रतके पाँच अतिचारोंको छोड़ने योग्य बताते हैं—

सत्याणुव्रतीको मिथ्या उपदेश, रहोभ्याख्या, कूटलेखक्रिया, न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा और मन्त्रभेद छोड़ना चाहिए ॥१४५॥

विशेषार्थ—जिसने स्थूल झूठको न बोलनेका व्रत लिया है उसे ये पाँच बातें छोड़ना चाहिए। १. मिथ्या उपदेश—किसीको अभ्युदय और मोक्षके कारणभूत विशेष क्रियाओंमें सन्देह हो और वह पूछे तो अज्ञानवश या अन्य किसी अभिप्रायसे अन्यथा बतला देना। अथवा जिसने सत्य बोलनेका व्रत लिया है वह यदि परको पीड़ा पहुँचानेवाले वचन बोलता है तो ऐसे वचन असत्य ही हैं। इसलिए यदि प्रमादवश परपीड़ाकारी उपदेश देता है तो वह अतीचार है। जैसे, घोड़ों और ऊँटोंको लादो, चोरोंको मारो इत्यादि निष्प्रयोजन वचन मिथ्योपदेश है। अथवा दो मनुष्योंके विवादमें स्वयं या दूसरेके द्वारा दोनोंमें-से किसी एकको ठगनेका उपाय बतलाना मिथ्योपदेश है। २. रहोऽभ्याख्या—'रह' अर्थात् एकान्तमें स्त्री पुरुषके द्वारा की गयी विशेष क्रियाको अभ्याख्या 'अर्थात् प्रकट कर देना, जिससे दम्पतीमें या अन्य पुरुष और स्त्रीमें विशेष राग उत्पन्न हो। किन्तु यदि ऐसा हँसी या कौतुक वश किया जाये तभी अतिचार है। यदि किसी प्रकारके आग्रह वश ऐसा किया जाता है तब तो व्रतका ही भंग होता है। ३. कूटलेखक्रिया—दूसरेने वैसा न तो कहा और न किया, फिर भी ठगनेके अभिप्रायसे किसीके दबावमें आकर 'इसने ऐसा किया या कहा' इस प्रकारके लेखनको कूटलेखकिया कहते हैं। अन्यमतसे दूसरेके हस्ताक्षर बनाना, जाली मोहर बनाना कूटलेखक्रिया है। ४. न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा—कोई व्यक्ति धरोहर रख गया। किन्तु उसकी संख्या भूल गया और भूलसे जितना द्रव्य रख गया था उससे कम माँगा तो 'हाँ इतनी है'

१. 'मिथ्योपदेश-रहोऽभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापहार-साकारमन्त्रभेदाः ।'—त. सू. ७।२६ । 'परिवादरहोऽभ्याख्या पैशून्यं कूटलेखकरणं च । न्यासापहारिताऽपि च ।'—रत्न. श्रा. ५६ श्लो. पुरुषार्थ. १८४ श्लो. ।

'मन्त्रभेदः परीवादः पैशुन्यं कूटलेखनम् ।
मुधा साक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यैते विघातकाः ।' [सो. उपा. ३८१]

इति यशस्तिलकेऽतिचारान्तरवचनं 'तत्परेऽप्यूह्यास्तदत्यया' इत्यनेन संगृहीतं प्रतिपत्तव्यम् ॥४५॥

अथाचौर्याणुव्रतलक्षणार्थमाह—

चौरव्यपदेशकरस्थूलस्तेयव्रतो मृतस्वधनात् ।
परमुदकादेश्चाखिलभोग्यान्न हरेद्दवीत न परस्वम् ॥४६॥

चौरेत्यादि । चौरोऽयमुपलक्षणाद्वधर्मघातकोऽयं वधकारोऽयमित्यादि व्यपदेशं नाम करोतीति चौरादिव्यपदेशकरम् । स्थूलस्तेयं—बादरचौर्यं खात्रखननादिकं तत्पूर्वकमदत्तादानं वा, तत्र व्रतं नियमः, तस्माद्वा व्रत निवृत्तिर्यस्य स तथोक्तोऽचौर्याणुव्रतीत्यर्थः । उक्तं च—

'दौर्भाग्यं प्रेष्यतां दास्यमङ्गच्छेदं दरिद्रताम् ।
अदत्तात्तफलं ज्ञात्वा स्थूलस्तेयं विवर्जयेत् ॥' [ ]

मृतस्वधनात्परं—जीवतां ज्ञातीनामित्यर्थः । उक्तं च—

'अदत्तस्य परस्वस्य ग्रहणं स्तेयमुच्यते ।
सर्वभोग्यात्तदन्यत्र भावात्तोयतृणादितः ॥
ज्ञातीनामत्यये वित्तमदत्तमपि संमतम् ।
जीवतां तु निदेशेन व्रतक्षतिरतोऽन्यथा ॥' [सो. उपा. ३६४-३६५]

ऐसा कहना । इसे अन्य ग्रन्थकारोंने न्यासापहार नाम दिया है । ५. मन्त्रभेद—अंगविकार तथा भ्रुकुटियोंके संचालनसे दूसरेके अभिप्रायको जानकर ईर्ष्या आदि वश प्रकट करना । अथवा विश्वासी मित्रों आदिके द्वारा अपने साथ विचार किये गये किसी शर्मनाक विचारका प्रकट कर देना । ये पाँच सत्याणुव्रतके अतीचार हैं । तत्त्वार्थसूत्रमें भी ये ही पाँच अतिचार बतलाये हैं । किन्तु रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें रहोऽभ्याख्या, कूटलेखकरण और न्यासापहारके साथ परिवाद और पैशुन्यको गिनाया है । सोमदेवने मंत्रभेद, परीवाद, पैशुन्य और कूटलेखके साथ झूठी गवाहीको भी अलगसे अतीचार माना है । इन्होंने न्यासापहारको नहीं कहा । किन्तु 'अन्य भी अतिचार विचार लेना' इस कथनके द्वारा उनका ग्रहण किया है ॥४५॥

अचौर्याणुव्रतका लक्षण कहते हैं—

चोर नामको देनेवाली स्थूल चोरीका व्रत लेनेवाला अचौर्याणुव्रती मृत्युको प्राप्त हुए तथा पुत्रादिक रहित अपने कुटुम्बीके धन तथा राजाकी ओरसे सबके भोगने योग्य जल घास आदिके सिवाय अन्य पराये द्रव्यको न तो स्वयं लेवे और न दूसरोंको देवे ॥४६॥

विशेषार्थ—स्वामी समन्तभद्रने पराया द्रव्य कहीं रखा हुआ हो, या गिरा हुआ हो या भूला हुआ हो, उसे जो न दूसरेको देता है और न स्वयं लेता है उसे स्थूल चोरीका त्यागी कहा है । पूज्यपाद स्वामीने भी जिससे दूसरेको पीड़ा पहुँचे और राजा दण्ड दे ऐसे अवश्य छोड़े हुए, विना दिये हुए पराये द्रव्यको नहीं लेना अचौर्याणुव्रत कहा है । अमृतचन्द्रजीने

---

१. सर्वार्थ. ७।२०।

२. अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत् ।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥—पुरुषा. १०२ श्लो. ।

परस्वं—परस्य धनं सामर्थ्याददत्तं तस्यैव परस्वामिकत्वोपपत्तेः। दत्तस्य च स्वस्वामिकत्वसंभवात्।
तदुक्तम्—

'निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ॥' [रत्न. श्रा. ५७]

अपि च—

'असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥' [पुरुषार्थ. १०६] ॥४६॥

अथ प्रमत्तयोगात्परकीयतृणस्याप्यदत्तस्यादाने दाने वाचौर्यव्रतभङ्गं दर्शयति—

[1]संक्लेशाभिनिवेशेन तृणमप्यन्यभर्तृकम्।
अदत्तमाददानो वा ददानस्तस्करो ध्रुवम् ॥४७॥

प्रमादके योगसे विना दी हुई परिग्रहके ग्रहणको चोरी कहा है। तत्त्वार्थ सूत्रमें विना दी हुई वस्तुके ग्रहणको चोरी कहा है। किन्तु इसमें पूर्व सूत्रसे 'प्रमादके योगसे' पदकी अनुवृत्ति होती है। जिसका अर्थ होता है चोरीके अभिप्रायसे विना दी हुई वस्तुका ग्रहण चोरी है और और उसका त्याग अचौर्य, व्रती करता है। किन्तु गृहस्थ तो अचौर्यव्रती नहीं होता अचौर्याणुव्रती होता है। मुनिगण सर्वसाधारणके भोगनेके लिए मुक्त जल और मिट्टीके सिवा विना दी हुई कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करते। किन्तु गृहस्थके लिये इस प्रकारका त्याग सम्भव नहीं है। इसलिए गृहस्थ ऐसी विना दी हुई परायी वस्तुको ग्रहण नहीं करता, जिसके ग्रहण करने पर वह चोर कहलाये और राजदण्डका भागी हो। आचार्य सोमदेवने भी सर्वभोग्य जल तृण आदिके अतिरिक्त विना दिये हुए पराये द्रव्यके ग्रहणको चोरी कहा है। किन्तु चूँकि गृहस्थ इस प्रकारका त्याग नहीं कर सकता, इसलिए उन्होंने उसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि कोई ऐसे कुटुम्बी मर जावें जिनका उत्तराधिकार हमें प्राप्त होता है तो उनका धन विना दिये भी लिया जा सकता है। किन्तु यदि वह जीवित हों तो उनका धन उनकी आज्ञासे ही लिया जा सकता है। उनकी जीवित अवस्थामें ही उनसे विना पूछे उनका धन लेनेसे अचौर्याणुव्रतमें क्षति पहुँचती है। अपना धन हो या पराया हो जिसके लेनेमें चोरीका भाव है वह चोरी है। इसी तरह जमीन वगैरहमें गढ़ा धन राजाका होता है। क्योंकि जिस धनका कोई स्वामी नहीं उसका स्वामी राजा होता है। अपने द्वारा उपार्जित द्रव्यमें भी यदि संशय हो जाये कि यह मेरा है या दूसरेका, तो वह द्रव्य ग्रहण करनेके अयोग्य है। अतः व्रतीको अपने कुटुम्बके सिवाय दूसरोंका धन नहीं लेना चाहिए। इस तरह आचार्य सोमदेवने अचौर्याणुव्रतको अच्छा स्पष्ट किया है और उन्हींका अनुसरण आशाधरजीने किया है ॥४६॥

प्रमाद युक्त भावसे विना दिये पराये तृणको भी ग्रहण करने या दूसरोंको देनेपर अचौर्यव्रत भंग होता है, यह बताते हैं—

राग आदिके आवेशसे जिसका स्वामी दूसरा व्यक्ति है और उसके दिये विना एक तृणको भी स्वयं ग्रहण करनेवाला या दूसरेको देनेवाला निश्चयसे चोर होता है ॥४७॥

---

१. 'संक्लेशाभिनिवेशेन प्रवृत्तिर्यत्र जायते। तत्सर्वं राधि विज्ञेयं स्तेयं स्वाम्यजमाश्रये ॥ [सो. उपा. ३६६ श्लो.]

संक्लेशाभिनिवेशेन—रागाद्यावेशेन । एतेनेदमुक्तं भवति प्रमत्तयोगे सत्येवादत्तस्यादाने दाने वा चौर्यं स्यान्नान्यथा । तदुक्तम्—

'हिंसायास्स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटं[1] एव हि स यस्मात् ।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥
नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् ।
अपि कर्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् ॥' [पुरुषा. १०४-१०५] ॥४७॥

अथ निधानादिधनं राजकीयत्वसमर्थनेन व्रतयन्नाह—

नास्वामिकमिति ग्राह्यं निधानादि धनं यतः ।
धनस्यास्वामिकस्येह दायादो मेदिनीपतिः ॥४८॥

स्पष्टम् । उक्तं च—

'रिक्थं निधिनिधानोत्थं न राज्ञोऽन्यस्य युज्यते ।
यत्स्वस्यास्वामिकस्येह दायादो मेदिनीपतिः ॥' [सो. उपा. ३६७] ॥४८॥

अथ सांशयिके स्वधनेऽपि नियमं कारयति—

स्वमपि स्वं मम स्याद्वा न वेति द्वापरास्पदम् ।
यदा तदाऽऽदीयमानं व्रतभङ्गाय जायते ॥४९॥

द्वापरास्पदं—सन्देहपदम् । तदा दीयमानं—तस्मिन् काले वितीर्यमाणम् । तदेत्यत्राकारप्रश्लेषाद् गृह्यमाणं च । उक्तं च—

'आत्मार्जितमपि द्रव्यं द्वापरादन्यथा भवेत् ।
निजान्वयादतोऽन्यस्य व्रती स्वं परिवर्जयेत् ॥' [सो. उपा. ३६८] ॥४९॥

विशेषार्थ—इसका यह आशय है कि यदि चोरीके अभिप्रायसे विना दी हुई वस्तुको लिया या दिया जाता है तभी चोरी कहलाती है । कहा है—हिंसा और चोरीमें अव्याप्ति नहीं है किन्तु दोनोंमें व्याप्ति है; क्योंकि पराये द्रव्यको ग्रहण करने पर प्रमादका योग अवश्य होता है । दोनोंमें अतिव्याप्ति भी नहीं है क्योंकि वीतरागी पुरुष जो विना दिये कर्मोंको ग्रहण करते हैं वह चोरी नहीं है क्योंकि उनके प्रमादका योग नहीं है ॥४७॥

जमीन आदिमें गड़ा धन राजाका होता है अतः उसको भी न लेनेका नियम करते हैं—

नदी, गुफा या किसी गढ़े आदिमें रखे धनको, इसका कोई स्वामी नहीं है ऐसा मानकर अचौर्याणुव्रती ग्रहण न करे । क्योंकि लोकमें जिस धनका कोई स्वामी नहीं है उसका साधारण स्वामी राजा होता है ॥४८॥

अपने धनमें यदि सन्देह हो कि यह मेरा है या दूसरेका, तो उसे भी न लेनेका नियम कराते हैं—

जब अपना भी धन, यह मेरा है या नहीं, इस प्रकारके संशयका स्थान होता है उस अवस्थामें उसे किसीको देना या स्वयं लेना अचौर्यव्रतको भंग करता है ॥४९॥

---

१. सुघटमेव सा यस्मात्—पुरु. ।

[1]चोरप्रयोग-चोराहृतग्रहावधिकहीनमानतुलम् ।
प्रतिरूपकव्यवहृतिं विरुद्धराज्येऽप्यतिक्रमं जह्यात् ॥५०॥

चोरप्रयोगं—चोरयतः स्वयमन्येन वा 'चोरय त्वं' इति चोरणक्रियायां प्रेरणं, प्रेरितस्य वा साधु करोषीत्यनुमननं, कुशिका-कर्तरिका-घर्घरिकादिचोरोपकरणानां वा समर्पणं विक्रयणं वा। अत्र यद्यपि 'चौर्यं न करोमि न कारयामि' इत्येवं प्रतिपन्नव्रतस्य चौरप्रयोगो व्रतभङ्ग एव, तथापि किमधुना यूयं निर्व्यापारास्तिष्ठथ यदि वो भक्तादिकं नास्ति तदाहं तद्ददामि, भवदानीतमोष्यस्य वा यदि विक्रेता नास्ति तदाहं विक्रेष्ये इत्येवंविधवचनैश्चौरान् व्यापारयतः स्वकल्पनया तद्व्यापारणं परिहरतो व्रतसापेक्ष्यस्यासावतीचारः ॥१॥ चौराहृतग्रहं—अप्रेरितेनाननुमतेन च चौरेणानीतस्य कनकवस्त्रादेरादानं मूल्येन मुद्रिकया वा। चोरानीतं च काणक्रयेण मुद्रिकया वा प्रच्छन्नं गृह्णंश्चोरो भवति। ततश्चौर्यकरणाद् व्रतभङ्गो, वाणिज्यमेव मया क्रियते न चौरिकेत्यध्यवसायेन व्रतसापेक्षत्वाच्चाभङ्ग इति भङ्गाभङ्गरूपातिचारः ॥२॥ अधिकहीनमानतुलं—मानं प्रस्थादि हस्तादि च। मानं च तुला च मानतुलम्। अधिकं च हीनं च अधिकहीनम्। तच्च तन्मानतुलं च अधिकमानं हीनमानं, अधिकतुला हीनतुला चेत्यर्थः। तत्र न्यूनेन मानादिनाऽन्यस्मै ददात्यधिकेनात्मनो गृह्णातीत्येवमादिकूटप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानमित्यर्थः ॥३॥ प्रतिरूपकव्यवहृतिं—प्रतिरूपकं सदृशं व्रीहीणां पलंजि, घृतस्य वसा, हिंगोः खदिरादि वेष्टस्तैलस्य मूत्रं, जात्यसुवर्णरूप्ययोर्युक्तसुवर्णरूप्ये इत्यादि प्रतिरूपकेण व्यवहृतिर्व्यवहारो व्रीह्यादिषु पलंज्यादि प्रक्षिप्य तद्विक्रयणम्। एतच्च द्वयं

आगे अचौर्याणुव्रतके अतिचारोंको छोड़नेके लिये कहते हैं—

अचौर्याणुव्रती चोर प्रयोग, चोराहृत ग्रह, अधिकहीनमानतुला, प्रतिरूपकव्यवहृति और विरुद्ध राज्यातिक्रम नामक पाँच अतिचारोंको छोड़ दे ॥५०॥

विशेषार्थ—पहला अतिचार है चोरप्रयोग—चोरी करनेवालेको स्वयं या दूसरेके द्वारा 'तुम चोरी करो' इस प्रकार चोरी करनेकी प्रेरणा करना चोर प्रयोग है। अथवा जिसे प्रेरणा नहीं की है उस चोरको 'तुम अच्छा करते हो' इस प्रकार अनुमोदना करना भी चोर प्रयोग है। अथवा चोरोंको चोरी करनेके औजार कैंची, बिसौली आदि देना या उनको बेचना भी चोर प्रयोग है। यद्यपि जिसने 'मैं न चोरी करूँगा और न कराऊँगा' इस प्रकारका व्रत लिया है उसके लिये चोर प्रयोग व्रतभंग रूप ही है। तथापि आजकल तुम खाली बेकार क्यों बैठे हो? यदि तुम्हारे पास खानेको नहीं है तो मैं देता हूँ। यदि तुम्हारे चोरीके मालका कोई खरीदार नहीं है तो मैं बेचूँगा, इस प्रकारके वचनोंसे चोरोंको चोरीके लिए प्रेरणा करते हुए भी वह अपने मनमें ऐसा सोचता है कि मैं चोरी नहीं करता हूँ। इस प्रकार व्रतकी अपेक्षा रखनेसे यह अतीचार है। यह पं. आशाधरजीका कथन है। हमारे अभिप्रायसे यदि अचौर्याणुव्रती चोरी न करनेके साथ चोरी न करानेका भी नियम लेता है तो उक्त प्रकारके चौर प्रयोगसे उसका व्रत भंग हो जाता है। यह अतिचार तभी सम्भव है जब उसने स्वयं चोरी न करनेका नियम लिया हो। सभी श्रावकाचारोंमें अचौर्याणुव्रतका स्वरूप ऐसा ही देखा जाता है कि वह बिना दी हुई वस्तु न स्वयं लेता है और न उठाकर दूसरेको देता है। अस्तु। दूसरा अतिचार है चोराहृत ग्रह—जिस चोरको न चोरी करनेकी प्रेरणा की थी और न अनुमोदना, ऐसे चोरके द्वारा लाये गये सुवर्ण वस्त्रादिको मूल्यसे लेना।

---

१. 'स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः।'
—त. सू. ७।२७। रत्न. श्रा. ५८। पुरुषा. १८५ श्लो.। सो. उपा. ३७० श्लो.।

परध्वंसनेन (?) परधनग्रहणरूपत्वात् भंग एव । केवलं खात्रखननादिकमेव चौर्यं प्रसिद्धं मया तु वणिक्कलैव कृतेति भावनया व्रतरक्षणोद्यतत्वादतिचारावेवेति ॥४॥ विरुद्धराज्येऽप्यतिक्रमं—विरुद्धं विनष्टं विगृहीतं वा राज्यं राज्ञः पृथ्वीपालनोचितं कर्म विरुद्धराज्यं छत्रभङ्गः पराभियोगो वेत्यर्थः । तत्रातिक्रम उचितन्याया-दन्येन प्रकारेणार्थस्य दानग्रहणम् । विरुद्धराज्येऽल्पमूल्यलभ्यानि महार्घाणि द्रव्याणीति प्रयत्नतः । अथवा विरुद्धयोरर्थाद्राज्ञो राज्यं नियमिता भूमिः कटकं वा विरुद्धराज्यम् । तत्र षष्ठिसप्तम्योरर्थं प्रति भेदाभावात्तस्या-तिक्रमो व्यवस्थालङ्घनम् । व्यवस्था च परस्परविरुद्धराजकृतैव तल्लङ्घनं चान्यतरराज्यनिवासिन इतरराज्ये प्रवेशः, इतरराज्यनिवासिनो वाऽन्यतरराज्ये प्रवेशः । विरुद्धराज्यातिक्रमस्य च यद्यपि स्वस्वामिनाननुज्ञात-स्यादत्तादानलक्षणयोगेन तत्कारिणां च चौर्यदण्डयोगेन चौर्यरूपत्वाद् व्रतभङ्ग एव । तथापि विरुद्धराज्यातिक्रमं कुर्वता मया वाणिज्यमेव कृतं न चौर्यमिति भावनया व्रतसापेक्षत्वाल्लोके च चोरोऽयमिति व्यपदेशा-भावादतिचार एव स्यात् ॥५॥ अथवा चौरप्रयोगादयः पञ्चाप्येते व्यक्तचौर्यरूपा एव । केवलं सहकारादिना अतिक्रमादिना वा प्रकारेण क्रियमाणास्तेऽतिचारतया व्यपदिश्यन्ते । न चैते राज्ञां तत्सेवकादीनां वा न संभवन्तीति वाच्यं, यतः प्रथम-द्वितीययोः स्पष्ट एव सम्भवः । तृतीयश्चतुर्थश्च यदा राजा भाण्डागारे हीनाधिकमानोन्मानं द्रव्याणां विनिमयं च कारयति तदा राज्ञोऽप्यतीचारौ स्तः । विरुद्धराज्यातिक्रमस्तु यदा सामन्तादिः कश्चित्स्वामिनो वृत्तिमुपजीवति तद्विरुद्धस्य च सहायो भवति तदास्यातिचारः स्यात् । जह्यात्—

जो चोरीका माल छिपकर खरीदता है वह चोर होता है और चोरी करनेसे व्रतका भंग होता है। किन्तु ऐसा करनेवाला समझता है कि मैं तो व्यापार करता हूँ, चोरी नहीं करता। इस प्रकारके संकल्पसे व्रतकी अपेक्षा रखनेसे व्रत भंग नहीं होता। किन्तु एक देशका भंग और एक देशका अभंग होनेसे अतीचार होता है। तीसरा अतिचार है अधिकहीनमानतुला, मापनेके गज बाट वगैरहको मान कहते हैं और तराजूको उन्मान कहते हैं। दो तरहके बाट तराजू रखना एक हीन और एक अधिक। हीन या कमसे दूसरोंको देता है। अधिकसे स्वयं लेता है। चौथा अतिचार है प्रतिरूपक व्यवहृति—प्रतिरूपक कहते हैं समान को। जैसे घीका प्रतिरूपक चर्बी, तेलका प्रतिरूपक मूत्र। असली सोने चाँदीका प्रतिरूपक नकली सोना चाँदी। घीमें चर्बी मिलाकर बेचना आदि प्रतिरूपक व्यवहार है। वस्तुतः इस तरहका काम पराये धनको लेनेवाला होनेसे चोरी ही है। किन्तु वह समझता है कि मकानमें सेंध लगाना वगैरह ही चोरी प्रसिद्ध है। मैं तो व्यापारकी कला मात्र करता हूँ। इस भावनासे व्रतकी रक्षाका भाव होनेसे इसे अतिचार कहा है। पाँचवा अतिचार है विरुद्ध राज्याति-क्रम—राजाके प्रजापालनके योग्य कर्मको राज्य कहते हैं। वह राज्य नष्ट हो जाये या किसीके द्वारा अपने अधिकारमें कर लिया जाये तो उसे विरुद्धराज्य कहते हैं। उसमें अतिक्रमका मतलब है उचित न्यायसे भिन्न ही प्रकारसे लेना देना। विरुद्ध राज्यमें सस्ती वस्तुओंको ऊँचे मूल्यपर बेचनेका प्रयत्न किया जाता है। अथवा परस्परमें विरोधी दो राजाओंका राज्य अर्थात् उनकी नियमित भूमि सेना वगैरह विरुद्ध राज्य है। उसका अतिक्रम अर्थात् व्यवस्थाका उल्लंघन। अर्थात् एक राज्यके निवासीका दूसरे राज्यमें प्रवेश करना। जैसे पाकिस्तान और भारतमें होता है। यद्यपि अपने राजाकी आज्ञाके बिना ऐसा करना बिना दी हुई वस्तुका ग्रहणरूप होनेसे तथा ऐसा करनेवालोंके चोरीके दण्डके योग्य होनेसे चोरी रूप ही है, तथापि ऐसा करनेवाले व्यापारीकी भावना यही रहती है कि मैं व्यापार करता हूँ चोरी नहीं करता। लोकमें भी उसे कोई चोर नहीं कहता। अतः व्रत सापेक्ष होनेसे अतिचार है। वास्तवमें तो ये पाँचों ही स्पष्ट रूपसे चोरीमें आते हैं। कोई चोर

अचौर्याणुव्रतातिचारस्वात्सद्वांस्त्यजेत् । सोमदेवपण्डितस्तु मानन्यूनताधिक्ये द्वावतिचारौ मन्यमानस्त्विदमाह—

'पौतवन्यूनताधिक्ये स्तेन कर्म ततो ग्रहः ।
विग्रहे संग्रहोऽर्थस्यास्तेयस्यैते निवर्तकाः ॥' [सो. उपा. ३७०] ॥५०॥

अथ स्वदारसंतोषाणुव्रतस्वीकारविधिमाह—

प्रतिपक्षभावनैव न रतौ रिरंसारुजि प्रतीकारः ।
इत्यप्रत्ययितमनाः श्रयत्वहिंस्रः स्वदारसंतोषम् ॥५१॥

प्रतिपक्षभावना—ब्रह्मचर्यस्य प्रागुक्तविधिना पुनः पुनश्चेतसि निवेशनं, रतिः—स्त्रीसम्भोगः । उक्तं च—

'स्त्रीसंभोगेन यः कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति ।
स हुताशं घृताहुत्या विध्यापयितुमिच्छति ॥' [योगशा. २।८१]

रिरंसारुजि—योन्यादौ रन्तुमिच्छारूपायां वेदनायाम् । अप्रत्ययितमनाः—असंजातविश्वासचित्तः । उक्तं च—

'ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात् ।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥' [पुरुषार्थ. ११० [

अहिंस्रः—ईषद्विहिंसनशीलः ॥५१॥

व्यक्ति यदि चोरी न करनेका नियम लेता है तो उसकी दृष्टिसे इन्हें अतिचारकी श्रेणीमें रखा जा सकता है। प्रायः सभी ग्रन्थकारोंने ये पाँचों अतीचार बतलाये हैं। आचार्य समन्तभद्रने विरुद्धराज्यातिक्रमके स्थानमें विलोप नामक अतीचार रखा है। जिसका अर्थ है राजाज्ञाको न मानना। सोमदेवने अधिक बाट तराजू और कम बाट तराजूको अलग अतिचार गिनाया है। तथा विरुद्ध-राज्यातिक्रमके स्थानमें विग्रह और अर्थ संग्रह नामक अतीचारको स्थान दिया है। अर्थात् युद्धके समय पदार्थोंका संग्रह करना कि मूल्य बढ़नेपर बेचकर धन कमायेंगे। यह बराबर अतिचारकी कोटिमें आता है क्योंकि इसमें शुद्ध व्यापारकी भावना है ॥५०॥

अब स्वदारसन्तोष नामक अणुव्रतको ग्रहण करनेका उपदेश देते हैं—

योनि आदिमें रमण करनेकी इच्छारूप रोगकी शान्तिका उपाय उसके प्रतिपक्षी ब्रह्मचर्यको चित्तमें स्थान देना ही है, स्त्री सम्भोग नहीं। इस प्रकारका विश्वास जिसके चित्तमें उत्पन्न नहीं हुआ है वह अहिंसाणुव्रती स्वदार सन्तोष नामक ब्रह्माणुव्रत स्वीकार करे ॥५१॥

विशेषार्थ—हिंसा करना, झूठ बोलना और चोरी करना तो मनुष्यमें संगतिके असरसे आता है। किन्तु कामविकार तो युवावस्था होते ही जाग्रत् हो जाता है। जो जन्मसे ही अच्छी संगतिमें रहते हैं वे भी युवावस्थामें इस विकारसे बच नहीं पाते। अच्छे-अच्छे तपस्वियोंको भी इसने भ्रष्ट किया है। इसको जीतनेका उपाय है ब्रह्मचर्यके गुणोंका सतत चिन्तन और विषय सेवनसे होनेवाली हानियोंकी पूरी जानकारी। किन्तु यह समय सापेक्ष है। अतः गृहस्थको अपनी पत्नीमें ही सन्तुष्ट रहनेका व्रत लेना चाहिए। इसीको स्वदार सन्तोष नामक ब्रह्माणुव्रत कहते हैं। कहा है—'जो स्त्रीसम्भोगके द्वारा कामज्वरको रोकना चाहता है वह घीकी आहुतिसे अग्निको शान्त करना चाहता है।' अतः जो मोहवश अपनी स्त्रीको छोड़नेमें असमर्थ हैं उन्हें भी अपनी स्त्रीके सिवाय शेष सभी स्त्रियोंका सेवन नहीं करना चाहिए ॥५१॥

अथ स्वदारसंतोषिणं व्याचष्टे—

सोऽस्ति स्वदारसन्तोषी योऽन्यस्त्रीप्रकटस्त्रियौ ।
न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा ॥५२॥

स्वदारसंतोषी—स्वदारेषु निजधर्मपत्न्यां संतुष्यति मैथुनसंज्ञां प्रतिचिकीर्षया तान् भजतीत्येवं व्रतः स्वदारेषु सन्तोषोऽस्यास्तीति वा । अन्यस्त्री—परदाराः परिगृहीता अपरिगृहीताश्च । तत्र परिगृहीताः स-स्वामिकाः, अपरिगृहीता स्वैरिणी प्रोषितभर्तृका कुलाङ्गना वाऽनाथा । कन्या तु भाविभर्तृकत्वात्पित्रादि-परतन्त्रत्वाद्वा सनाथेत्यन्यस्त्रीतो न विशिष्यते । प्रकटस्त्री—वेश्या । गच्छति—भजति । अहंसो भीत्या—पापाद्भिया न राजादिभयेन । अन्यैः—परदारादि लम्पटैः कर्तृभिः । त्रिधा—मनोवाक्कायैः कृतकारिताभ्या-मनुमत्यापि वा । उक्तं च—

'विषवल्लीमिव हित्वा पररामां सर्वथा त्रिधा दूरम् ।
सन्तोषः कर्तव्यः स्वकलत्रेणैव बुद्धिमता ॥
नासक्त्या सेवन्ते भार्यां स्वामपि मनोभवाकुलिताः ।
वह्निशिखात्यासक्त्या शीतार्तैः सेविता दहति ॥' [ ]

तदेतद् ब्रह्माणुव्रतं निरतिचारमद्यामिषक्षौद्रपञ्चोदुम्बरविरतिलक्षणाष्टमूलगुणान् प्रतिपन्नवतो विशुद्ध-सम्यग्दृशः श्रावकस्योपदिश्यते । यस्तु स्वदारवत् साधारणस्त्रियोऽपि व्रतयितुमशक्तः परदारानेव वर्जयति सोऽपि ब्रह्माणुव्रतोच्यते । द्विविधं हि तद्व्रतं स्वदारसन्तोषः परदारवर्जनं चेति । एतच्चान्यस्त्रीप्रकटस्त्रियाविति स्त्रीद्वयसेवाप्रतिषेधोपदेशाल्लभ्यते । तदुक्तं—

अब स्वदारसन्तोषीका स्वरूप कहते हैं—

जो गृहस्थ पापके भयसे परस्त्री और वेश्याको मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे न तो स्वयं सेवन करता है और न दूसरे पुरुषोंसे सेवन कराता है वह स्वदार-सन्तोषी है ॥५२॥

विशेषार्थ—परस्त्री दो प्रकार की होती है परिगृहीता और अपरिगृहीता । जिसका कोई स्वामी होता है वह परिगृहीता है और जो स्वच्छन्द है, जिसका पति परदेशमें है या अनाथ कुलीन स्त्री है वह अपरिगृहीता है । कन्याका स्वामी भविष्यमें उसका पति होनेवाला है और वर्तमानमें वह पिताके अधीन होनेसे सनाथ है अतः वह भी अन्यस्त्रीमें आती है । प्रकटस्त्री वेश्याको कहते हैं । इन दोनों प्रकारकी स्त्रियोंको जो पापके भयसे, न कि राजा या समाजके भयसे मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे न तो स्वयं भोगता है और न दूसरोंसे ऐसा कराता है वह स्वदारसन्तोषी है । यह ध्यानमें रखना चाहिए यह ब्रह्माणुव्रत निरतिचार मद्य मांस मधु और पाँच उदुम्बर फलोंसे विरतिरूप आठ मूल गुणोंके पालक विशुद्ध सम्यग्दृष्टी द्वितीय प्रतिमाधारी श्रावकके बतलाया है । द्वितीय प्रतिमाधारी श्रावकके व्रत निरतिचार होते हैं । जो व्रत प्रतिमा धारण न करके साधारण रूपसे अणुव्रत पालते हैं उनके अणुव्रतों और व्रत प्रतिमाधारीके अणुव्रतोंके लक्षणमें अन्तर होता है । रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय और सोमदेव उपासकाचारमें जो अणुव्रतके लक्षण कहे हैं वे व्रतप्रतिमाको लक्ष्यमें रखकर नहीं कहे गये हैं । वे तो साधारण अणुव्रतोंके लक्षण हैं जो कभी अष्ट मूलगुणोंमें गिने जाते थे । तत्त्वार्थ सूत्रमें भी जो अतिचार गिनाये हैं वे उन्हींको लक्ष्यमें रखकर गिनाये हैं । अन्यथा वे अतीचार अनाचार जैसे लगते हैं । पं. आशाधरजी

'षण्ढत्वमिन्द्रियच्छेदं वीक्ष्याब्रह्मफलं सुधीः ।
भवेत्स्वदारसंतुष्टोऽन्यदारान्वा विवर्जयेत् ॥' [योगशा. २।७१]

तत्राद्यमभ्यस्तदेशसंयमस्य नैष्ठिकस्येष्यते । द्वितीयं तु तदभ्यासोन्मुखस्य । तदाह श्रीसोमदेवपण्डितः—

'वधूवित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने ।
माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्मगृहाश्रमे ॥' [सो. उपा. ४०५]

यस्तु 'पंचुंबरसहियाइं' इत्यादि वसुनन्दिसैद्धान्तमतेन दर्शनप्रतिमां प्रतिपन्नस्तस्येदं तन्मतेनैव व्रतप्रतिमां बिभ्रतो ब्रह्माणुव्रतं स्यात् । तद्यथा—

व्रतप्रतिमाके अन्तर्गत अणुव्रतोंका वर्णन करते हैं और अतिचार वे ही बतलाते हैं जो तत्त्वार्थ सूत्र आदिमें साधारण अणुव्रतोंके कहे हैं। स्वदारसन्तोषव्रतका उनका लक्षण भी दूसरोंसे भिन्न है। स्वामी समन्तभद्रने जो पापके भयसे परस्त्रियोंका सेवन न स्वयं करता है और दूसरोंसे कराता है उसे परदारनिवृत्ति या स्वदारसन्तोष नाम दिया है। किन्तु आशाधरजीने परदारनिवृत्ति और स्वदारसन्तोषको अलग व्रत स्वीकार किया है। वह इसी श्लोककी अपनी टीकामें लिखते हैं—यह निरतिचार ब्रह्माणुव्रत मद्य मांस मधु पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागरूप अष्ट मूलगुणोंके धारक विशुद्ध सम्यग्दृष्टी श्रावकके बतलाया है। जो स्वस्त्रीके समान साधारण स्त्रियोंको भी त्यागनेमें असमर्थ है केवल परस्त्रियोंका ही त्याग करता है वह भी ब्रह्माणुव्रती माना जाता है। ब्रह्माणुव्रतके दो भेद हैं—स्वदारसन्तोष और परदारनिवृत्ति। ये भेद ऊपर ब्रह्माणुव्रतके लक्षणमें अन्यस्त्री और प्रकटस्त्री इन दो प्रकारकी स्त्रियोंके सेवनके निषेधसे प्रकट होते हैं। जो देशसंयममें अभ्यस्त नैष्ठिक श्रावक है वह स्वदारसन्तोषव्रतको धारण करता है। और जो देश संयमका अभ्यासी है वह परदारनिवृत्तिको स्वीकार करता है। सोमदेव पण्डितने कहा है—'स्वस्त्री और वित्तस्त्रीको छोड़कर अन्य सब स्त्रियोंमें माता, बहन, बेटीकी भावना रखना गृहस्थका ब्रह्माणुव्रत है।' वसुनन्दि सैद्धान्तिके मतसे जो पाँच उदुम्बर सहित सात व्यसनोंको छोड़ता है और जिसकी मति सम्यक्त्वसे विशुद्ध है वह प्रथम दर्शन प्रतिमा का धारी श्रावक है। उसी दर्शन प्रतिमाधारी श्रावकके ब्रह्माणुव्रतका लक्षण वसुनन्दिने [3]इस प्रकार कहा है—जो पर्वके दिनोंमें स्त्री सेवन नहीं करता और सदा अनंगक्रीड़ा नहीं करता, उसे जिनेन्द्रने परमागममें स्थूल ब्रह्मचारी कहा है।' किन्तु स्वामी समन्तभद्रने प्रथम दर्शन श्रावकका स्वरूप इस प्रकार कहा है—जो शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारी है, संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त है, पंच गुरुके चरण ही उसके शरण हैं तथा तत्त्व पथका उसे पक्ष है वह दर्शन प्रतिमाका धारी श्रावक है। उसी प्रथम प्रतिमाधारी श्रावकके ब्रह्माणुव्रतका स्वरूप अतिचार छुड़ानेके लिए ही यहाँ कहा है।'

---

१. 'वधूवित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने । माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्मगृहाश्रमे ॥
—सो. उपा. ४०५ श्लो. ।

२. 'पंचुंबर सहियाई सत्तवि वसणाई जो विवज्जेइ । सम्मत्त विसुद्धमई सो दंसणसावयो भणिओ ॥'
—वसु. श्रा. २०५ गा. ।

३. पव्वेसु इत्थीसेवा अणंगकीड़ा सया विवज्जेइ ।
थूल यडबंभयारी जिणेहि भणिओ पवयणम्मि ॥ —वसु. श्रा. २१२ गा. ।

'पव्वेसु इत्थिसेवा अणंगकीडा सया विवज्जंतो ।
थूलयडब्रह्मयारी जिणेहि भणिदो पवयणम्मि ॥' [वसु. श्रा. २१२]

यश्च 'सम्यग्दर्शनशुद्ध' इत्यादि स्वामिमतेन दर्शनिको भवेत्तस्यैतद् ब्रह्माणुव्रतमतिचारवर्जनार्थमेवानूद्यते ॥५२॥

अथ यद्यपि गृहस्थस्य प्रतिपन्नं व्रतमनुपालयतो न तादृशः पापबन्धोऽस्ति तथापि यतिधर्मानुरक्तत्वेन तत्प्राप्तेः प्राग्गार्हस्थ्येऽपि कामभोगविरक्तः सन् श्रावकधर्मं परिपालयतीति तं वैराग्यकाष्ठामुपनेतुं सामान्येनाब्रह्मदोषानाह—

सन्तापरूपो मोहाङ्गसादतृष्णानुबन्धकृत् ।
स्त्रीसम्भोगस्तथाप्येष सुखं चेत्का ज्वरेऽक्षमा ॥५३॥

सन्तापरूपः स्त्रीसम्पर्कस्य पित्तप्रकोपहेतुत्वात् । यद्वैद्याः—

पं. आशाधरजीने इस तरह एक ही व्रतके दो नामोंको अलग करके ब्रह्माणुव्रतके दो भेद कर दिये हैं। उन्हें इन भेदोंके करनेमें मुख्य बल सोमदेवके लक्षणसे मिला प्रतीत होता है। सोमदेवने जो ब्रह्माणुव्रतीको स्वस्त्री और वित्तस्त्रीकी छूट दी है यह ब्रह्माणुव्रती देशसंयम का अभ्यासी ही हो सकता है। ऊपर आशाधरजीने उसीको लक्ष करके लिखा है कि जो स्वस्त्रीकी तरह साधारण स्त्रियोंका भी नियम लेनेमें असमर्थ है और केवल परस्त्रियोंका ही नियम लेता है वह भी ब्रह्माणुव्रती है। इसीलिए उन्होंने अपने लक्षणमें अन्य स्त्री और प्रकट स्त्री (वेश्या) का त्याग कराया है। यह प्रकट स्त्री वही है जिसको सोमदेवजीने वित्त स्त्री कहा है। साधारण स्त्री भी उसे ही कहते हैं। सोमदेवजीने पाँचों अणुव्रतोंके जो लक्षण कहे हैं वे सब देश संयमके अभ्यासीको लक्षमें रखकर कहे हैं। उनमेंसे किसीमें भी नौ संकल्पोंसे त्यागकी बात नहीं है। नौ संकल्पोंसे या कृतकी तरह कारितसे त्याग अभ्यासी नहीं कर सकता। तत्त्वार्थ सूत्रादिमें प्रतिपादित अतिचार भी अभ्यासीको ही लक्षमें रखकर कहे गये हैं। अस्तु, बुद्धिमान् मनुष्यको मन, वचन, कायसे विषवेलकी तरह परस्त्रीका सर्वथा त्याग करके स्वस्त्रीमें ही सन्तोष करना चाहिए। तथा कामसे पीड़ित होनेपर अपनी पत्नीका भी सेवन अति आसक्तिसे नहीं करना चाहिए। शीतसे पीड़ित मनुष्य यदि आगकी लपटोंका सेवन अति आसक्तिसे करे तो आग उन्हें जला देती है। कहा है—'विषय सेवनका फल नपुंसकता या लिंगच्छेद जानकर बुद्धिमान्को स्वदारसन्तोषी होना चाहिए और परस्त्रियोंका त्याग करना चाहिए ॥५२॥

यद्यपि स्वीकार किये गये व्रतको पालन करनेवाले गृहस्थको वैसा पापबन्ध नहीं होता जैसा अव्रतीको होता है। तथापि मुनिधर्मका अनुरागी ही गृहस्थ धर्मको पालता है इसलिए मुनिधर्म धारण करनेसे पहले गृहस्थ अवस्थामें भी जो कामभोगसे विरक्त होकर श्रावक धर्मको पालता है उसे वैराग्यकी अन्तिम सीमा पर ले जानेके लिए सामान्यसे अब्रह्मके दोष बतलाते हैं—

स्त्रीसम्भोग सन्तापरूप है, मोह, अंगसाद और तृष्णाको बढ़ानेवाला है फिर भी यदि यह सुख है अर्थात् हे आत्मन्! यदि तू सुख मानता है तो ज्वरमें कौन कमी है उसे भी सुख मानना चाहिए ॥५३॥

'कट्वाम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातप-
स्त्रीसम्पर्कतिलातसीदधिसुराचुक्रारनालादिभिः ।
भुक्तैर्जीर्यति भोजने शरदि च ग्रीष्मे सति प्राणिनां,
मध्याह्ने च तदर्धरात्रसमये पित्तप्रकोपो भवेत् ॥' [ ]

अक्षमा—ज्वरोऽपि सुखमस्तीति भावः । तदुक्तमार्षे—

'स्त्रीभोगो न सुखं चेतः सम्मोहाद् गात्रसादनात् ।
तृष्णानुबन्धात्संतापरूपत्वाच्च यथा ज्वरः ॥'

तथा—

'क्षारमम्बु यथा पीत्वा तृष्यत्यतितरां नरः ।
तथा विषयसंभोगैः परं संतर्षमृच्छति ॥' [महापु. ११।१६५, १९६]

अपि च—

'विषवद्विषयाः पुंसामापाते मधुरागमाः ।
अन्ते विपत्तिफलदास्तत्सतामिह को ग्रहः ॥
देह द्रविणसंस्कारसमुपार्जनवृत्तयः ।
जितकामे वृथा सर्वास्तत्कामः सर्वदोषभाक् ॥' [सो. उपा. ४१०, ४१५] ॥५३॥

अथ परदाररतौ सुखाभावमुपपादयति—

समरसरसरङ्गोद्गममृते च काचित् क्रिया न निर्वृत्तये ।
स कुतः स्यादनवस्थितचित्ततया गच्छतः परकलत्रम् ॥५४॥

विशेषार्थ—स्त्री सम्भोग और ज्वर दोनों समान हैं। स्त्री सम्भोगसे पित्त कुपित हो जाता है वह सन्ताप पैदा करता है और ज्वर तो सन्तापकारी होता ही है उसमें समस्त शरीर तपता है। हित अहितका विवेक न रहनेको मोह कहते हैं। कामीको जब काम सताता है तो उसे हित अहितकी समझ नहीं रहती। ज्वरमें भी ऐसी ही दशा होती है। सम्भोग भी शरीरकी सहनशीलताको नष्ट करता है और ज्वर भी। स्त्रीसम्भोगसे तृष्णा बढ़ती है और ज्वरसे भी तृष्णा अर्थात् प्यास बढ़ती है। आयुर्वेदमें कहा है कि स्त्रीसम्भोगसे पित्त प्रकुपित हो जाता है जब दोनों ही समान हैं तो सम्भोगकी तरह ज्वरको भी अच्छा मानो। यदि ज्वरमें सुख नहीं है तो सम्भोगमें भी सुख मानना अज्ञान है। स्वामी जिनसेनाचार्यने भी ऐसा ही कहा है—जैसे चित्तको मोहित (मूर्छित) करनेसे, शरीरको शिथिल बनानेसे, तृष्णा (प्यास) को बढ़ानेसे और सन्तापकारक होनेसे ज्वर सुखरूप नहीं है वैसे ही स्त्रीसम्भोग भी सुखरूप नहीं है। तथा, जैसे खारे जलको पीनेसे मनुष्यकी प्यास बढ़ती है वैसे ही विषय-सम्भोगसे परमतृष्णा सताती है।' सोमदेव सूरिने कहा है—विषके समान विषय प्रारम्भमें मीठे लगते हैं किन्तु अन्तमें विपत्तिमें डालते हैं। अतः विषयोंमें सज्जनोंका आग्रह कैसा! जिसने कामको जीत लिया उसका शरीर संस्कार, धनोपार्जन आदि व्यर्थ है—क्योंकि इन सबकी जड़ काम है' ॥५३॥

परस्त्री गमनमें सुखका अभाव बतलाते हैं—

समरसरूप रसरंगकी उत्पत्तिके बिना आलिंगन आदि कोई भी क्रिया सुखके लिए नहीं होती। चित्तके आकुल होनेसे परस्त्रीके साथ विषय सेवन करनेवालेको समरस रूप रसरंगकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ॥५४॥

समरसरसरङ्गोद्गमं—समसमायोगम्। यन्नीतिः—'स्त्रीपुंसयोर्न समसमायोगात्परं वशीकरणमस्ति।' [नीतिवा. २५।१०२]

उक्तं च—

बहिस्तास्ताः क्रियाः कुर्वन्नरः संकल्पजन्मवान्।
भावाप्तावेव निर्वाति क्लेशस्तत्राधिकः परम् ॥' [सो. उपा. ४११] ॥५४॥

अथ स्वदाररतस्यापि भावतो द्रव्यतश्च हिंसासंभवं नियमयति—

स्त्रियं भजन् भजत्येव रागद्वेषौ हिनस्ति च।
[1]योनिजन्तून् बहून् सूक्ष्मान् हिंस्रः स्वस्त्रीरतोऽप्यतः ॥५५॥

'हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥' [पुरुषार्थ. १०८]

किं च, ये कामप्रधानास्तैरपि योनौ जन्तुसद्भावा...........

'रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा मृदुमध्याधिशक्तयः।
जन्मवर्त्मसु कण्डूतिं जनयन्ति तथाविधाम् ॥' [वा. कामसू.] ॥५५॥

अथ ब्रह्मचर्यमहिमानमभिष्टौति—

स्वस्त्रीमात्रेण सन्तुष्टो नेच्छेद्योऽन्याः स्त्रियः सदा।
सोऽप्यद्भुतप्रभावः स्यात् किं वर्ण्यं वर्णिनः पुनः ॥५६॥

विशेषार्थ—समरस ही सर्वत्र सुखकी अनुभूतिका कारण है। यदि मनमें शान्ति नहीं है तो विषय भोगमें भी सुखकी अनुभूति नहीं होती। परायी स्त्रीके पास जानेवालेका मन इस बातसे व्याकुल रहता है कि अपना या उस स्त्रीका कोई आदमी देख न ले। परस्त्रीगामियोंकी हत्याके समाचार प्रायः छपा करते हैं। ऐसे परस्त्री गमनमें सुखकी अनुभूति कैसे हो सकती है। कहा है—अनेक प्रकारकी बाह्य क्रियाओंका करनेवाला कामी पुरुष रति सुख मिलने पर ही सुखी होता है किन्तु उसमें क्लेश अधिक ही है ॥५४॥

आगे स्वस्त्रीगमनमें भी द्रव्यहिंसा और भावहिंसा बतलाते हैं—

क्योंकि स्त्रीको सेवन करनेवाला पुरुष राग-द्वेष अवश्य ही करता है। तथा स्त्रीकी योनिमें रहनेवाले बहुतसे सूक्ष्म जीवोंका घात करता है अतः स्वस्त्रीमें मैथुन करनेवाला भी हिंसक है ॥५५॥

राग-द्वेषकी उत्पत्तिका नाम भावहिंसा है और किसी जीवके प्राणोंके घातको द्रव्यहिंसा कहते हैं। जो आदमी अपनी स्त्रीमें मैथुन करता है उसे उस समय रागकी बहुलता तो रहती ही है, किन्तु यदि बात उसकी इच्छाके प्रतिकूल होती है तो तत्काल क्रोधादि भाव पैदा होता है अतः भावहिंसा है। कामशास्त्रके पण्डित वात्स्यायनने भी कहा है कि स्त्रीकी योनिमें सूक्ष्म जन्तु रहते हैं जो योनिमें खाज पैदा करते हैं। रमणके समय उनका घात होता है। अतः स्वस्त्रीगामी भी हिंसक है। किन्तु स्वस्त्रीकी अपेक्षा परस्त्रीगामीके राग-द्वेष तीव्र होते हैं ॥५५॥

ब्रह्मचर्यकी महिमा कहते हैं—

जो केवल अपनी ही स्त्रीमें सन्तुष्ट रहता है और अन्य स्त्रियोंकी सदा इच्छा नहीं करता, वह भी अद्भुत प्रभाव वाला होता है फिर जो सभी स्त्रियोंका त्याग कर ब्रह्मचर्य व्रत

---

१. 'मैथुनाचरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटयः। योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिङ्गसंघट्टपीडिताः।'—ज्ञानार्णव

पुन:—प्राग्वर्णितप्रायत्वादित्यर्थः ॥५६॥

इदानीं स्वभर्तृमात्रव्रतायाः स्त्रिया बहुमान्यतां दृष्टान्तेन व्याचष्टे—

[1]रूपैश्वर्यकलावर्यमपि सीतेव रावणम् ।
परपुरुषमुज्झन्ती स्त्री सुरैरपि पूज्यते ॥५७॥

उज्झन्ति—हेतौ शतृङ् । परपुरुषोज्झनेन सुरपूजाया जन्यत्वात् ।

उक्तं च—

'एकेन व्रतरत्नेन पुरुषान्तरवर्जिना ।' [ ] ॥५७॥

अथ ब्रह्माणुव्रतातिचारानाह—

इत्वरिकागमनं परविवाहकरणं विटत्वमतिचाराः ।
स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडा च पञ्च तुर्ययमे ॥५८॥

इत्वरिकागमनं—अस्वामिका असती गणिकात्वेन पुंश्चलीत्वेन वा परपुरुषानेति गच्छतीत्येवंशीला इत्वरी । तथा प्रतिपुरुषमेतीत्येवंशीलेति व्युत्पत्त्या वेश्यापीत्वरी । तत्र कुत्सायां के इत्वरिका तस्यां गमनमासेवनम् । इयं चात्र भावना—भाटिप्रदानान्नियतकालस्वीकारेण स्वकलत्रीकृत्य वेश्यां [वेत्वरिकां सेवमानस्य स्वबुद्धिकल्पनया स्वदारत्वेन] व्रतसापेक्षचित्तत्वादल्पकालपरिग्रहाच्च न भङ्गो, वस्तुतोऽस्वदारत्वाच्च भङ्ग इति भङ्गाभङ्गरूपत्वात् इत्वरिकागमनमतिचारः । [यात्वस्वामिका पुंश्चली वेश्या वा स्वीकृता] तद्गमनमप्यनाभोगादिनाऽतिक्रमादिना वातिचारः । स एष द्विविधोऽप्यतिचारः स्वदारसंतोषिण एव न तु परदारवर्जकस्य, धनक्रीताया इत्वरिकाया [वेश्यात्वेनान्यस्यास्त्वनाथतयैव परदा] रत्वात् । किंचास्य भाट्यादिना परेण

स्वीकार कर चुका है उसका पुनः गुणगान क्या करें अर्थात् मुनिधर्मके वर्णनमें उसकी प्रशंसा कर चुके हैं ॥५६॥

अब केवल अपने पतिका ही सेवन करनेका व्रत लेनेवाली स्त्रीकी बहुमान्यताको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जैसे रूप ऐश्वर्य और कलासे श्रेष्ठ भी रावणको सीताने स्वीकार नहीं किया, उसी तरह रूप सम्पन्न, ऐश्वर्य सम्पन्न और गीत, नृत्य आदि कलामें निपुण भी पर पुरुषको स्वीकार न करनेवाली स्त्री देवताओंसे भी पूजित होती है ॥५७॥

विशेषार्थ—सीता अपने शीलके कारण ही देवोंसे पूज्य हुई जब रामचन्द्रजीने उसके शीलकी परीक्षा लेनेके लिए सीताको अग्निकुण्डमें कूदनेकी आज्ञा दी तो सीताके कूदते ही उसके शीलसे प्रभावित देवोंने अग्निकुण्डको सरोवर बना दिया। यह उसके शीलका ही प्रभाव था ॥५७॥

आगे ब्रह्माणुव्रतके अतिचार कहते हैं—

सार्वकालिक ब्रह्मचर्याणुव्रतमें इत्वरिकागमन, परविवाहकरण, विटत्व, स्मरतीव्र अभिनिवेश और अनंगक्रीडा ये पाँच अतिचार होते हैं ॥५८॥

विशेषार्थ—ब्रह्मचर्याणुव्रतका पहला अतिचार है इत्वरिकागमन। जिसका कोई स्वामी नहीं है और जो गणिका या दुराचारिणीके रूपमें पुरुषोंके पास जाती है उसे इत्वरी कहते हैं। तथा 'जो प्रत्येक पुरुषके पास जाती है' वह इत्वरी है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार

---

१. ऐश्वर्यराजराजोऽपि रूपमीनध्वजोऽपि च ।
सीतया रावण इव त्याज्यो नार्या नरः परः ।—योगशास्त्र २।१०३ ।"

किंचित्कालं परिगृहीतां वेश्यां गच्छतो भङ्गः कथंचित्परदारत्वात्तस्याः, लोके तु परदारत्वारूढेर्न भङ्ग [इति भङ्गाभङ्गरूपोऽतिचारः । अन्ये त्वपरिगृ-] हीतकुलाङ्गनागमनमप्यन्यदारवर्जिनोऽतिचारमाहु- स्तत्कल्पनया परस्य भर्तुरभावेनापरदारत्वादभङ्गो लोके च परदारतया रूढेर्भङ्ग [इति भङ्गाभङ्गरूपत्वा- त्तस्य । एतेनेत्वरिका] परिगृहीतापरिगृहीतागमनलक्षणमतिचारद्वयं तत्त्वार्थशास्त्रोद्दिष्टमपि संगृहीतं भवति । परविवाहकरणादयस्तु चत्वारो द्वयोरपि [स्फुरन्तीति प्रथमोऽतिचारः ॥१॥ परविवाहकरणं—] स्वापत्यव्यतिरिक्तानां कन्याफललिप्सया स्नेहसंबन्धादिना वा परिणयनविधानम् । एतच्च स्वदारसन्तोषवता स्वकलत्रात् परदारवर्जकेन च स्वकलत्र[वेश्याभ्यामन्यत्र मनोवाक्कायैर्मै-]थुनं न कार्यं न च करणीय- मिति व्रतं यदा गृहीतं भवति तदाऽन्यविवाहकरणं मैथुनकारणमित्यर्थतः प्रतिषिद्धमेव च भवति । तद्व्रती तु मन्यते [विवाह एवायं मया क्रियते न मैथुनं] कार्यत इति व्रतसापेक्षत्वाददतिचारः । कन्याफललिप्सा च सम्यग्दृष्टेरव्युत्पन्नावस्थायां संभवति । मिथ्यादृष्टेस्तु भद्रकावस्थायामनुग्र[हार्थं व्रतादाने सा संभवति । ननु परविवाहन-] वत् स्वापत्यविवाहनेऽपि समान एव दोष इति चेत् सत्यं । किं तर्हि ? यदि स्वकन्याया विवाहो न कार्यते तदा स्वच्छन्दचारिणी स्यात् । ततश्च कुल[समयलोकविरोधः स्यात् । विहितविवाहा तु] पतिनियन्त्रितत्वेन न तथा स्यादेष न्यायः पुत्रेऽपि कल्पनीयः । यदि पुनः कुटुम्बचिन्ताकारकः कोऽपि स्ववद् भ्रात्रादिर्भवेत्तदा स्वापत्यविवाहनेऽपि नियम एव श्रेयान् । यदा तु स्वदारसंतुष्टो विशिष्टसंतोषाभावादन्य- त्कलत्रं परिणयति तदाऽप्यस्यायमतिचारः स्यात्परस्य कलत्रान्तरस्य विवाहकरणमात्मना वि[वाहनमिति

वेश्या भी इत्वरी है। इस इत्वरी शब्दसे कुत्साके अर्थमें 'क' प्रत्यय करने पर इत्वरिका शब्द बनता है। उसमें गमन करना अर्थात् उसका सेवन करना इत्वरिकागमन नामक अतिचार है। पं. आशाधरजीके अनुसार इसमें यह भावना है कि उसका शुल्क देकर कुछ कालके लिए उसे स्वीकार करनेसे अपनी स्त्री मानकर वेश्या या दुराचारिणी स्त्रीको सेवन करनेवाले- की उसमें 'यह मेरी स्त्री है' ऐसी कल्पना होनेसे व्रत सापेक्ष होनेसे तथा थोड़े ही समयके लिए उसे स्वीकार करनेसे व्रतका भंग नहीं हुआ। और वास्तवमें स्वस्त्री न होनेसे व्रतका भंग हुआ इस प्रकार भंग और अभंग रूप होनेसे अतिचार है। क्योंकि इत्वरिका तो वेश्या है और अन्य स्त्री अनाथ होनेसे परनारी है। तथा शुल्क देकर कुछ कालके लिए स्वीकार की गयी वेश्याको जो भोगता है उसका व्रत भंग होता है क्योंकि वह कथंचित् परस्त्री है। किन्तु लोकमें वेश्या परस्त्री नहीं मानी जाती इसलिए व्रत भंग नहीं हुआ। अतः एकदेशका भंग और एकदेशका अभंग होनेसे अतिचार है। अन्य ग्रन्थकार तो अपरिगृहीत कुलांगनाके सेवनको भी परस्त्रीत्यागीके लिए अतिचार कहते हैं। उनकी कल्पनाके अनुसार उसका कोई स्वामी न होनेसे वह परस्त्री नहीं है इसलिए व्रतका भंग नहीं होता। किन्तु लोकमें उसे परस्त्री माना जाता है इसलिए व्रतका भंग होता है। इससे तत्त्वार्थ सूत्रमें कहे गये अपरि- गृहीत इत्वरिका और परिगृहीत इत्वरिका गमन नामक दोनों अतिचारोंका ग्रहण होता है। पं. आशाधरजीने उक्त भावना श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रके योगशास्त्रकी स्वोपज्ञ टीकाका अनुसरण करते हुए की है। किन्तु हेमचन्द्रने यह स्पष्ट कर दिया है कि ये दोनों अतिचार स्वदारसन्तोषीके ही होते हैं परस्त्री त्यागीके नहीं क्योंकि दोनों ही परस्त्री हैं। (योग. ३।९४) दूसरा अतिचार है परविवाहकरण अर्थात् अपनी सन्तानसे अतिरिक्त दूसरोंकी सन्तानका कन्याफलकी इच्छासे अथवा पारस्परिक स्नेहके होनेसे विवाह कराना। जब स्वदारसन्तोषव्रती 'अपनी स्त्रीके सिवाय अन्यमें मन वचन कायसे मैथुन न करूँगा, न कराऊँगा' ऐसा व्रत लेता है तथा परस्त्रीका त्यागी 'अपनी स्त्री और वेश्याके अतिरिक्त अन्यमें मन वचन कायसे

व्याख्यानादिति द्वि-]तीयोऽतिचारः। विटत्वं—भण्डिमा तत्प्रधानकायवाक्प्रयोगः। स्मरतीव्राभिनिवेशः—कामेऽतिमात्रमाग्रहः परित्यक्तान्यव्यापारस्य तद्व्यवसायितेत्यर्थः। यथा [मुखक-] क्षोपस्थान्तरेष्ववितृप्ततया लिङ्गं प्रक्षिप्य महतीं वेलां निश्चलो मृत इवास्ते। चटक इव चटकां मुहुर्मुहुः स्त्रियमारोहति। जातबलक्षयश्च वाजिकरणान्युपयुङ्क्ते अनेन खल्वौषधादिप्रयोगेण गजप्रसेकी तुरगावमर्दी च पुरुषो भवतीति बुद्धया इति चतुर्थः ॥४॥ अनङ्गक्रीडा—अङ्गं साधनं देहावयवो वा। तच्चेह मैथुनापेक्षया योनिर्मेहनम्। ततोऽन्यत्र मुखादिप्रदेशे रतिः। यतश्च चर्मादिमयैर्लिङ्गैः स्वलिङ्गेन कृतार्थोऽपि स्त्रीणामवाच्यदेशं पुनः पुनः कुद्राति केशाकर्षणादिना वा क्रीडन् प्रबलरागमुत्पादयति। साप्यनङ्गक्रीडोच्यते। इह च श्रावकोऽत्यन्तपापभीरुतया ब्रह्मचर्यं चिकीर्षुरपि यदा वेदोदयासहिष्णुतया तत्कर्तुं न शक्नोति तदा यापनामात्रार्थं स्वदारसन्तोषादि प्रतिपद्यते। मैथुनमात्रेणैव यापनायां संभवन्त्यां विटत्वादित्रयमर्थतः प्रतिषिद्धमेव। तत्प्रयोगे हि न कश्चिद् गुणः प्रत्युत सद्योऽतिरागोद्दीपनं बलक्षयस्तात्कालिकीच्छिदा राजयक्ष्मादिरोगाः स्युः। तदुक्तम्—

'ऐदंपर्यमतो मुक्त्वा भोगानाहारवद् भजेत्।
देहदाहोपशान्त्यर्थमभिध्यानविहानये ॥' [सो. उपा. ४१७]

मैथुन न करूँगा न कराऊँगा,' ऐसा व्रत लेता है तब मैथुनका कारण जो अन्यविवाहकरण है उसका प्रतिषेध हो ही जाता है। किन्तु वह ऐसा समझता है कि मैं तो मात्र विवाह करा रहा हूँ, मैथुन तो नहीं कराता हूँ। इस प्रकार व्रतकी सापेक्षता होनेसे अतिचार है। कन्यादानके फलकी आकांक्षा सम्यग्दृष्टिको भी अव्युत्पन्न अवस्थामें होती है। मिथ्यादृष्टि भी जब भद्र अवस्थामें व्रत धारण करता है तब कन्यादानके फलकी इच्छा रहती है।

शंका—परविवाहकरणकी तरह अपनी सन्तानका विवाह करनेमें भी तो उक्त दोष लगता है?

समाधान—यह तो ठीक है किन्तु गृहस्थ यदि अपनी कन्याका विवाह न करे तो वह स्वच्छन्दचारिणी हो जाये। और तब कुल, लोक और आगमका विरोध उपस्थित हो। किन्तु विवाह हो जानेपर एक नियत पतिके होनेसे वैसा होना सम्भव नहीं है। यही बात पुत्रके सम्बन्धमें भी जानना। किन्तु यदि कुटुम्बकी चिन्ता करनेवाला कोई भाई वगैरह हो तो अपनी सन्तानका भी विवाह न करनेका नियम लेना ही श्रेष्ठ है। जब स्वदारसन्तोषी विशेष सन्तोष न होनेसे अपना दूसरा विवाह करता है तब भी यह अतिचार लगता है। 'पर' अर्थात् अन्य स्त्रीके साथ विवाहकरण अर्थात् अपना विवाह करना, यह परविवाहकरणकी व्याख्या करना चाहिए।

३. विटत्व भण्डपनको कहते हैं। भण्ड वचन बोलना तीसरा अतिचार है। ४. कामसेवनकी अत्यधिक लालसाको स्मरतीव्राभिनिवेश कहते हैं। अर्थात् अन्य सब काम छोड़कर उसीमें आसक्त रहना चतुर्थ अतीचार है। जैसे मुख, काँख और योनिमें लिंगको स्थापित करके बहुत समय तक मुर्देकी तरह निश्चल पड़े रहना। या जैसे चिड़ा चिड़ियापर बार-बार चढ़ता है उस तरह बार-बार स्त्रीभोग करना, और शक्ति क्षीण होनेपर बाजीकरणका प्रयोग करना कि अमुक औषधिके सेवनसे पुरुष घोड़े या हाथीकी तरह समर्थ होता है। ये सब कामसेवनकी तीव्र अभिलाषाके सूचक हैं। ५. पाँचवाँ अतिचार अनंगक्रीड़ा है। अंग साधनको या शरीरके अवयवको कहते हैं। यहाँ मैथुनकी अपेक्षा योनि और लिंग अंग हैं। उससे अन्यत्र मुख आदिमें रति करना अनंगक्रीड़ा है। या अपने लिंगसे कामसेवन करने-

एवं प्रतिषिद्धाचरणाद्भङ्गो नियमाबाधनाच्चाभङ्ग इत्येतेऽपि विटत्वादयस्त्रयोऽतिचाराः। स्त्रियास्तु पूर्ववत्परविवाहकरणादयः। प्रथमस्तु यदा स्वकीयपतिर्वारकदिने स्वपत्न्या परिगृहीतो भवति तदा सपत्नीवारकं विलुप्य तं परिभुञ्जानाया अतिचारोऽक्रमादिना च परपुरुषं स्वपतिं वा ब्रह्मचारिणमभिसरन्त्याः स्यात्। पञ्च। यत्स्वामी—

'अन्यविवाहकरणानङ्गक्रीडा विटत्वविपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः॥' [रत्न. श्रा. ६०]

सोमदेवबुधस्त्विदमाह—

'परस्त्रीसङ्गमोऽनङ्गक्रीडाऽन्योपयमक्रिया।
तीव्रता रतिकैतव्ये हन्युरेतानि तद्व्रतम्॥' [सो. उपा. ४१८] ॥५८॥

पर भी चमड़े आदिके बने कृत्रिम लिंगोंसे स्त्रियोंके गुह्य स्थानको बार-बार कुरेदना, या केशोंके आकर्षण आदिके द्वारा क्रीड़ा करके प्रबल राग उत्पन्न करना भी अनंगक्रीड़ा है। यद्यपि श्रावक अत्यन्त पापभीरु होनेसे ब्रह्मचर्य पालना चाहता है। तथापि जब वेदके उदयको न सह सकनेके कारण ब्रह्मचर्यको पालनेमें असमर्थ होता है तब निर्वाहके लिए स्वदारसन्तोष आदि व्रत लेता है। मैथुन मात्रसे निर्वाह होनेपर विटत्व आदि तीनका प्रतिषेध वास्तवमें हो जाता है। क्योंकि उनसे कुछ भी लाभ नहीं है। बल्कि शीघ्रपतन, बलक्षय, मूर्च्छा, राजयक्ष्मा आदि रोग हो जाते हैं। कहा भी है—'आसक्तिको छोड़कर शरीरके सन्तापकी शान्ति तथा दुर्ध्यानको कम करनेके लिए भोगोंको आहारकी तरह भोगना चाहिए।' इस प्रकार निषिद्ध आचरण करनेसे व्रतका भंग और नियममें बाधा न करनेसे व्रतका अभंग होनेसे ये विटत्व आदि तीनों अतिचार रहते हैं।

अथवा स्वदारसन्तोषी 'मैंने वेश्या आदिमें मैथुनका ही त्याग किया है', ऐसा मानकर मैथुन नहीं करता किन्तु विटत्व आदि करता है। तथा परस्त्रीका त्यागी परस्त्रियोंमें मैथुन नहीं करता परन्तु अशिष्ट वचनका प्रयोग, आलिंगन आदि क्रिया करता है। अतः कथंचित् व्रतकी अपेक्षा होनेसे विटत्व आदि अतिचार होते हैं। स्वपति सन्तोष या परपुरुषत्यागका व्रत लेनेवाली स्त्रियोंमें भी परविवाहकरण आदि अतिचार पुरुषकी तरह लगा लेना चाहिए। पहला अतिचार इस प्रकार जानना कि यदि किसी पतिकी दो या अधिक स्त्रियाँ हैं और उसने प्रत्येक स्त्रीका दिन नियत कर दिया है। तो जिस दिन दूसरी स्त्रीका नियत है उस दिन स्वयं अपने पतिको भोगनेसे प्रथम अतिचार लगता है। अथवा अपने पतिको परपुरुष जैसा मानकर भोग करनेसे प्रथम अतिचार होता है। हेमचन्द्राचार्यने स्त्रीके स्वपुरुषसन्तोष और परपुरुषत्याग व्रतको एक ही माना है। तथा स्वदारसन्तोषव्रती पुरुषके पाँचों अतिचार कहे हैं और परस्त्रीत्यागीके अन्तिम तीन ही अतिचार कहे हैं। तथा एक दूसरे मतके अनुसार परस्त्रीत्यागीके पाँच और स्वदारसन्तोषीके तीन अतिचार कहे हैं। इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचारोंकी व्याख्यामें मतभेद है। पं. आशाधर जीने जो स्वदारसन्तोषीके लिए वेश्यासेवनको अतिचार कहा है उसपर सोमदेव सूरिके ब्रह्माणुव्रतके लक्षणका भी प्रभाव प्रतीत होता है। आचार्य समन्तभद्रने परदारनिवृत्ति और स्वदार सन्तोषको भिन्न नहीं माना। एक ही माना है। उन्होंने अन्य विवाहकरण, अनंगक्रीड़ा, विटत्व, विपुलतृषा, और इत्वरिकागमन ये पाँच अतिचार कहे हैं और सोमदेव

अथ परिग्रहपरिमाणाणुव्रतं व्याचष्टे—

ममेदमिति सङ्कल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुषु ।
ग्रन्थस्तत्कर्शनात्तेषां कर्शनं तत्प्रमाव्रतम् ॥५९॥

मिश्रं—चेतनाचेतनम् । बहिः पुष्पवाटिकादिकमन्तश्च मिथ्यात्वादिकम् । तत्प्रमाव्रतं—परिग्रह-परिमाणाख्यमणुव्रतम् । उक्तं च—

'ममेदमिति संकल्पो बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु ।
परिग्रहो मतस्तत्र कुर्याच्चेतो निकुञ्चनम् ॥' [सो. उपा. ४३२]

अपि च—

'धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता ।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥' [रत्न. श्रा. ६१] ॥५९॥

सूरिने परस्त्रीसंगम, अनंगक्रीड़ा, अन्य विवाहकरण, तीव्रता और विटत्वको अतिचार कहा है। उन्होंने इत्वरिकागमनके स्थानमें 'परस्त्रीसंगम' रखा है क्योंकि इत्वरिकामें तो वेश्या भी आ जाती है ॥५८॥

अब परिग्रहपरिमाण अणुव्रतको कहते हैं—

चेतन, अचेतन और चेतन-अचेतन वस्तुओंमें 'ये मेरी है' इस प्रकारके संकल्पको परिग्रह कहते हैं। और उस ममत्व परिणामरूप परिग्रहको कम करके उन चेतन, अचेतन और चेतन-अचेतन वस्तुओंका कम करना परिग्रहपरिमाण व्रत है ॥५९॥

विशेषार्थ—स्त्री-पुत्र आदि चेतन वस्तु हैं। घर-सुवर्ण आदि अचेतन वस्तु हैं। और बाह्य पुष्पवाटिका आदि तथा अभ्यन्तर मिथ्यात्व आदि चेतन-अचेतन हैं। ये चेतन या अचेतन या चेतन-अचेतन वस्तु मेरी हैं, मैं इनका स्वामी हूँ इस प्रकारके मानसिक अध्यवसायको—ममत्वपरिणामको परिग्रह कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्रमें भी मूर्च्छाको परिग्रह कहा है। उसकी व्याख्या करते हुए पूज्यपाद स्वामीने सर्वार्थसिद्धिमें कहा है—बाह्य गाय, भैंस मणि मुक्ता आदि चेतन-अचेतन वस्तुओंके तथा राग आदि अभ्यन्तर परिग्रहोंके संरक्षण, उपार्जन, संस्कार आदिरूप संलग्नताको मूर्छा कहते हैं। इसपरसे यह प्रश्न होता है कि यदि ममत्व परिणामरूप मूर्च्छा परिग्रह है तो बाह्य सम्पत्ति स्त्री-पुत्रादि परिग्रह नहीं कहलायेंगे; क्योंकि मूर्च्छाको परिग्रह माननेसे तो आध्यात्मिकका ही ग्रहण होता है। इसके समाधानमें कहा है कि आपका कहना सत्य है। ममत्वभाव ही प्रधान परिग्रह है अतः उसीका ग्रहण किया है। बाह्य परिग्रहके नहीं होते हुए भी जिसमें यह मेरा है इस प्रकारका ममत्वभाव है वह परिग्रही होता है। तब पुनः प्रश्न हुआ कि तब तो बाह्य परिग्रह नहीं ही होती। इसके उत्तरमें कहा है कि बाह्य भी परिग्रह होती है क्योंकि वह मूर्छाका कारण है। स्त्री, पुत्र, धनादिके होनेपर ममत्वभाव होता है और जहाँ ममत्वभाव हुआ, तत्काल उसके संरक्षण आदिकी चिन्ता हो जाती है। किन्तु परिग्रहका मूल ममत्वभाव है इसलिए उसमें कमी करके बाह्य परिग्रहको कम करना परिग्रहपरिमाण व्रत है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने

---

१. 'मूर्च्छा परिग्रहः' ।—त. सू. ७।१७ ।
'या मूर्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः ।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ॥

अथान्तरङ्गसङ्गनिग्रहोपायमाह—

उद्यत्क्रोधादिहास्यादिषट्कवेदत्रयात्मकम् ।
अन्तरङ्गं जयेत्सङ्गं प्रत्यनीकप्रयोगतः ॥६०॥

उद्यन्ति—विपच्यमानानि । उदितानां दुर्जयत्वात् । क्रोधादयः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानवर्जास्ता-न्मिथ्यात्वसहितान्निगृह्यैव देशसंयमस्य प्रवृत्तत्वात् । प्रत्यनीकप्रयोगतः—उत्तमक्षमादिभावनया ॥६०॥

इस व्रतका दूसरा नाम इच्छापरिमाण दिया है। उन्होंने धन-धान्य आदिका परिमाण करके उससे अधिककी इच्छा न करनेको परिग्रहपरिमाण व्रत कहा है और उसका दूसरा नाम इच्छापरिमाण कहा है। इच्छाका परिमाण करके ही परिग्रहका परिमाण किया जाता है। यदि इच्छाकी सीमा न हो तो परिग्रहका परिमाण करना व्यर्थ ही है। मनुष्यकी तृष्णामें उससे कमी नहीं होती। और तृष्णाको कम करनेके लिए ही यह व्रत होता है। अमृतचन्द्राचार्यने भी अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें उक्त सब कथन किया है ॥५९॥

आगे अन्तरंग परिग्रहके निग्रहका उपाय कहते हैं—

उदयको प्राप्त प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ, हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा, स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसक वेद इस अन्तरंग परिग्रहको इनके विरोधी उत्तम क्षमा आदि भावनाओंके द्वारा परिग्रह परिमाणव्रती वशमें करे ॥६०॥

विशेषार्थ—परिग्रहके मूल भेद दो हैं—अन्तरंग और बाह्य। अन्तरंग परिग्रहके चौदह भेद हैं और बाह्य परिग्रहके दस भेद हैं। मिथ्यात्व, क्रोध-मान-माया-लोभ, हास्य, रति-अरति, शोक-भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद, ये सब मोहनीय कर्मका परिवार अन्तरंग परिग्रह है। यहाँ ग्रन्थकारने मिथ्यात्वको नहीं गिनाया है। तथा क्रोधादिके चार प्रकारोंमें-से भी अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरणको नहीं गिनाया है। क्योंकि मिथ्यात्वके साथ इन आठ कषायोंका निग्रह करनेपर ही सम्यग्दर्शनपूर्वक देशसंयम प्रकट होता है। और यहाँ देशसंयमीका ही कथन है। अतः उसके शेष आठ कषाय, हास्य आदि छह और तीन वेद ही रहते हैं। यहाँ उनके साथ 'उद्यत्' शब्दका प्रयोग किया है। उसका अर्थ होता है उदयको प्राप्त। जब कोई कषाय उदयमें आती है तो उसको जीतना कठिन होता है। इनको जीतनेका उपाय है उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच आदिकी भावना। उसीसे इनको जीता जा सकता है ॥६०॥

मूर्छालक्षणकरणात्सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः' ॥—पुरुषार्थः १११-११२ आदि ।

१. 'मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः' ॥—पुरुषार्थ. ११६ श्लो. ।

२. 'तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम् ।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः ॥
प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य संमुखायातः ।
नियतं ते हि कषाया देशचरित्रं निरुन्धन्ति ॥
निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम् ।
कर्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादिभावनया ॥'—पुरुषार्थ. १२४-१२६ ।

अथ बहिरङ्गसङ्गत्यागविधिमाह—

अयोग्यासंयमस्याङ्गं सङ्गं बाह्यमपि त्यजेत् ।
मूर्छाङ्गत्वादपि त्यक्तुमशक्यं कृशयेच्छनैः ॥६१॥

अयोग्यः—श्रावकस्य कर्तुमनुचितोऽसंयमः । स चेहानारम्भजस्त्रसवधो व्यर्थः स्थावरवधः परदारगमनादिश्च । तदुक्तम्—

'बहिरङ्गादपि सङ्गाद्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः ।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥' [पुरुषार्थ. १२७]

कृशयेत्—स्वल्पयेत् । उक्तं च—

'योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः ।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम् ॥' [पुरुषा. १२८]

शनैः—मनाक् मनाक् । परिग्रहसंज्ञाया अनादिसंतत्या प्रवर्तमानत्वात् सहसा तत्त्यागस्य कर्तुमशक्यत्वात्कृतस्यापि तद्वासनावशाद्भङ्गसम्भावनाच्चैतदुच्यते ॥६१॥

एतदेव प्रपञ्चयन्नाह—

देशसमयात्मजात्याद्यपेक्षयेच्छां नियम्य परिमायात् ।
वास्त्वादिकमामरणात्परिमितमपि शक्तितः पुनः कृशयेत् ॥६२॥

जात्यादि । आदिशब्देन स्वान्वयवयः.........................॥६२॥

आगे बहिरंग परिग्रहको त्यागनेकी विधि बतलाते हैं—

मूर्च्छाका कारण होनेसे बाह्य परिग्रह श्रावकोंके न करने योग्य असंयमका कारण होती है। इसलिए पंचम अणुव्रतीको उसे भी छोड़ना चाहिए। और जिस परिग्रहको छोड़नेमें असमर्थ है उसे धीरे-धीरे घटाना चाहिए ॥६१॥

विशेषार्थ—बाह्य परिग्रह दस हैं। वे सब मोहके उदयमें निमित्त हैं। इसलिए श्रावकके लिए न करने योग्य असंयमका कारण है। संकल्पी त्रसहिंसा, व्यर्थ स्थावर हिंसा, परस्त्रीगमन आदि असंयम श्रावकके करने योग्य नहीं हैं। परिग्रहकी बहुलतामें ये सब होता है इसलिए बाह्य परिग्रह भी छोड़ना चाहिए। किन्तु परिग्रह संज्ञा तो अनादिकालसे चली आ रही है, उसका त्याग सहसा नहीं किया जा सकता। और कर भी दिया जाये तो परिग्रह संज्ञाकी अनादि वासनाके वश त्यागका भंग होनेकी सम्भावना रहती है। इसलिए कहते हैं कि परिग्रहका छोड़ना शक्य न हो तो धीरे-धीरे कम करना ही उचित है। अमृतचन्द्राचार्यने कहा है—'बाह्य परिग्रहसे भी अनुचित असंयम होता है इसलिए समस्त सचित्त और अचित्त परिग्रह छोड़ना चाहिए। जो धन, धान्य, मनुष्य, मकान, धन आदि छोड़नेमें अशक्य है उसे भी कम करना चाहिए, क्योंकि तत्त्व तो निवृत्तिरूप है' ॥६१॥

उसी कम करनेकी विधिको बतलाते हैं—

श्रावक देश, काल, आत्मा स्वयं, और जाति आदि की अपेक्षा परिग्रह-विषयक तृष्णाको सन्तोषकी भावनाके द्वारा रोककर मकान, खेत, धन, धान्य, दासी-दास, पशु, शय्या, आसन, सवारी और भाण्ड इन दस प्रकारकी परिग्रहोंका जीवनपर्यन्तके लिए परिमाण करे। तथा किये हुए परिमाणवाली परिग्रहको भी निष्परिग्रहत्वकी भावनासे उत्पन्न हुई अपनी शक्तिके अनुसार पुनः कम करे ॥६२॥

विशेषार्थ—परिग्रहका परिमाण करते समय श्रावकको अपने परिवार, उसके रहन-

अविश्वासतमोनक्तं लोभानलघृताहुतिः ।
आरम्भमकराम्भोधिरहो श्रेयः परिग्रहः ॥६३॥
'असन्तोषमविश्वासमारम्भं दुःखकारणम् ।
मत्वा मूर्छाफलं कुर्यात्परिग्रहनियन्त्रणम् ॥' [योगशा. २।१०६] ॥६३॥

अथ पञ्चमाणुव्रतातिचारपञ्चकनिषेधविधिमाह—

वास्तुक्षेत्रे योगाद्धनधान्ये बन्धनात् कनकरूप्ये ।
दानात्कुप्ये भावान्न गवादौ गर्भतो मितिमतीयात् ॥६४॥

वास्तु—गृहादि ग्रामनगरादि च । तत्र गृहादि त्रेधा, खातोच्छ्रिततदुभयभेदात् । तत्र खातं भूमिगृहादिक मुच्छ्रितं प्रासादादिकम् । खातोच्छ्रितं च भूमिगृहस्योपरि गृहादिसन्निवेशः । क्षेत्रं सस्योत्पत्तिभूमिः । तत्त्रेधा— सेतुकेतूभयभेदात् । तत्र सेतुक्षेत्रं यदरघट्टादिजलेन सिच्यते । केतुक्षेत्रमाकाशोदकपातनिष्पाद्यसस्यम् ।

सहन तथा देश-काल और जातिका ध्यान रखकर ही परिमाण करना चाहिए जिससे आगे निर्वाहमें कोई कठिनाई उपस्थित न हो। इसके साथ ही ऐसा लम्बा-चौड़ा परिमाण भी न लेना चाहिए जिसमें कुछ त्यागना ही न पड़े। उदाहरणके लिए पासमें दस हजारकी पूँजी होते हुए एक लाखका परिणाम करना एक तरहसे निरर्थक है। किन्तु कुछ भी परिमाण न करनेसे परिमाण करना श्रेष्ठ है उससे मनुष्यकी तृष्णापर नियन्त्रण होता है। यह इस व्रतका उद्देश्य भी है ॥६२॥

वक्रोक्ति द्वारा परिग्रहके दोष बतलाते हैं—

अविश्वासरूप अन्धकारके लिए रात्रिके समान, लोभरूपी अग्निके लिए घीकी आहुतिके समान और आरम्भरूपी मगरमच्छोंके लिए समुद्रके समान परिग्रह पुरुषोंके लिए सेवनीय है अथवा कल्याणकारी है यह आश्चर्य है ॥६३॥

विशेषार्थ—जैसे रात्रि अन्धकारका कारण है वैसे ही परिग्रह अविश्वासका कारण है। परिग्रही व्यक्ति किसीका भी विश्वास नहीं करता। रात्रिमें सोता नहीं, और दिनमें भी सशंक रहता है कि कोई मेरा धन न हर ले। तथा जैसे आगमें घी डालनेसे आग प्रज्वलित होती है वैसे ही परिग्रहके बढ़नेसे लोभ बढ़ता है। और लोभ आगके ही समान चित्तको सन्ताप देनेवाला होता है। तथा जैसे समुद्रमें मगरमच्छ रहते हैं वैसे ही परिग्रह होनेसे मनुष्य खूब रोजगार-धन्धा फैलाता है। उसकी कभी तृप्ति नहीं होती। ऐसे परिग्रहको लोग अच्छा मानते हैं यही आश्चर्य है। कहा है—'परिग्रहका फल असन्तोष, अविश्वास, आरम्भ और ममत्व है जो दुःखका कारण है इसलिए परिग्रहका नियन्त्रण करना चाहिए' ॥६३॥

आगे परिग्रह परिमाण अणुव्रतके पाँच अतिचारोंका निषेध करते हैं—

घर और खेतमें दूसरा घर और खेत मिलाकर, धन और धान्यमें बन्धनको लेकर, सोने-चाँदीमें दानसे, सोने-चाँदीसे अतिरिक्त काँसा आदिमें भावसे और गाय-भैंस आदिमें गर्भसे किये गये परिग्रह परिमाणकी मर्यादाका उल्लंघन श्रावकको नहीं करना चाहिए ॥६४॥

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्रमें क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, दासी, दास, धन-धान्य और कुप्यके प्रमाणके अतिक्रमको परिग्रह परिमाण व्रतके अतीचार कहा है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

---

१. 'बन्धनाद् भावतो गर्भाद्योजनाद् दानतस्तथा ।
प्रतिपन्नव्रतस्यैष पञ्चधाऽपि न युज्यते ॥—योगशास्त्र ३।९६ ।

उभयमुभयजलनिष्पाद्यसस्यम् । वास्तु च क्षेत्रं च वास्तुक्षेत्रमिति समाहारनिर्देशोऽत्र, उत्तरत्र च बाह्य-ग्रन्थस्य पञ्चविधत्वकल्पनया अतिचारपञ्चकस्य सुखयोजनार्थम् । तत्र वास्तुक्षेत्रे योगाद् भित्तिवृत्त्याद्यपनयनेन वास्तुक्षेत्रान्तरमीलनान्तरमाश्रित्य परिमितपरिग्रहः श्रावको, न मितिमतीयात्— देवगुरुसाक्षिकं व्रतग्रहण-काले यावज्जीवं चतुर्मासादिकालावधि वा प्रतिपन्नां संख्यां नातिक्रमेत् । वास्त्वादिकमेव मया विपुलीक्रियते, न प्रतिपन्ना तत्संख्यातिक्रम्यत इति बुद्धया तद्विषयं वा हस्तादिपरिमाणं सहसाकारादिना नातिक्रमेदन्यथा वास्तुक्षेत्रप्रमाणातिक्रमो नाम प्रथमोऽतिचारः स्याद् । व्रतसापेक्षस्यैव स्वबुद्धया व्रतभङ्गमकुर्वत एवातिचारत्व-व्यवस्थापनात् ॥१॥ धनं गणिमादिभेदाच्चतुर्धा । तत्र गणिमं पूगजागजातिफलादि । धरिमं कुङ्कुमकर्पूरादि । मेयं स्नेहलवणादि । परीक्ष्यं रत्नवस्त्रादि । धान्यं व्रीह्यादिभेदात् सप्तदशधा । उक्तं च—

'व्रीहिर्यवो मसूरो गोधूमो मुद्गमाषतिलचणकाः ।
अणवः प्रियङ्गुकोद्रव-मयूष्ठकाः शालिराढक्यः ॥' [ ]

किंच, कुलायकुलत्थोषणः सप्तदशधान्यानीति । धनं च धान्यं च धनधान्यम् । तत्र स्वगृहगतधनादे-विक्रये व्यये वा कृते गृहीष्यामीति भावनया बन्धनाद् रज्ज्वादिनियन्त्रणलक्षणात् सत्यङ्कारदानादिरूपाद्वा स्वीकृत्य धनधान्यं विक्रेतृगृह एवावस्थापयन् मितिमतीयादन्यथा द्वितीयोऽतिचारः स्यात् ॥२॥ कनकं सुवर्णं

(श्लो. १८७) में भी ऐसा ही कथन है। किन्तु इनके प्रमाणका अतिक्रम कैसे किया जाता है इसको पं. आशाधरजीने स्पष्ट किया है। इस श्लोककी टीकामें स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—'घर आदि और ग्राम-नगर आदिको वास्तु कहते हैं। घर आदि तीन प्रकारके होते हैं—खात, उच्छ्रित और खात-उच्छ्रित। भूमि खोदकर जो तलघर बनाया जाता है वह खात है। भूमिके ऊपर जो महल आदि बनाया जाता है वह उच्छ्रित है। और नीचे तलघरके साथ जो ऊपर मकान बनाया जाता है वह खात-उच्छ्रित है। जिस भूमिमें अनाज पैदा होता है उसे क्षेत्र कहते हैं। उसके भी तीन भेद हैं—सेतु, केतु और सेतुकेतु। जिन खेतोंकी सिंचाई रहट वगैरहके पानीसे होती है उन्हें सेतु कहते हैं। जिन खेतोंमें वर्षाके जलसे धान्य पैदा होता है उन्हें केतु कहते हैं। और जिनमें दोनों प्रकारके जलसे अन्न पैदा होता है उन खेतोंको सेतुकेतु कहते हैं। बाह्य परिग्रहको पाँच मानकर पाँच अतीचारोंका सुख पूर्वक बोध करानेके लिए यहाँ वास्तु और क्षेत्रको मिला दिया है। वास्तु और क्षेत्रमें बीचकी दीवार वगैरह हटाकर मकानमें दूसरा मकान और खेतमें दूसरा खेत मिलाकर परिग्रह परिमाण व्रतके धारी श्रावकको देव गुरुकी साक्षि पूर्वक व्रत ग्रहण करते समय जीवन पर्यन्तके लिए या चतुर्मास आदिकी अवधिके लिए स्वीकार की हुई संख्याका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। मैं तो मकान वगैरहको बढ़ाता हूँ, स्वीकार की गयी संख्याको तो नहीं बढ़ाता' इस प्रकारकी भावनासे परिमाणका अतिक्रम नहीं करना चाहिए। अन्यथा वास्तुक्षेत्र प्रमाणातिक्रम नामका प्रथम अतिचार होता है; क्योंकि जो व्रतकी अपेक्षा रखते हुए अपनी बुद्धिसे व्रत भंग नहीं करता उसे ही अतिचार कहा है ॥१॥

धनके चार भेद हैं। सुपारी जातिफल आदिको गणिम कहते हैं। केसर कपूर आदि-को धरिम कहते हैं। तेल नमक आदिको मेय कहते हैं। रत्न वस्त्र आदिको परीक्ष्य कहते हैं। धान्य पन्द्रह प्रकारके होते हैं। धान, जौ, मसूर, गेहूँ, मूँग, उड़द, तिल, चना, अणव, प्रियंगु, कोदो, शालि, अरहर वगैरह। अपने घरमें वर्तमान धन आदिके बिक जाने पर या खर्च हो जाने पर लेलूँगा, इस भावनासे धन धान्यको विक्रेताके घरमें ही बन्धक रखकर परिमाणका अतिक्रम नहीं करना चाहिए। अन्यथा दूसरा अतिचार होता है ॥२॥

घटितमघटितं चानेकप्रकारमेवं रूप्यमपि। कनकं च रूप्यं च कनकरूप्यम्। तत्र दानात् स्वव्रतकालावधौ पूर्णे गृहिष्यामीत्यभिप्रायेण तुष्टराजादितः स्वप्रतिपन्नसंख्यातोऽधिके लब्धेऽन्यस्मै वितरणान्न मितिमतीयादन्यथा तृतीयोऽतिचारः स्यात्। कुप्ये रूप्यसुवर्णव्यतिरिक्ते कांस्यलोहताम्रसीसक-त्रपु-मृद्भाण्ड-वंशविकारोदङ्किका-काष्ठमञ्चकमञ्चिका-मसूरक-रथ-शकट-हलप्रभृतिद्रव्ये। भावात् द्वयोर्द्वयोर्मिलनैनैकीकरणरूपात्पर्यायान्तराद् व्रतावधौ पूर्णे गृहीष्यामीत्यन्यप्रदेयतया व्यवस्थापनेनार्थित्वरूपादभिप्रायाद्वा न मितिमतीयादन्यथा चतुर्थोऽतिचारः स्यात्। कुप्यस्य हि या संख्या कृता तस्याः कथंचिद्द्विगुणे सति व्रतभङ्गभयाद्भावतो द्वयोर्द्वयोर्मिलनेनैकीकरणरूपात्पर्यायान्तरात् स्वाभाविकसंख्याबारनात् [-ख्याबाधनात्] संख्यामात्रपूरणाच्चातिचारः। अथवा भावतोऽभिप्रायादर्थित्वलक्षणाद् विवक्षितकालावधेः परतो गृहिष्याम्यतो नान्यस्मै प्रदेयमिति पराप्रदेयतया व्यवस्थापयतोऽसौ स्यात् ॥४॥ गवादौ—गौरादिर्यस्य द्विपदचतुष्पदवर्गस्यासौ गवादिः। आदिशब्देन हस्त्यश्वमहिषादिचतुष्पदानां शुकसारिकादिद्विपदपक्षिणां पत्न्युपरुद्धदासपदात्यादीनां च संग्रहः। तत्र गर्भतो न मितिमतीयात्। गवादीनां गर्भग्रहणादुपलक्षणादन्येषां यथास्वमनाभोगादिनातिक्रमादिना वा संख्यां नातिक्रमेत्। गोमहिषीवडवादेर्हि विवक्षितसंवत्सराद्यवधिमध्य एव प्रसवे अधिकगवादिभावाद् व्रतभङ्गः स्यादिति तद्भयात् कियत्यपि काले गते गर्भग्रहणाद् गर्भस्थगवादिभावेन बहिस्तदभावेन च कथंचिद् व्रतभङ्गात् पञ्चमोऽतिचारः स्यात् ॥५॥ एते च—

'क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः' [त. सू.]

इति तत्त्वार्थमतेन पञ्चातिचाराः प्ररूपिताः। स्वामिमतेन त्विमे—

'अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ॥' [रत्न. श्रा. ६२]

सोना-चाँदी घड़ा हुआ या बिना घड़ा अनेक प्रकारका होता है। अपने व्रतके समयकी अवधि पूरी होनेपर ग्रहण कर लूँगा इस भावनासे राजाने प्रसन्न होकर अपनी मर्यादासे अधिक द्रव्य दिया तो दूसरेके यहाँ रखकर परिमाणका अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। अन्यथा तीसरा अतिचार होता है ॥३॥

चाँदी-सोनेसे अतिरिक्त काँसा, लोहा, ताँबा, सीसा, मिट्टीके बरतन, बाँससे बनी वस्तुएँ, काष्ठके मंच, रथ, गाड़ी, हल वगैरह कुप्य कहाते हैं। दो-दो बरतनोंको मिलाकर एक करना या व्रतकी अवधि पूरी हो जानेपर ग्रहण करूँगा इस अभिप्रायसे दूसरेको देकर परिमाणका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। अन्यथा चौथा अतिचार होता है। कुप्यका जो परिमाण किया था उसको किसी प्रकार दुगुना कर लेनेसे, व्रत भंग होनेके भयसे, भावसे, दो-दो वस्तुओंको मिलाकर एक करनेसे, स्वाभाविक संख्यामें बाधा आनेसे तथा संख्या मात्र पूरी करनेसे अतीचार होता है। अथवा किसी वस्तुकी आवश्यकताके अभिप्रायसे उस वस्तुके स्वामीसे यह कहकर कि अमुक कालके बाद मैं इसे ले लूँगा, तुम किसीको देना नहीं, वह वस्तु उसीके पास रखनेसे भी अतिचार होता है ॥४॥

गाय आदिसे हाथी, घोड़ा, भैंस आदि चौपाये, तोता, मैना आदि दोपाये, और पत्नीके द्वारा रखे गये दास, प्यादा आदि लेना। इनमें गर्भसे परिमाणका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। अर्थात् गाय, भैंस, घोड़ी वगैरह यदि मेरी ली हुई मर्यादामें ही बच्चा देंगी तो संख्या बढ़ जानेसे व्रत भंग होगा। इस भयसे कितना ही काल बीतनेपर उन्हें गर्भ धारण कराना पाँचवाँ अतिचार है। ये पाँच अतिचार तत्त्वार्थ सूत्रके अनुसार होते हैं। स्वामी

अत्रातिवाहनं लोभावेशवशाद् वृषादीनां शक्त्यतिक्रमेण हठान्मार्गे नयनम् । अतिसंग्रहः—इदं धान्यादिकमग्रे विशिष्टं लाभं च दास्यतीति लोभावेशादतिशयेन तत्संग्रहणम् । अतिविस्मयः—धान्यादौ प्रपन्नलाभेन विक्रीते मूलतोऽप्यसंगृहीते वा तत्क्रयाणकेनाधिकेऽर्थे लब्धे लोभावेशादधिकविषादः । अतिलोभः—विशिष्टेऽर्थे लब्धेऽपि अधिकलाभाकाङ्क्षा । अतिभारवाहनं—लोभावेशादधिकभारारोपणम् । सोमदेवपण्डितस्त्विदमाह—

'कृतप्रमाणाल्लोभेन धनादधिकसंग्रहः ।
पञ्चमाणुव्रतज्यानिं करोति गृहमेधिनाम् ॥' [सो. उपा. ४४४]

तदेतच्च 'परेऽप्यूह्यास्तथाऽत्ययाः' इत्यनेन संगृहीतम् ॥६४॥

[एवं निर्मलीकृतपरिग्रहव्रतपालकस्य फलं दृष्टान्तेन स्फुटयन्नाह—]

यः परिग्रहसंख्यानव्रतं पालयतेऽमलम् ।
जयवज्जितलोभोऽसौ पूजातिशयमश्नुते ॥६५॥

[यः पालयते रक्षयति । किं तत्, परिग्रहसंख्यानव्रतम् । कथं कृत्वा, अमलं यथोक्तातिचाररहितम् । असौ श्रावकः पूजातिशयं शक्रादिकृतमर्चनामश्नुते लभते । किंविशिष्टः, यतो जितलोभः जितलोभत्वादित्यर्थः । किंवत्, जयवत् मेघस्वराख्यकुरुराजो यथा ॥६५॥]

समन्तभद्रके मतसे पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—अतिवाहन अर्थात् लालचवश बैल वगैरहको उसकी शक्तिसे अधिक जबरदस्ती चलाना । अतिसंग्रह—यह धान्य वगैरह आगे बहुत लाभ देगा इस लोभसे अतिसंग्रह करना । विस्मय—धान्य आदिको प्राप्त लाभसे बेच देनेपर या धान्यका संग्रह ही न करनेपर और उसके खरीदनेवालोंको अधिक लाभ हुआ देखकर खेदखिन्न होना । अतिलोभ—खूब लाभ होनेपर भी और अधिक लाभकी इच्छा होना । अतिभारवहन—लोभके आवेशमें अधिक भार लादना । ये पाँच अतिचार स्वामी समन्तभद्रके मतसे हैं । सोमदेव पण्डितने कहा है—'लोभमें आकर किये हुए प्रमाणसे धन-धान्यका अधिक संग्रह गृहस्थोंके पाँचवें अणुव्रतकी हानि करता है । इन सब अतिचारोंका ग्रहण पहले कहे गये इस वाक्यसे हो जाता कि अन्य भी अतिचार विचारणीय हैं ॥६४॥

इस प्रकार निरतिचार परिग्रह व्रतको पालन करनेवालेको प्राप्त फलका कथन दृष्टान्त-पूर्वक करते हैं—

जो निरतिचार परिग्रह परिमाण व्रतको पालता है वह लोभको जीतनेसे कुरुराज जयकुमारकी तरह इन्द्रादिकके द्वारा पूजित होता है ॥६५॥

विशेषार्थ—आचार्य समन्तभद्रने परिग्रह परिमाण व्रतमें जयकुमारका उल्लेख किया है । यह हस्तिनापुरके राजा सोमप्रभके पुत्र थे । इनकी रानीका नाम सुलोचना था । एक बार जयकुमार सुलोचनाके साथ कैलास पर्वतकी वन्दनाके लिए गये । उधर इन्द्रने अपनी सभामें जयकुमारके परिग्रह परिमाण व्रतकी प्रशंसा की तो एक देव उनकी परीक्षा लेने आया । उसने स्त्रीका रूप बनाया तथा अन्य चार स्त्रियोंके साथ आकर जयकुमारसे बोला—सुलोचनाके स्वयंवरके समय जिसने तुम्हारे साथ संग्राम किया था उस विद्याधरोंके स्वामी नमिकी रानी बहुत सुन्दर है । वह तुम्हें चाहती है । यदि उसका राज्य और जीवन चाहते हो तो उसे स्वीकार करो । यह सुनकर जयकुमारने उत्तर दिया—'मैं परिग्रह परिमाणव्रती

अथैवं निरतिचाराणुव्रतपरिणत्यनुपालनाय निर्मलशीलपालनायामुपासकमुत्थापयितुं तदनुभावमाह—

पञ्चाप्येवमणुव्रतानि समतापीयूषपानोन्मुखे
सामान्येतरभावनाभिरमलीकृत्यार्पितान्यात्मनि ।
त्रातुं निर्मलशीलसप्तकमिदं ये पालयन्त्यादरात्
ते संन्यासविधिप्रमुक्ततनवः सौर्वीः श्रियो भुञ्जते ॥६६॥

पञ्चापि—अपिशब्दादेकं द्वे त्रीणि चत्वारि वा । सामान्यभावनाः मैत्र्यादयः । इतरभावनाः प्रतिव्रतं पञ्चशो नियमिताः । अमलीकृत्य, उद्योतनोक्तिरियम् । अर्पितानि—उद्यवनप्रकाशनेयम् । त्रातुं—निर्वहणार्थमिदम् । इदं—उत्तरत्र वक्ष्यमाणम् । उक्तं च—

'परिधय इव नगराणि व्रतानि परिपालयन्ति शीलानि ।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥' [पुरुषार्थ. १३६]

संन्यासेत्यादि—सति साधने निस्तरणभणितिरियम् ।

सौर्वीः—स्व स्वर्गे भवा इति भद्रम् ।

इत्याशाधरदृब्धायां धर्मामृतपञ्जिकायां ज्ञानदीपिकापरसंज्ञायां त्रयोदशोऽध्यायः ।

हूँ । मेरे लिए परवस्तु तुच्छ है । अतः मैं राज्य और रानीको स्वीकार नहीं कर सकता ।' इसपर-से उस देवने उनपर घोर उपसर्ग किया । किन्तु जयकुमार विचलित नहीं हुए । तब देव उनके चरणोंमें विनत हुआ और उनका बहुत आदर किया ॥६५॥

इस प्रकार श्रावकको निरतिचार अणुव्रतोंका पालन करनेके लिए निर्मल सात शीलोंके पालन करनेमें उत्साहित करते हुए उनके माहात्म्यको बतलाते हैं—

इस प्रकार जो भव्य जीव मैत्री, प्रमोद आदि सामान्य भावनाओंसे और महाव्रतके अधिकारमें कही गयी प्रत्येक व्रतकी विशेष भावनाओंके द्वारा उस व्रतके अतीचारोंको दूर करके समतारूपी अमृतको पीनेके लिए तत्पर आत्मामें धारण किये गये पाँचों ही प्रकारके अणुव्रतोंका पालन करनेके लिए आगेके अध्यायमें कहे जानेवाले निरतिचार सात शीलोंको आदरपूर्वक पालते हैं वे अन्तिम अध्यायमें कही गयी समाधिमरणकी विधिके द्वारा शरीरको छोड़कर सौधर्म स्वर्गसे लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्तकी लक्ष्मीको भोगते हैं ॥६६॥

विशेषार्थ—व्रत धारणका लक्ष्य है समतारूपी अमृतका पान । जिसे उसको पीनेकी तीव्र उत्कण्ठा है उसे पाँच अणुव्रत अपनाकर भावनाओंके द्वारा निरतिचार बनाना चाहिए और तब उनको पुष्ट करनेके लिए सात शील पालना चाहिए । अमृतचन्द्रजीने कहा है—'जैसे कोटसे नगरकी रक्षा होती है वैसे ही शीलोंसे व्रतोंकी रक्षा होती है । अतः शीलोंका भी पालन करना चाहिए ।' ऐसा करते हुए समाधिपूर्वक मरण करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है ॥६६॥

इस प्रकार पं. आशाधररचित धर्मामृतके अन्तर्गत सागारधर्मकी स्वोपज्ञ संस्कृत टीका तथा ज्ञानदीपिकाकी अनुसारिणी हिन्दी टीकामें आदिसे तेरहवाँ और सागार धर्मका चौथा अध्याय पूर्ण हुआ ।

चतुर्दश अध्याय (पञ्चम अध्याय)

अथ शीलसप्तकं व्याकर्तुकामस्तद्विकल्पभूतानि गुणव्रतानि तावल्लक्षयति—

यद्गुणायोपकारायाणुव्रतानां व्रतानि तत् ।
गुणव्रतानि त्रीण्याहुर्दिग्विरत्यादिकान्यपि ॥१॥

दिग्विरत्यादिकानि । आदिशब्देनानर्थदण्डविरतिर्भोगोपभोगपरिमाणं च संगृह्यते । यत्स्वामी—

'दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥' [रत्न. श्रा. ६७]

आ...............

'अनर्थदण्डेभ्यो विरतिः स्याद्गुणव्रतम् ।
भोगोपभोगसंख्यानमप्याहुस्तद्गुणव्रतम् ॥' [ ]

अपिशब्दः सितपटोक्तखरकर्मव्रतज्ञापनार्थम् ।

आगे सात शीलोंका वर्णन करनेके अभिप्रायसे पहले उनके भेद गुणव्रतोंका लक्षण कहते हैं—

यतः ये व्रत अणुव्रतोंके गुण अर्थात् उपकारके लिए होते हैं अतः दिग्विरति आदि तीनों ही व्रतोंको गुणव्रत कहते हैं ॥१॥

विशेषार्थ—दिग्विरति, अनर्थदण्डविरति और भोगोपभोग परिमाण ये तीन गुणव्रत स्वामी समन्तभद्रके मतानुसार ग्रन्थकारने कहे हैं। सात शीलव्रतके दो मुख्य भेद हैं—गुणव्रत और शिक्षाव्रत। गुणव्रत तीन और शिक्षाव्रत चार होते हैं। इस तरह शीलोंकी संख्यामें तथा गुणव्रत और शिक्षाव्रतके भेदोंकी संख्यामें कोई मतभेद नहीं है। किन्तु गुणव्रत और शिक्षाव्रतके अवान्तर भेदोंमें अन्तर है। जैसे आचार्य कुन्दकुन्दने[1] दिशाविदिशापरिमाण, अनर्थदण्डत्याग और भोगोपभोगपरिमाणको गुणव्रत कहा है। ऐसा ही कथन पद्मपुराणमें[2] है। और भावसंग्रहमें[3] भी ऐसा ही है। तत्त्वार्थ सूत्रमें दिग्विरति और देशविरतिको अलग-अलग गिनाया है। उसके टीकाकार पूज्यपाद दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्ड विरति को गुणव्रत कहते हैं। महापुराणमें[4] भी इन्हें ही गुणव्रत कहा है किन्तु यह भी लिखा है कि कोई-कोई भोगोपभोग परिमाणको गुणव्रत कहते हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, सोमदेव उपासकाध्ययन, चारित्रसार, अमितगति उपासकाचार, पद्मनन्दि पंचविंशतिका और लाटी-संहिता तत्त्वार्थसूत्रके अनुगामी हैं। स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा और सागार धर्मामृत रत्नकरण्ड श्रावकाचारके अनुगामी हैं। श्वेताम्बर परम्परामें भी रत्नकरण्डवाला मत ही मान्य है। रत्नकरण्डमें कहा है कि ये तीनों व्रत गुणोंको बढ़ाते हैं इसलिए उन्हें गुणव्रत कहते हैं। श्लोक-में आया 'अपि' शब्द श्वेताम्बरों द्वारा कहे खरकर्मव्रतके ज्ञापनके लिए है ॥१॥

---

१. चारित्र प्रा. गा. २४ । २. पर्व ४।१९ । ३. गा. ३५४ । ४. ७।२१ । ५. १०।६५-६६ । ६. गा. ३४१ आदि ।

अथ दिग्विरतिव्रतं लक्षयति—

यत्प्रसिद्धैरभिज्ञानैः कृत्वा दिक्षु दशस्वपि।
नात्येत्यणुव्रती सीमां तत्स्याद्दिग्विरतिर्व्रतम् ॥२॥

प्रसिद्धैः—दिग्विरतिमर्यादाया दातुर्गृहीतुश्च प्रतीतैः। अभिज्ञानैः—समुद्रनद्यादिभिश्चिह्नैः। कृत्वा—प्रतिपद्य। अपि—एकद्वित्र्यादिष्वपि यावज्जीवमल्पकालं वेत्यपीत्येवमर्थः। नात्येति—नातिक्रम्य गच्छति अणुव्रती न तु महाव्रती तस्य सर्वारम्भपरिग्रहविरतत्वेन समितिपरत्वेन च नृलोके यथाकामं संचाराद्दिग्विरत्यनुपपत्तेः। उक्तं च—

'सदा सामायिकस्थानां यतीनां तु यतात्मनाम्।
नदी शिक्ष्व च न स्यातां विरत्यं विरती इमे ॥' (?) [ ]

दिग्विरतिः—नियमितसीम्नोर्बहिर्यातायातनिवृत्तिः। व्रतं—गुणव्रतमित्यर्थः। नामैकदेशे हि वृत्ताः शब्दा नाम्न्यपि वर्तन्ते भीमादिवत् ॥२॥

दिग्व्रतका स्वरूप कहते हैं—

अणुव्रती जो दसों दिशाओंमें प्रसिद्ध समुद्र, नदी आदि चिह्नोंसे मर्यादा करके उसको उल्लंघन नहीं करता उसे दिग्विरति व्रत कहते हैं ॥२॥

विशेषार्थ—दिग्विरति शब्दका अर्थ है दिशाओंमें नियमित सीमासे बाहर आने-जानेसे निवृत्ति। यही इस व्रतका लक्षण है। यह नियम अणुव्रतीके लिए है, महाव्रतीके लिए नहीं है क्योंकि महाव्रती तो समस्त आरम्भ और परिग्रहसे विरत होता है और समितिका पालन करनेमें तत्पर रहता है। अतः मनुष्य लोकमें इच्छानुसार विचरण कर सकता है। ऊपर श्लोकमें जो 'अपि' शब्द है वह ग्रन्थकारके अनुसार यह बतलाता है कि एक-दो दिशाओंकी भी मर्यादा की जा सकती है तथा वह मर्यादा जीवनपर्यन्तके लिए भी होती है और कुछ समयके लिए भी होती है। पं. आशाधर जी-का यह कथन स्वामी समन्तभद्रके प्रतिकूल है। उन्होंने कहा है—'दिशाओंकी मर्यादा करके मैं इसके बाहर मृत्युपर्यन्त नहीं जाऊँगा ऐसा नियम दिग्व्रत है। लाटी संहितामें भी कहा है कि जबतक मैं सचेतन हूँ, तबतक इस शरीरसे मर्यादाके बाहर नहीं जाऊँगा। इसी तरह दिग्व्रतमें दसों दिशाओंकी मर्यादा आवश्यक है एक-दो दिशाओंकी मर्यादाको दिग्व्रत नहीं कहा है। इसी तरह पिछले अध्यायके अन्तिम श्लोकमें 'पञ्चाप्येवमणुव्रतानि'से पाँचों अणुव्रतोंके पालनके लिए सात शील कहे हैं। यहाँ भी अपि शब्द है। टीकामें कहा है कि 'अपि' शब्दसे एक या दो या तीन या चार अणुव्रत लेना चाहिए। अर्थात् एक अणुव्रतके पालनके लिए भी सात शील पाल सकता है किन्तु ऐसेको तो अणुव्रती ही नहीं कहा। सर्वार्थसिद्धि[3]में यह शंका की गयी है कि जो हिंसा आदि पाँच पापोंमें-से एकका त्याग करे क्या वह अगारी व्रती है? उत्तर दिया गया-

---

१. 'दिग्वलयं परिगणितं कृत्वाऽतोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्यै ॥'—रत्न. श्रा. ६८ श्लो.।

२. 'पूर्वस्यां दिशि गच्छामि यावद्गंगाम्बुकेवलम्।
तद्बहिर्वपुषाऽनेन न गच्छामि सचेतनः ॥'—लाटी. ६।११३।

३. अत्राह किं हिंसादीनामन्यतमस्माद्यः प्रतिनिवृत्तः स खल्वगारी व्रती? नैवम्। किं तर्हि? पञ्चतय्या अपि विरतेर्वैकल्येन विवक्षितः इत्युच्यते—'अणुव्रतोऽगारी'—सर्वार्थसि. ७।२०।

अथ दिग्व्रतेनाणुव्रतिनोऽपि महाव्रतित्वमुपपादयति—

दिग्विरत्या बहिः सीम्नः सर्वपापनिवर्तनात् ।
तप्तायोगोलकल्पोऽपि जायते यतिवद् गृही ॥३॥

सर्वपापानि—स्थूलेतरहिंसादीनि भोगोपभोगादीनि च । तप्तायोगोलकल्पः—संतप्तलोहपिण्ड इवारम्भपरिग्रहपरत्वेन सर्वत्र गमनभोजनशयनादिक्रियासु जीवोपमर्दकरत्वात् । तदुक्तम्—

'तत्तायगोलकप्पो पमत्तजीवो णिवारियप्पसुरो ।
सव्वत्थ किण्ण कुज्जा पावं तक्कारणाणुगओ ॥' [ ]

साधूनां तु समितिगुप्तिप्रधानव्रतशालिनां नायं दोष इति न तेषां दिग्विरतिव्रतम् । उक्तं च—

'अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् ।
पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥' [रत्न. श्रा. ७०] ॥३॥

अथैतदेव दृढयन्नाह—

दिग्व्रतोद्रिक्तवृत्तघ्नकषायोदयमान्द्यतः ।
महाव्रतायतेऽलक्ष्यमोहे गेहिन्यणुव्रतम् ॥४॥

नहीं है, जो पाँचोंका एकदेशत्याग करता है वही गृही अणुव्रती है। अतः ग्रन्थकारके उक्त कथन विचारणीय हैं, अस्तु। दिशाओंकी मर्यादाके स्थान प्रसिद्ध होना चाहिए जो मर्यादा देनेवाले और लेनेवालेके परिचित हों। अन्यथा भूल जानेकी सम्भावना है। यह व्रत अणुव्रती के लिए है, महाव्रतीके लिए नहीं है। महाव्रती तो समस्त आरम्भ और परिग्रहसे विरत तथा समितिमें तत्पर होता है। अतः वह मनुष्यलोकमें यथेच्छ गमनागमन कर सकता है ॥२॥

आगे दिग्व्रतके द्वारा अणुव्रतीको महाव्रतीपना सिद्ध करते हैं—

दिग्व्रतके द्वारा मर्यादाके बाहर स्थूल और सूक्ष्म हिंसा आदि सब पापोंसे विरत होनेसे तपाये हुए लोहेके पिण्डके भी समान श्रावक महाव्रतीके समान होता है ॥३॥

विशेषार्थ—जो समस्त पापोंसे विरत होता है वह महाव्रती होता है। यद्यपि श्रावककी आन्तरिक स्थिति तपाये हुए लोहेके गोलेके समान है। क्योंकि वह आरम्भ और परिग्रहमें लगा रहनेसे सर्वत्र जाने-आने, भोजन-शयन आदि क्रियाओंमें जीवोंका घात करता है। किन्तु दिशाओंकी सीमा बाँध लेनेसे की हुई मर्यादाके बाहर न वह त्रस जीवोंकी हिंसा करता है और न स्थावर जीवोंकी हिंसा करता है। तथा मर्यादाके बाहर व्यापार करनेसे प्रचुर लाभ होनेपर भी वह व्यापार नहीं करता। इससे लोभका भी निराश होता है। अतः उसे उस क्षेत्रकी अपेक्षा महाव्रतीपना प्राप्त होता है। कहा है—'मर्यादाके बाहर सूक्ष्म पापसे भी विरत होनेसे दिग्व्रतके धारण करनेवालोंके अणुव्रत पंचमहाव्रतके रूपमें परिणत हो जाते है।' समिति गुप्ति प्रधानव्रतधारी साधुओंको यह दोष नहीं होता। इसलिए उनके दिग्विरति व्रत नहीं होता ॥३॥

आगे उक्त कथनकी पुष्टि करते हैं—

दिग्व्रतके द्वारा चारित्रको घातनेवाली प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयकी मन्दताके बढ़ जानेसे गृहस्थका प्रत्याख्यानावरण नामक चारित्रमोह परिणाम इतना सूक्ष्म रह जाता है कि उसका निश्चय करना अशक्य होता है। इसीसे उसके अणुव्रत महाव्रतके समान होते हैं ॥४॥

दिग्व्रतेत्यादि। दिग्व्रतेनोद्रिक्तमुत्कर्षं नीतं वृत्तघ्नकषायाणां—प्रत्याख्यानावरणद्रव्यक्रोधादीनामुदयस्य विपाकस्य मान्द्यमनीत्कट्यं तस्मात् दिग्विरतिमन्दतरीकृतप्रत्याख्यानावरणविपाकादित्यर्थः। अलक्ष्यमोहे—निश्चेतुमशक्यभावप्रत्याख्यानावरणपरिणामे गृहिणि अणुव्रतं महाव्रता[यते महाव्रतमिवाचरति नियमित-दिग्विभा]गाद् बहिः सर्वसावद्यनिवर्तकत्वात्, न तु महाव्रतं भवति तत्प्रतिबन्धकोदयसद्भावात्। तदुक्तम्—

'प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः।
सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्पन्ते ॥
पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः।
कृतकारितानुमननैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ॥' [रत्न. श्रा. ७१-७२] ॥४॥

अथ दिग्विरत्यतिचारमाह—

[1]सीमविस्मृतिरूर्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमाः।
अज्ञानतः प्रमादाद्वा क्षेत्रवृद्धिश्च तन्मलाः ॥५॥

सीमविस्मृतिः—नियमितमर्यादाया अज्ञानतो मत्यपाटवसन्देहादिना प्रमादाद्वातिव्याकुलत्वान्यमनस्कत्वादिना स्मृतिभ्रंशः। तथाहि—केनचित् पूर्वस्यां दिशि योजनशतरूपं परिमाणं कृतमासीत्। गमनकाले च स्पष्टतया न स्मरति किं शतपरिमाणं कृतमुत पञ्चाशत्। तस्य चैवं पञ्चाशतमतिक्रामतोऽतिचारः, शतमतिक्रामतो भङ्गः सापेक्षत्वान्निरपेक्षत्वाच्चेति प्रथमोऽतिचारः। ऊर्ध्वेत्यादि। ऊर्ध्वं गिरितरुशिखरादेः, अधो ग्राम-

---

विशेषार्थ—भावकर्म और द्रव्यकर्ममें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। द्रव्यकर्मका उदय भावकर्मके उदयमें निमित्त पड़ता है और भावकर्मके उदयका निमित्त पाकर द्रव्यकर्म बन्धता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय महाव्रतकी घातक है उसके उदयमें महाव्रत नहीं होता। श्रावकके इस कषायका जबतक उदय है तबतक उसके महाव्रतरूप परिणाम नहीं हो सकते। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न होता है कि श्रावकके अणुव्रत महाव्रत कैसे हो सकते हैं। उसीके समाधानके लिए यह कथन है कि दिग्व्रत धारण करनेसे प्रत्याख्यानावरण नामक द्रव्य क्रोधादिका उदय बहुत मन्द हो जाता है और उससे उस श्रावकके प्रत्याख्यानावरण नामक चारित्रमोहरूप परिणाम भी इतने क्षीण हो जाते हैं कि उसके अस्तित्वका भी निर्णय करना कठिन होता है। फलतः मर्यादाके बाहर सर्व पापसे विरत होनेसे अणुव्रत उस क्षेत्रकी अपेक्षा महाव्रत होते हैं। स्वामी समन्तभद्रने ऐसा ही कहा है। यथा—प्रत्याख्यानावरण कषायके मन्द उदयके कारण चारित्रमोह रूप परिणाम मन्दतर होनेसे उनका अस्तित्व भी कठिनतासे ही प्रतीत होता है। इसीसे अणुव्रत महाव्रतके तुल्य प्रतीत होते हैं ॥४॥

दिग्व्रतके अतिचार कहते हैं—

अज्ञान या प्रमादसे सीमाका भूल जाना, ऊपर-नीचे और तिर्यक् प्रदेशकी मर्यादाका व्यतिक्रम तथा क्षेत्रवृद्धि ये पाँच दिग्व्रतके अतीचार हैं ॥५॥

विशेषार्थ—जो मर्यादा निर्धारित की थी, बुद्धिकी मन्दतासे या सन्देह होनेसे अथवा किसी प्रकारकी व्याकुलता होनेसे या चित्त दूसरी ओर होनेसे भूल जाना सीमविस्मृति है। जैसे, किसीने पूरब दिशामें सौ योजनका परिमाण किया था। गमन करते समय स्पष्ट रूपसे स्मरण नहीं रहा कि सौ योजनका परिमाण किया था या पचासका। ऐसी स्थितिमें यदि वह

---

१. 'ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि'—त. सू. ७।३०।

भूमिगृहकूपादेः, तिर्यक् पूर्वादिदिक्षु येऽमी भागा नियमितप्रदेशास्तेषां व्यतिक्रमा लङ्घनानि। एते च त्रयोऽनाभोगातिक्रमादिभिरेवातिचारा भवन्त्यन्यथा प्रवृत्तौ तु भङ्गा एव। क्षेत्रवृद्धिः—क्षेत्रस्य पूर्वादिदेशस्य दिग्व्रतविषयस्य ह्रस्वस्य सतो वृद्धिः पश्चिमादिक्षेत्रान्तरपरिमाणप्रक्षेपेण दीर्घीकरणम्। तथाहि—केनापि पूर्वापरदिशोः प्रत्येकं योजनशतं परिमाणीकृत्यैकत्र क्षेत्रं गमनकाले वर्धयतो व्रतसापेक्षत्वादतिचारः। यदि च अप्रणिधानात्क्षेत्रपरिमाणमतिक्रान्तं भवति तदा निवर्तितव्यं ज्ञाते वा न गन्तव्यमन्योऽपि न विसर्जनीयः। अथानाज्ञाया (अथाज्ञतया) कोऽपि गतः स्यात्तदा यत्तेन लब्धं स्वयं वा विस्मृतितो गतेन लब्धं तत्त्याज्यमिति पञ्चमः ॥५॥

अथानर्थदण्डव्रतं लक्षयति—

पीडा[1] पापोपदेशाद्यैर्देहाद्यर्थाद्विनाऽङ्गिनाम्।
अनर्थदण्डस्तत्त्यागोऽनर्थदण्डव्रतं मतम् ॥६॥

अर्थः प्रयोजनम्। उक्तं च—

'पापोदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥' [र. श्रा. ७५] ॥६॥

पचास योजनसे आगे जाता है तो अतिचार है। और यदि सौ योजनसे भी आगे जाता है तो व्रतका भंग है क्योंकि पचाससे आगे जानेमें तो व्रतकी सापेक्षता है। किन्तु सौसे भी आगे जानेपर व्रतकी सापेक्षता नहीं है। इस तरह यह प्रथम अतिचार है ॥१॥ ऊपर अर्थात् पहाड़ और वृक्षके ऊपर, नीचे अर्थात् गाँवके कुएँ वगैरहमें और तिर्यक् अर्थात् पूर्वादि दिशाओंमें ली हुई मर्यादाका उल्लंघन ऊर्ध्वातिक्रम, अधोअतिक्रम और तिर्यगतिक्रम नामक अतिचार है। ये तीनों अज्ञान या प्रमादसे होनेपर ही अतिचार होते हैं। जान-बूझकर उल्लंघन करनेपर तो व्रतका भंग ही होता है॥ क्षेत्र अर्थात् पूर्व आदि देशकी मर्यादामें कमी करके पश्चिम आदि देशकी मर्यादाको बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि नामक अतिचार है। जैसे, किसीने पूर्व और पश्चिम दिशामें-से प्रत्येकमें सौ योजन जानेका परिमाण किया। दोनों परिमाणोंको जोड़कर गमन करते समय पूरबमें १५० या पश्चिममें १५० योजन चले जाना कि हम दूसरी दिशामें कम जायेंगे यह व्रत सापेक्ष होनेसे अतिचार है। यदि असावधानीवश क्षेत्रके परिमाणका अतिक्रमण हुआ है तो वहाँसे लौट आना चाहिए और यह बात ज्ञात होनेपर जाना नहीं चाहिए। यदि कोई अज्ञानवश चला गया है तो वहाँसे जो लाभ हुआ हो उसे त्याग देना चाहिए। इस प्रकार यह पाँचवाँ अतिचार है ॥५॥

अनर्थदण्डव्रतका लक्षण कहते हैं—

अपने तथा अपने सम्बन्धियोंके किसी मन-वचन-काय सम्बन्धी प्रयोजनके बिना पापोपदेश, हिंसादान, दुश्रुति, अपध्यान और प्रमादचर्याके द्वारा प्राणियोंको पीड़ा देना अनर्थदण्ड है। और उसका त्याग अनर्थदण्ड व्रत माना है ॥६॥

विशेषार्थ—दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर भी पापके कार्य निष्प्रयोजन न करनेका नाम अनर्थदण्ड व्रत है। दण्ड कहते हैं मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको। और अनर्थका अर्थ होता है बिना प्रयोजन। बिना प्रयोजन मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिके द्वारा त्रस-स्थावर जीवोंको

---

१. 'अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं च विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥'—रत्न. श्रा. ७४ श्लो.।

अथ पापोपदेशस्वरूपं तद्विरतिं चाह—

पापोपदेशो यद्वाक्यं हिंसाकृष्यादिसंश्रयम् ।
तज्जीविभ्यो न तं दद्यान्नापि गोष्ठ्यां प्रसञ्जयेत् ॥७॥

हिंसेत्यादि । हिंसामृषावादादिभिः कृषिवाणिज्यादिभिश्च संश्रयः संबन्धो यस्य तत्तद्विषयमित्यर्थः । तज्जीविभ्यः व्याधवञ्चकचौरादिभ्यः कृषिबलकिरातादिभ्यश्च न तं दद्यात्, मृगास्तोयाशयमायाताः किमुपविष्टास्तिष्ठतेत्यादिरूपेण न प्रसञ्जयेत् पुन पुनः प्रवर्तयेत् । उक्तं च—

'विद्यावाणिज्यमषिकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम् ।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव कर्तव्यम् ॥' [पुरुषार्थ. १४२] ॥७॥

अथ हिंसोपकरणदानपरिहारमाह—

हिंसादानं विषास्त्रादिहिंसाङ्गस्पर्शनं त्यजेत् ।
पाकाद्यर्थं च नाग्न्यादि दाक्षिण्याविषयेऽर्पयेत् ॥८॥

कष्ट देना अनर्थदण्ड है। उसके पाँच भेद हैं—पापोपदेश, हिंसादान, दुश्रुति, अपध्यान और प्रमादचर्या। आचार्य समन्तभद्रने भी ऐसा ही कहा है ॥६॥

पापोपदेशका स्वरूप और उसके त्यागको कहते हैं—

जो वचन हिंसा, झूठ आदि और खेती व्यापार आदिसे सम्बन्ध रखता है उसे पापोपदेश कहते हैं। जो इनसे आजीविका करनेवाले व्याध, ठग, चोर, किसान, भील आदि हैं उन्हें पापोपदेश नहीं देना चाहिए और न गोष्ठीमें इस तरहकी चर्चाका प्रसंग लाना चाहिए ॥७॥

विशेषार्थ—पशु-पक्षियोंको कष्ट पहुँचानेवाला व्यापार, हिंसा, आरम्भ, ठगी आदिकी चर्चा करना, वह भी उन लोगोंमें जो यही काम करते हों, पापोपदेश है। उसे नहीं करना चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्रजीने तो विद्या, वाणिज्य, लेखनी, कृषि, सेवा और शिल्पसे आजीविका करनेवालोंको भी पापोपदेश देनेका निषेध किया है। इसमें षट्कर्मोंसे आजीविका करनेवाले सभी आ जाते हैं। अतः किसी भी प्रकारकी आजीविकाका उपदेश अमृतचन्द्रजीके मतसे पापोपदेश है। अनर्थदण्डके त्यागीको यह नहीं करना चाहिए।[1] लाटी संहितामें अनर्थ-दण्डविरतिको श्रावकके बारह व्रतरूपी वृक्षोंका मूल कहा है। और कहा है—एक अनर्थदण्डके त्यागसे प्राणी बिना किसी प्रयत्नके व्रती हो जाता है और उसके बिना करोड़ों प्रयत्न करने पर भी व्रती नहीं होता। उसका यह कथन यथार्थ है। यदि मनुष्य बिना प्रयोजन पाप कार्योंमें प्रवृत्ति न करे तो उसे रुपयेमें बारह आना पापकार्योंसे छुटकारा मिल सकता है ॥७॥

हिंसाके उपकरण देनेका निषेध करते हैं—

अनर्थदण्ड व्रतका पालक श्रावक प्राणिवधके साधन विष, अस्त्र आदिके देने रूप हिंसादान नामक अनर्थदण्डको छोड़े। और पारस्परिक व्यवहारके सिवाय किसी दूसरेको पकाने आदिके लिए अग्नि वगैरह न देवे ॥८॥

---

१. 'व्रतं चानर्थदण्डस्य विरतिर्गृहमेधिनाम् । द्वादशव्रतवृक्षाणामेतन्मूलमिवाद्वयम् ॥
एकस्यानर्थदण्डस्य परित्यागो न (–गेन) देहिनाम् ।
व्रतित्वं स्यादनायासान्नान्यथायास कोटिभिः' ॥—ला. सं. ६।१३५-१३६ ।

अस्त्रादि। आदिशब्देन हल-शकट-कुशि-कुद्दालादि। अङ्गं—उपकरणम्। स्पर्शनं—दानम्। अग्न्यादि—वह्निघरट्टमुसलोदूखलादि। दाक्षिण्याविषये—परस्परव्यवहारविषयादन्यत्र। उक्तं च—

'असि-धेनु-विष-हुताशन-लाङ्गल-करवाल-कार्मुकादीनाम्।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद् यत्नात्॥' [पुरुषार्थ. १४४] ॥८॥

अथ दुःश्रुत्यपध्यानयोः स्वरूपं परिहारं चाह—

चित्तकालुष्यकृत्कामहिंसाद्यर्थश्रुतश्रुतिम्।
न दुःश्रुतिमपध्यानं नार्तरौद्रात्म चान्वियात्॥९॥

कामेत्यादि। काम हिंसा आदिर्येषामारम्भादीनां ते अर्था येषां तानि कामाद्यर्थानि श्रुतानि। तत्र कामशास्त्रं—वात्स्यायनादि। हिंसाशास्त्रं—ठकादिमतम्। आरम्भपरिग्रहशास्त्रं वार्तानीतिः। साहसशास्त्रं वीरकथा। मिथ्यात्वशास्त्रं ब्रह्माद्वैतादिमतम्। मदशास्त्रं 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः' इत्यादिग्रन्थः। रागशास्त्रं वशीकरणादितन्त्रम्। तेषां श्रुतिः आकर्णनम्। उपलक्षणादर्जनाद्यपि। अपध्यानं—अपकृष्टं ध्यानमेकाग्रचिन्तानिरोधः। आर्तं ऋते दुःखे भवम्। यदि वा अर्तिः पीडा याचना च तत्र भवम्। रौद्रं—रोधयत्यपरानिति रुद्रो दुःखहेतुस्तेन कृतं तस्य वा कर्म। नान्वीयात्—नानुवर्तयेत्। दुःश्रुति—कामादिशास्त्रश्रवणलक्षणाम्। अपध्यानं च नरेन्द्रत्वखचरत्वाप्सरोविद्याधरीपरिभोगादिविषयमार्तं वैरिघाताग्निघातादिविषयं च रौद्रम्। प्रसङ्गवशादायातमपि तत्क्षणान्निवर्तयेदित्यर्थः। तदुक्तम्—

'रागादिवर्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि॥' [पुरुषार्थ. १४५]

विशेषार्थ—सभी श्रावकाचारोंमें हिंसाके साधन फरसा, तलवार, फावड़ा, आग, शस्त्र, सींग, साँकल, विष, कोड़ा, दण्डा, हल, धनुष आदि दूसरोंको देना हिंसादान कहा है। और हिंसादान न करनेका निषेध किया है। किन्तु गृहस्थोंके लिए कभी-कभी अणुव्रती गृहस्थको भी आग, मूसल, ओखली आदि दूसरे गृहस्थोंसे लेनेकी आवश्यकता होती है। यदि वह स्वयं दूसरोंको नहीं देगा तो दूसरे कैसे उसे देंगे। गृहस्थ पं. आशाधरजीको इस कठिनाईका अनुभव होगा। इसलिए उन्होंने इतना विशेष कथन करना उचित समझा कि जिनसे हमारा पारस्परिक देने-लेनेका व्यवहार चलता है उनको तो रसोई बनानेके लिए अग्नि, मूसल आदि देना चाहिए किन्तु जिनसे हमारा ऐसा व्यवहार नहीं है उन्हें रसोई बनानेके लिए भी आग वगैरह नहीं देना चाहिए। ऐसी घटनाएँ ग्रामोंमें सुनी गयीं कि अपरिचित आदमीने आग माँगी और उसी गाँवमें उससे आग लगाकर लापता हो गया। अमृतचन्द्रजीने तो तलवार, धनुष, विष, आग, हल आदि हिंसाके साधनोंको देनेका ही निषेध किया है॥८॥

दुःश्रुति और अपध्यानका स्वरूप तथा उनके त्यागको कहते हैं—

जिन शास्त्रोंमें काम, हिंसा आदिका कथन है उनके सुननेसे चित्त राग-द्वेषके आवेशसे कलुषित होता है, अतः उनके सुननेको दुःश्रुति कहते हैं यह नहीं करना चाहिए। तथा आर्त और रौद्ररूप खोटे ध्यान भी नहीं करना चाहिए॥९॥

विशेषार्थ—कुछ शास्त्र ऐसे होते हैं जिनमें मुख्य रूपसे काम भोग सम्बन्धी या हिंसा, चोरी आदिका ही कथन रहता है। जैसे, वात्स्यायनका काम सूत्र है, कोकशास्त्र है, जासूसी उपन्यास हैं, वशीकरण आदि तन्त्र आदिके ग्रन्थ हैं, आरम्भ परिग्रह विषयक शास्त्र हैं। इनके सुननेसे मन खराब होता है, पढ़कर कामविकार उत्पन्न होता है, बुरी आदतें पड़ जाती हैं अतः ऐसी पुस्तकों को या शास्त्रोंको नहीं पढ़ना चाहिए। इसी तरह अपध्यान नहीं करना

अपि च—

'आपद्धेतुषु रागरोषनिकृतिप्रायेषु दोषेष्वलं
मोहात् सर्वजनस्य चेतसि सदा सत्सु स्वभावादपि ।
तन्नाशाय च संविदे सफलवत्काव्यं कवेर्जायते,
शृङ्गारादिरसं तु सर्वजगतो मोहाय दुःखाय च ॥' [ ]

तथा—

'पापर्धिजयपराजयसंगरपरदारगमनचौर्याद्याः ।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं[1] केवलं ह्यपध्याने ॥' [पुरुषार्थ. १४१] ॥९॥

अथ प्रमादचर्यालक्षणं तत्त्यागं च श्लोकद्वयेनाह—

प्रमादचर्या विफलं क्ष्मानिलाग्न्यम्बुभूरुहाम् ।
खातव्याघातविध्यापसेकच्छेदादि नाचरेत् ॥१०॥

व्याघातः—स्वयमागच्छतो वा तस्य कपाटादिना प्रतिघातः । विध्यापः—जलादिनाऽग्नेर्विध्यापनम् । च्छेदादि—आदिशब्देन पत्रपुष्पफलत्रोटनादि । उक्तं च—

'भूखनन-वृक्षमोटन-शाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥' [पुरुषार्थ. १४३] ॥१०॥

चाहिए। एक ही विषयमें मनके लगानेको ध्यान कहते हैं। ध्यानके चार भेद हैं। उनमें आर्त, रौद्र खोटे ध्यान हैं। आर्त पीड़ा या कष्ट को कहते हैं, उसके ध्यानको आर्तध्यान कहते हैं। जैसे धर्म करनेसे स्वर्ग मिलता है और स्वर्गमें अप्सरायें होती हैं यह जानकर उनके भोग-उपभोगका चिन्तन करना भी आर्तध्यान है। इसी तरह वैरिघात आदिका चिन्तन करना रौद्रध्यान है। रुद्र कहते हैं निर्दयभावको। उससे जो ध्यान होता है वह रौद्रध्यान है। ये ध्यान भी नहीं करना चाहिए। यदि प्रसंगवश इनका ध्यान हो आवे तो तत्काल उसे दूर कर देना चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्रजीने कहा है—'रागादिको बढ़ानेवाली अज्ञानसे भरी खोटी कथाओंका कभी भी श्रवण, धारण, शिक्षण आदि नहीं करना चाहिए। और भी कहा है—'मोहवश सभी मनुष्योंके चित्तमें सदा स्वभावसे ही आपत्तिके कारण राग, द्वेष, छल, कपट आदि दोष रहते हैं। उनके विनाशके लिए कविका काव्य सफल होता है। शृङ्गार आदि रस तो समस्त जगत्को मोह और दुःख उत्पन्न करता है। तथा शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्री गमन, चोरी आदिका चिन्तन कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि उनका फल केवल पापबन्ध है' ॥९॥

प्रमादचर्याका लक्षण और उसका त्याग दो श्लोकोंमें कहते हैं—

विना प्रयोजन भूमिका खोदना, वायुको रोकना, अग्निको बुझाना, पानी सींचना. वनस्पतिका छेदन भेदन आदि करना प्रमादचर्या है। उसे नहीं करना चाहिए ॥१०॥

विशेषार्थ—विना प्रयोजन भूमिको नहीं खोदना चाहिए, विना प्रयोजन स्वयं आती हुई वायुको द्वार वगैरह बन्द करके नहीं रोकना चाहिए। विना प्रयोजन आगको पानीसे नहीं बुझाना चाहिए। विना प्रयोजन पानीको भूमि पर नहीं डालना चाहिए। विना प्रयोजन वनस्पतिका छेदन पत्र, पुष्प, फल आदिको तोड़ना नहीं चाहिए । यही बात अमृतचन्द्रजीने

---

१. फलं केवलं यस्मात्—पुरुषा. ।

तद्वच्च न सरेद्व्यर्थं न परं सारयेन्नहि[1] ।
जीवघ्नजीवान् स्वीकुर्यान्मार्जारशुनकादिकान् ॥११॥

न सरेत्—करचरणादिव्यापारं न कुर्यात् । न हीत्यादिनियमेन फलवतोऽपि न परिगृह्णीयादित्यर्थः । उक्तं च—

'मण्डल-विडाल-कुक्कुट-मयूर-शुक-सारिकादयो जीवाः ।
हितकाम्यैर्न ग्राह्याः सर्वे पापोपकारपराः ॥' [अमि. श्रा. ६।८२] ॥११॥

अथ अनर्थदण्डविरति-अतिचारत्यागमाह—

मुञ्चेत्[2]कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्याणि तदत्ययान् ।
असमीक्ष्याधिकरणं सेव्यार्थाधिकतामपि ॥१२॥

कन्दर्पः—कामस्तत्प्रधानो वा वाक्प्रयोगोऽपि कन्दर्पः, रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोग इत्यर्थः । कौत्कुच्यं—कुदिति कुत्सायां निपातानामानन्त्यात् । कुत्सितं कुचति भ्रू-नयनोष्ठनासाकरचरणमुखविकारैः संकुचतीति कुत्कुचः संकोचादिक्रियाभाक् तद्भावः कौत्कुच्यम् । प्रहासो—भण्डिमावचनं च भण्डिमोपेत-

भी कही है ।

बिना प्रयोजन पृथ्वी खोदने आदिकी तरह बिना प्रयोजन हाथ-पैर आदिको हलन चलन न स्वयं करे और न दूसरेसे करावे । तथा प्राणियोंका घात करनेवाले कुत्ता-बिल्ली आदि जन्तुओंको नहीं पाले ॥११॥

विशेषार्थ—श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रने अपने योगशास्त्रमें (३।७३-७४) अनर्थदण्डके चार ही भेद किये हैं । दुःश्रुति भेद नहीं किया । तथा जैसे आशाधरजीने परस्परके व्यवहारके अतिरिक्त आग वगैरह देनेका निषेध किया है वैसा उन्होंने भी किया है साथ ही उन्होंने पापोपदेशके सम्बन्धमें भी ऐसा ही कहा है । लिखा है—यह पापरूप उपदेश श्रावकको नहीं करना चाहिए । जो सर्वत्र पापोपदेशका नियम करनेमें असमर्थ है उनके लिए यह अपवाद कहते हैं—बन्धु, पुत्र आदिको पापका उपदेश न करना अशक्य है क्योंकि वर्षाकाल आनेपर खेत जोतने बीज बोने आदिके लिए कहना ही होगा । अतः परस्परके व्यवहारसे बाहरके लोगोंमें पापोपदेश नहीं करना चाहिए[3] । यह उनका मत है । अमृतचन्द्राचार्यने जुआ खेलनेको भी अनर्थदण्ड माना है । लिखा है—'जुआ सब अनर्थोंमें (सब व्यसनोंमें) प्रथम है, सन्तोष-का नाशक है, मायाचारका घर है, चोरी और असत्यका स्थान है । इसे दूरसे ही छोड़ना चाहिए[4] ।' अमितगतिने कुत्ता, बिल्ली, मुर्गा, मोर, तोता, मैना आदिको पालनेका निषेध किया है ॥१०-११॥

अनर्थदण्डव्रतके अतिचारोंको छोड़नेके लिए कहते हैं—

अनर्थदण्डके त्यागीको कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और सेवनीय पदार्थोंकी अधिकता इन अतिचारोंको छोड़ना चाहिए ॥१२॥

१. येन्महीम् मु. ।
२. 'कन्दर्पकौत्कुच्य मौखर्यासमीक्ष्याधिकरण भोगोपभोगानर्थक्यानि ॥'—त. सू. ७।३२ ।
३. वृषभान् दमय क्षेत्रं कृष षण्ढय वाजिनः ।
दाक्षिण्याविषये पापोपदेशोऽयं न कल्पते ॥—योगशास्त्र ३।७६ ।
४. 'सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः ।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥'—पुरुषार्थ. १४६ श्लो. ।

कायव्यापारप्रयुक्तमित्यर्थः। एषः पूर्वश्च द्वावपि प्रमादचर्याविरतेरतीचारौ। मौखर्यं—मुखमस्यास्तीति मुखरोऽनालोचितभाषी वाचालस्तस्य भावो धाष्टर्यप्रायमसत्यासंबद्धबहुप्रलापित्वम्। अयं च पापोपदेशविरतेरतिचारो मौखर्ये सति पापोपदेशसंभवादिति तृतीयः। असमीक्ष्याधिकरणं—प्रयोजनमनालोच्य कार्यस्याधिक्येन करणम्। यथा बहुमपि कटं पातयत यावता मे प्रयोजनं तावन्तमहं क्रेष्यामि। शेषमन्ये बहवोऽर्थिनः सन्ति तेऽपि क्रेष्यन्त्यहं वा विक्रापयिष्यामीत्येवमनालोच्य बह्वारम्भतृणाजीविभिः कारयति। एवं काष्ठच्छेदेष्टकापाकादिष्वपि वाच्यम्। तथा हिंसोपकरणं हिंसोपकरणान्तरेण संयुक्तं धारयति। यथा संयुक्तमुलूखलेन मुसलं, हलेन फालं, शकटेन युगं, धनुषा शरानित्यादि। तथा सति हि यः कश्चित्संयुक्तमुलूखलमुसलादिकमाददीत, वियुक्ते तु तस्मिन् सुखेन परः प्रतिषेद्धुं शक्यते। एतच्च हिंसोपकारिदानविरतेरतिचारः। सेव्यार्थाधिकतां—सेव्यस्य भोगोपभोगलक्षणस्य जनको यावानर्थस्ततोऽधिकस्य तस्य करणं भोगोपभोगानर्थक्यमित्यर्थः। अत्रायं सम्प्रदायः। यदि बहूनि स्नानसाधनानि तैलखल्यामलकादीनि गृह्णाति तदा लौल्येन बहवः स्नानार्थं तडागादौ गच्छन्ति ततश्च पूर्तरकाप्कायकादिवधोऽधिकः स्यान्न चैवं युज्यते। ततो गृह एव स्नातव्यम्। तदसंभवे तु तैलादिभिर्गृह एव शिरो घर्षयित्वा तानि सर्वाणि साधयित्वा तडागादितटे निविष्टो गालितजलाञ्जलिभिः स्नायात्। तथा येषु पुष्पादिषु संसक्तिः संभवति तानि परिहरेदिति सर्वत्र वक्तव्यमिति। एषोऽपि प्रमादचर्याविरतेरतिचारः॥१२॥

विशेषार्थ—अनर्थदण्डविरतको उस व्रतके अतिचारोंको छोड़ना चाहिए। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—कन्दर्प कामविकारको कहते हैं। जो वचन कामविकारको उत्पन्न करनेवाले होते हैं या जिनमें उसीकी प्रधानता होती है उन वचनोंके प्रयोगको भी कन्दर्प कहते हैं। अतः कन्दर्पका अर्थ है—रागकी तीव्रतासे हँसीसे मिश्रित असभ्य वचनोंका प्रयोग। भौं, आँख, ओष्ठ, नाक, हाथ, पैर और मुखके विकारोंके द्वारा कुचेष्टाके भावको कौत्कुच्य कहते हैं। अर्थात् परिहास और भाण्डपनेको लिये हुए शारीरिक कुचेष्टा कौत्कुच्य है। कन्दर्प और कौत्कुच्य ये दोनों प्रमादचर्याविरतिरूप अनर्थदण्डव्रतके अतिचार हैं। बिना विचारे अण्ट-सण्ट बोलनेवालेको मुखर कहते हैं और मुखरके भावको मौखर्य कहते हैं। अर्थात् धृष्टताको लिए हुए असत्य और असम्बद्ध बकवाद करना मौखर्य है। यह पापोपदेशविरति नामक अनर्थदण्डव्रतका अतिचार है क्योंकि मौखर्य होनेपर पापोपदेशका होना सम्भव होता है यह तीसरा अतिचार है। आवश्यकताका विचार किये बिना अधिक कार्य करना असमीक्ष्याधिकरण नामक चतुर्थ अतिचार है। जैसे तृणोंकी चटाई बनानेवालोंसे कहना, बहुत-सी चटाइयाँ लाना। जितनी मुझे आवश्यकता होगी मैं खरीद लूँगा। बाकीको और भी बहुत-से खरीदनेवाले हैं वे खरीद लेंगे। नहीं तो मैं बिकवा दूँगा। इस प्रकार बिना विचारे बहुत आरम्भ कराना असमीक्ष्याधिकरण है। इसी प्रकार लकड़ी काटनेवालोंसे बहुत सी लकड़ी कटवा लेना, ईंट पकानेवालोंसे बहुत-सी ईंटे पकवा लेना भी असमीक्ष्याधिकरण है। तथा अपने उपकरण हिंसाके अन्य उपकरणोंके साथ रखना, जैसे ओखलीके पास मूसल रखना, हलके साथ फाली रखना, गाड़ीके साथ जुआ रखना, धनुषके साथ बाण रखना आदि। ऐसा होनेसे कोई भी ओखली और मूसल ले जाता है। यदि दोनों अलग-अलग रखे हों तो लेनेवालेको सरलतासे टाला जा सकता है कि हमारे पास मूसल नहीं है या ओखली नहीं है। यह हिंसोपकरणदान विरतिका अतिचार है। सेवनीय अर्थात् भोगोपभोगका जनक जितना अर्थ है उससे अधिक करना सेव्यार्थाधिकता नामक अतिचार है

१. पूरकायाप्का. भ. कु. च.।

अथ भोगोपभोगपरिमाणाख्यतृतीयगुणव्रतस्वीकरणविधिमाह—

भोगोऽयमियान् सेव्यः समयमियन्तं न[1] वोपभोगोऽपि ।
इति परिमायानिच्छंस्तावधिको तत्प्रमाव्रतं श्रयतु ॥१३॥

भोग इत्यादि । अयं भोग्यतया प्रसिद्धो भोगो माल्यताम्बूलादिः समयमियन्तं यावज्जीवं दिवसमासादि-परिच्छिन्नं वा कालं न सेव्यो नोपयोक्तव्यो मया । इयान्वा इदं परिमाणः सेव्य इति संबन्धः कार्यः । एवमुपभोगेऽपि ॥१३॥

अथ भोगोपभोगयोर्लक्षणं तत्त्यागस्य च यावज्जीविकस्य नियतकालस्य च संज्ञाविशेषमन्वाचष्टे—

भोगः सेव्यः सकृदुपभोगस्तु पुनः-पुनः स्रगम्बरवत् ।
तत्परिहारः परिमितकालो नियमो यमश्च कालान्तः ॥१४॥

उसका अर्थ होता है भोगोपभोगके पदार्थोंका अनावश्यक संग्रह करना। इससे आशय यह है कि यदि स्नानके साधन तेल, साबुन वगैरह बहुत हों तो बहुत-से आदमी तालाब आदिमें स्नानके लिए जाते हैं उससे जलकायके जीवोंका अधिक वध होता है। ऐसा करना उचित नहीं है अतः घरपर ही स्नान करना चाहिए। यह सम्भव न हो तो घरपर ही तेल आदि सिरमें लगाकर तालाबके किनारे बैठकर छने जलसे अंजुली भरकर स्नान करे। तथा जिन पुष्प आदिमें आसक्ति हो उन्हें त्याग दे। अन्यथा यह छठा भी प्रमाद विरतिका अतिचार है ॥१२॥

अब भोगोपभोग परिमाण नामक तीसरे गुणव्रतको स्वीकार करनेकी विधि कहते हैं—

यह इतना भोग और यह इतना उपभोग मेरे द्वारा इतने समय तक सेवन करने योग्य है। अथवा यह इतना भोग और यह इतना उपभोग मेरे द्वारा इतने समय तक सेवन करने योग्य नहीं है। इस प्रकार परिमाण करके सेवन करनेके योग्य और सेवन करनेके अयोग्य रूपसे प्रतिज्ञा किये गये भोग और उपभोगसे अधिककी इच्छा नहीं करनेवाला गुणव्रती श्रावक भोगोपभोग परिमाण व्रतको स्वीकार करे ॥१३॥

विशेषार्थ—भोगोपभोग परिमाणव्रतमें भोग और उपभोगका परिमाण दो रूपसे किया जाता है—एक विधि रूपसे और दूसरा निषेध रूपसे। मैं इस इतने भोग और उपभोगका सेवन इतने समय तक करूँगा, यह विधिरूप है। और मैं इस इतने भोग और उपभोगका सेवन इतने समय तक नहीं करूँगा। यह निषेध रूप है। इस तरह दोनों प्रकारसे त्यागका कथन अन्य श्रावकाचारोंमें नहीं किया है। यद्यपि एकसे दूसरेका ग्रहण स्वतः हो जाता है ॥१३॥

आगे भोग और उपभोगका लक्षण तथा यावज्जीवन और नियत समयके लिए किये गये त्यागके नाम बतलाते हैं—

जो एक बार ही सेवन किया जाता है, एक बार भोगकर पुनः नहीं भोगा जाता, उसे भोग कहते हैं। जैसे फूल-माला। और जो बार-बार सेवन किया जाता है अर्थात् एक बार सेवन करके पुनः सेवन किया जाता है वह उपभोग है। जैसे वस्त्र। एक-दो आदि दिन-मास आदिके परिमित कालके लिए भोग-उपभोगके त्यागको नियम कहते हैं। और मरण पर्यन्त किये गये त्यागको यम कहते हैं ॥१४॥

१. -र्थ मयोप- । न्तं सदोप-। मु. ।

सगम्बरवत् । उपलक्षणात् माल्यचन्दनादिर्भोगो वस्त्राभरणादिश्चोपभोग इत्यर्थः । उक्तं च—

'भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः ।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः ॥' [र. श्रा. ८३]

कालान्तः—मरणावसानः । उक्तं च—

'नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे ।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥' [रत्न. श्रा. ८७] ॥१४॥

अथ भोगोपभोगपरिसंख्यानस्य त्रसघातबहुवधप्रमादानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात्पञ्चविधत्वख्यापनार्थमाह—

**पलमधुमद्यवदखिलस्त्रसबहुघातप्रमादविषयोऽर्थः ।
त्याज्योऽन्यथाप्यनिष्टोऽनुपसेव्यश्च व्रताद्धि फलमिष्टम् ॥१५॥**

त्रसघातविषयः—अन्तःसुषिरप्रायं नालीनलपलक्या-मृणालनालप्रमुखमागन्तुजन्तूनां सम्मूर्छिमजन्तूनां च योग्यमध्यावकाशम् । तथा बहुजन्तुयोनिस्थानं केतकी-निम्बार्जुनारणिशिग्रुपुष्पमधूकबिल्वादि च वस्तु । बहुघातविषयः—अनन्तकायिकं गुडूचीमूलकलशुनार्द्रशृङ्गवेरादिकम् । उक्तं च—

'अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥' [र. श्रा. ८५]

विशेषार्थ—तत्त्वार्थ सूत्रमें[1] इस व्रतका नाम उपभोगपरिभोग परिमाण है। और टीकाकार पूज्यपाद स्वामीने जो एक ही बार वस्तु भोगी जाती है उसे उपभोग और जो बार-बार भोगी जाये उसे परिभोग कहा है। सोमदेवने[2] भोगपरिभोग परिमाण नाम दिया है और जो एक बार सेवन किया जाये उसे भोग तथा जो बार-बार सेवन किया जाये उसे परिभोग कहा है। स्वामी समन्तभद्रके अनुसार तो 'जो एक बार भोगनेमें आता है वह भोग है जैसे भोजन। और जो बार-बार भोगा जा सके वह उपभोग है जैसे वस्त्र। तथा उनका त्याग कुछ समयके लिए करना नियम है और जीवन पर्यन्तके लिए करना यम है' ॥१४॥

आगे त्रसघात, बहुघात, प्रमादविषय, अनिष्ट और अनुपसेव्य पदार्थोंके त्यागरूप पाँच व्रतोंका भी अन्तर्भाव इसी व्रतमें करते हैं—

भोगोपभोग परिमाणव्रतीको मांस, मधु और मदिराकी तरह जिनमें त्रस जीवोंका घात होता है या बहुत जीवोंका घात होता है या जिसके सेवनसे प्रमाद सताता है ऐसे समस्त पदार्थ छोड़ने चाहिए। और जिसमें त्रसघात आदि नहीं होता किन्तु अपनेको इष्ट नहीं है या प्रकृतिके अनुकूल नहीं है तथा उच्च कुलवालोंके सेवनके अयोग्य है उन्हें भी छोड़ना चाहिए, क्योंकि व्रतसे इष्ट फलकी प्राप्ति होती है ॥१५॥

विशेषार्थ—स्वामी समन्तभद्रने भोगोपभोग परिमाणव्रतका कथन करते हुए कहा[3] है कि जिन भगवान्‌के चरणोंकी शरणमें आये हुएको त्रसघातसे बचनेके लिए मांस और मधु तथा प्रमादसे बचनेके लिए मद्यपान छोड़ना चाहिए। पूज्यपाद स्वामीने भी मधु, मद्य,

---

१. सर्वार्थ. ७।२१

२. 'यः सकृत्सेव्यते भावः स भोगो भोजनादिकः । भूषादिः परिभोगः स्यात्पौनःपुन्येन सेवनात् ॥'—सोम. उपा. ७५९ श्लो. ।

३. त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये ।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥—र. श्रा. ८४ श्लो. ।

प्रमादविषयः—दूषिविषभाङ्गिका धत्तूरकादिवस्तु। अर्थः—इन्द्रियोपभोग्यं धनं च। एतेन धनार्थं क्रूरव्यापाराणामपि त्याज्यत्वमुक्तं स्यात्। अन्यथापि—त्रसघाताद्यविषयोऽप्यर्थो योऽनिष्टो यदा स्वस्यानभिमतः प्रकृतिसात्मको वा न भवति सोऽपि तदा त्याज्यः।

उक्तं च—

'अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवा-निशोपभोग्यतया ॥' [पुरुषार्थ. १६४]

अनुपसेव्यः इष्टोऽपि शिष्टानां शीलनायोग्यश्चित्रवस्त्रविकृतवेषाभरणादिरुद्गारलाला-मूत्रपुरीष-श्लेष्मादिश्च।

मांसको सदा छोड़नेके लिए कहा है। और उन्हींके अनुसार चारित्रसारमें कथन है। श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रने भी मद्य, मांस, मधु, मक्खन, रात्रिभोजन आदिका त्याग इसी व्रतमें कराया है। किन्तु अमृतचन्द्रजीने अपने पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें भोगोपभोग परिमाण-व्रतीसे इस तरहका कोई त्याग नहीं कराया। और यही उचित है; क्योंकि जब प्रारम्भमें ही अष्टमूल गुणोंके कथनमें मद्य-मांस आदिका त्याग कराया जा चुका तब भोगोपभोग परिमाणव्रतमें उनके त्यागकी चर्चा करना भी उचित नहीं है। इसीसे पं. आशाधरजीने स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्ड श्रावकाचारका अनुसरण करते हुए भी मद्य-मांसके त्यागकी बात न कहकर मद्य-मांस-मदिराको तरह ही त्रसघात आदिवाले अन्य पदार्थोंके त्यागकी बात कही है। किन्तु रत्नकरण्डमें तो अष्टमूलगुणोंके कथनमें मद्य, मांस, मधुका त्याग आ चुका है। सम्भवतः इसीसे स्वामीजीने जिन भगवान्के चरणोंकी शरणमें आये हुओंसे मद्य-मांस छोड़नेके लिए कहा है। किन्तु फिर भी यह शंका रहती है कि यहाँ यह कहनेकी आवश्यकता ही क्या थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अष्टमूल गुणोंकी परम्परा बारह व्रतोंकी तरह प्राचीन नहीं है इसीसे उत्तर कालमें अष्टमूल गुण परिवर्तित हो गये किन्तु बारह व्रतोंमें उस तरहका परिवर्तन नहीं हुआ। यद्यपि मद्य-मांस अभक्ष्य माने जाते रहे हैं किन्तु प्रारम्भसे ही उनके त्यागपर जोर उत्तरकालमें ही दिया गया है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके लिए उनके त्यागकी कोई चर्चा कहीं नहीं मिलती। अस्तु, पं. आशाधरजीने कहा है कि जिस प्रकार त्रसघातका आश्रय होनेसे मांस त्यागा जाता है, बहुघातका आश्रय होनेसे मधुका त्याग किया जाता है और प्रमादका आश्रय होनेसे मद्य त्यागा जाता है वैसे ही जिसमें भी त्रसघात आदि हों उन्हें छोड़ देना चाहिए। जैसे जिनकी नालके मध्यमें छिद्र होते हैं, जैसे कमलकी नाल है जिनमें बाहरसे आनेवाले जीव और सम्मूर्छन जीव रहते हैं, तथा अन्य भी बहुत जीवोंके स्थान केतकीके फूल, नीमके फूल, सहजनके फूल, अरणिके फूल, महुआ आदि फल नहीं खाना चाहिए। बहुघातवाले गुरुच, मूली, लहसुन, अदरक आदि, नशा करनेवाले भाँग, धतूरा आदि सेवन नहीं करना चाहिए। इससे धनोपार्जनके लिए क्रूर कर्मवाले व्यापारोंको भी त्याज्य समझना चाहिए। तथा धर्मके अभिलाषीको जिसमें त्रसघात आदि तो नहीं होते किन्तु अपनेको इष्ट नहीं है या अपनी प्रकृतिके अनुकूल नहीं है उसे भी सदाके लिए छोड़ देना चाहिए। तथा जो इष्ट होनेपर भी शिष्ट पुरुषोंके सेवनके अयोग्य है जैसे चित्र-विचित्र वस्त्र, विकृत वेश, आभूषण आदि लार, मूत्र, विष्टा, कफ आदि। उनका भी त्याग करना चाहिये। इनका त्याग करनेमें हेतु यह है कि जिस वस्तुका त्याग नहीं है उसका सेवन न करनेपर भी उसके त्यागसे होनेवाला फल नहीं प्राप्त होता और इसका कारण यह है

उक्तं च—

'यदनिष्टं तद् व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योगाद् व्रतं भवति ॥' [र. श्रा. ८६]॥१५॥

अथोक्तमेवार्थं संव्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं श्लोकत्रयेणाह—

[1]नालीसूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादि वर्जयेत् ।
आजन्म तद्भुजां ह्यल्पं फलं घातश्च भूयसाम् ॥१६॥

नालीत्यादि ।

'यदन्तःसुषिरप्रायं हेयं नालीनलादि तत् ।
अनन्तकायिकप्रायं वल्लीकन्दादि च त्यजेत् ॥' [सो. उपा. ३२९] ॥१६॥

अनन्तकायाः—साधारणशरीरिणः । उक्तं च—

कि उनकी ओर कभी भी मनकी प्रवृत्ति जा सकती है इसलिए उनका व्रत ले लेनेसे ही इष्ट फलकी प्राप्ति होती है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें भी कहा है कि जो अनिष्ट हो उसका व्रत लेवे और जो सेवनके अयोग्य हो उसे भी छोड़े, क्योंकि योग्य विषयसे अभिप्रायपूर्वक विरत होनेसे तो व्रत होता है। तथा अल्पफल और बहुघात होनेसे मूली, अदरक, मक्खन, नीम और केतकीके फूलको भी त्याज्य कहा है। पूज्यपाद स्वामीने भी रत्नकरण्डके ही कथनका अनुसरण किया है। किन्तु अनिष्टको स्पष्ट करते हुए कहा है कि सवारी और आभरण आदिमें मुझे इतना ही इष्ट है इस तरह अनिष्टसे निवृत्त होना चाहिए। यह निवर्तन कुछ कालके लिए भी होता है और जीवन पर्यन्तके लिए भी होता है।' चारित्रसारमें पूज्यपादका ही अनुसरण है। सर्वार्थसिद्धिमें अनुपसेव्यकी चर्चा नहीं है। चारित्रसारमें चित्र-विचित्र वेष, वस्त्र, आभरण आदिको अनुपसेव्य कहा है। अमृतचन्द्रजीने पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें (१६२-१६५ श्लो.) भी अनन्तकायको और मक्खनको त्याज्य कहा है और लिखा है कि जो परिमित भोगोंसे सन्तुष्ट होकर बहुत-से भोगोंको छोड़ देता है वह बहुत-सी हिंसासे विरत होता है अतः उसके विशिष्ट अहिंसा होती है। सोमदेवने भी अपने उपासकाध्ययनमें प्याज, केतकी और नीमके फूल तथा सूरणको आजन्म त्याज्य कहा है ॥१५॥

आगे उक्त कथनको तीन श्लोकोंके द्वारा कहते हैं—

धर्मका अभिलाषी श्रावक नाली, सूरण, कलींदा, द्रोण पुष्प आदि जीवन पर्यन्त छोड़े। क्योंकि उनको खानेवालोंका फल तो थोड़ा होता है अर्थात् जितना समय खानेमें लगता है उतने समय तक ही स्वाद आता है किन्तु उनके खानेसे उनमें रहनेवाले बहुत-से जीवोंका घात होता है ॥१६॥

विशेषार्थ—अमृतचन्द्रजीने अनन्तकाय वनस्पतियोंके त्यागपर जोर दिया है; क्योंकि एकके मारनेपर सब मर जाते हैं। सोमदेवजीने भी अनन्तकायिक नाली, लता, कन्द आदिका निषेध किया है ॥१६॥

उक्त कथनको ही व्रतकी दृढ़ताके लिए पुनः विशेष रूपसे कहते हैं—

१. 'पलाण्डुकेतकीनिम्बसुमनःसूरणादिकम् । त्यजेदाजन्म तद्रूपबहुप्राणिसमाश्रयम् ॥'
—सोम. उपासका., ७६२ श्लो.

२. रत्न. श्रा. ८५-८६ श्लो.।

३. सर्वा. सि. ७।२१ ।

अनन्तकायाः सर्वेऽपि सदा हेया दयापरैः ।
यदेकमपि तं हन्तुं प्रवृत्तो हन्त्यनन्तकान् ॥१७॥

'एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान् यतस्ततोऽवश्यम् ।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ॥' [पुरुषा. १६२] ॥१७॥

आमगोरससंपृक्तं द्विदलं प्रायशोऽनवम् ।
वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकं च नाहरेत् ॥१८॥

द्विदलं—मुद्गमाषादि । उक्तं च—

'आमगोरससंपृक्त-द्विदलादिषु जन्तवः ।
दृष्टाः केवलिभिः सूक्ष्मास्तस्मात्तानि विवर्जयेत् ॥' [योगशा. ३।७१]

अनवं—पुराणम् । प्रायग्रहणात्पुराणस्यापि चिरकालकृष्णीभूतकुलित्थादिरदृष्टजन्तुसम्मूर्छनस्याप्रतिषेधः । उक्तं च—

दयालु श्रावकोंको सदा सभी अनन्तकाय वनस्पति त्यागनी चाहिए, क्योंकि उनमें-से जो एक भी संख्यावाली अनन्तकाय वनस्पतिको खाने आदिके द्वारा मारनेमें प्रवृत्त होता है वह अनन्त जीवोंका घात करता है ॥१७॥

विशेषार्थ—जिनमें अनन्त जीवोंका आश्रय होता है उन्हें अनन्तकाय कहते हैं। मूल आदिसे पैदा होनेवाली वनस्पति अनन्तकाय होती है। इसके सात प्रकार हैं—एक जो मूलसे पैदा होती है जैसे अदरक, हल्दी वगैरह। दूसरी जो अग्र भाग बोनेसे पैदा होती है जैसे नेत्रबाला। तीसरी जो पर्वसे पैदा होती है जैसे ईख, बेंत वगैरह। चौथी कन्दसे पैदा होती है जैसे प्याज, सूरण वगैरह। पाँचवीं जो स्कन्धसे पैदा होती है, जैसे ढाक, सलई वगैरह। छठी, जो बीजसे पैदा होती है, जैसे गेहूँ, धान वगैरह। सातवीं सम्मूर्छिम, जो नियत बीजके अभावमें अपने योग्य पुद्गलोंसे ही शरीर प्राप्त करती है जैसे घास वगैरह। गोम्मटसारमें कहा है कि ये वनस्पतियाँ प्रत्येक भी होती हैं और अनन्तकाय भी होती हैं। उनके आश्रयसे उनमें निगोदिया जीवोंका आवास रहता है। धवला टीकामें कहा है कि प्रत्येक शरीर वनस्पतिके आश्रयसे बादर निगोद जीव रहते हैं ऐसा आगममें कहा है। जैसे थूहर, अदरख, मूली वगैरह। अतः इनका भक्षण नहीं करना चाहिए। क्योंकि निगोदिया[3] साधारणकायके अनन्त जीवोंका एक साथ जन्म और एक साथ मरण होता है। एकके मरने पर सब जीव मर जाते हैं ॥१७॥

दयालु श्रावक कच्चे अर्थात् जिसे आगपर नहीं पकाया गया है ऐसे दूध, दही और बिना पकाये दूधसे तैयार हुए मठेके साथ मिले हुए द्विदल अर्थात् मूँग, उड़द आदि धान्यको न खावे। तथा प्रायः करके पुराने द्विदलको न खावे। तथा वर्षा ऋतुमें बिना दले हुए द्विदलको और पत्तेकी शाक-भाजीको न खावे ॥१८॥

१. 'मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंदबीजबीजरुहा । सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥'
—गो. सार जी., १८६ गाथा।

२. 'बादरनिगोदप्रतिष्ठिताश्चार्षान्तरेषु श्रूयते । के ते ? स्नुग्गार्दकमूलकादयः ॥—पु. १, पृ. १७१।

३. 'जत्थेक्क मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं ।
वक्कमई जत्थ एक्क वक्कमणं तत्थ णंताणं ॥'—गो. जी., गा. १९३।

'द्विदलं द्विदलं प्राश्यं प्रायेणानवतां गतम् ।
शिम्बयः सकलास्त्याज्याः साधिताः सकलाश्च याः ॥' [सो. उपा. ३३०]

अदलितं—अकृतद्विधाभावं द्विदलम् । प्रावृषि हि मुद्गादीनामन्तःप्ररोहस्यायुर्वेदप्रसिद्धत्वात् त्रससंमूर्छनस्य च दृष्टत्वेन संभाव्यमानत्वादभोज्यत्वम् । एतेन विरूढानामपि तेषां निषेध उक्तः स्यात् । अत्र वर्षासु त्रसस्थावरसंसक्तबहुलत्वात्पत्रशाकस्य ॥१८॥

अथैतद्व्रतस्य विशेषादानृशंस्यसिद्ध्यङ्गत्वमुपदिशति—

भोगोपभोगकृशनात्कृशीकृतधनस्पृहः ।
धनाय कोट्टपालादिक्रियाः क्रूराः करोति कः ॥१९॥

विशेषार्थ—कच्चे दूध, कच्चे दूधसे जमे दही तथा उससे बने मठेमें मिले द्विदलको अभक्ष्य कहा है, क्योंकि आगममें उसमें बहुत सूक्ष्म जीवोंकी उत्पत्ति कही है । लोकव्यवहार-में दूध कच्चा हो या पकाया हो उसमें और उससे बने दही आदिमें मिलाये द्विदलको नहीं खाया जाता । यहाँ केवल कच्चे दूध और उससे बने दही आदिमें मिले द्विदलको त्याज्य कहा है अर्थात् पकाये दूध और उससे बने दही आदिमें मिले द्विदलको त्याज्य नहीं कहा । किन्तु पं. आशाधरजीसे पूर्वके किसी दिगम्बराचार्य प्रणीत शास्त्रमें द्विदलके सम्बन्धमें कोई कथन हमारे देखनेमें नहीं आया । हाँ, श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रके योगशास्त्रमें यह कथन अवश्य है और सम्भवतः आशाधरजीने वहींसे इसे लिया है क्योंकि उनके सागारधर्मामृत-पर योगशास्त्रका भी प्रभाव है । अस्तु, इसी तरह प्रायः पुराना द्विदल भी नहीं खाना चाहिए । सोमदेव सूरिने भी पुराने द्विदलका ही त्याग कराया है । यहाँ प्रायः इसलिए कहा है कि चिरकाल होनेसे काले हो गये कुलथे आदिमें यदि सम्मूर्छन जन्तु दृष्टिगोचर न हों तो उसके खानेका निषेध नहीं है ऐसा पं. आशाधरजीने अपनी टीकामें लिखा है । वर्षाऋतुमें मूँग आदिके अन्दर अंकुर पैदा हो जाता है ऐसा आयुर्वेदमें प्रसिद्ध है । तथा सम्मूर्छन त्रस-जीवोंकी भी सम्भावना रहती है : अतः वर्षाऋतुमें द्विदलको बिना दले नहीं खाना चाहिए । तथा वर्षाऋतुमें पत्तेके शाकमें त्रस और स्थावर जीवोंका संसर्ग विशेष हो जाता है इसलिए उसे भी नहीं खाना चाहिए । हरे फलादिरूप शाकके खानेका निषेध नहीं है । किन्तु लाटी संहितामें तो सभी शाक पत्रोंको सदा न खानेका विधान किया है । लिखा है कि 'उनमें अवश्य ही सूक्ष्म त्रस जीव रहते हैं । जिनमें-से कुछ दृष्टिगोचर भी होते हैं । वे उस शाक-पत्रके आश्रयको कभी नहीं छोड़ते । इसलिए आत्महितैषी धर्मार्थी पुरुषको और सम्यग्दर्शनसे युक्त प्रथम प्रतिमाधारी श्रावकको पानसे लेकर सब पत्तेवाले शाक नहीं खाने चाहिए ॥१८॥

आगे कहते हैं कि इस व्रतके पालनसे क्रूर कर्मोंका भी त्याग हो जाता है—

विवेक पूर्वक भोगोपभोगको कम करनेसे जिसकी धनकी लालसा कम हो गयी है ऐसा कौन पुरुष धनके लिए कोतवाल आदिकी क्रूर आजीविका करेगा अर्थात् कोई नहीं करेगा ॥१९॥

---

१. 'आमगोरससंपृक्तं द्विदलं पुष्पितौदनम् । दध्यहर्द्वितयातीतं कुथितान्नं च वर्जयेत् ॥'—योगशास्त्र ३।७।

२. 'शाकपत्राणि सर्वाणि नादेयानि कदाचन । श्रावकैर्मांसदोषस्य वर्जनार्थं प्रयत्नतः ।
तत्रावश्यं त्रसाः सूक्ष्माः केचित्स्युर्दृष्टिगोचराः । न त्यजन्ति कदाचित्तं शाकपत्राश्रयं मनाक् ॥
तस्माद्धर्मार्थिना नूनमात्मनो हितमिच्छता । आताम्बूलं दलं त्याज्यं श्रावकैर्दर्शनान्वितैः ॥'
—लाटी सं. २।३५-३७ ।

कोट्टपालादि । आदिशब्देन गुप्तिपाल-वीतपाल-शौल्किकादि । क्रूरा:—प्राणिघातकर्कशा: । उक्तं च—

'भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा ।
अधिगम्य वस्तु तत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ॥' [पुरुषार्थ. १६१] ॥१९॥

अथ भोगोपभोगपरिमाणव्रतातिचारपञ्चकं लक्षयति—

सचित्तं तेन संबद्धं संमिश्रं तेन भोजनम् ।
दुष्पक्वमभिषवं भुञ्जानोऽत्येति तद्व्रतम् ॥२०॥

सचित्तं चेतनावद्द्रव्यं हरितकायमपक्वकर्कट्यादि । त्रसबहुघातेत्यादिना निषिद्धेऽप्यत्र प्रवृत्तौ भङ्गसद्भावेऽप्यतिचाराभिधानं व्रतसापेक्षस्याप्रणिधानातिक्रमादिना प्रवृत्तौ द्रष्टव्यमिति प्रथमः । तेन संबद्धं—सचित्तेनोपश्लिष्टं सचेतनवृक्षादिसंबद्धं गोंदादिकं पक्वफलादिकं वा सचित्तान्तर्बीजं खर्जूराम्रादि च । तद्भक्षणं हि सचित्तभोजनवर्जकस्य प्रमादादिना सावद्याहारप्रवृत्तिरूपत्वादतिचारः । अथवा बीजं त्यक्ष्यामि तस्यैव सचेतनत्वात् कटाहं तु भक्षयिष्यामि तस्याचेतनत्वादिति बुद्ध्या पक्वं खर्जूरादिफलं मुखे प्रक्षिपतः सचित्तवर्जकस्य सचित्तप्रतिबद्धाहारोऽसौ द्वितीयः । संमिश्रं तेन सचित्तेन व्यतिकीर्णं विभक्तुमशक्यं सूक्ष्मजन्तुकमित्यर्थः । अथवा सचित्तशबलं तत्संमिश्रं यथा आर्द्रकदाडिमबीजचिर्भटादिमिश्रं पूरणादिकं तिलमिश्रं वा यवधानादिकम् । अयमपि पूर्ववदतीचारस्तृतीयः । दुष्पक्वं—सान्तस्तण्डुलभावेन अतिक्लेदनेन वा दुष्टं पक्वं मन्दपक्वं वा दुष्पक्वम् । तच्चार्धस्विन्नं—पृथुकतण्डुलयवगोधूमस्थूलमण्डकफलादिकमामदोषात्रहत्वेनैहिकप्रत्यवायकारणम् । उक्तं च—

विशेषार्थ—टीकामें 'आदि' शब्दसे गुप्तिपाल, वीतपाल और शौल्किकके कार्यका निषेध किया है। इनमें-से प्रारम्भके दो पद तो सुरक्षा सम्बन्धी प्रतीत होते हैं और अन्तिम कराधिकारीका पद है। इनमें कड़ाई करना पड़ता है। अमृतचन्द्रजीने भोगोपभोगको ही त्याज्य कहा है क्योंकि वही हिंसाका मूल है ॥१९॥

आगे भोगोपभोग व्रतके पाँच अतिचारोंको कहते हैं—

सचित्त भोजनको, सचित्तसे सम्बन्ध रखनेवाले भोजनको, सचित्तसे मिले हुए भोजनको, अधपके या अधिक पके भोजनको और गरिष्ट भोजनको करनेवाला श्रावक भोगोपभोग परिमाणव्रतमें अतिचार लगाता है ॥२०॥

विशेषार्थ—जिसमें चेतना हो ऐसी हरितकाय वनस्पतिको सचित्त कहते हैं। यद्यपि त्रसबहुघात इत्यादि कथनसे उसका निषेध हो जानेपर भी उसमें प्रवृत्ति होनेपर व्रतके भंगकी बात आती है। फिर भी व्रतकी अपेक्षा रखते हुए ध्यान न रहनेसे प्रवृत्ति होनेपर सचित्त भोजनको अतिचार कहा है। यह प्रथम अतिचार है। सचित्त वृक्ष आदिसे सम्बद्ध गोंद आदिको या पके फल आदिको या जिसके अन्दरके बीज सचित्त हैं ऐसे खजूर, आम आदिको सचित्तसम्बद्ध कहते हैं। सचित्त भोजनके त्यागीके द्वारा उनका भक्षण प्रमाद आदिवश ही होता है अतः सावद्य आहारमें प्रवृत्ति होनेसे उसे अतिचार कहा है। अथवा 'इसके बीज ही तो सचित्त हैं उन्हें छोड़ दूँगा। शेष भाग खाऊँगा वह तो अचित्त है' इस बुद्धिसे पके हुए खजूर आदिके फलको मुखमें रखनेवाले सचित्तत्यागीके सचित्तसम्बद्ध आहार नामका दूसरा अतिचार होता है। सचित्तसे मिले हुएको, जिसे अलग करना शक्य नहीं है अर्थात् जिसमें सूक्ष्म जन्तु हैं उसे सचित्त सम्मिश्र कहते हैं। जैसे अदरक, अनारके बीज और चिर्भटी आदिसे मिले हुए पूड़े या तिल मिले हुए यवधान। यह भी पूर्ववत् तीसरा अतिचार है। जिसके अन्दर चावलका कुछ कच्चा अंश रह गया हो या अत्यन्त पक

'न चातिमात्रमेवान्नं आमदोषाय केवलम् ।
द्विष्टं विष्टं भिदग्धामगुरुरूक्षहिमाशुचि ॥
विदाहि शष्कमत्यम्बुप्लुतं चान्नं न जीर्यते ।' [ ]

तथा यावतांशेन तत्सचेतनं तावता परलोकमप्युपहन्ति । पृथुकादेर्दुष्पक्वतया [1]संभवत्सचेतनामयत्वा-त्यदत्वेनाचेतनमिति भुञ्जानस्यातिचारश्चतुर्थः । अभिषवं सौवीरादिद्रवं वृष्यं वा । अयमप्यतिक्रमादिना-ऽतिचारः पञ्चमः । चारित्रसारे सचित्ताद्याहाराणां पुनरतिचारत्वोपपादनार्थमिदमुक्तम्—'एतेषामभ्यवहरणे सचित्तोपयोग इन्द्रियमदवृद्धिर्वातादिप्रकोपो वा स्यात् । तत्प्रतिकारविधाने पापलेपो भवति । अतियतयश्चैनं परिहरेयुरिति ।' अत्राह स्वामी—

'विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ ।
भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥' [र. श्रा. ९०]

गया हो उसे दुष्पक्व कहते हैं या जो दुष्ट रूपसे पका हो या कम पका हो उसे दुष्पक्व कहते हैं। अधपके चावल, जौ, गेहूँ, चिउड़ा आदि खानेसे पेटमें आँव हो जाती है अतः ऐसा भोजन इस लोक सम्बन्धी बाधाका कारण होता है। तथा जितने अंशमें वह सचेतन होता है उतने अंशमें परलोकका घात करता है। इस तरह दुष्पक्वका कुछ अंश सचेतन होनेसे कुछ अंश पक्व होनेसे वह चेतन भी होता है और अचेतन भी होता है उसका भक्षण चतुर्थ अतिचार है। जो पतले या गरिष्ट पदार्थ हैं उनका भक्षण अभिषव नामक पाँचवाँ अतिचार है। वैद्यक शास्त्रके अनुसार भी इस तरहका भोजन अजीर्ण और आमकारक होता है। चारित्रसारमें सचित्तादि आहारको अतिचार बतलानेमें यह युक्ति दी है कि इनके भक्षणमें सचित्तका उपयोग होता है, इन्द्रियोंके मदमें वृद्धि होती है। अथवा वात आदिका प्रकोप होता है और उनका इलाज करनेपर पाप लगता है। तथा मुनि भी सचित्त भोजन नहीं करते हैं। प्रायः सर्वत्र भोगोपभोग परिमाणव्रतके ये ही अतिचार कहे हैं। किन्तु स्वामी समन्तभद्र-के द्वारा कहे अतिचार बिलकुल भिन्न हैं जो इस प्रकार हैं—विषके समान विषयोंमें आदर होना। अर्थात् विषय भोगसे विषय भोग सम्बन्धी वेदनाका प्रतीकार हो जानेपर भी पुनः इच्छित नारीका आलिंगन आदि करते रहना प्रथम अतिचार है। विषय भोगसे वेदनाका प्रतिकार हो जानेपर भी बार-बार विषयोंके सौन्दर्यका उनकी सुखसाधनता आदिका चिन्तन करना। यह अतिआसक्तिका कारण होनेसे दूसरा अतिचार है। वेदनाका प्रतिकार हो जानेपर भी पुनः-पुनः उसको भोगनेकी आकांक्षा तीसरा अतिचार है। स्त्रीभोग आदिके प्राप्त होनेकी अतिलालसा यह चतुर्थ अतिचार है। जब नियत समयपर भोग-उपभोगका अनुभव करता है तब भी अत्यन्त आसक्तिसे करता है, वेदनाके प्रतिकारकी भावनासे नहीं करता। अतः यह पाँचवाँ अतिचार है। इनका नाम क्रमशः विषयविषसे अनुपेक्षा, अनु-स्मृति, अतिलौल्य, अतितृषा और अतिअनुभव है। ये अतिचार भी 'परेऽप्यूह्यास्तथात्ययाः' इस पूर्वकथनसे संगृहीत हो जाते हैं। सोमदेवाचार्यने भी पूर्ववत् ही अतिचार कहे हैं— जो भोजन कच्चा है या जल गया (दुष्पक्व) है, जिसका खाना निषिद्ध है, जो जन्तुओंसे सम्बद्ध है, मिश्र है और बिना देखा है ऐसे भोजनको खाना भोगोपभोग परिमाण व्रतकी

१. किंचित् सचेतनावयवत्वात्पक्वत्वाच्च चेतनाचेतनमिति....भ. कु. च. ।
२. —रत्न. श्रा० ९० श्लो. ।

विषयविषत:—विषयकल्पेषु विषयेष्वादरो विषयानुभवनात्तद्वेदनाप्रतीकारे जातेऽपि पुनरभीष्टाङ्गनासंभाषणालिङ्गनाद्यवर्जनरूपः प्रथमः। अनुस्मृतिस्तु तदनुभवात्तत्प्रतीकारे जातेऽपि पुनः पुनर्विषयाणां सौन्दर्यसुखसाधनत्वाद्यनुचिन्तनमत्यासक्तिहेतुत्वादतिचारः। अतिलौल्यमतिगृद्धिः तत्प्रतिकारे जातेऽपि पुनः पुनस्तदनुभवाकाङ्क्षेत्यर्थः। अतितृषा भाविनो भोगादेरतिगृद्धया प्राप्त्याकाङ्क्षा। अत्यनुभवो नियतकाले यदा भोगोपभोगावनुभवति तदा अत्यासक्त्या अनुभवति न पुनर्वेदनाप्रतिकारतयाऽतो अतिचार इति। एतेऽपि चात्र ग्रन्थे 'परेऽप्यूह्यास्तथात्यया' इति वचनात् संगृहीता एव। तद्वच्चेमेऽपि श्रीसोमदेवबुधाभिमताः—

'दुष्पक्वस्य निषिद्धस्य जन्तुसंबन्धमिश्रयोः।
अवीक्षितस्य च प्राशस्तत्संख्याक्षतिकारणम् ॥' [सो. उपा. ७६३]

अत्राह सिताम्बराचार्यः—भोगोपभोगसाधनं यद्द्रव्यं तदुपार्जनाय यत्कर्मव्यापारः तदपि भोगोपभोगशब्देनोच्यते कारणे कार्योपचारात्। ततः कोट्टपालादि खरकर्मापि त्याज्यम्। तत्र च खरकर्मत्यागलक्षणे भोगोपभोगव्रते अंगारजीविकादीन् पञ्चदशोऽतिचारांस्त्यजेदिति। तदचारु, लोके सावद्यकर्मणा परिगणनस्य कर्तुमशक्यत्वात्। अथोच्यते अतिमन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थं तदुच्यते तर्हि तदप्यस्तु मन्दमतीन् प्रति पुनस्त्रसबहुघातविषयार्थत्यागोपदेशेनैव तत्परिहारस्य प्रदर्शितत्वादिति ॥२०॥

एतदेव श्लोकत्रयेण संगृह्णन्नाह—

व्रतयेत्खरकर्मात्र मलान् पञ्चदश त्यजेत्।
वृत्तिं वनाग्न्यनस्फोटभाटकैर्यन्त्रपीडनम् ॥२१॥
निर्लाञ्छनासतीपोषौ सरःशोषं दवप्रदाम्।
विषलाक्षादन्तकेशरसवाणिज्यमङ्गिरुक् ॥२२॥
इति केचिन्न तच्चारु लोके सावद्यकर्मणाम्।
अगण्यत्वात्प्रणेयं वा तदप्यतिजडान् प्रति ॥२३॥

क्षतिका कारण है। श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रने कहा है—भोगोपभोगमें साधन जो द्रव्य है उसको कमानेके लिए जो काम रोजगार-धन्धा किया जाता है, कारणमें कार्यका उपचार करके उसे भी भोगोपभोग शब्दसे कहा जाता है। इसलिए भोगोपभोगपरिमाणव्रतीको कोतवालगिरी आदि क्रूरकर्म भी छोड़ना चाहिए। तथा उस खरकर्मत्याग भोगोपभोगव्रतमें पन्द्रह अतिचारोंको छोड़ना चाहिए। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि लोकमें सावद्य कार्योंकी गिनती करना शक्य नहीं है। यदि कहोगे अत्यन्त मन्दमतीको समझानेके लिए उनका कथन करते हैं तो उनके लिए वह रहे। परन्तु मन्द बुद्धियोंके लिए तो त्रसघात और बहुघात-विषयक पदार्थोंका त्याग बतलानेसे ही खरकर्मोंके त्यागको बतला दिया है ॥२०॥

आगे तीन श्लोकोंके द्वारा उन्हीं खरकर्मके अतिचारोंको कहते हैं—

भोगोपभोगपरिमाणव्रतीको खरकर्मका व्रत लेना चाहिए और उस खरकर्म व्रतके पन्द्रह अतिचारोंको छोड़ना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—वनजीविका, अग्निजीविका, शकटजीविका, स्फोटजीविका, भाटकजीविका, यन्त्रपीडन, निर्लांछन कर्म, असतीपोष, सरःशोष, दवदान, विषव्यापार, लाक्षाव्यापार, दन्तव्यापार, केशव्यापार और रसव्यापार। ऐसा कोई श्वेताम्बराचार्य कहते हैं। किन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि लोगोंमें प्रचलित पापकर्मोंको गिनाना अशक्य है। यदि उस खरकर्मव्रतका कथन ही करना हो तो अत्यन्त मन्द बुद्धिजनोंको समझानेके लिए ही करना चाहिए ॥२१-२३॥

खरकर्म—खरं कठोरं प्राणिबाधकं कर्म व्यापारम् । तथा त्यजेत् खरकर्मव्रते मलान् कर्मादानसंज्ञान् । तदुक्तम्—

'अमी भोजनतस्त्याज्याः कर्मतः खरकर्म तु ।
तस्मिन् पञ्चदशमलान् कर्मादानानि संत्यजेत् ॥' [योगशा. ३।९९]

वृत्तिं—जीविकाम् । अनः—शकटम् ॥२०॥ दवप्रदां—दवदानम् । अङ्गिरुक्—प्राणिबाधाकरम् । तदुक्तम्—

'अङ्गारवनशकट-भाटक-स्फोटजीविकाः ।
दन्तलाक्षारसकेशविषवाणिज्यकानि च ॥
यन्त्रपीडानिर्लाञ्छनमसतीपोषणं तथा ।
दवदानं सरःशोष इति पञ्चदश त्यजेत् ॥' [योगशा. ३।१००–१०१]

तत्राङ्गारजीविका षड्जीवनिकायविराधनाहेतुना अङ्गारकरणाद्यग्निकर्मणा जीवनम् । उक्तं च—

'अङ्गारभ्राष्ट्रकरणं कुम्भायःस्वर्णकारिता ।
ठठारत्वेष्टका-पाकाविति ह्यङ्गारजीविका ॥' [योगशा. ३।१०२]

तत्र वनजीविका च्छिन्नस्याच्छिन्नस्य वा वनस्पतिसमूहादेर्विक्रयेण, तथा गोधूमादिधान्यानां घरट्ट-शिलादिना पेषणेन दलनेन वा वर्तनम् । उक्तं च—

'छिन्नाछिन्नवनपत्रप्रसूनफलविक्रयः ।
कणानां दलनात्पेषाद्वृत्तिश्च वनजीविका ॥' [योगशा. ३।१०३]

शकटजीविका—शकटरथतच्चक्रादीनां स्वयं परेण वा निष्पादनेन वाहनेन विक्रयणेन वा वृत्तिर्बहु-भूतग्रामोपमर्दिका गवादीनां च बन्धादिहेतुः । उक्तं च—

'शकटानां तदङ्गानां घटनं खेटनं तथा ।
विक्रयश्चेति शकटजीविका परिकीर्तिता ॥' [योग. ३।१०४]

भाटकजीविका—शकटादिभारवाहनमूल्येन जीवनम् । उक्तं च—

'शकटोक्षलुलायोष्ट्रखराशतरवाजिनाम् ।
भारस्य वाहनाद्वृत्तिर्भवेद्भाटकजीविका ॥' [योग. ३।१०५]

स्फोटजीविका—ओड्डादिकर्मणा पृथिवीकायिकाद्युपमर्दनहेतुना जीवनम् । उक्तं च—

'सरःकूपादिखननशिलाकुट्टनकर्मभिः ।
पृथिव्यारम्भसंभूतैर्जीवनं स्फोटजीविका ॥' [योग. ३।१०६]

विशेषार्थ—क्रूर दयाविहीन कार्योंको खरकर्म कहते हैं। उनके पन्द्रह अतिचारोंका स्वरूप इस प्रकार है। १. वनजीविका—कटे या बिना कटे वृक्षादिके जंगलको बेचनेकी तथा गेहूँ, धान वगैरह चाकीसे पीसने-कूटने आदिके द्वारा आजीविका करना। २. अग्निजीविका—छह कायके जीवोंकी विराधनामें हेतु कोयला बनाकर बेचनेसे आजीविका करना। लोहकार, स्वर्णकार, ठठेरा, ईंट पकाना आदि इसीमें आता है। ३. शकटजीविका—गाड़ी, रथ और उनके पहिये आदि स्वयं या दूसरोंसे बनवाकर आजीविका करना, या गाड़ी जोतने-बेचनेसे आजीविका करना, ऐसी आजीविकासे बहुत-से जीवोंका घात होता है तथा बैल वगैरहको बाँधकर रखना होता है। ४. स्फोटजीविका—कुँआ, तालाब आदि खोदने, पृथ्वी जोतने, पत्थर तोड़ने आदिसे आजीविका करना। ५. भाटकजीविका—गाड़ी वगैरह भाड़ेपर चलाकर आजीविका करना। ६. यन्त्रपीड़न—तिलादि पेलनेका या तिलादि देकर तेल लेनेका

दन्तवाणिज्यं—हस्त्यादिदन्ताद्यवयवानां पुलिन्दादिषु द्रव्यदानेन तदुत्पत्तिस्थाने वाणिज्यार्थग्रहणम्। ते हि तथा ग्रहणे तत्प्रतिक्रयार्थं हस्त्यादिवधं कुर्वन्ति। अनाकारे तु दन्तादिक्रयविक्रये न दोषः। उक्तं च—

'दन्तकेशनखास्थित्वग्रोम्णो ग्रहणमाकरे।
त्रसाङ्गस्य वाणिज्यार्थं दन्तवाणिज्यमुच्यते ॥' [योग. ३।१०७]

लाक्षावाणिज्यं—लाक्षादिविक्रयणम्। लाक्षायाः सूक्ष्मत्रसजन्तु-संघातानन्तकायिक-प्रवाल-जालोपमर्दाविनाभाविना स्वयोनिवृक्षादुद्धरणेन टंकणमन:शिलासकूटमालिप्रभृतीनां बाह्यजीवघातहेतुत्वेन गुगुलिकायाः जन्तुघाताविनाभावित्वेन धातकीपुष्पत्वचयस्य च मद्यहेतुत्वेन तद्विक्रयस्य पापास्रवहेतुत्वात्।

उक्तं च—

'लाक्षा-मनःशिला-नीली-धातकीटंकणादिनः।
विक्रयः पापसदनं लाक्षावाणिज्यमुच्यते ॥' [योग. ३।१०८]

रसवाणिज्यं—नवनीतादिविक्रयः। नवनीते हि जन्तुसंमूर्छनं मधुवसामद्यादौ जन्तुघातोद्भवत्वं मद्ये मदजनकत्वं तद्गतक्रिमिविघातश्चेति तद्विक्रयस्य दुष्टत्वम्। केशवाणिज्यं द्विपदादिविक्रयः। तत्र च दोषास्तेषां पारवश्यवधबन्धादयः क्षुत्पिपासापीडा चेति।

उक्तं च—

'नवनीतवसाक्षौद्रमद्य प्रभृतिविक्रयः।
द्विपाच्चतुष्पाद्विक्रयो वाणिज्यं रसकेशयोः ॥' [योग. ३।१०९]

विषवाणिज्यं जीवघ्नवस्तुविक्रयः। उक्तं च—

'विषास्त्रहलयन्त्रायोहरितालादिवस्तुनः।
विक्रयो जीवितघ्नस्य विषवाणिज्यमुच्यते ॥' [योगशा. ३।११०]

यन्त्रपीडाकर्म—तिलयन्त्रादिपीलनम्। तिलादिकं च दत्वा तैलादिप्रतिग्रहणम्। तत्कर्मणश्च पीलनाय तिलादिक्षोदात्तद्गतत्रसघाताद्दुष्टत्वम्। यल्लौकिका अप्याहुः—

'दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः।
दशध्वजसमा वेश्या दशवेश्यासमो नृपः ॥' [ ] इति।

उक्तं च—

तिलेक्षुसर्षपैरण्डजलयन्त्रादिपीडनम्।
दलतैलस्य च कृति यन्त्रपीडा प्रकीर्तिता ॥' [योग. ३।१११]

व्यापार करना। इस काममें तिल आदिमें रहनेवाले त्रसजीवोंका घात होता है। ७. निर्लांछन कर्म—बैल आदिकी नाक बींधनेसे आजीविका करना। ८. असतीपोष—प्राणिघातक कुत्ता, बिल्ली आदिका पालना तथा आजीविकाके लिये दास-दासियोंका पालना। ९. सरःशोष—धान बोनेके लिए जलाशयोंसे नाली द्वारा पानी निकालना। इससे जलमें रहनेवाले त्रसोंका तथा उस जलाशयके जलपर पलनेवाले छह कायके जीवोंका घात होनेसे दोष है। १०. दवदान—तृण आदिको जलानेके लिए आग देना। उसके दो भेद हैं—एक व्यसनसे, जैसे भील लोग यों ही अग्नि लगा देते हैं। दूसरा पुण्यबुद्धिसे, जैसे मेरे मरनेपर मेरे कल्याणके लिए इतने दीपोत्सव करना। अथवा घासको जला देनेसे नये तृणांकुर पैदा होंगे। उन्हें गायें चरेंगी। या खेतमें अधिक धान पैदा करनेके लिए अग्नि जलाना दवदान है। इसमें करोड़ों जीवोंका वध होता है। ११. विषवाणिज्य—जीवघातक वस्तुओंका व्यापार करना। १२. लाक्षावाणिज्य—लाखका व्यापार करना। जब लाखके वृक्षोंसे लाख

निर्लाञ्छनकर्म—वृषभादेर्नासावेधादिना जीविका। उक्तं च—

'नासावेधोऽङ्कनं मुष्कछेदनं पृष्ठगालनम्।
कर्णकम्बलविच्छेदो निर्लाञ्छनमुदीरितम् ॥' [योग. ३।११२]

मुष्कछेदनं गवाश्वादीनां वर्धितकीकरणम्। पृष्ठगालनं करभाणामेव। निर्लाञ्छनं नितरां लाञ्छनं—अंगावयवछेदः। असतीपोषणं प्राणिघ्नप्राणिपोषो भाटिग्रहणार्थं दासीपोषश्च। उक्तं च—

'सारिकाशुकमार्जारश्वकुक्कुटकलापिनाम्।
पोषो दास्याश्च वित्तार्थमसतीपोषणं विदुः ॥' [योग. ३।११३]

दवदानं दवाग्नेस्तृणादिदहनार्थं वितरणम्। तच्च फलनिरपेक्षतात्पर्याद् वनेचरैर्वह्निज्वालनं व्यसनजमुच्यते। पुण्यबुद्धिजं तु यथा मदीये मरणकाले इयन्तो मम श्रेयोऽर्थं धर्मदीपोत्सवाः करणीया इति पुण्यबुद्धया क्रियमाणम्। तृणदाहे सति नवतृणाङ्कुरोद्भवाद् गावश्चरन्तीति वा। क्षेत्रे वा सस्यसम्पत्तिवृद्धयेऽग्निज्वालनम्। अत्र जीवकोटीनां वधो व्यक्त एव। सरःशोषो धान्यवपनाद्यर्थं जलाशयेभ्यो जलस्य सारण्याऽऽकर्षणम्। तत्र च जलस्य तद्गतानां त्रसानां तत्प्लावितानां च षण्णां जीवनिकायानां घात इति दूष्यत्वम्। उक्तं च—

'व्यसनात्पुण्यबुद्धया वा दवदानं भवेद्द्विधा।
सरः शोषः परः सिन्धुह्रदादेरम्बुसंप्लवः ॥' [योगशा. ३।११४]

ननु चाङ्गारकर्मादयः कथं खरकर्मव्रतेऽतिचाराः खरकर्मरूपा एव ह्येते। सत्यं, किन्त्वनाभोगादिना क्रियमाणा अतिचारा उपेत्य क्रियमाणास्तु भङ्गा एवेत्यस्ति विशेषः। केचित्—सितपटाः प्राहुः। अतिजडान् प्रति। जडान् प्रति पुनः 'पल' इत्यादिप्रबन्धेन प्राक् प्रणीतमेव ॥२३॥

अथ शिक्षा व्रतविधानार्थमाह—

निकाली जाती है तो सूक्ष्म त्रस जन्तुओंके घातके साथ अनन्तकाय पत्तोंके समूहका नाश अवश्य होता है, उसके बिना लाख प्राप्त नहीं हो सकती। यहाँ लाखसे अन्य भी सावद्य वस्तुएँ ली गयी हैं जैसे मनसिल, टंकण—एक विशेष प्रकारका खार। ये बाह्य जीवोंके घातक हैं। इसी तरह धतूरा और उसकी छाल मदकारक है अतः इनका व्यापार पापका घर है। १३. दन्तवाणिज्य—जहाँ हाथी आदि पैदा होते हैं वहाँके भीलोंको द्रव्य देकर हाथीके दाँत खरीदना। इसमें दोष यह है कि भील धनके लोभमें हाथीको मार डालते हैं। वैसे दन्त आदिके व्यापारमें कोई दोष नहीं कहा है। यहाँ हाथीके दाँतसे अन्य त्रसजीवोंके अवयव भी गृहीत होते हैं। जैसे चमरी गायके बाल, उल्लू आदिके नख, शंख आदि हड्डियाँ, हिरणोंकी खाल, हंसोंके रोम इन सबका व्यापार नहीं करना चाहिए। १४. केशवाणिज्य—मनुष्य, गाय, बैल, घोड़े आदिका व्यापार करना केशवाणिज्य है। इसमें दोष यह है कि उन्हें पराधीन रखकर उनका बन्धन आदि किया जाता है, भूख-प्यासकी पीड़ा दी जाती है। १५. रसवाणिज्य—नवनीत, चर्बी, मधु, मदिरा आदिका व्यापार करना। मक्खनमें सम्मूर्छन जन्तु होते हैं। मधु, चर्बी, मदिरा आदि जीवोंके घातसे पैदा होते हैं। मद्य पानसे नशा तो होता ही है उसमें रहनेवाले कृमियोंका भी घात होता है इसलिए उनका व्यापार सदोष होनेसे बुरा है। ये सब व्यापार श्रावकको नहीं करने चाहिए ॥२१-२३॥

इस प्रकार गुणव्रतोंका प्रकरण समाप्त होता है।

अब शिक्षाव्रतोंका कथन करते हैं—

शिक्षाव्रतानि देशावकाशिकादीनि संश्रयेत् ।
श्रुतिचक्षुस्तानि शिक्षाप्रधानानि व्रतानि हि ॥२४॥

१ देशावकाशिकादीनि । आदिशब्देन सामायिक-प्रोषधोपवासातिथिसंविभागा गृह्यन्ते । यत्स्वामी—

'देशावकाशिकं वा सामयिकं प्रोषधोपवासो वा ।
वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥' [र. श्रा. ९१] ॥२४॥

श्रुतज्ञानरूपी नेत्रवाले श्रावकको देशावकाशिक आदि शिक्षाव्रतोंको धारण करना चाहिए; क्योंकि ये व्रत शिक्षा प्रधान होते हैं ॥२४॥

विशेषार्थ—शिक्षाव्रत चार हैं—देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभाग। यह हम पहले लिख आये हैं कि यद्यपि सभी आचार्योंने गुणव्रत तीन और शिक्षाव्रत चार कहे हैं। किन्तु गुणव्रत और शिक्षाव्रतके नामोंमें अन्तर है। इन दोनों व्रतोंको शीलव्रत कहते हैं और शीलव्रतके सात नामोंमें कोई अन्तर नहीं है। पूज्यपाद स्वामीने शीलको व्रतकी रक्षाके लिए बतलाया है। भगवती आराधनामें भी कहा है कि जैसे धान्यकी रक्षाके लिए बाड़ होती है वैसे ही व्रतकी रक्षाके लिए शील है। अमृतचन्द्रजीने भी यही कहा है कि जैसे चारदीवारी नगरकी रक्षा करती है वैसे ही शील व्रतोंकी रक्षा करते हैं। अतः सातों शील अणुव्रतोंके रक्षक हैं इसमें कोई मतभेद नहीं है। किन्तु जब सात शीलोंको गुणव्रत और शिक्षाव्रतमें विभाजित करते हैं तो मतभेद स्पष्ट हो जाता है। गुणव्रत क्यों कहते हैं इसको तो रत्नकरण्डमें स्पष्ट कर दिया है कि गुणोंको बढ़ानेके कारण गुणव्रत कहते हैं। किन्तु शिक्षाव्रत क्यों कहते हैं यह पं. आशाधरजीसे पहले किसी ग्रन्थमें देखनेमें नहीं आया। आशाधरजी भी केवल इतना कहते हैं कि शिक्षा प्रधान होनेसे इन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। किन्तु इनसे किस तरहकी शिक्षा मिलती है यह स्पष्ट नहीं करते। और आशाधरजीने भी जो गुणव्रत और शिक्षाव्रतकी व्युत्पत्ति की है उसका आधार भी श्वेताम्बराचार्यका योगशास्त्र प्रतीत होता है। श्वेताम्बर साहित्यमें यही कथन पाया जाता है। गुणव्रत और शिक्षाव्रतमें अन्तर बतलाते हुए कहा है कि सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभाग, ये चारों स्वल्पकालिक होते हैं। सामायिक, देशावकाशिक तो प्रतिदिन किये जाते हैं और प्रोषधोपवास तथा अतिथिसंविभाग प्रतिनियत दिन ही किये जाते हैं प्रतिदिन नहीं किये जाते। अतः गुणव्रतोंसे इनका भेद है। गुणव्रत तो प्रायः जीवनपर्यन्त होते हैं। स्थिति यह है कि दिग्व्रत और अनर्थदण्डव्रतको सबने गुणव्रत माना है। तथा सामायिक प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभागको एक वसुनन्दिके सिवाय सबने शिक्षाव्रत माना है। कुन्दकुन्द और उनका अनुसरण करनेवाले देशव्रत नहीं मानते वे सल्लेखनाको शिक्षाव्रतोंमें लेते हैं इस तरह जो देशव्रत मानते हैं उन सबमें केवल देशव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रतको लेकर मतभेद है। एक पक्ष देशव्रतको शिक्षाव्रत और भोगोपभोगपरिमाणको गुणव्रत मानता है। दूसरा पक्ष भोगोपभोगपरिमाणको गुणव्रत और देशव्रतको शिक्षाव्रत

---

१. 'व्रतपरिरक्षणार्थं शीलम् ।'—सर्वार्थ. सि. ७।२४ ।

२. 'तिस्सेव रक्खणट्ठं सीलाणि वदीव सस्सस्स ।'—भ. आ. ७८८ गा. ।

३. 'परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि ।'—पुरुषार्थ. १३६ श्लो. ।

४. देखो, अभिधानराजेन्द्रमें 'सिक्खावय' शब्द ।

अथ देशावकाशिकं निरुक्त्या लक्षयति—

दिग्व्रतपरिमितदेशविभागेऽवस्थानमस्ति मितसमयम् ।
यत्र निराहुर्देशावकाशिकं तद्व्रतं तज्ज्ञाः ॥२५॥

देशावकाशिकं—देशे दिग्व्रतगृहीतपरिमाणस्य क्षेत्रस्य विभागेऽवकाशो अवस्थानं देशावकाशः । 'सोऽस्मिन्नस्तीति' अतोऽनेकस्वरादिनिकः । उक्तं च —

'दिग्व्रते परिमाणं यत्तस्य संक्षेपणं पुनः ।
दिने रात्रौ च देशावकाशिकव्रतमुच्यते ॥' [योग. ३।८४]

अपि च—

'देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य ।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥' [र. श्रा. ९२] ॥२५॥

अथ देशावकाशव्रतयुक्तं कथयति—

स्थास्यामीदमिदं यावदियत्कालमिहास्पदे ।
इति संकल्प्य सन्तुष्टस्तिष्ठन् देशावकाशिकी ॥२६॥

इदमिदं यावत्—गृहगिरिग्रामादिद्रव्यमवधिं कृत्वा । उक्तं च —

'गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च ।
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ॥
संवत्सरमृतुरयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च ।
देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ॥' [रत्न. श्रा. ९३-९४]

मानता है। इनमें-से देशव्रत कुछ समयके लिए ही होता है किन्तु भोगोपभोगपरिमाण जीवन-पर्यन्तके लिए भी होता है ॥२४॥

आगे देशावकाशिकका निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं—

जिस व्रतमें दिग्व्रतमें परिमाण किये गये क्षेत्रके किसी भागमें परिमितकाल तक श्रावकका ठहरना होता है, उस व्रतको उस व्रतकी निरुक्तिके ज्ञाता आचार्य देशावकाशिक व्रत कहते हैं ॥२५॥

विशेषार्थ—देश अर्थात् दिग्व्रतमें परिमाण किये गये क्षेत्रके हिस्सेमें अवकाश अर्थात् ठहरना जिसमें हो वह व्रत देशावकाशिक है यह देशावकाशिकका निरुक्तिपूर्वक लक्षण है ॥२५॥

आगे देशावकाशिक व्रतको पालनेवालेका लक्षण कहते हैं—

'मैं इस स्थानपर अमुक घर, पर्वत या गाँव आदिकी मर्यादा करके इतने काल तक ठहरूँगा' ऐसा संकल्प करके मर्यादाके बाहरकी तृष्णाको रोककर सन्तोषपूर्वक ठहरनेवाला श्रावक देशावकाशिक व्रतका धारी होता है ॥२६॥

विशेषार्थ—कालका परिमाण करके नियत देशमें सन्तोषपूर्वक रहनेवाला श्रावक देशावकाशिकी कहा जाता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें कहा है—दिग्व्रतमें निश्चित किये गये विशाल देशका कालका परिमाण करके प्रतिदिन अणुव्रतोंको लेकर सीमित करना देशावकाशिक व्रत है। गृहोंसे शोभित ग्राम, क्षेत्र, नदी, जंगल या योजनोंका प्रमाण ये देशावकाशिककी सीमा होती है। वर्ष, ऋतु, अयन, मास, चतुर्मास, पक्ष और नक्षत्र ये देशावकाशिकके कालकी मर्यादा होती है। मर्यादाओंके बाहर स्थूल और सूक्ष्म पाँचों पापोंका त्याग हो

सन्तुष्टः—सीमभ्यो बहिर्निगृहीततृष्णः। दिग्व्रतवदस्यापि नियमितदेशाद् बहिर्लोभनिग्रहेण हिंसादीनां च सर्वशो निवर्तनेनात्र फलवत्त्वादमुत्राज्ञैश्वर्यसंपादकत्वाच्च सुतरां करणीयत्वम्। तदुक्तम्—

'दिक्षु सर्वास्वधश्चोर्ध्वं देशेषु निखिलेषु च।
एतस्यां दिशि देशेऽस्मिन्नियंतैव गतिर्मम ॥
दिग्देशे नियमादेवं ततो बाह्येषु वस्तुषु ।
हिंसा-लोभोपभोगादिनिवृत्तेश्चित्तयन्त्रणा ॥
रक्षन्निमं प्रयत्नेन गुणव्रतयमं गृही।
आज्ञैश्वर्यं लभत्येष यत्र यत्रोपजायते ॥' [सो. उपा. ४४१-४५१]

शिक्षाव्रतत्वञ्चास्य शिक्षाप्रधानत्वात्परिमितकालभावित्वाच्चोच्यते। न खल्वेतत् दिग्व्रतवद्यावज्जीविकमपीष्यते। यत्तु तत्त्वार्थादौ गुणव्रतत्वमस्य श्रूयते तद्दिग्व्रतसंक्षेपणलक्षणत्वमात्रस्यैव विवक्षितत्वाल्लक्ष्यत। तदुक्तम्—

'तत्रापि च परिमाणं ग्रामाणां भवनपाटकादीनाम्।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥' [पुरुषार्थ. १३९]

दिग्व्रतसंक्षेपकरणं चाणुव्रतादिसंक्षेपकरणस्याप्युपलक्षणं द्रष्टव्यम्। एषामपि संक्षेपस्यावश्यकर्तव्यत्वात्। प्रतिव्रतं च संक्षेपकरणस्य भिन्नव्रतत्वे 'गुणाः स्युर्द्वादशेति संख्याविरोधः स्यात्। 'तिष्ठन्' 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इति शतृच्। कालपरिच्छित्या—नियतदेशे संतुष्टतयाऽवस्थानेन देशावकाशिकव्रतित्वपरिणामस्य लक्ष्यमाणत्वात्। देशावकाशिको भवतीत्यध्याहारः ॥२६॥

जानेसे देशावकाशिकके द्वारा महाव्रतोंकी सिद्धि होती है। टीकामें पं. आशाधरजीने लिखा है—इस व्रतको शिक्षाप्रधान होनेसे तथा परिमित कालके लिए होनेसे शिक्षाव्रत कहते हैं। यह व्रत दिग्व्रतकी तरह जीवनपर्यन्तके भी लिए नहीं होता है। तत्त्वार्थ सूत्र आदिमें जो इसे गुणव्रत कहा गया है वह दिग्व्रतको संक्षिप्त करनेवाला होने मात्रकी विवक्षाको लेकर कहा है। अमृतचन्द्रजीने कहा है—'दिग्व्रतमें भी ग्राम, भवन, मुहाल आदिका कुछ समयके लिए परिमाण करना देशविरतिव्रत है वह करना चाहिए। दिग्व्रतको संक्षिप्त करना अन्य गुणव्रतोंके भी संक्षेप करनेका उपलक्षण होना चाहिए। क्योंकि जैसे दिग्व्रतको परिमित करके देशव्रत बना इसी तरह अन्य गुणोंको भी परिमित करना आवश्यक है। और इसी तरह प्रत्येक व्रतके संक्षेपको भिन्न व्रत मानने से बारह व्रतोंकी संख्याका विरोध होता है।' श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रने भी अपने योगशास्त्र (३।८४) की टीकामें बिलकुल यही बात कही है। असलमें तो दिग्व्रतसे लेकर प्रोषधोपवासपर्यन्त जितने भी व्रत है वे सब अणुव्रतोंके क्षेत्रको सीमित करके उन्हें महाव्रतका रूप देनेके लिए ही हैं। दिग्व्रतके द्वारा जीवन-भरके लिए क्षेत्रको सीमित करके मर्यादाके बाहर जैसे अणुव्रत महाव्रतकी संज्ञाको प्राप्त होते हैं उसी तरह कुछ समयके लिए दिग्व्रतकी सीमाको मर्यादित करके देशव्रतके द्वारा भी वही किया जाता है। सीमित मर्यादामें भी अनर्थदण्डका—बिना प्रयोजन हिंसादान आदिका निरोध करके अणुव्रतोंको ही पुष्ट किया जाता है। पाँच ही अणुव्रत हैं और पाँच ही अनर्थदण्ड हैं। एक-एकके त्यागके साथ एक-एककी संगति बैठायी जा सकती है। सामायिकमें भी अमुक समय तक पाँचों पापोंका सर्वथा त्याग रहता है। प्रोषधोपवासमें समयकी मर्यादा बढ़ जाती है। इस तरह ये सब व्रत अणुव्रतको संकुचित करके उसे महाव्रतका रूप देते हैं। अन्तके शिक्षा

१. धः प्रोर्ध्व—। २. न्नियत्येवं—सो. उपा.। ३. न्निदं—। ४. तमयं—सो. उपा.।

अथ देशावकाशिकव्रतातिचारपरिहारार्थमाह—

पुद्गलक्षेपणं शब्दश्रावणं स्वाङ्गदर्शनम् ।
प्रेषं सीमबहिर्देशे ततश्चानयनं त्यजेत् ॥२७॥

पुद्गलक्षेपणं—परिगृहीतदेशाद्बहिः स्वयमगमनात् कार्यार्थितया व्यापारकराणां चोदनाय लोष्ठादिप्रेरणम् । शब्दश्रावणं—शब्दस्याभ्युत्काशिकादेः श्रावणमाह्वनीयाना श्रोत्रेऽनुपातनम् शब्दानुपातनं नामातिचारमित्यर्थः ॥२॥ स्वाङ्गदर्शनं—शब्दोच्चारणं विना आह्वानीयानां दृष्टौ स्वरूपस्यानुपातनं रूपानुपाताख्यमतिचारम् । एतत्त्रयं मायावितयाऽतिचारत्वं याति ॥३॥ प्रेषं—मर्यादीकृतदेशे स्थित्वा ततो बहिः प्रेष्यं प्रत्येवं कुर्विति व्यापारणम् । देशावकाशिकव्रतं हि मा भूद्गमनागमनादिव्यापारजनितः प्राण्युपमर्द इत्यभिप्रायेण गृह्यते । स तु स्वयं कृतोऽन्येन कारित इति न कश्चित्फलविशेषः । प्रत्युत स्वयं गमने ईर्यापथविशुद्धेर्गुणः । परस्य पुनरनिपुणत्वादीर्यासमित्यभावे दोष इति प्रेष्यप्रयोगं नाम चतुर्थमतिचारं त्यजेदिति सर्वत्र योज्यम् ॥४॥ ततश्चानयनं—सीमबहिर्देशादिष्टवस्तुनः प्रेष्येण विवक्षितक्षेत्रे प्रापणम् । चशब्देन सीमबहिर्देशस्थितं प्रेष्यं प्रतीदं कुर्वित्याज्ञापनं वा । एतौ चाव्युत्पन्नबुद्धितया सहसाकारादिना वातिचारौ स्तः । सर्वत्र च 'सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंशभञ्जनमित्युपजीव्यम् ॥२७॥

व्रतोंसे यदि शिक्षा मिलती है तो मुनिपद धारणकी शिक्षा मिलती है। सामायिकसे ध्यान करनेकी, प्रोपधोपवाससे उपवास करनेकी और भोगोपभोग परिमाणसे अल्प भोगोपभोगकी तथा अन्तके अतिथिसंविभाग व्रतसे आहार ग्रहण करनेकी शिक्षा मिलती है। सोमदेवजीने इसका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—'इस प्रकार दिशाओंका और देशका नियम करनेसे बाहरकी वस्तुओंमें लोभ, उपभोग, हिंसा आदिके भाव नहीं होते और उनके न होनेसे चित्त संयत रहता है। जो गृहस्थ इन गुण व्रतोंका पालन प्रयत्नपूर्वक करता है वह जहाँ-जहाँ जन्म लेता है वहीं उसे आज्ञा ऐश्वर्य आदि मिलते हैं' ॥२६॥

देशावकाशिक व्रतके अतिचारोंको त्यागनेकी प्रेरणा करते हैं—

देशावकाशिक व्रतकी निर्मलताको चाहनेवाला श्रावक मर्यादा किये हुए प्रदेशसे बाहर पत्थर आदि फेंकनेको, शब्दके सुनानेको, अपना शरीर दिखानेको, किसी मनुष्यके भेजनेको और मर्यादाके बाहरसे किसीको बुलानेको छोड़े ॥२७॥

विशेषार्थ—मर्यादा किये हुए देशसे बाहर स्वयं न जा सकनेसे कार्यके प्रयोजनवश काम करनेवाले मनुष्योंको कार्यके लिए सावधान करनेके अभिप्रायसे पत्थर आदि फेंकना प्रथम अतिचार है। मर्यादाके बाहरसे जिन्हें बुलाना है, खाँसने आदिके द्वारा उनके कानोंमें शब्द पहुँचाना दूसरा अतिचार है। शब्दका उच्चारण किये बिना जिनको बुलाना है उनकी दृष्टिमें अपनी सूरत आदि ला देना तीसरा अतिचार है। ये तीनों मायाचीपनेके कारण अतिचार हैं। स्वयं मर्यादा किये हुए क्षेत्रमें रहकर उससे बाहर किसीको 'तुम यह करो' ऐसा कहकर भेजना चतुर्थ अतिचार है। देशावकाशिक व्रत इस अभिप्रायसे लिया जाता है कि जाने-आने आदि व्यापारसे प्राणियोंका घात न हो। वह चाहे स्वयं करे या दूसरेसे करावे उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। बल्कि स्वयं जानेमें तो ईर्यापथ शुद्धि सम्भव है। दूसरा तो यह जानता ही नहीं इसलिए ईर्या समितिके अभावमें दोष ही लगता है अतः प्रेष्य प्रयोग नामक चतुर्थ अतिचारको छोड़ना चाहिए। यह कथन सर्वत्र लगा लेना चाहिए। मर्यादाके बाहरसे किसीको भेजकर इष्ट वस्तुको विवक्षित क्षेत्रमें पहुँचाना पाँचवाँ अतिचार है। 'च' शब्दसे सीमाके बाहर स्थित आदमीको 'ऐसा करो' यह आज्ञा देना भी अतिचार

अथानिरूपितस्वरूपस्यानुष्ठानं न स्यादिति सामायिकस्वरूपं निरूपयन्नाह—

एकान्ते केशबन्धादिमोक्षं यावन्मुनेरिव ।
स्वं ध्यातुः सर्वहिंसादित्यागः सामायिकव्रतम् ॥२८॥

एकान्ते—विविक्तस्थाने । उक्तं च—

'एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च ।
चैत्यालयेषु वापि परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥' [रत्न. श्रा. ९९]

केशबन्धआदिर्येषां मुष्टिबन्धवस्त्रग्रन्थ्यादीनां गृहीतनियमकालावच्छेदहेतूनां तन्मोचनं यावत् । सामायिकं हि चिकीर्षुर्यावदयं केशबन्धो वस्त्रग्रन्थ्यादिर्वा मया न मुच्यते तावत्साम्यान्न चलिष्यामीति प्रतिज्ञां करोति । उक्तं च—

'मूर्धरुहमुष्टिवासो बन्धं पर्यङ्कबन्धनं चापि ।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति सर्वज्ञाः ॥' [रत्न. श्रा. ९८]

मुनेरिव—सर्वारम्भपरिग्रहाग्रहरहितत्वार्थतिना तुल्यस्य श्रावकस्य । उक्तं च—

'सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि ।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ॥' [र. श्रा. १०२]

स्वं ध्यातुः—आत्मानं साधुत्वेन ताच्छील्येन वा ध्यायतः, अन्तर्मुहूर्तमाधर्मध्याननिष्ठस्येत्यर्थः । सर्वहिंसादित्यागः—सर्वत्र सर्वेषां च हिंसादीना प्रमत्तयोगभाविनां प्राणव्यपरोपणादि-पञ्चपापाना त्याग. परिहारः सर्वत्रेति व्याख्यानाद्देशावकाशिकादस्य भेदः सूच्यते । उक्तं च—

'आसमयमुक्तिमुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन ।
सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति ॥' [र. श्रा. ९७]

है । अन्तके दोनों अतिचार अज्ञानसे या उतावलेपनसे होते हैं । सब जगह यह लक्षण लगा लेना चाहिए कि व्रतकी अपेक्षा रखते हुए एक अंशके भंगको अतिचार कहते हैं ॥२७॥

अब सामायिक शिक्षाव्रतका स्वरूप कहते हैं—

केशबन्ध आदिके छोड़ने पर्यन्त एकान्त स्थानमें मुनिके समान अपनी आत्माका ध्यान करनेवाले शिक्षा व्रती श्रावकका जो सर्वत्र समस्त हिंसा आदि पाँचों पापोंका त्याग है उसे सामायिक व्रत कहते है ॥२८॥

विशेषार्थ—सामायिक शब्द सम और आय शब्दोंके मेलसे बना है । 'सम' अर्थात् राग-द्वेषसे विमुक्त होकर जो 'आय' अर्थात् ज्ञानादिका लाभ होता है जो कि प्रशम सुख रूप है उसे समाय कहते हैं । समाय ही सामाय है । सामाय जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है । अर्थात् राग-द्वेषके कारण उपस्थित होनेपर या जो पदार्थ राग-द्वेषके कारण हैं उनमें मध्यस्थता रखना, राग-द्वेष नहीं करना सामायिक है । अथवा जिन भगवान्‌की सेवाके उपदेशको समय कहते हैं । उसमें नियुक्त कर्मको सामायिक कहते हैं । इस तरह व्यवहारसे जिन भगवान्‌का अभिषेक, पूजा, स्तुति, जप आदि सामायिक है और निश्चयसे अपनी आत्माका ध्यान ही सामायिक है । इस प्रकार सामायिकरूप व्रतको सामायिक व्रत कहते हैं । यह सामायिक एकान्त स्थानमें की जाती है । इसका करनेवाला उस समय समस्त आरम्भ और परिग्रहके आग्रहसे रहित होता है इसलिए उसे मुनिके समान कहा है । मुनि जीवन-पर्यन्तके लिए समस्त हिंसा आदि पाँच पापोंका त्याग करता है । किन्तु सामायिक व्रती जितने समय तक आत्मध्यानमें लीन होता है उतने समय तक सर्वत्र पाँचों पापोंका त्याग

समस्तरागद्वेषविमुक्तस्य सता अयो ज्ञानादीनां लाभः प्रशमसुखरूपः समायः। समाय एव समायः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकं रागद्वेषहेतुषु मध्यस्थतेत्यर्थः। उक्तं च—

'त्यक्तार्तरौद्रध्यानस्य त्यक्तसावद्यकर्मणः।
मुहूर्तं समता या तां विदुः सामायिकं व्रतम् ॥' [योगशा. ३।८२]

अथवा समय आप्तसेवोपदेशस्तत्र नियुक्तं कर्म सामयिकम्। व्यवहारेण जिनस्नपनार्चास्तुतिजपाः, निश्चयेन च स्वात्मध्यानमेव। तदुक्तम्।

'आप्तसेवोपदेशः स्यात्समयः समयार्थिनाम्।
नियुक्तं तत्र यत्कर्म तत्सामायिकमूचिरे ॥' [सो. उपा. ४६०]

तथा—

'होऊण सुई चेइवगिहम्मि सगिहेव चेइयाहिमुहो।
अण्णत्थ सुण्णपएसे पुव्वमुहो उत्तरमुहो वा ॥
जिणवयण-धम्म-चेदिय-परमेट्ठिजिणालयाण णिच्चं पि।
जं वंदणं तिकालं कीरई सामाइयं तं खु ॥
काउस्सग्गम्मि ठिदो लाहालाहं च सत्तुमित्तं च।
संजोगविप्पओगं तण-कंचण-चंदणं वासिं ॥

करता है। देशावकाशिक व्रती तो की हुई मर्यादासे बाहरके क्षेत्रमें ही पाँचों पापोंका त्याग करता है किन्तु सामायिक व्रती सर्वत्र पाँचों पापोंका त्याग करता है यह इन दोनों व्रतोंमें अन्तर है। जो सामायिक करना चाहता है वह सामायिकसे पहले यह नियम करता है कि जबतक मेरे बँधे केश न खुलें या वस्त्रकी गाँठ मैं न खोलूँ या बँधी मुट्ठी न खोलूँ तबतक मैं साम्यभावसे विचलित नहीं हूँगा अर्थात् उतने समय तक मैं सामायिक करूँगा। आचार्य समन्तभद्र स्वामीने केशोंका बन्ध, मुट्ठीका बन्ध, वस्त्रका बन्ध, पालथी बन्ध, स्थान और बैठनेको समय कहा है। अर्थात् सामायिकमें ये सब आवश्यक होते हैं। उन्होंने चित्तको चंचल करनेवाले कारणोंसे रहित एकान्त स्थान, जैसे वन, मकान या चैत्यालयमें प्रसन्न मनसे सामायिक करनेका निर्देश किया है। तथा उपवास और एकाशनमें भी सामायिक करनेका विधान किया। वैसे तो नियमित रूपसे प्रतिदिन आलस्य छोड़कर सामायिक करना ही चाहिए क्योंकि वह पाँचों अणुव्रतोंकी पूर्तिमें कारण है। यह भी कहा है कि सामायिकके कालमें न कोई आरम्भ होता है और न पहने हुए वस्त्रके सिवाय कोई परिग्रह होती है। इसलिए उस समय गृहस्थ उस मुनिके तुल्य होता है जिसपर किसीने वस्त्र लपेट दिया हो। आचार्य अमृतचन्द्रने भी राग-द्वेषको त्यागकर समस्त द्रव्योंमें साम्यभाव धारण करके बार-बार सामायिक करनेका विधान किया है क्योंकि सामायिक तत्त्वकी उपलब्धिका मूल है। अर्थात् आत्मतत्त्वकी उपलब्धिका मूल कारण सामायिक है। रातके अन्तमें अर्थात् प्रातः और दिनके अन्तमें अर्थात् सन्ध्याको तो सामायिक अवश्य करना चाहिए। अन्य समयमें भी करनेसे कोई हानि नहीं है, बल्कि लाभ ही है। यह भी कहा है कि यद्यपि सामायिक करनेवाले गृहस्थके चारित्रमोहका उदय होता है फिर भी उस समयमें समस्त सावद्य योगका त्याग होनेसे महाव्रत

१. 'रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥—पुरुषार्थ. १४८ श्लो.।

जो पस्सदि समभावं मणम्मि सरिदूण पंचणमकारं ।
वर अट्ठपाडिहेरेहिं संजुत्तजिणसरूवं वा ॥
सिद्धसरूवं झायदि अहवा झाणुत्तमं ससंवेयं ।
खणमेक्कमविचलग्गो उत्तम सामाइयं तस्स ॥' [वसु. श्रा. २७४-२७८] ॥२८॥

अथ सामायिकभावनासमयं नियमयन्नाह—

परं तदेव मुक्त्यङ्गमिति नित्यमतन्द्रितः ।
नक्तं दिनान्तेऽवश्यं तद्भावयेच्छक्तितोऽन्यदा ॥२९॥

अवश्यं—नियमेन । नास्ति वा वश्यं व्याध्यादि पारतंत्र्यं यत्र भावनाकर्मणि । अन्यदा—मध्याह्नादिकाले । उक्तं च—

'रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम् ।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥' [पुरुषा. १४९]

अपि च—

'सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यम् ।
व्रतपञ्चक-परिपूरणकारणमवधानयुक्तेन ॥' [र. श्रा. १०१] ॥२९॥

होता है। इस तरह इन सब आचार्योंने आत्मध्यानको ही सामायिक कहा है। किन्तु सोमदेव सूरिने आप्तसेवाके उपदेशको समय और उसमें किये जानेवाले कार्यको सामायिक कहा है। उसे आशाधरजीने व्यवहार सामायिक कहा है। उपासकाध्ययनमें सामायिक व्रतके अन्तर्गत पूजाविधानका विस्तारसे वर्णन है। इससे पहले इतना स्पष्ट और विस्तृत वर्णन पूजाविधिके बारेमें नहीं मिलता। आचार्य वसुनन्दीने भी दोनों प्रकारोंको सामायिक कहा है। उन्होंने लिखा है—'शुद्ध होकर चैत्यालयमें अथवा अपने घरमें ही प्रतिमाके सम्मुख होकर अथवा अन्य पवित्र स्थानमें पूर्वमुख या उत्तर मुख होकर जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिम्ब, पंचपरमेष्ठी, और जिनालयोंकी जो नित्य त्रिकाल वन्दना की जाती है वह सामायिक है। जो श्रावक कायोत्सर्गमें स्थित होकर लाभ-अलाभको, शत्रु-मित्रको, संयोग-वियोगको, तृण-कांचनको, चन्दन और कुठारको समभावसे देखता है तथा मनमें पंच नमस्कार मन्त्रको धारण करके उत्तम अष्ट प्रातिहार्योंसे युक्त अर्हन्त जिनके स्वरूप और सिद्ध भगवान्के स्वरूपको ध्याता है, अथवा संवेगसहित निश्चल अंग होकर एक क्षण भी उत्तम ध्यान करता है उसके उत्तम सामायिक होती है।' श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रने सावद्य कार्यों तथा आर्त और रौद्रध्यानको छोड़कर एक मुहूर्त तक समताभावको सामायिक कहा है ॥२८॥

आगे सामायिककी भावनाका समय बतलाते हैं—

सामायिक ही मोक्षका उत्कृष्ट साधन है इसलिए आलस्य त्यागकर नित्य रात्रि और दिनके अन्तमें अवश्य सामायिकका अभ्यास करना चाहिए। तथा अपनी शक्तिके अनुसार मध्याह्न आदि अन्य कालमें भी अभ्यास करे ॥२९॥

विशेषार्थ—परम प्रकर्षको प्राप्त चारित्र ही मोक्षका साक्षात् कारण होता है। सामायिक उसीका अंश है। सामायिकमें आत्मध्यानका अभ्यास किया जाता है यह अभ्यास ही स्थिर होते-होते शुक्लध्यानका रूप लेता है और अन्तिम शुक्लध्यानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसलिए श्रावकको प्रातः और सायं दो बार सामायिक अवश्य करना चाहिए। यदि शक्ति हो तो मध्याह्नमें या अन्य समय भी कर सकते हैं। नियमित समयसे अन्य समयमें भी

अथ सामायिकस्थेन परीषहोपसर्गोपनिपाते सति तज्जयार्थं किं ध्यातव्यमित्याह—

मोक्ष आत्मा सुखं नित्यः शुभः शरणमन्यथा।
भवोऽस्मिन्वसतो मेऽन्यत्किं स्यादित्यापदि स्मरेत् ॥३०॥

आत्मा मोक्षः अनन्तज्ञानादिरूपत्वात्। सुखं अनाकुलचिद्रूपत्वात्। नित्यः अनन्तकालभाविप्रध्वंसाभावरूपत्वात्। शुभः शुभकारणप्रभवत्वात् शुभकार्यत्वाच्च। शरणं समस्तविपदगम्यतया अपायपरिरक्षणोपायत्वात्। भवः स्वोपात्तकर्मोदयवशाच्चतुर्गतिपर्यटनम्। अन्यत्—सुखशुभादिः स्यात् अभूदस्ति भविष्यति च, किन्त्वापद एव स्युः। तदुक्तम्—

'विपद्भवपदावर्ते पदिके वातिबाह्यते।
यावत्तावद्भवन्त्यन्याः प्रचुरा विपदः पराः॥' [ ]

आपदि, एतेन प्रतिपन्नसामायिकेन परीषहोपसर्गाः सोढव्या इत्याक्षिप्यते। उक्तं च—

'शीतोष्णदंशमशकपरीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः।
सामयिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः॥'

अपि च—

'अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मनामवसामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके॥' [र. श्रा. १०३-१०४] ॥३०॥

करनेसे कोई दोष नहीं है बल्कि गुण ही है। आचार्य अमृतचन्द्रने दिन और रात्रिके अन्तमें तथा समन्तभद्राचार्यने प्रतिदिन सामायिक करनेपर जोर दिया है ॥२९॥

सामायिक करते समय यदि परीषह और उपसर्ग आ जाये तो उन्हें जीतनेके लिए क्या ध्यान करना चाहिए, यह बताते हैं—

मोक्ष आत्मरूप है, सुखरूप है, नित्य है, शुभ है, शरण है, और संसार इससे विपरीत है। इस संसारमें निवास करते हुए मेरेको अन्य क्या होगा, इस प्रकार परीषह और उपसर्गके समय विचार करे ॥३०॥

विशेषार्थ—परीषह और उपसर्ग आनेपर सामायिक करनेवालेको संसार और मोक्षके स्वरूपका चिन्तन करना चाहिए कि मोक्ष अनन्तज्ञानादि रूप होनेसे आत्मरूप है अर्थात् जो आत्मका स्वरूप है वही मोक्षका स्वरूप है क्योंकि शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्तिका नाम मोक्ष है। तथा मोक्ष आकुलता रहित चित्स्वरूप होनेसे सुखरूप है। तथा संसारदशाका प्रध्वंसाभावरूप होनेसे मोक्ष अनन्तकाल रहनेवाला है। मोक्ष होनेसे पुनः संसार दशा नहीं होती। तथा मोक्ष शुभकारण सम्यग्दर्शनादिसे उत्पन्न होता है और शुभकार्यरूप है अतः शुभ है। तथा मोक्ष समस्त विपत्तियोंसे दूर है और समस्त अनिष्टोंसे रक्षा करनेका उपाय है अर्थात् मोक्ष प्राप्त होनेपर किसी भी प्रकारका अनिष्ट सम्भव नहीं है अतः शरण है। किन्तु संसार मोक्षसे बिलकुल विपरीत है क्योंकि आत्माके द्वारा गृहीत कर्मोंके उदयके वशसे चार गतियोंमें भ्रमणका नाम संसार है अतः संसार न तो आत्मरूप है, न सुखरूप है, किन्तु दुःखरूप है और सदा परिवर्तनशील होनेसे अनित्य है और इसीलिए अशरण है। अतः संसारमें रहते हुए तो उपसर्ग और परीषह ही सम्भव है। ऐसा विचार करनेसे विपत्तिके समय मन सहिष्णु बन जाता है इससे यह बतलाया है कि सामायिक करनेवालेको परीषह, उपसर्ग आदि सहन करने चाहिए। आचार्य समन्तभद्रने भी कहा है कि सामायिक करनेवाले मौनपूर्वक शीत, उष्ण तथा डांस-मच्छरोंकी परीषह और उपसर्गको तिरस्कृत कर देते हैं। पं. आशाधरजीने तो

अथ सामायिकसिद्धयर्थं किं कुर्यादित्याह—

स्नपनार्चास्तुतिजपान् साम्यार्थं प्रतिमार्पिते ।
युञ्ज्याद्यथाम्नायमाद्यादृते संकल्पितेऽर्हति ॥३१॥

स्नपनं 'आश्रुत्य' इत्यादौ व्याख्यास्यते । अर्चास्तुतिजपाः प्राग्व्याख्याताः । यथाम्नायं—उपासकाध्ययनानतिक्रमेण । आद्यादृते स्नपनादिना । संकल्पिते—निराकारस्थापनार्पिते । एतेन कृतप्रतिमापरिग्रहाः संकल्पिताप्तपूजापरिग्रहाश्चेति द्वये देवसेवाधिकृता इति सूच्यते ॥३१॥

अथ सामायिकस्य सुदुष्करत्वशङ्कामपनुदति—

सामायिकं सुदुःसाधमप्यभ्यासेन साध्यते ।
निम्नीकरोति वार्बिन्दुः किं नाश्मानं मुहुः पतन् ॥३२॥

सामायिकमें परीषह और उपसर्गके समय ही संसार और मोक्षका स्वरूप चिन्तन करना लिखा है। किन्तु समन्तभद्र स्वामीने तो सामायिक मात्रमें उसका चिन्तन करनेके लिए लिखा है ॥३०॥

सामायिककी सिद्धिके लिए अन्य समयमें श्रावकको क्या-क्या करना चाहिए, यह बतलाते हैं—

मुमुक्षु प्रतिमामें अर्पित अर्थात् साकार स्थापनामें स्थापित भगवान् अर्हन्तदेवमें निश्चय सामायिककी सिद्धिके लिए उपासकाध्ययन आदि आगमके अनुसार अभिषेक, पूजा, स्तुति और जप करे। और संकल्पित अर्थात् निराकार स्थापनामें स्थापित अर्हन्तदेवमें अभिषेकके सिवाय शेष पूजा, स्तुति और जप करे ॥३१॥

विशेषार्थ—निश्चय सामायिककी सिद्धिके लिए यह व्यवहार सामायिक करनेका उपदेश है। व्यवहार सामायिक है अर्हन्तदेवका अभिषेक, पूजा, स्तुति और जप। जिनपूजाके दो प्रकार हैं—एक तदाकार जिनबिम्बमें जिन भगवान्की स्थापना करके पूजन करना और दूसरा है पुष्प आदिमें जिन भगवान्की स्थापना करना। पं. आशाधरजीने सोमदेवके उपासकाध्ययनके[1] अनुसार पूजाविधि लिखी है। ये दोनों प्रकार भी उसीमें बतलाये गये हैं। जो प्रतिमाके बिना पूजन करते हैं उन्हें अर्हन्त सिद्धको मध्यमें, आचार्यको दक्षिणमें, उपाध्यायको पश्चिममें, साधुको उत्तरमें और पूर्वमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रको भोजपत्रपर, लकड़ीके पटियेपर, वस्त्रपर, शिलातलपर, रेतनिर्मित भूमिपर, पृथ्वीपर, आकाशमें और हृदयमें स्थापित करके अष्टद्रव्यसे पूजन करना चाहिए। पूजनके बाद क्रमसे सम्यग्दर्शन भक्ति, सम्यग्ज्ञान भक्ति, सम्यक्चारित्र भक्ति, अर्हन्त भक्ति, सिद्धभक्ति, चैत्य भक्ति, पंचगुरु भक्ति, शान्ति भक्ति और आचार्यभक्ति करना चाहिए। जो प्रतिमामें स्थापना करके पूजन करते हैं, उनके लिए अभिषेक, पूजन, स्तवन, जप, ध्यान और श्रुत देवताका आराधन ये छह विधियाँ बतलायी हैं। इनका वर्णन उपासकाध्ययनके अनुसार आगे कहेंगे ॥३१॥

अब 'सामायिक बहुत कठिन है' इस शंकाका निवारण करते हैं—

यद्यपि सामायिक बहुत कठिनतासे सिद्ध होनेवाली है फिर भी अभ्यासके द्वारा साधी जाती है। क्या बारम्बार गिरनेवाली जलकी बूँद पत्थरको गड्ढेवाला नहीं कर देती

---

१. सो. उपा. में पृ. २१३ से पूजाविधिका वर्णन है।

स्पष्टम् । बाह्या अप्याहुः—'अभ्यासो हि कर्मणां कौशलमावहति । नहि सकृन्निपातमात्रेणोदबिन्दुरपि ग्राण्णि निम्नतामादधाति ॥३२॥

अथ तदतिचारपरिहारार्थमाह— [1]

पंचात्रापि मलानुज्झेदनुपस्थापनं स्मृतेः ।
कायवाङ्मनसां दुष्प्रणिधानान्यनादरम् ॥३३॥

अनुपस्थापनं स्मृतेः—सामायिकेऽनैकाग्र्यमित्यर्थः । अथवा सामायिकं मया कर्तव्यं न कर्तव्यमिति वा, सामायिकं मया कृतं न कृतमिति वेति प्रबलप्रमादादस्मरणमतिचारः स्मृतिमूलत्वान्मोक्षमार्गानुष्ठानस्य । कायेत्यादि । दुष्प्रणिधानं सावद्ये प्रवर्तनम् । तच्च हस्तपादादीनामनिभृतत्वावस्थापनं कायदुष्प्रणिधानम् । वर्णसंस्काराभावोऽर्थानवगमश्चापलं च वाग्दुष्प्रणिधानम् । क्रोध-लोभ-द्रोहाभिमानेर्ष्यादयः कार्यव्यासङ्ग-संभ्रमश्च मनोदुष्प्रणिधानम् । एते त्रयोऽतिचाराः । मनोदुष्प्रणिधानस्य स्मृत्यनुपस्थापनस्य चायं भेदः—क्रोधाद्यावेशात्सामयिके मनसश्चिरमवस्थापनं प्रथमम्, चिन्तायाः परिस्पन्दनादैकाग्र्येणानवस्थापनमन्यत् । अनादरमनुत्साहं प्रतिनियतवेलायां सामायिकस्याकरणं यथाकथंचिद्वा करणं करणानन्तरमेव भोजनादिव्यासङ्गं च । न चात्राविधिकृताद्वरमकृतमित्यसूयावचनं प्रमाणीकृत्य भङ्गसंभावनया सामायिकस्याप्रतिपत्तिः कर्तव्या ।

है। अर्थात् जैसे पत्थरपर जलकी बूँद निरन्तर टपकती रहे तो पत्थरमें गढ़ा पड़ जाता है वैसे ही अभ्याससे अत्यन्त कठिन भी सामायिक सरल हो जाती है ॥३२॥

सामायिकके अतिचारोंके त्यागका उपदेश देते हैं—

सामायिक व्रतका फल चाहनेवालेको अन्य व्रतोंकी तरह सामायिक व्रतमें भी स्मृतिको स्थिर न रखना, मन-वचन-कायका दुष्प्रणिधान और अनादर ये पाँच अतिचारोंको छोड़ना चाहिए ॥३३॥

विशेषार्थ—सामायिक व्रतके पाँच अतिचार हैं—स्मृतिका अनुपस्थापन, कायदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, मनदुष्प्रणिधान और अनादर। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सामायिकमें एकाग्रताका न होना, अथवा, सामायिक मुझे करना चाहिए या नहीं करना चाहिए, या मैंने सामायिक की या नहीं की, इस प्रकार प्रबल प्रमादके कारण स्मरण न रहना प्रथम अतिचार है, क्योंकि मोक्षमार्गके अनुष्ठानका मूल स्मरण है। सावद्य कार्योंमें प्रवृत्तिको दुष्प्रणिधान कहते हैं। हाथ-पैर आदिको निश्चल न रखना कायदुष्प्रणिधान है। सामायिकमें पाठ या मन्त्रका ऐसा उच्चारण करना कि कुछ भी अर्थबोध न हो सके या वचनमें चपलता होना वचनदुष्प्रणिधान है। सामायिक करते समय क्रोध, लोभ, द्रोह, अभिमान और ईर्ष्या आदिका होना तथा कार्योंमें आसक्ति होनेसे मनका चंचल होना मनदुष्प्रणिधान है। मनदुष्प्रणिधान और स्मृतिअनुपस्थापनमें यह अन्तर है कि क्रोध आदिके आवेशसे सामायिकमें मनका चिरकाल तक स्थिर न रहना मनदुष्प्रणिधान है और चिन्ताकी चंचलतासे एकाग्ररूपसे न रहना स्मृति अनुपस्थापन है। अनुत्साहको अनादर कहते हैं। नियत समय पर सामायिक न करना या जिस किसी तरह करना और करनेके बाद ही तुरन्त खाने-पीने आदिमें लग जाना अनादर है। ये सब जानकर यदि कोई 'बिना विधिके सामायिक करनेसे तो न करना अच्छा है' ऐसे वचनको प्रमाण मानकर अतिचार लगनेकी सम्भावनासे सामायिक करनेमें उत्साहित न हो तो यह उचित नहीं है। प्रारम्भमें तो मुनियोंके भी एक देश विराधना होना सम्भव है किन्तु इतने मात्रसे सामायिक व्रत भंग नहीं होता। 'मैं मनसे

---

१. 'योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।'—त. सू. ७।३३।

यतीनामप्यारम्भे अभावितपूर्वत्वादेकदेशविराधनस्य संभवात् । न चैतावता तस्य भङ्गो, मनसा सावद्यं न करोमीत्यादिप्रत्याख्यानेऽन्यतरभङ्गेऽपि शेषसद्भावान्न सामायिकस्यात्यन्ताभाव इत्यमीषामतिचारतैव । सुभावितसामायिकस्तु यदा श्रावको भविष्यति तदा तृतीयपदमेवाभ्युपगमिष्यतीति युक्तो व्रतिकस्यातिचार-परिहाराय यत्नः ॥३३॥

अथ प्रोषधव्रतं लक्षयति—

> स प्रोषधोपवासो यच्चतुष्पर्व्यां यथागमम् ।
> साम्यसंस्कारदार्ढ्याय चतुर्भुक्त्युज्झनं सदा ॥३४॥

प्रोषधोपवासः—प्रोषधे पर्वे उपवासश्चतुर्विधाहारपरिहारः । चतुष्पर्व्यां—चतुर्णां पर्वणां समाहारश्चतुष्पर्वी । पर्वी (-र्व) शब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । तद्यथा—'अपर्वे मुण्डितं शिरः' इति । तस्यां मासे द्वयोरष्टम्योर्द्वयोश्च चतुर्दश्योरित्यर्थः । उक्तं च—

> 'पर्वाणि प्रोषधान्याहुर्मासे चत्वारि तानि च ।
> पूजाक्रियाव्रताधिक्याद्धर्मकर्माऽत्र बृंहयेत् ॥' [सो. उपा. ४५०]

साम्येति । तदुक्तम् —

> 'सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् ।
> पक्षार्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥' [पुरुषार्थ. १५१]

पापकार्य नहीं करूँगा' इत्यादि प्रत्याख्यानोंमें किसी एकका भंग होनेपर भी शेष प्रत्याख्यान रहनेसे सामायिकका अत्यन्ताभाव नहीं होता। अतः ये पाँचों अतिचार ही हैं। जब श्रावक निरतिचार सामायिक करने लगेगा तब तो वह तीसरी प्रतिमा ही स्वीकार कर लेगा। अतः व्रत प्रतिमाधारीके लिए अतिचारोंको दूर करनेका प्रयत्न करना उचित है ॥३३॥

अब प्रोषधोपवास व्रतका लक्षण कहते हैं—

जो सामायिकके संस्कारको दृढ़ करनेके लिए चारों पर्वोंमें आगमके अनुसार सदा चारों प्रकारके आहारका तथा चार भोजनोंका त्याग करता है, वह प्रोषधोपवास है ॥३४॥

विशेषार्थ—प्रोषध अर्थात् पर्वमें उपवास करनेको प्रोषधोपवास कहते हैं। पूज्यपाद स्वामीके अनुसार प्रोषध शब्द पर्वका पर्यायवाची है अर्थात् प्रोषध और पर्व शब्दका अर्थ एक ही है। किन्तु आचार्य समन्तभद्रके अनुसार एक बार भोजन करनेको प्रोषध कहते हैं। और अशन, स्वाद्य, खाद्य और लेह्यके भेदसे चारों प्रकारके आहारका त्याग करना उपवास है। जो उपवास करके आरम्भ किया जाता है वह प्रोषधोपवास है। आशय यह है कि यह उपवास पर्वके दिन किया जाता है। अष्टमी और चतुर्दशीको पर्व कहते हैं। एक मासमें चार पर्व होते हैं। प्रोषधोपवास करनेवाला उपवाससे पहले दिन अर्थात् सप्तमी और त्रयोदशीको एक बार भोजन करता है। फिर अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास करके नौमी और अमावस्या या पूर्णिमाके दिन भी एक बार भोजन करता है। उसीको प्रोषधोपवास कहते हैं। यदि उपवाससे पहले दिन और उपवाससे अगले दिन दोनों बार भोजन किया जाये और पर्वके दिन उपवास किया जाये तो उसे प्रोषधोपवास नहीं कहते, मात्र उपवास

---

१. प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची......प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः ॥ सर्वा. सि. ७।२१ ।

२. श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रने अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्याको चतुष्पर्वी कहा है, यथा—'चतुष्पर्वी अष्टमी-चतुर्दशी-पूर्णिमा-अमावस्यालक्षणा ।'—योग शा. ३।८५ ।

चतुर्भुक्त्युज्झनं—चतसृणां भुक्तीनां भोज्यानामशनादिद्रव्याणां भुक्तिक्रियाणां च त्यागः। एका हि भुक्तिक्रिया धारणकदिने, द्वे उपवासदिने, चतुर्थी च पारणकदिने प्रत्याख्यायते। एतेनेदमपि स्वाम्युक्तं तल्लक्षण-माक्षिपति—

'चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥' [र. श्रा. १०९]

अत्र आरम्भमिति पारणकदिने सकृद्भुक्तिरित्यर्थः ॥३४॥

एवमुत्तमं प्रोषधविधानमुक्त्वा मध्यमं जघन्यं च तदुपदेष्टुमाह—

उपवासाक्षमैः कार्योऽनुपवासस्तदक्षमैः।
आचाम्लनिर्विकृत्यादि शक्त्या हि श्रेयसे तपः ॥३५॥

कहते हैं। अतः आचार्य समन्तभद्रकी व्युत्पत्ति ही अधिक संगत प्रतीत होती है। पं. आशाधरजीने अपनी टीकामें चतुर्मुक्तिके दो अर्थ किये हैं—चार प्रकारकी मुक्ति और चार मुक्तिक्रिया। अर्थात् चारों प्रकारके भोज्य पदार्थोंका त्याग तथा चार बार भोजन करनेका त्याग प्रोषधोपवास है। अर्थात् उपवासके पहले दिन और दूसरे दिन एक-एक बार और उपवासके दिन दोनों बार इस तरह चार बारका भोजन जिस उपवासमें छोड़ा जाता है वह प्रोषधोपवास है। किन्तु केवल चारों प्रकारके आहारका त्याग या चार बार भोजनका त्याग तो एक तरहसे द्रव्य उपवास है, भाव उपवास या निश्चय उपवास नहीं है। जिसमें पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करनेमें उदासीन रहती हैं उसे उपवास कहते हैं। पूज्यपाद स्वामीने 'उपवास' शब्दकी यही निरुक्ति की है और उसका अर्थ चारों प्रकारके आहारका त्याग किया है। आहारका त्याग इन्द्रियोंको शिथिल करनेके लिए ही किया जाता है। इसीसे पूज्यपाद स्वामीने लिखा है कि अपने शरीरके संस्कारके कारण स्नान, गन्ध, माला, आभरण आदिसे रहित तथा आरम्भरहित श्रावक किसी अच्छे स्थानमें जैसे साधुओंके निवासमें या चैत्यालयमें या अपने प्रोषधोपवास गृहमें धर्मकथाके चिन्तनमें मन लगाकर उपवास करे। आचार्य समन्तभद्रने भी उपवासमें पाँचों पाप, अलंकार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प, स्नान और अंजनका त्याग कहा है। तथा दोनों कानोंसे बड़ी तृष्णाके साथ धर्मामृतका स्वयं श्रवण करने तथा दूसरोंके सुनाने और ज्ञान-ध्यानमें तत्पर रहनेको कहा है। पूज्यपाद स्वामीके ही अनुसार आचार्य अमितगतिने तथा चारित्रसारमें भी उपवासकी निरुक्ति की है ॥३४॥

इस प्रकार उत्तम प्रोषधका कथन करके अब मध्यम और जघन्य प्रोषधको बताते हैं—

जो उपवास करनेमें असमर्थ हैं उन्हें अनुपवास करना चाहिए। और जो अनुपवास भी करनेमें असमर्थ हैं उन्हें आचाम्ल तथा निर्विकृति आदि आहार करना चाहिए, क्योंकि शक्तिके अनुसार किया गया तप कल्याणके लिए होता है ॥३५॥

---

१. 'शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापि इन्द्रियाण्युपेत्य तस्मिन्वसन्तीत्युपवासः।'
—सर्वा. सि. ७।२१।

२. रत्न. श्रा. १०७-१०८ श्लो.।

३. 'उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्तानि स्वकार्यतः।
वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरुपवासोऽभिधीयते ॥'—अमि. श्रा. १२।११९।
चारित्रसारमें भी इसी श्लोकको उद्धृत किया है।

अनुपवासः सजलोपवासः। आचाम्लं—असंस्कृतसौवीरमिश्रौदनभोजनम्। निर्विकृति—विक्रियेते जिह्वामनसि अनयेति। विकृतिः गोरसेक्षुरसफलरसधान्यरसभेदाच्चतुर्धा। तत्र गोरसः क्षीरघृतादिः। इक्षुरसः खण्डगुडादिः। फलरसो द्राक्षाम्रादिनिष्यन्दो। धान्यरसः तैलमण्डादिः। अथवा यद्येन सह भुज्यमानं स्वदते तत्तत्र विकृतिरित्युच्यते। विकृतेर्निष्क्रान्तं भोजनं निर्विकृतिः। आदिशब्देन एकस्थानैकभक्तरसत्यागादिः। उक्तं च—

'जह उक्कस्सं तह मज्झिमं पि पोसहविहाणमुद्दिट्ठं।
णवरि विसेसो सलिलं छंडित्ता वज्जए सेसं॥
मुणिदूण गुरुगकज्जं सावज्जविवज्जियं णिरारंभं।
जदि कुणदि तं पि कुज्जा सेसं पुव्वं व णायव्वं॥
आयंविलणिव्वियिदियएयट्ठाणं च एयभत्तं वा।
जं कीरदि तण्णेयं जहण्णयं पोसहविहाणं॥' [वसु. श्रा. २९०-२९२] ॥३५॥

विशेषार्थ—प्रोषधोपवासके ये उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भेद उत्तरकालीन श्रावकाचारोंमें ही मिलते हैं। अमितगति और वसुनन्दीने अपने श्रावकाचारोंमें इन तीन भेदोंका कथन किया है। तदनुसार ही आशाधरजीने कहा है। आचार्य अमितगतिने तो चार भुक्तियोंके त्यागको उत्कृष्ट, तीन भुक्तियोंके त्यागको मध्यम और दो भुक्तियोंके त्यागको अधम कहा है। अर्थात् उत्कृष्ट प्रोषध तो वही है जिसे ऊपर कहा है और मध्यम प्रोषध वह है जिसे आशाधरजी अनुपवास कहते हैं। उत्कृष्ट प्रोषधसे इसमें इतना ही अन्तर है कि उपवासके दिन केवल जल ग्रहण किया जाता है। शेष चारों प्रकारके आहारका त्याग रहता है। और अधम उपवास वह कहा जाता है जिसमें उपवाससे पहले दिन और दूसरे दिन दोनों बार भोजन ग्रहण किया जाता है किन्तु उपवासके दिन कुछ भी ग्रहण नहीं किया जाता। वसुनन्दीके अनुसार भी उत्कृष्ट और मध्यम प्रोषध तो उक्त प्रकार ही हैं। किन्तु उपवासके दिन आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान और एकभक्त करनेको जघन्य प्रोषध कहा है। आशाधरजीने भी जघन्य प्रोषधका स्वरूप वसुनन्दीके अनुसार ही कहा है। इमलीके रसके साथ भातके भोजनको आचाम्ल कहते हैं। जिससे जिह्वा और मन विकारयुक्त हों ऐसे भोजनको विकृति कहते हैं। गोरस, इक्षुरस, फलरस और धान्यरसके भेदसे विकृतिके चार भेद हैं। दूध, घी आदिको गोरस कहते हैं। खाँड, गुड़ आदिको इक्षुरस कहते हैं। दाख, आम आदिके रसको फलरस कहते हैं। तेल, माँड़ आदिको धान्य रस कहते हैं। अथवा जिसके साथ खानेसे स्वादिष्ट लगे वह विकृति है। विकारसे रहित भोजनको निर्विकृति कहते हैं। आदि शब्दसे एकस्थान, एकभक्त, रसत्याग आदिका ग्रहण होता है। एकस्थानका अर्थ दिगम्बर साहित्यमें देखनेमें नहीं आया। श्वेताम्बर साहित्यके अनुसार इस प्रकार है—जिस आसनसे भोजनको बैठे उससे दाहिने हाथ और मुँहके सिवाय किसी भी अंगको चलायमान न करे। यहाँ तक कि किसी अंगमें खुजलाहट होनेपर भी दूसरे हाथको उसे

---

१. 'वर्तमानो मतस्त्रेधा स वर्यो मध्यमोऽधमः। कर्तव्यः कर्मनाशाय निजशक्त्यनिगूहकैः॥
चतुर्णां तत्र भुक्तीनां त्यागे वर्यश्चतुर्विधः। उपवासः सपानीयस्त्रिविधो मध्यमो मतः॥
भुक्तिद्वयपरित्यागे त्रिविधो गदितोऽधमः। उपवासस्त्रिधाऽप्येषः शक्तित्रितयसूचकः'॥
—अमि. श्रा. १२।१२२-१२४।

अथ यथागममित्यस्यार्थं चतुःश्लोक्या व्याचष्टे—

पर्वपूर्वदिनस्यार्धे भुक्त्वाऽतिथ्याशितोत्तरम् ।
लात्वोपवासं यतिवद्विविक्तवसतिं श्रितः ॥३६॥
धर्मध्यानपरो नीत्वा दिनं कृत्वाऽऽपराह्णिकम् ।
नयेत्त्रियामां स्वाध्यायरतः प्रासुकसंस्तरे ॥३७॥

पर्वपूर्वदिनस्य—सप्तम्यास्त्रयोदश्याश्च अर्धे प्रहरद्वये वा किंचित् न्यूनेऽधिकेऽपि वा। समेऽप्यसमे चांशेऽर्धशब्दस्य रूढत्वात्। अतिथ्याशितोत्तरं—अतिथेराशिताद्भोजनविधापनादनन्तरमतिथिं भोजयित्वेत्यर्थः। यतिवत्—यतिना तुल्यं, यथा यतिर्भोजनानन्तरमेवोपवासं गृह्णाति विधिवत्सूरेश्च समीपं गत्वा पुनरुच्चारयति सावद्यव्यापारं शरीरसंस्कारमब्रह्म च सदा त्यजत्येवं प्रोषधे श्रावकोऽपि प्रवर्ततामित्यर्थः। उक्तं च—

'पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् ।
स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥' [र. श्रा. १०७] ॥३६॥

धर्मध्यानपरः। ध्यानोपरमे स्वाध्यायादिरपि कार्यं इति परशब्देन प्रधानार्थेन सूच्यते। यदाह—

'धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान् ।
ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥' [र. श्रा. १०८]

आपराह्णिकं—सान्ध्यं क्रियाकल्पम्। एतेन निद्रालस्ये त्यजेदिति लक्षयति ॥३७॥

ततः प्राभातिकं कुर्यात्तद्वद्यामान् दशोत्तरान् ।
नीत्वातिथिं भोजयित्वा भुञ्जीतालौल्यतः सकृत् ॥३८॥

तद्वत्—पूर्वोक्तषट्प्रहरवत्। अलौल्यतः—भोजने आसक्तिमकृत्वेत्यर्थः ॥३८॥

खुजानेके लिए नहीं उठाना चाहिए। और एकभक्त तो प्रसिद्ध है एक बार भोजन करना किन्तु वह भोजन एक ही स्थानपर करना चाहिए, बीचमें उठना नहीं चाहिए ॥३५॥

आगे चार श्लोकोंके द्वारा प्रोषधोपवासकी विधि आगमानुसार बताते हैं—

पर्वसे पूर्व दिन अर्थात् सप्तमी और त्रयोदशीके आधे भागमें अर्थात् कुछ कम या कुछ अधिक दो पहर दिन होनेपर अतिथियोंको भोजन करानेके पश्चात् स्वयं भोजन करके मुनिकी तरह उपवासकी प्रतिज्ञा लेकर प्रासुक अथवा एकान्त स्थानमें रहे। और धर्मध्यानमें तत्पर रहते हुए दिन बितावे। तथा सन्ध्याकालीन क्रियाकर्म करके रात्रिको प्रासुक भूमिमें प्रासुक तृणोंसे तैयार किये गये शयन स्थानपर स्वाध्यायमें लगकर बितावे ॥३६-३७॥

पूर्वोक्त विधिसे छह प्रहर बितानेके बाद प्रातःकालीन आवश्यक आदि कर्म करे। और इसी तरह उपवास सम्बन्धी दिन-रातके आठ पहर तथा दूसरे दिनके दो पहर इन दस पहरोंको बिताकर अतिथिको भोजन करानेके पश्चात् बिना आसक्तिके एक बार भोजन करे ॥३८॥

विशेषार्थ—उपवासका समय अर्थात् सोलह प्रहर किस तरहसे बिताना चाहिए इसका पूरा विवरण पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें दिया है, उसीको अमितगति और वसुनन्दिने थोड़ा विकसित किया है। इन्हीं सबका निचोड़ सागारधर्मामृतमें आशाधरजीने दिया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—प्रतिदिन स्वीकृत किये गये सामायिक संस्कारको स्थिर करनेके लिए दोनों पक्षोंके आधे भागमें अर्थात् अष्टमी, चतुर्दशीको उपवास अवश्य करे। इसकी विधि इस प्रकार है—समस्त आरम्भसे मुक्त होकर तथा शरीर आदिमें ममत्व त्यागकर प्रोषधो-

पूजयोपवसन् पूज्यान् भावमय्यैव पूजयेत् ।
प्रासुकद्रव्यमय्या वा रागाङ्गं दूरमुत्सृजेत् ॥३९॥

भावमय्या—गुणानुस्मरणलक्षणया, भावपूजार्थत्वाद् द्रव्यपूजायाः । भावपूजा च सामायिकप्रसक्तत्वेनोपवसतः सिद्धैव । प्रासुकद्रव्यमय्या अक्षतमौक्तिकमालादिप्रकृतया । उक्तं च—

'प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् ।
निर्वर्तयेद् यथोक्तां जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥' [पुरुषा. १५५]

रागाङ्गं गीतनृत्यादि ॥३९॥

पवासके दिनसे पहलेके दिनके अर्ध भागमें उपवास ग्रहण करे। और निर्जन वसतिकामें जाकर सम्पूर्ण सावद्य योगको त्यागकर तथा सब इन्द्रियोंके विषयोंसे विरत होकर काय-गुप्ति, मनोगुप्ति, वचनगुप्तिपूर्वक रहे। धर्मध्यानपूर्वक दिन बिताकर सन्ध्याकालीन कृति-कर्म करके पवित्र संस्तरेपर स्वाध्यायपूर्वक रात्रि बितावे। प्रातः उठकर प्रातःकालीन क्रिया-कर्म करके प्रासुक द्रव्योंसे जिन भगवान्‌की पूजा करे। इसी विधिसे उपवासका दिन और दूसरी रात बिताकर तीसरे दिनका आधा भाग बितावे। इस प्रकार जो सम्पूर्ण सावद्य कार्योंको त्यागकर सोलह प्रहर बिताता है उसको उस समय निश्चय ही सम्पूर्ण अहिंसाव्रत होता है। यह सम्पूर्ण कथन आचार्य अमृतचन्द्रका है। अमितगतिने भी तदनुसार कथन करते हुए कहा है—उपवास स्वीकार करनेके दिन दूसरे प्रहरमें भोजन करके आचार्यके पास जाकर भक्तिपूर्वक वन्दना करके कायोत्सर्ग करे। फिर पंचांग प्रणाम करके आचार्यके वचनानुसार उपवास स्वीकार करके पुनः विधिपूर्वक कायोत्सर्ग करे। फिर आचार्यकी स्तुति करके वन्दना करे और दो दिन स्वाध्यायपूर्वक बितावे। आचार्यकी साक्षिपूर्वक ग्रहण किया हुआ उपवास निश्चल होता है। उपवासमें मन-वचन-कायसे समस्त भोगों और उपभोगोंका त्याग करना चाहिए और पृथ्वीपर प्रासुक संस्तर बनाकर उसपर सोना चाहिए। असंयमवर्धक समस्त आरम्भ छोड़कर मुनिकी तरह विरक्तचित्त रहना चाहिए। तीसरे दिन समस्त आवश्यक आदि करके अतिथिको भोजन करानेके बाद भोजन करना चाहिए। इस विधिसे किया गया एक भी उपवास पापको वैसे ही दूर करता है जैसे सूर्य अन्धकारको दूर करता है। आचार्य वसुनन्दिने भी ऐसा ही कथन किया है (वसु. श्रा. २८८१-२८९ गा.) ॥३८॥

उपवास करनेवाला पूज्य, देव, शास्त्र, गुरुकी भावमयी पूजासे ही पूजा करे। उसमें असमर्थ हो तो प्रासुक द्रव्यमयी पूजा करे। और रागके कारण गीत-नृत्य आदिको दूरसे ही छोड़ दे ॥३९॥

विशेषार्थ—अनुरागपूर्वक पूज्य व्यक्तियोंके गुणोंके स्मरणको भावपूजा कहते हैं। द्रव्यपूजा भी भावपजाके लिए ही की जाती है। वैसे तो उपवास करनेवाला जब सामायिक करता है तो भावपूजा होती ही है। जो उसमें असमर्थ हो अर्थात् द्रव्यके अवलम्बनके बिना अपने भावोंको स्थिर रखनेमें असमर्थ हो वह प्रासुक द्रव्य अक्षत, अचित्त-फूल-फल आदिसे पूजन करे। सचित्त द्रव्यसे पूजन करनेवालेको भी उपवासके दिन अचित्त द्रव्यसे ही पूजन करना चाहिए। तथा रागके कारणोंसे बचना चाहिए। आचार्य समन्तभद्रने उपवासके दिन

---

१. पुरुषार्थ. १५२-१५७ श्लो.। २. अमित. श्रा. १२।१२५-१३२ श्लो.।

अथ प्रोषधोपवासातिचारपरिहारार्थमाह—

ग्रहणास्तरणोत्सर्गाननवेक्षाप्रमार्जनान् ।
अनादरमनैकाग्र्यमपि जह्यादिह व्रते ॥४०॥

ग्रहणं—अर्हदादिपूजोपकरणपुस्तकादेरात्मपरिधानाद्यर्थस्य चादानम् । उपलक्षणात्तन्निक्षेपोऽपि । आस्तरणं—संस्तरोपक्रमः । उत्सर्गः—विण्मूत्रादीनां त्यागः । अनवेक्षाप्रमार्जनान्—अवेक्षा जन्तवः सन्ति न सन्तीति वा चक्षुषावलोकनम् । प्रमार्जनं मृदुनोपकरणेन प्रतिलेखनम् । न स्तस्ते येषु तान् । इह चानवेक्षया दुरवेक्षणमप्रमार्जनेन च दुष्प्रमार्जनं संगृह्यते, नञः कुत्सार्थस्यापि दर्शनात् । यथा कुत्सितो ब्राह्मणः अब्राह्मणः । अनादरं क्षुत्पीडितत्वादावश्यकादिष्वनुत्साहम्, प्रोषधव्रते एव वा । तद्वदनैकाग्र्यमपि । यशस्तिलके त्वेवमुक्तम्—

'अनवेक्षाप्रतिलेखनदुष्कर्मारम्भदुर्मनस्काराः ।
स्वावश्यकविरतियुताश्चतुर्थमेते विनिघ्नन्ति ॥' [सो. उपा. ७५६] ॥४०॥

अथातिथिसंविभागव्रतं लक्षयति—

पाँच पाप, अलंकार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प, स्नान, अंजन और नस्यका निषेध किया है। तथा धर्मामृतका पान करते हुए ज्ञान-ध्यानमें तत्पर रहनेपर जोर दिया है। अमृतचन्द्रजीने प्रातः उठकर प्रातःकालीन क्रियाकल्प करके प्रासुक द्रव्यसे जिनपूजन करनेका निर्देश किया है ॥३९॥

प्रोषधोपवासव्रतके अतीचार कहकर उन्हें दूर करनेकी प्रेरणा करते हैं—

इस प्रोषधोपवास व्रतमें बिना देखे और बिना कोमल उपकरणसे साफ किये या दूरसे ही देखकर और दुष्टतापूर्वक साफ करके उपकरणोंका ग्रहण, संस्तरे आदिका बिछाना, मल-मूत्रका त्याग तथा अनादर और अनैकाग्र्यको छोड़ना चाहिए ॥४०॥

विशेषार्थ—प्रोषधोपवासके पाँच अतीचार हैं—ग्रहण, आस्तरण, उत्सर्ग, अनादर और अनैकाग्र्य। पहले तीनके साथ अनवेक्षा और अप्रमार्जन लगता है। जन्तु हैं या नहीं यह आँखोंसे देखना अवेक्षा है। और कोमल उपकरणसे साफ करना, पोंछना, झाड़ना आदि प्रमार्जन है। ये दोनों नहीं होना अनवेक्षा और अप्रमार्जन है। यहाँ अनवेक्षासे दूरसे देखना और अप्रमार्जनसे दुष्टतापूर्वक प्रमार्जन करना भी लिया जाता है। बिना ठीकसे देखे और बिना कोमल उपकरणसे साफ किये अर्हन्त आदिकी पूजाके उपकरणों, पुस्तकों और अपने पहननेके वस्त्र आदिको ग्रहण करना तथा रखना, संस्तरा बिछाना, मल-मूत्र आदि त्यागना ये तीन अतीचार हैं। भूखसे पीड़ित होनेसे आवश्यकोंमें अथवा प्रोषधोपवासमें ही आदरका न होना और मनका स्थिर न रहना ये दो, इस तरह पाँच अतीचार छोड़ने चाहिए। अनैकाग्र्यके स्थानमें तत्त्वार्थसूत्र और पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें स्मृत्यनुपस्थान तथा रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें अस्मरण नामका अतीचार है। इन सबके अर्थमें कोई भेद नहीं है। सोमदेव सूरिने कहा है—'बिना देखे, बिना साफ किये किसी भी सावद्यकार्यको करना, बुरे विचार लाना, सामायिक आदि आवश्यक कर्मोंको न करना ये काम प्रोषधोपवासव्रतके घातक हैं' ॥४०॥

अब अतिथिसंविभाग व्रतका लक्षण कहते हैं—

---

१. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।—त. सू. ७।३४।

व्रतमतिथिसंविभागः पात्रविशेषाय विधिविशेषेण ।
द्रव्यविशेषवितरणं दातृविशेषस्य फलविशेषाय ॥४१॥

व्रतं नियमेन सेव्यतया प्रतिपन्नत्वात् । तथा च सत्यतिथ्यलाभेऽपि तद्दानफलभाक्त्वोपपत्तेः । अतिथिसंविभागः—अतिथेः सगतो निर्दोषो विभागः स्वार्थकृतभक्ताद्यंशदानरूपः ॥४१॥

अथातिथिशब्दव्युत्पादनमुखेनातिथिलक्षणमाह—

ज्ञानादिसिद्धयर्थतनुस्थित्यर्थान्नाय यः स्वयम् ।
यत्नेनातति गेहं वा न तिथिर्यस्य सोऽतिथिः ॥४२॥

ज्ञानादीत्यादि । उक्तं च—

'कायस्थित्यर्थमाहारः कायो ज्ञानार्थमिष्यते ।
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं सुखम् ॥' [ ]

विशेष फलके लिए, विशेष विधिसे, विशेष दाताका, विशेष पात्रके लिए, विशेष द्रव्य देना अतिथिसंविभाग व्रत है ॥४१॥

विशेषार्थ—तत्त्वार्थ सूत्रमें (७।३९) कहा है कि विधि, द्रव्य, दाता और पात्रकी विशेषतासे दानके फलमें विशेषता होती है। उसीके अनुसार यहाँ प्रत्येकके साथ विशेष शब्दका प्रयोग किया है। इनका विशेष स्वरूप आगे कहेंगे। अतिथिको सम्यक् अर्थात् निर्दोष, विभाग अर्थात् अपने लिए किये गये भोजन आदिका भाग देना अतिथिसंविभाग व्रत है। इस व्रतका पालन श्रावकको नियमसे करना चाहिए। ऐसा करनेसे अतिथिके न मिलनेपर भी अतिथिदानका फल प्राप्त होता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें इसका नाम वैयावृत्य है। जिनका कोई घर नहीं हैं, जो गुणोंसे सम्पन्न है ऐसे तपस्वियोंको बिना किसी प्रत्युपकारकी भावनाके जो अपने सामर्थ्यके अनुसार दान देना है उसे वैयावृत्य कहते हैं। उनके गुणोंमें अनुरागसे उनके कष्टोंको दूर करना, उनके पैर दबाना, अन्य भी जो संयमियोंका उपकार किया जा सकता है वह सब वैयावृत्य है। सात गुणोंसे सहित शुद्ध श्रावकके द्वारा पाँच पापक्रियाओंसे रहित मुनियोंका जो नवधा भक्तिसे समादर किया जाता है उसे दान कहते हैं। घरबार छोड़ देनेवाले अतिथियोंका समादर घरके कार्योंसे संचित पापकर्मको उसी तरह धो देता है जैसे पानी रक्तको धो देता है। इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र स्वामीने इस व्रतकी प्रशंसा की है। सोमदेव सूरिने उपासकाध्ययनके तेतालीसवें कल्पमें, और आचार्य अमितगतिने अपने श्रावकाचारके नवम परिच्छेदमें दानका बहुत विस्तारसे वर्णन किया है ॥४१॥

अतिथि शब्दकी व्युत्पत्तिके द्वारा उसका लक्षण कहते हैं—

अन्नका प्रयोजन शरीरकी आयुपर्यन्त स्थिति है और शरीरकी स्थितिका प्रयोजन ज्ञानादिकी सिद्धि है। उस अन्नके लिए जो स्वयं बिना बुलाये संयमकी रक्षा करते हुए सावधानतापूर्वक दाताके घर जाता है वह अतिथि है। अथवा जिसकी कोई तिथि नहीं है वह अतिथि है ॥४२॥

---

१. 'दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये । अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥
व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् । वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥'
—र. श्रा. १११-११२ आदि ।

यत्नेन—संयमाविरोधेन। अतति—सर्वदा गच्छति। उक्तं च—

'अतति स्वयमेव गृहं संयममविराधयन्ननाहूतः।
योऽसावतिथिः प्रोक्तः शब्दार्थविचक्षणैः साधुः॥' [अमि. श्रा. ६।९५]

नेत्यादि। उक्तं च—

'तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना।
अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः॥' [ ] ॥४२॥

अथ पात्रस्वरूपसंख्यानिर्णयार्थमाह—

यत्तारयति जन्माब्धेः स्वाश्रितान्यानपात्रवत्।
मुक्त्यर्थगुणसंयोगभेदात्पात्रं त्रिधाऽस्ति तत्॥४३॥

स्वाश्रितान्—दानस्य कर्त्रनुमन्तॄन् सांयात्रिकादींश्च। त्रिधा। उक्तं च—

'पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
सम्यग्दृष्टिरविरतो विरताविरतस्तथा विरतः॥' [पुरुषार्थ. १७१] ॥४३॥

विशेषार्थ—साधु खानेके लिए नहीं जीता किन्तु जीवित रहनेके लिए भोजन ग्रहण करता है। और जीवित रहनेका उद्देश्य है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको सम्पूर्ण करना। उनकी पूर्ति ही सिद्धि है। यतः शरीरके बिना वह सम्भव नहीं है और शरीर की स्थिति भोजनके बिना सम्भव नहीं है। कहा है—'शरीरकी स्थितिके लिए भोजन है। शरीर ज्ञानके लिए है। ज्ञान कर्मविनाशके लिए है। कर्मके विनाश होनेपर परमसुख होता है।' अतः उसे स्वयं सावधानीपूर्वक चलते हुए दाताके घर जाना पड़ता है ऐसे साधुको अतिथि कहते हैं। तथा तिथिसे मतलब होता है कोई निश्चित दिन निश्चित समय। वह जिसकी नहीं है वह अतिथि है अर्थात् जिसके आनेका काल नियत नहीं है। पूज्यपाद[3] स्वामी ने अतिथि शब्दके यही दो अर्थ किये हैं। [4]सोमदेव सूरिने एक नया ही अर्थ किया है। पाँचों इन्द्रियोंकी अपने-अपने विषयमें प्रवृत्ति ही पाँच तिथियाँ हैं। और इन्द्रियोंकी अपने विषयमें प्रवृत्ति संसारका कारण है अतः उनसे जो मुक्त है वह अतिथि है ॥४२॥

पात्रका स्वरूप और भेद कहते हैं—

जो जहाजकी तरह अपने आश्रितोंको अर्थात् दानके कर्ता, करानेवाले और दानकी अनुमोदना करनेवालेको संसार-समुद्रसे पार कर देता है वह पात्र है। मुक्तिके कारण या मुक्ति ही जिनका प्रयोजन है उन सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके संयोगके भेदसे पात्रके तीन भेद हैं ॥४३॥

विशेषार्थ—जैसे समुद्रमें स्थित जहाज अपने आश्रित नाविकोंको समुद्रसे पार कर देता है वैसे ही जो अपने आश्रितोंको संसारसे पार करता है वह पात्र है। जो सम्यग्दर्शनादि गुण मुक्तिके कारण हैं उनके सम्बन्धके भेदसे पात्रके तीन भेद हैं ॥४३॥

---

१. था मतम्, मु.।

२. अविरतसम्यग्दृष्टिविरताविरतश्च सकलविरतश्च—मु.।

३. 'संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः। अथवा नाऽस्य तिथिरस्तीत्यतिथिः अनियतकालागमन इत्यर्थः।'
—स. सि. ७।२१।

४. 'पञ्चेन्द्रियप्रवृत्त्याख्यास्तिथयः पञ्च कीर्तिताः।
संसाराश्रयहेतुत्वात्ताभिर्मुक्तोऽतिथिर्भवेत्॥'—सो. उपा. ८७८ श्लो.।

एतदेव विशेषयन्नाह—

यतिः स्यादुत्तमं पात्रं मध्यमं श्रावकोऽधमम् ।
सुदृष्टिस्तद्विशिष्टत्वं विशिष्टगुणयोगतः ॥४४॥

स्पष्टम् ॥४४॥

दानविधेः प्रकारान् वैशिष्ट्यं चाह—

प्रतिग्रहोच्चस्थानांघ्रिक्षालनार्चानतीर्विदुः ।
योगान्नशुद्धीश्च विधीन् नवादरविशेषितान् ॥४५॥

प्रतिग्रहेत्यादि । प्रतिग्रहादीनामुत्तमपात्रविषयाणां विस्तरशास्त्रं...

'पत्तं णियपुरदारे दट्ठूणण्णत्थ वा वि मग्गित्ता ।
पडिगहणं कायव्वं णमोत्थु ट्ठाहुत्ति भणिदूण ॥
णेऊण णिययगेहं णिरवज्जाणुवहदुच्चठाणम्मि ।
ठविदूण तदो चलणाण धोवणं होदि कायव्वं ॥
पादोदयं पवित्तं सिरम्मि ठादूण अच्चणं कुज्जा ।
गंधक्खय-कुसुमणिवेज्जदीवधूवेहिं य फलेहिं ॥

वे ही तीन भेद बतलाते हैं—

मुनि उत्तम पात्र है। श्रावक मध्यम पात्र है और सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है। गुणविशेषके सम्बन्धसे उन उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रोंमें परस्परमें तथा दूसरोंसे भेद है ॥४४॥

विशेषार्थ—मुनि या यति या साधुमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नोंका संयोग रहता है। श्रावकमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके साथ एकदेश संयम रहता है और सम्यग्दृष्टि असंयत सम्यग्दृष्टि होता है उसमें संयमका एकदेश भी नहीं रहता है। इस तरह इन गुणोंके संयोगके भेदसे पात्रके तीन भेद रत्नकरण्डके सिवाय सब श्रावकाचारोंमें कहे हैं ॥४४॥

दानकी विधिके प्रकार और उनकी विशेषता बतलाते हैं—

[1]पूर्वाचार्य यथायोग्य भक्तिपूर्वक उपचारसे विशेषताको प्राप्त प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजा, नमस्कार, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि इन नौ विधियोंको अर्थात् दान देनेके उपायोंको जानते हैं ॥४५॥

विशेषार्थ—यह उत्तम पात्रोंको दान देनेकी नौ विधियाँ हैं। अपने घरके द्वारपर यतिको देखकर 'मुझपर कृपा करें' ऐसी प्रार्थना करके तीन बार 'नमोऽस्तु' और तीन बार 'स्वामिन् तिष्ठ' कहकर ग्रहण करना प्रतिग्रह है। यतिके स्वीकार करने पर उन्हें अपने घरके भीतर ले जाकर निर्दोष बाधारहित स्थानमें ऊँचे आसनपर बैठाना दूसरी विधि है। साधुके आसन ग्रहण कर लेनेपर प्रासुक जलसे उनके पैर धोना और उनके पादजलकी वन्दना करना तीसरी विधि है। पैर धोनेके बाद साधुका अष्ट द्रव्यसे पूजन करना चौथी विधि है। पूजनके बाद पंचांग प्रणाम करना छठी विधि है। उसके बाद चार शुद्धियाँ हैं। आहार देते

१. 'संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च ।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥'—पुरुषा. १६८ श्लो. ।

पुप्फंजलि खिवित्ता पयपुरदो वंदणं तदो कुज्जा।
चइऊण अट्टरुद्दे मणसुद्धी होदि कायव्वा ॥
णिट्ठुर-कक्कसवयणाण वज्जणं तं वियाण वचिसुद्धि।
सव्वत्थ संउडंगस्स होदि तह कायसुद्धी वि ॥
चोद्दसमलपरिसुद्धं जं दाणं सोहिदूण जदणाए।
संजदजणस्स दिज्जदि सा णेया एसणा सुद्धी ॥' [वसु. श्रा. २२६-२३१] ॥४५॥

अथ देयद्रव्यविशेषनिर्णयार्थमाह—

पिण्डशुद्धयुक्तमन्नादिद्रव्यं वैशिष्टयमस्य तु।
रागाद्यकारकत्वेन रत्नत्रयचयाङ्गता ॥४६॥

अन्नादि—आहारौषधावासपुस्तकपिच्छिकादि। चयाङ्गं—वृद्धिकारणम्। तदुक्तम्—

'रागद्वेषासंयममदःदुःखभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥' [पुरुषार्थ. १७०] ॥४६॥

अथ दातृलक्षणं तद्वैशिष्टयं चाह—

नवकोटिविशुद्धस्य दाता दानस्य यः पतिः।
भक्तिश्रद्धासत्त्वतुष्टिज्ञानालौल्यक्षमागुणाः ॥४७॥

समय आर्त रौद्र ध्यानका न होना मनःशुद्धि है। कठोर वचन न बोलना वचनशुद्धि है। सर्वत्र देख-भालकर सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करना कायशुद्धि है। चौदह दोषोंसे रहित आहारको यत्नपूर्वक शोधकर साधुके हस्तपुटमें देना अन्नशुद्धि है। पूर्वके सभी आचार्योंने इन नौ उपायोंको स्वीकार किया है। इनकी विशेषता है आदर और भक्तिभावसे उक्त विधिका करना ॥४५॥

आगे देने योग्य द्रव्य और उसकी विशेषता बतलाते हैं—

पहले अनगारधर्मामृतके पिण्डशुद्धिका कथन करनेवाले पाँचवें अध्यायमें कहा गया आहार, औषध, आवास, पुस्तक, पिच्छिका आदि द्रव्य अर्थात् देने योग्य हैं। और राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख आदिको उत्पन्न न करते हुए सम्यग्दर्शन आदिकी वृद्धिका कारण होना उस द्रव्यकी विशेषता है ॥४६॥

विशेषार्थ—आचार्य अमृतचन्द्रजीने भी कहा है कि जो राग-द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदि उत्पन्न नहीं करता और सुतप तथा स्वाध्यायकी वृद्धि करता है वही द्रव्य साधुको देनेके योग्य होता है। आचार्य अमितगतिने कहा है—जिससे राग नष्ट होता है, धर्मकी वृद्धि होती है, संयम पुष्ट होता है, विवेक उत्पन्न होता है, आत्मामें शान्ति आती है, परका उपकार होता है तथा पात्रका बिगाड़ नहीं होता वही द्रव्य प्रशंसनीय होता है' ॥४६॥

आगे दाताका लक्षण और उनकी विशेषता बतलाते हैं—

नौ कोटियोंसे विशुद्ध दानका जो स्वामी होता है, जो दान देता है वह दाता है। भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलोलुपता और क्षमा ये उसके गुण है ॥४७॥

---

१. 'रागो निषूद्यते येन येन धर्मो विवर्द्धते।
संयमः पोष्यते येन विवेको येन जन्यते ॥
आत्मोपशम्यते येन येनोपक्रियते परः।
न येन नाश्यते पात्रं तद्दातव्यं प्रशस्यते ॥'—अमित. श्रा. ८।८१-८२।

नवकोट्यः—मनोवाक्कायैः प्रत्येकं कृतकारितानुमतानि । अथवा देयशुद्धिस्तत्कृते च दातृपात्रशुद्धी, दातृशुद्धिस्तत्कृते च देयपात्रशुद्धी । पात्रशुद्धिस्तत्कृते च देयदातृशुद्धी चेत्यार्षोक्ताः । पतिः—स्वामी प्रयोक्तेत्यर्थः । भक्तिः—पात्रगुणानुरागः । श्रद्धा—पात्रदानफले प्रतीतिः । सत्त्वं—यतः स्वल्पवित्तस्यापि स्वाढ्याश्चर्यकारिदानं स्यात् । तुष्टिः—दत्ते दीयमाने च प्रहर्षः । ज्ञानं—द्रव्यादिवेदित्वम् । अलौल्यं—सांसारिकफलानपेक्षा । क्षमा—दुर्निवारकालुष्यकारणोत्पत्तावपि कोपाभावः । तदुक्तं—

'भाक्तिकं तौष्टिकं श्राद्धं सविज्ञानमलोलुपम् ।
सात्त्विकं क्षमकं सन्तो दातारं सप्तधा विदुः ॥' [अमि. श्रा. ९।३]

किं च सत्त्वादिगुणदातृकं दानमपि सात्त्विकादिभेदात्त्रेधा । तदुक्तं—

'आतिथेयं स्वयं यत्र यत्र पात्रपरीक्षणम् ।
गुणाः श्रद्धादयो यत्र तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥
यदात्मवर्णनप्रायं क्षणिकाहार्यविभ्रमम् ।
परप्रत्ययसंभूतं दानं तद् राजसं मतम् ॥

विशेषार्थ—मन, वचन, काय और प्रत्येकसे कृत कारित अनुमोदना ये नौ कोटियाँ हैं। इनसे विशुद्ध दान जो देता है वह दाता है। महापुराणके अनुसार नौ कोटियाँ इस प्रकार हैं—देय शुद्धि और उसके लिये आवश्यक दाता और पात्रकी शुद्धि ये तीन। दाताकी शुद्धि और उसके लिए आवश्यक देय और पात्रकी शुद्धि ये तीन। पात्र शुद्धि और उसके लिए आवश्यक देय और दाताकी शुद्धि। ये नौ शुद्धियाँ हैं। अर्थात् दानके मुख्य आश्रय तीन हैं—दाता जो दान देता है, पात्र जो दान ग्रहण करता है और देय वस्तु। प्रत्येक की शुद्धिके साथ शेष दो की भी शुद्धि आवश्यक है। इन नौ कोटियोंसे विशुद्ध अर्थात् पिण्ड शुद्धिमें कहे गये दोषोंके सम्पर्कसे रहित दानका जो देनेवाला है वह दाता है उसके सात गुण हैं। दाताके सात गुणोंकी परम्परा बहुत प्राचीन है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें यद्यपि सात गुणोंके नाम नहीं गिनाये किन्तु दाताको सात गुण सहित होना चाहिए यह कहा है। महापुराणमें भगवान् ऋषभदेवके आहारके प्रसंगसे दानके लिए उपयोगी सभी बातोंका कथन है। उसमें दाताके सात गुणोंका स्वरूप भी कहा है। बादके तो सभी श्रावकाचारोंमें इनका कथन है। सोमदेवके उपासकाध्ययन, अमितगति श्रावकाचार आदिमें भी उनका स्वरूप कहा है। अमितगतिने सात गुणोंके भेदसे दाताके भी सात भेद कहे हैं—भाक्तिक, तौष्टिक, श्राद्ध, विज्ञानी, अलोलुपी, सात्त्विक और क्षमाशील। जो धर्मात्माकी सेवामें स्वयं तत्पर रहता है उसमें आलस्य नहीं करता, उस शान्त दाताको भाक्तिक कहते हैं अर्थात् वह पात्रके गुणोंमें अनुराग रखता है। जिसको पहले किये गये और वर्तमानमें दिये जानेवाले दानसे हर्ष है वह दाता तौष्टिक है अर्थात् दानसे हर्ष होना, देयमें आसक्ति न होना तुष्टि गुण है। साधुओंको दान देनेसे इच्छित फलकी प्राप्ति होती है ऐसी जिसकी श्रद्धा है वह दाता श्राद्ध अर्थात् श्रद्धागुणसे युक्त है अर्थात् पात्रदानके फलमें प्रतीतिका होना श्रद्धा है। जो द्रव्य क्षेत्र काल भावका सम्यक्रूपसे विचार करके साधुओंको दान देता है वह दाता

१. महा पु. २०।१३६-१३७।
२. 'श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च विज्ञानं चाप्यलुब्धता । क्षमा त्यागश्च सप्तैते प्रोक्ता दानपतेर्गुणाः' ॥—महापु. २०।८२।

पात्रापात्रसमावेक्षमसत्कारमसंस्तुतम् ।
दासभृत्यकृतोद्योगं दानं तामसमूचिरे ॥
उत्तमं सात्त्विकं दानं मध्यमं राजसं भवेत् ।
दानानामेव सर्वेषां जघन्यं तामसं पुनः ॥' [सो. उपा. ८३०,८२८-८२९,८३१] ॥४७॥

अथ दानफलं तद्विशेषं च व्याचष्टे—

रत्नत्रयोच्छ्रयो भोक्तुर्दातुः पुण्योच्चयः फलम् ।
मुक्त्यन्तचित्राभ्युदयप्रदत्वं तद्विशिष्टता ॥४८॥

भोक्तुः—आहाराद्युपयोक्तुः । फलं—प्रयोजनं प्रकृतत्वाद्दानस्य । उक्तं च—

'आत्मनः श्रेयसेऽन्येषां रत्नत्रयसमृद्धये ।
स्वपरानुग्रहायार्थं यत्स्यात्तद्दानमिष्यते ॥' [सो. उपा. ७६६]

ज्ञानी है। अर्थात् द्रव्य आदिको जानना ज्ञान है। जो दान देनेपर भी मन, वचन, कायसे सांसारिक फलकी याचना नहीं करता वह दाता अलोलुप है। अर्थात् सांसारिक फलकी अपेक्षा न करना अलोलुपता है। जो साधारण स्थितिका होते हुए भी ऐसा दान देता है जिसे देखकर धनवानोंको भी आश्चर्य होता है वह दाता सात्त्विक है। अर्थात् सत्त्व एक ऐसा मनोगुण है जो दाताको उदार बनाता है। दुर्निवार कलुषताके कारण उत्पन्न होनेपर भी जो किसीपर कुपित नहीं होता वह दाता क्षमाशील होता है। इस तरह दाताके सात गुण कहे हैं। पुरुषार्थसिद्धयुपायमें सात गुण इस प्रकार कहे हैं—सांसारिक फलकी अपेक्षा न करना अर्थात् अलोलुपता, क्षमा, निष्कपटता, अर्थात् बाहरमें भक्ति करना और अन्दरमें खराब भाव नहीं रखना, अनसूया—अर्थात् अन्य दाताओंसे द्वेषभाव न होना, अविषाद—खेद न होना, मुदित्व अर्थात् दानसे हर्ष होना और निरहंकारता। सोमदेवने दानके तीन भेद किये हैं—राजस, तामस और सात्त्विक। जो दान अपनी प्रसिद्धिकी भावनासे भी कभी-कभी ही दिया जाता है। और वह भी तब दिया जाता है जब किसीके द्वारा दिये दानका फल देख लिया जाता है वह दान राजस है। पात्र और अपात्रको समान मानकर या पात्रको भी अपात्रके समान मानकर बिना किसी आदर सन्मान और स्तुतिके, नौकर चाकरोंके उद्योगसे जो दान दिया जाता है वह दान तामस है। जो दान स्वयं पात्रको देखकर श्रद्धा पूर्वक दिया जाता है वह दान सात्त्विक है। इन तीनों दानोंमें सात्त्विकदान उत्तम है, राजसदान मध्यम है और तामसदान निकृष्ट है ॥४७॥

दानका फल और उसकी विशेषता कहते हैं—

आहार आदि ग्रहण करनेवाले पात्रके सम्यग्दर्शन आदि गुणोंमें वृद्धि और आहार आदि दान देनेवालेके पुण्यका संचय दानका फल है। और अन्तमें मुक्ति तथा उससे पहले नाना प्रकारके इन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, तीर्थंकर आदि पदरूप अभ्युदयको देना उस दानके फलकी विशेषता है ॥४८॥

विशेषार्थ—दानका फल दान देनेवाले और दान लेनेवाले दोनोंको मिलता है। जो दान ग्रहण करता है वह अपने धर्म साधनमें लगकर अपने आत्मिक गुणोंकी उन्नति करता

१. ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम् ।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥—पुरु. १६९ श्लो. ।

मुक्त्यन्तेत्यादि । उक्तं च—

'क्षितिगतमिव वटबीज पात्रगतं दानमल्पमपि काले ।
फलति च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥' [र. श्रा. ११६]

तथा—

'पात्रदाने फलं मुख्यं मोक्षसस्यं कृषेरिव ।
पलालमिव भोगस्तु फलं स्यादानुषङ्गिकम् ॥' [सो० उ०] ॥४८॥

अथ गृहव्यापारप्रभवपातकापनोदसामर्थ्यं मुनिदानस्य दर्शयति—

पञ्चसूनापरः पापं गृहस्थः संचिनोति यत् ।
तदपि क्षालयत्येव मुनिदानविधानतः ॥४९॥

स्पष्टम् । उक्तं च—

'गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम् ।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥' [र. श्रा. १२४]

अपि च—

'कान्तात्मजद्रविणमुख्यपदार्थसार्थप्रोत्थातिघोरघनमोहमहासमुद्रे ।
पोतायते गृहिणि सर्वगुणाधिकत्वाद्दानं परं परमसात्त्विकभावयुक्तम् ॥'
[पद्म. पञ्च. २१५] ॥४९॥

अथ दानस्य कर्त्रादीनां फलानि दृष्टान्तमुखेन स्पष्टयति—

है और जो दान देता है वह पुण्यकर्मका बन्ध करता है। यदि दान सात्त्विक होता है तो विशेष पुण्यका बन्ध होनेसे दाता भोगभूमिसे स्वर्गमें जाकर और वहाँसे चक्रवर्ती आदि पद प्राप्त करके मोक्ष जाता है। समन्तभद्र स्वामीने कहा है—'पृथ्वीमें बोये बोटके बजकी तरह पात्रको दिया अल्प भी दान समयपर बहुत फल देता है।' सोमदेव सूरिने कहा है—जिससे अपना और परका उपकार हो वही दान है। जैसे खेतीका मुख्य फल धान्य है वैसे ही पात्रदानका मुख्य फल मोक्ष है। और जैसे खेतीका आनुषंगिक फल भूसा है वैसे ही पात्रदानका आनुषंगिक फल भोग है ॥४८॥

आगे कहते हैं कि मुनिदानमें घरके व्यापारसे उत्पन्न हुए पापोंको दूर करनेकी शक्ति है—

चक्की, चूल्हा, मूसल, बुहारी और पानीकी घड़ौंची ये पाँच सूना हैं। इन पाँच सूनाओंमें तत्पर गृहस्थ जिस पापका संचय करता है मुनिदान देनेसे वह भी धुल जाता है ॥४९॥

विशेषार्थ—रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें भी यही कहा है कि घरबारसे मुक्त अतिथियोंका समादर घरके कामोंसे बँधे हुए पापको उसी प्रकार धो देता है जैसे पानी खूनको धो देता है। स्वामी समन्तभद्रने इससे आगे नवधा भक्तिका भी फल बतलाया है कि तप ही जिनकी निधि है उन तपोधन महर्षियोंको नमस्कार करनेसे उच्च गोत्र, दान देनेसे भोग, उपासनासे आदर सत्कार, भक्तिसे सुन्दररूप और स्तवन करनेसे कीर्ति प्राप्त होती है। आचार्य पद्मनन्दिने कहा है—गृहस्थ जीवन घोर महामोह समुद्ररूप है। उसमें परम सात्त्विकदान जहाजके समान है ॥४९॥

आगे दानके कर्ता आदिको जो फल प्राप्त होता है उसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

यत्कर्ता किल वज्रजङ्घनृपतिर्यत्कारयित्री सती
श्रीमत्यप्यनुमोदका मतिवरव्याघ्रादयो यत्फलम् ।
आसेदुर्मुनिदानतस्तदधुनाऽप्याप्तोपदेशाब्दक-
व्यक्तं कस्य करोति चेतसि चमत्कारं न भव्यात्मनः ।।५०।।

किल—आर्षे श्रूयते । मतिवरः—वज्रजङ्घनृपतेर्मन्त्री । आदिशब्दादानन्दो नाम तस्यैव पुरोहितः, अकम्पनाभिधानः सेनापतिर्धनमित्रनामा च श्रेष्ठी । पुनरादिशब्दान्नकुलः सूकरो वानरश्च गृह्यते । मतिवरश्च व्याघ्रश्च मतिवरव्याघ्रौ तावादिर्येषां ते तथोक्ताः इति विग्रहाश्रयणात् । आसेदुः—प्राप्ताः ।।५०।।

अथातिथ्यन्वेषणविधिं श्लोकद्वयेनाह—

कृत्वा माध्याह्निकं भोक्तुमुद्युक्तोऽतिथये ददे ।
स्वार्थं कृतं भक्तमिति ध्यायन्नतिथिमीक्षताम् ।।५१।।
द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु पात्रेभ्यो वितरन्ति ये ।
ते धन्या इति च ध्यायेदतिथ्यन्वेषणोद्यतः ।।५२।।

स्वार्थं—आत्मार्थम् । आत्मनो निमन्त्रणादौ सत्यात्मीयार्थमपि । उक्तं च—

'कृतमात्मार्थं मुनये ददामि भक्तमिति भावितस्त्यागः ।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ।।' [पुरुषार्थ. १७४]

आगममें ऐसा सुना जाता है कि मुनिदानके कर्ता राजा वज्रजंघने, अपने पतिको दान देनेकी प्रेरणा करनेवाली पतिव्रता श्रीमतीने, और दानकी अनुमोदना करनेवाले मतिवर मन्त्री आदि तथा व्याघ्र आदिने मुनिदानसे जो फल प्राप्त किया वह परापर गुरुओंके उपदेश रूपी दर्पणमें व्यक्त हुआ आज भी किस भव्य जीवके चित्तमें आश्चर्य पैदा नहीं करता अर्थात् सभीके चित्तमें करता है ।।५०।।

विशेषार्थ—महापुराणमें भगवान् ऋषभदेवके पूर्वभवके कथनमें यह प्रसंग वर्णित है । राजा वज्रजंघ उत्पलखेट नगरका स्वामी था और उसकी पत्नी श्रीमती पुण्डरीकिणी नगरीके स्वामी वज्रदन्त चक्रवर्ती की पुत्री थी । राजा वज्रजंघने अपनी पत्नीकी प्रेरणासे मुनियोंको दान दिया था । उस समय उपस्थित मतिवर मन्त्री, आनन्द पुरोहित, अकम्पन सेनापति और धनमित्र सेठ तथा वनवासी शूकर, बन्दर और नेवलेने उस दानकी अनुमोदना की थी । राजा वज्रजंघ तो आठवें भवमें भगवान् आदिनाथ हुए । उनकी पत्नी श्रीमतीने श्रेयांसके रूपमें जन्म लेकर भगवान् आदिनाथको आहारदान देकर दानतीर्थका प्रवर्तन किया । तथा दानकी अनुमोदना करनेवाले मतिवर मन्त्री, सेनापति अकम्पन, आनन्द पुरोहित तथा धनमित्र सेठ, व नकुल, सिंह, वानर और शूकर इन आठोंने भी भगवान् ऋषभदेवके तीर्थमें मोक्षलाभ किया । यह दानका अद्भुत माहात्म्य आश्चर्यकारी है ।।५०।।

अब अतिथिको खोजनेकी विधि बताते हैं—

अतिथिसंविभागव्रती मध्याह्नकाल सम्बन्धी स्नान, देवपूजा आदि करके जब भोजन करनेके लिए तैयार हो तो अपने तथा अपने जनोंके लिए बनाये गये भोजनको मैं किसी अतिथिको दूँ, इस प्रकार एकाग्रतापूर्वक विचारता हुआ अतिथिकी प्रतीक्षा करे ।।५१।।

जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और आधे पुष्करवर द्वीप इन ढाई द्वीपोंमें जो पात्रोंको दान देते हैं, वे धन्य हैं, अतिथिकी प्रतीक्षामें तत्पर श्रावक ऐसा विचार करे ।।५२।।

अपि च—

'गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते ।
वितरति यो नाऽतिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ॥' [पुरुषार्थ. १७३]

अर्धतृतीयेषु—जम्बूद्वीप-धातकीखण्डपुष्करवरद्वीपस्य चार्धे ॥५२॥

अथ भूम्यादीनां देयत्वं ग्रहणादौ च दानं नैष्ठिकस्य हिंसा-सम्यक्त्वोपघातहेतुत्वप्रकाशनेन निषेद्धु-माह—

हिंसार्थत्वान्न भूगेह-लोह-गोऽश्वादि नैष्ठिकः ।
दद्यान्न ग्रहसंक्रान्तिश्राद्धादौ च सुदृग्द्रुहि ॥५३॥

हिंसार्थत्वात्—प्राणिवधनिमित्तत्वात् । भूमेरदेयत्वम् । यथा—

'हलैर्विदार्यमाणायां गर्भिण्यामिव योषिति ।
म्रियन्ते प्राणिनो यस्यां तां गां कि......क्तम् ॥' [ ]

गेहस्य यथा—

'प्रारम्भा यत्र जायन्ते चित्राः संसारहेतवः ।
तत्सद्म ददतो घोरं केवलं कलिलं फलम् ॥' [अमि. श्रा. ९।५२]

लोहस्य यथा—

'यद्यच्छस्त्रं महाहिंस्रं तत्तद्येन विधीयते ।
तदहिंस्रमनाः लोहं कथं दद्याद्विचक्षणः ॥' [ ]

गोर्यथा—

'दद्यादर्धप्रसूतां गां यो हि पुण्याय पर्वणि ।
म्रियमाणामिव हहा वर्ण्यते सोऽपि धार्मिकः ॥
यस्या अपाने तीर्थानि मुखेनाश्नाति याऽशुचिम् ।
तां मन्वानाः पवित्रां गां धर्माय ददते जडाः ॥
प्रत्यहं दुह्यमानायां यस्यां वत्सः प्रपीड्यते ।
खुरादिभिर्जन्तुघ्नीं तां दद्याद् गां श्रेयसे कथम् ॥' [ ]

विशेषार्थ—अमृतचन्द्राचार्यने कहा है—'अपने लिए बनाया गया भोजन मुनिको दूँगा इस प्रकार त्यागकी भावना रखकर, अरति और खेदसे रहित तथा लोभ जिसका मन्द हो गया है ऐसा दाता अहिंसारूप ही होता है। तथा जो भौंरेकी तरह दाताओंको पीड़ा नहीं पहुँचाता ऐसे घर आये गुणवान् अतिथिको जो दान देता है वह सबसे बड़ा लोभी है; क्योंकि वह दान देकर अपना द्रव्य अपने साथ ले जाता है' ॥५१-५२॥

आगे हिंसा तथा सम्यक्त्वके घातका कारण होनेसे नैष्ठिक श्रावकको भूमि आदिका दान तथा ग्रहण आदिमें दान देनेका निषेध करते हैं—

नैष्ठिक श्रावक प्राणिवधमें निमित्त होनेसे भूमि, मकान, लोहा, गाय, घोड़ा आदि-का दान न करे। तथा सम्यग्दर्शनके घातक सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहणमें, संक्रान्तिमें और माता-पिता आदिके श्राद्धमें अपना द्रव्य किसीको न दे ॥५३॥

विशेषार्थ—अन्य धर्मोंमें पुण्य मानकर भूमि, मकान, लोहा, गाय, घोड़ा, कन्या, स्वर्ण, तिल, दही, अन्न आदिका दान दिया जाता है। तथा जब सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण होता है या मकर संक्रान्ति आदि होती है तो उसमें भी दान दिया जाता है। माता-पिताके

गौव्या गौर्यथा—

'तिलधेनुं घृतधेनुं काञ्चनधेनुं च रुक्मधेनुं च ।
परिकल्प्य भक्षयन्तश्चाण्डालेभ्यस्तरां पापाः ॥' [अमि. श्रा. ९।५६]

अश्वस्य यथा—

'योऽवधीतकीकृतखलिनार्थोऽन्वहं हठात् ।
बाह्यते को विशेषोऽस्य दातुरादातुरंहसाम् ॥' [ ]

आदिशब्दगृहीतायाः कन्याया यथा—

'कामगर्दंकरीबन्धुस्पेहद्रुमदवानलः ।
कालः कलितरु........दुर्गतिद्वारकुञ्चिका ॥
मोक्षद्वारार्गला धर्मधनाचारविपत्करी ।
या कन्या दीयते सापि श्रेयसे कोऽयमागमः ॥' [ ]

हेम्नो यथा—

'दत्तेन येन दीप्यन्ते क्रोधलोभस्मरादयः ।
न तत्स्वर्णं चरित्रीभ्यो दद्याच्चारित्रनाशनम् ॥' [ ]

तिलानां यथा—

'संसजन्त्यङ्गिनो येषु भूरिशस्त्रसकायिकाः ।
फलं विश्राणने तेषां तिलानां कल्मषं परम् ॥' [ ]

कदन्नस्य यथा—

'विवर्णं विरसं विद्धमसात्म्यं प्रसृतं च यत् ।
मुनिभ्योऽन्नं न तद्देयं यच्च भुक्तं गदावहम् ॥
उच्छिष्टं नीचलोकार्हमन्योद्दिष्टं निगर्हितम् ।
न देयं दुर्जनस्पृष्टं देवयक्षादिकल्पितम् ॥
ग्रामान्तरात्समानीतं मन्त्रानीतमुपायनम् ।
न देयमापणक्रीतं विरुद्धं चायथार्तुकम् ॥
दधिसर्पिपयोभक्षप्रायं पर्युषितं मतम् ।
गन्धवर्णरसभ्रष्टमन्यत्सर्वं विनिन्दितम् ॥' [सो. उपा. ७७९-७८२]

मर जानेपर प्रतिवर्ष उनके श्राद्धपर ब्राह्मणोंको इस भावसे दान दिया जाता है कि यह उनको प्राप्त होगा। किन्तु यह सब मिथ्या होनेसे सम्यक्त्वके घातक हैं। सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहणसे सूर्य या चन्द्रमापर कोई संकट नहीं आता और संक्रान्ति तो सूर्यका एक राशि-से दूसरी राशिपर जानेका नाम है। इसी तरह जो मर गया, पता नहीं, उसने कहाँ जन्म लिया हो। उसकी सद्गति मरनेके बाद दिये गये दानसे कैसे हो सकती है। दर्शनिक आदि प्रतिमाधारी श्रावकोंको इस तरहके दान नहीं देना चाहिए। पाक्षिकको भी ग्रह संक्रान्ति और श्राद्धमें दान नहीं देना चाहिए ऐसा करनेसे उसके भी सम्यक्त्वका घात अवश्य होता है। आचार्य अमितगतिने अपने श्रावकाचारमें दानके प्रकरणमें इन दानोंका निषेध विस्तार-से किया है। लिखा है—हलसे जोतनेपर जिस पृथ्वीमें रहनेवाले प्राणी मर जाते हैं उस भूमिके दानमें क्या फल हो सकता है। लोहा जहाँ भी जायेगा घात ही करेगा। ऐसे लोहेके दानमें पुण्य कैसा? जिसके लिए पात्रकी हिंसा की जाती है, जो सदा भयका कारण है,

सुदृग्द्रुहि—सम्यक्त्वघातके । उक्तं च—

'सङ्क्रान्तौ ग्रहणे वारे वित्तं ददाति मूढमतिः ।
सम्यक्त्ववनं छित्वा मिथ्यात्ववनं वपत्येषः ॥
यो दत्ते मृततृप्त्यै बहुधा दानानि नूनमस्तधियः ।
पल्लवयितुं तरुं ते भस्मीभूतं निषिञ्चन्ति ॥
दाने दत्ते पुत्रैर्मुच्यन्ते पापतोऽत्र यदि पितरः ।
विहिते तदा चरित्रे परेण मुक्ति परो याति ॥
गङ्गागतेऽस्थिजाले भवति सुखी यदि मृतोऽत्र चिरकालम् ।
भस्मीकृतस्तदाम्भः सिक्तः पल्लवयते वृक्षः ॥' [अमि. श्रा. ९।६०, ६१, ६३, ६४]

यद्यपि च नैष्ठिक इति वचनात्पाक्षिकस्याभ्युत्पन्नसम्यक्त्वावस्थतया भूम्यादिदानं न प्रतिषिध्यते । तथापि ग्रहणादौ तस्यापि दानमविधेयमेव, सम्यक्त्वोपघातस्य तेनाप्यवश्यपरिहार्यत्वात् ॥५३॥

अथ तद्व्रतातिचारपरिहारार्थमाह—

त्याज्याः सचित्तनिक्षेपोऽतिथिदाने तदावृतिः ।
सकालातिक्रमपरव्यपदेशश्च मत्सरः ॥५४॥

सचित्तनिक्षेपः—सचित्ते सजीवे पृथिवीजलकुम्भोपचुल्लीधान्यादौ निक्षेपो देयस्य वस्तुनः स्थापनम् ।

जिससे संयम उसी तरह कमजोर होता है जैसे दुर्भिक्षसे मानव। जिससे राग, द्वेष, मद, क्रोध, लोभ, मोह, काम उत्पन्न होते हैं ऐसे सुवर्णका दान जिसने दिया उसने सुवर्ण नहीं किन्तु उसे खानेके लिए व्याघ्र ही दे दिया। तिलोंके दानमें भी पाप है क्योंकि तिलोंमें बहुत जीव पैदा हो जाते हैं। घर देनेका फल भी केवल पाप ही है क्योंकि घर संसारके प्रारम्भोंका कारण है। इसी तरह गायके देनेमें भी कोई पुण्य नहीं है। गौका शरीर सब देवों और तीर्थोंका निवासस्थान माना जाता है ऐसी गौको कोई कैसे देता है और कैसे कोई लेता है। जो मूढ़-मति संक्रान्तिमें या रविवार आदिके दिन धनका दान करता है वह सम्यक्त्वरूपी वनको काटकर मिथ्यात्वरूपी वनको बोता है। इसी तरह कन्या मोक्षके द्वारको बन्द करनेके लिए साँकलके समान है। धर्म, धन आचारपर विपत्ति लानेवाली है। उसका दान कैसे कल्याण-कारी हो सकता है। जो निर्बुद्धि पुरुष मृत मनुष्यकी तृप्तिके लिए बहुत-सा दान करते हैं वे अवश्य ही जले हुए वृक्षको पल्लवित करनेके लिए पानीसे सींचते हैं। यदि ब्राह्मणको भोजन करानेमें पितर तृप्त होते हैं तो दूसरेके घी पीनेसे तीसरा मनुष्य भी पुष्ट हो सकता है। यदि पुत्रके दान देनेसे पितर पापसे मुक्त होते हैं तो किसीके तप करनेसे भी किसी अन्यकी मुक्ति होनी चाहिए। मरनेके बाद मृतककी हड्डियाँ यदि गंगामें डालनेसे मृतकको सुख होता है तब तो जला हुआ वृक्ष भी पानीसे सींचनेसे हरा-भरा हो जाना चाहिए। इस तरह आचार्य अमितगतिने लोकमें प्रचलित मिथ्या दानोंकी बहुत आलोचना की है। आचार्य सोमदेवने कहा है—'जो भोजन विरूप हो, चलित रस हो, फेंका हुआ हो, प्रकृति विरुद्ध हो, जल गया हो, रोगकारक हो, नीच लोगोंके खाने योग्य हो, दूसरोंके लिए बनाया हो, दूसरे गाँवसे लाया गया हो, भेंटमें आया हो, बाजारसे खरीदा हो, वह भोजन मुनिको नहीं देना चाहिए ॥५३॥

आगे अतिथिसंविभाग व्रतके अतिचारोंको दूर करनेकी प्रेरणा करते हैं—

अतिथिसंविभागव्रती अतिथिसंविभागव्रतमें सचित्तनिक्षेप, सचित्तआवृत्ति, कालाति-क्रम, परव्यपदेश और मत्सरको छोड़े ॥५४॥

लाभादानबुद्धया तत्र निक्षिप्यमाणमतिचारः। तुच्छबुद्धिः खलु सचित्तनिक्षिप्तं किल संयता न गृह्णन्ति इति अभिप्रायेण देयं सचित्ते निक्षिपति। तच्च संयतेष्वगृह्णत्सु लाभोऽयं ममेति च मन्यते इति प्रथमः। तदावृतिः—तेन सचित्तेन पत्रपुष्पादिना तथाविपर्ययेव बुद्धया आवृति आच्छादनं द्वितीयः। अथवा सचित्तनिक्षिप्तं तत्पिहितं च संयतस्याज्ञानतः प्रयुज्यमानमतिचारः। कालातिक्रमः—साधूनामुचितस्य भिक्षासमयस्य लङ्घनम्। स च यतीनयोग्ये काले भोजयतोऽनगारवेलाया वा प्रागेव पश्चाद्वा भुञ्जानस्य च तृतीयः स्यात्। परव्यपदेशः—परस्यान्यस्य सम्बन्धीदं गुडखण्डादीति विशेषेणापदेशो व्याजो, यदि वा अयमत्र दाता दीयमानोऽप्ययमस्येति समर्पणं चतुर्थः। मत्सरः कोपः। यथा मार्गितः सन् कुप्यति सदपि वा मार्गितं न ददाति, प्रयच्छतोऽप्यादराभावो वा अन्यदातृगुणासहिष्णुत्वं वा मत्सरः। यथा अनेन तावच्छ्रावकेण मार्गितेन दत्तं किमहमस्मादपि हीन इति परोन्नतिवैमनस्याद्ददाति। एतच्च मत्सरशब्दस्यानेकार्थत्वात्संगच्छते। तदुक्तम्—

'मत्सरः परसम्पत्त्यक्षमायां तद्वति क्रुधि।' [ ]

एते पूर्वे चाज्ञानप्रमादादिनातिचाराः। अन्यथा तु भङ्गा एवेति भावनीयम् ॥५४॥

विशेषार्थ—सजीव पृथ्वी, जल, चूल्हा, पत्ते आदि पर मुनिको दिये जानेवाले आहार आदिका स्थापन करना सचित्त निक्षेप नामका अतिचार है। मुनि ऐसी वस्तुको ग्रहण नहीं करते, इसलिए कोई लोभी दाता इसी भावसे ऐसा करता है और सोचता है कि मुनिके नहीं ग्रहण करनेपर लाभ ही है। इसी प्रकारकी बुद्धिसे मुनिको देय आहार आदिको सचित्त पत्ते वगैरहसे ढाँकना सचित्तआवृति नामका दूसरा अतीचार है। अथवा मुनिकी अजानकारीमें उन्हें सचित्तमें रखे हुए या सचित्तसे ढँके हुए आहारको देना अतिचार है। पं. आशाधरजीने जो श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रका अनुसरण करके यह लिखा है कि मुनि नहीं लेंगे तो मेरा लाभ होगा इस बुद्धिसे आहारको सचित्त वस्तुमें रखना या ढाँकना अतिचार है यह मनको नहीं लगता। अतिथिसंविभागव्रती ऐसा तुच्छबुद्धि नहीं हो सकता। अज्ञान और प्रमादसे ही ऐसा अतिचार सम्भव है। किसी दिगम्बर ग्रन्थकारने ऐसा लिखा भी नहीं है। साधुओंके भिक्षाके समयको बिताकर अतिथिकी प्रतीक्षा करना तीसरा कालातिक्रम नामक अतिचार है। जो श्रावक मुनियोंके भोजनके समयमें भोजन न करके मुनियोंके भोजनके समयसे पहले या पीछे भोजन करता है उसको यह अतिचार होता है। यह गुड़, खाँड आदि अमुकका है इस बहानेसे देना या यह कहकर देना कि इसके दाता यह हैं, यह वस्तु मैं देता हूँ किन्तु यह इन्होंने दी है, यह परव्यपदेश नामका चतुर्थ अतिचार है। मत्सर शब्दके अनेक अर्थ हैं। दूसरेकी सम्पत्तिको सहन न करना या क्रोध करना मत्सर है। साधुकी प्रतीक्षा करते हुए कोप करना कि इतनी देरसे खड़ा हूँ अभी तक कोई नहीं आया, यह मत्सर नामका अतिचार है। अथवा साधुके मिल जानेपर भी आहारदान न देना या देते हुए भी आदरपूर्वक न देना भी मत्सर नामक अतिचार है। अन्य दाताओंके गुणोंको सहन न करना भी मत्सर है। जैसे इस श्रावकने यह दिया क्या मैं इससे भी हीन हूँ इस प्रकार दूसरेसे डाह करके दान देना मत्सर है। इस तरह मत्सर शब्दके अनेक अर्थ होनेसे ये सब अतिचार घटित होते हैं। जितने भी अतिचार अब या पहले कहे हैं वे सब अज्ञान और प्रमादवश होनेसे अतिचार होते हैं। जान-बूझकर करनेपर तो अतिचार न होकर व्रतके भंग ही हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें परव्यपदेश और कालातिक्रमके स्थानमें अनादर और अस्मरण नामके अतिचार हैं। शेष सबने ये ही पाँच अतिचार कहे हैं ॥५५॥

---

१. र. श्रा. १२१ श्लो.। २. त. सू. ७।३६, पुरुषार्थ. १९४ श्लो.। अमि. श्रा. ७।१४।

अथ प्रकृतार्थोपसंहारपुरस्सरमुक्तशेषं निर्दिशन् श्रावकस्य महाश्रावकत्वमाह—

एवं पालयितुं व्रतानि विदधच्छीलानि सप्तामला-
न्यागूर्णः समितिष्वनारतमनोदीप्राप्तवाग्दीपकः ।
वैयावृत्यपरायणो गुणवतां दीनानतीवोद्धुरं-
श्चर्यां दैवसिकीमिमां चरति यः स स्यान्महाश्रावकः ॥५५॥

आगूर्णः—उद्यतः । वैयावृत्यं—संयतानामुपकारः । तदुक्तम्—

'व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥' [र. श्रा. ११२]

दीनान्—अवृत्तिव्याधिशोकार्तान् । उक्तं च—

'शशाङ्कामलसम्यक्त्वो व्रताभरणभूषितः ।
शीलरत्नमहाखानिः पवित्रगुणसागरः ॥

आगे उक्त व्रत प्रतिमाके कथनका उपसंहार करते हुए श्रावकके महाश्रावक होनेकी घोषणा करते हैं—

इस प्रकार पाँचों अणुव्रतोंका पालन करनेके लिए निरतिचार सात शीलोंको जो पालता है, समितियोंका पालन करनेमें तत्पर रहता है, जिसके मनमें परापर गुरुओंके वचन, रूपी दीपक सदा प्रकाशमान रहता है, जो गुणवान् पुरुषोंकी वैयावृत्य करनेमें तत्पर तथा आजीविकाका अभाव, रोग-शोक आदिसे पीड़ित दीन पुरुषोंको दुःखोंसे छुड़ाता है और आगे कही जानेवाली दिनचर्याका पालन करता है वह महाश्रावक होता है ॥५५॥

विशेषार्थ—जो गुरुओंसे तत्त्व सुनता है वह श्रावक है यह श्रावक शब्दकी व्युत्पत्ति है। किन्तु तत्त्वको सुननेका प्रयोजन केवल कान पवित्र करना नहीं है किन्तु आचारमार्ग-पर चलना है। मैं सम्यग्दर्शनपूर्वक निरतिचार पाँच अणुव्रतोंका पालन करूँगा इस अभिप्रायसे वह तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका भी निरतिचार पालन करता है तथा यथायोग्य ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और उत्सर्ग इन पाँच समितियोंका भी पालन करता है। ये समितियाँ मुनियोंके ही लिए नहीं हैं, मुनि बननेके इच्छुक श्रावकको भी इनका अभ्यास करना चाहिए। आगममें कहा है कि यदि अणुव्रत और महाव्रत समितिके साथ होते हैं तो संयम कहलाते हैं और यदि समितिके साथ नहीं होते तो उन्हें केवल विरति कहते हैं। मुमुक्षु श्रावकको श्रुतज्ञानी भी होना चाहिए। गुरु महाराजके कहनेसे व्रत धारण कर लिये और व्रतका ठीक-ठीक स्वरूप भी नहीं मालूम तो वह कैसा व्रती है? भगवान्-का वचनरूपी परमागम स्वपरका प्रकाशक होनेसे दीपकके समान है। यह परमागमरूपी दीपक उसके अन्तःकरणमें सदा जलता रहना चाहिए। उसे नित्य स्वाध्याय करना चाहिए। साथ ही जो रत्नत्रयके आराधक हैं उनकी वैयावृत्य करनेके लिए तैयार रहना चाहिए। निर्दोष वृत्तिसे कष्ट दूर करनेको वैयावृत्य कहते हैं। शीतऋतुमें मुनिको गर्म वस्त्र देना वैयावृत्य नहीं है और न घड़ी या ट्रांजिस्टर और मोटर देना ही वैयावृत्य है। यह सब तो मुनिको संयमसे च्युत करनेके साधन हैं। उनके स्वास्थ्यकी, स्वाध्यायकी, आत्मसाधनाकी व्यवस्था करना ही सच्चा वैयावृत्य है। साधुओंकी तो वैयावृत्य करे और दीन-दुःखियोंकी उपेक्षा करे तो उसे दयालु कौन कहेगा। मुनिको मोटर दे और भूखेको भोजन भी न दे तो कैसा श्रावक है। चींटा-चींटीकी रक्षा करना और मनुष्यपर दया न करना तो अहिंसा

ऋजुभूतमनोवृत्तिर्गुरुशुश्रूषणोद्यतः ।
जिनप्रवचनाभिज्ञः श्रावकः सप्तधोत्तमः ॥' [अमि. १३।१-२]

इति भद्रम् । ६

इत्याशाधरदृब्धायां धर्मामृतपञ्जिकायां ज्ञानदीपिकापरसंज्ञायां
चतुर्दशोऽध्यायः ।

नहीं है। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रियकी अपेक्षा पंचेन्द्रिय सर्वप्रथम रक्षणीय है क्योंकि उसमें संचेतना अधिक है। यह सब कहनेका अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शनकी शुद्धता, व्रतोंसे भूषित होना, निर्मल शीलरूपी निधिसे सम्पन्नता, संयममें निष्ठा, जिनागमका ज्ञान, गुरुओंकी सेवा, दया आदि सदाचारमें तत्परता, इन सात गुणोंके होनेसे कोई पुण्यशाली व्यक्ति कालादि लब्धि विशेषसे महाश्रावक होता है। आचार्य अमितगतिने कहा है—सात प्रकारका श्रावक उत्तम होता है—१. जिसका सम्यक्त्व चन्द्रमाके समान निर्मल है, २. जो व्रतोंसे भूषित है, ३. शीलरूपी रत्नोंकी महाखान है, ४. पवित्र गुणोंका सागर है, ५. जिसकी मनोवृत्ति सरल है, ६. जो गुरुकी सेवामें तत्पर रहता है, तथा ७. जिनागमका ज्ञाता है ॥५५॥

इस प्रकार पं. आशाधर रचित धर्मामृतके अन्तर्गत सागारधर्मकी संस्कृत टीका तथा
ज्ञानदीपिकानुसारिणी हिन्दी टीकामें प्रारम्भसे १४वाँ तथा सागारधर्मकी
अपेक्षा पाँचवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।

पञ्चदश अध्याय (षष्ठ अध्याय)

इदानीमाहोरात्रिकाचारं श्रावकस्योपदेष्टुकामः पूर्वं पौर्वाह्णिकीमितिकर्तव्यतां चतुर्दशभिः श्लोकैर्व्याकरोति—

> ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय वृत्तपञ्चनमस्कृतिः ।
> कोऽहं को मम धर्मः किं व्रतं चेति परामृशेत् ॥१॥

उत्थाय—विनिद्रीभूय । वृत्तपञ्चनमस्कृतिः—अन्तर्जल्पेन बहिर्जल्पेन वाऽपि पठितपञ्चनमस्कारः । कोऽहं क्षत्रियो ब्राह्मणादिर्वा इक्ष्वाकुवंशोद्भवोऽन्यवंशोद्भवो वाऽहमित्यादि चिन्तयेत् । को मम धर्मः जैनोऽन्यो वा, श्रावकीयो यत्यादिसम्बन्धि वा मे देवादिसाक्षिकं प्रतिपन्नो वृषः । किं व्रतं मूलगुणरूपमणुव्रतादिरूपं वा मम । चशब्दात् के गुरवो ममेति । कुत्र ग्रामे नगरादौ वा वसामि । कोऽयं कालः प्रभातादिरिति चेत्यादि समुच्चीयते । स्ववर्णादिस्मृतौ हि तद्विरुद्धपरिहारस्य सुकरत्वात् ॥१॥

अब श्रावककी दिनचर्याका कथन करनेकी भावनासे सर्व प्रथम चौदह श्लोकोंके द्वारा प्रातःकालकी क्रियाविधिका कथन करते हैं—

ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर पंचनमस्कार मन्त्रको पढ़नेके बाद 'मैं कौन हूँ' मेरा क्या धर्म है, मेरा क्या व्रत है इस प्रकारसे विचार करे ॥१॥

विशेषार्थ—रात्रिके अन्तिम मुहूर्तको ब्राह्म मुहूर्त कहते हैं। ब्राह्मी कहते हैं सरस्वतीको। वही उसकी देवता मानी जानेसे उसे ब्राह्म मुहूर्त कहते हैं। कहा भी है कि 'ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर सब कार्योंका विचार करे। क्योंकि उस समय हृदयमें सरस्वतीका निवास होता है।' उस समय उठकर श्रावकको सबसे पहले मन ही मनमें या बोलकर 'णमो अरहंताणं' इत्यादि पंच नमस्कार मन्त्रको पढ़ना चाहिए। उसके बाद यह विचारना चाहिए कि मैं कौन हूँ, मेरा क्या धर्म है और मेरे कौन-सा व्रत है। यदि प्रतिदिन प्रातःकाल उठते ही इन बातोंका विचार कर लिया जाय तो उससे मनुष्य अपने प्रति जाग्रत रहता है अन्यथा संसारके व्यवहारमें पड़कर अपनेको अपने धर्मको और अपने व्रतादिको भूल जाता है। धर्मका सम्बन्ध आत्मासे है और व्रतका सम्बन्ध धर्मसे है। आत्माके स्वरूपके प्रति जागृति रहेगी तो धर्मके प्रति जागृति रहेगी और धर्मके प्रति जागृति रहेगी तो व्रतादिके प्रति भी सावधानता रहेगी। अतः 'मैं कौन हूँ' के साथ मैं कहाँसे आया हूँ, यहाँ कब तक रहूँगा और फिर कहाँ जाऊँगा इन बातोंको भी विचारते रहना चाहिए। इससे यह मिथ्या भावना कि मैं सदा यहीं रहूँगा मिटेगी और हम अपने आत्मिक कर्तव्यके प्रति भी सावधान रह सकेंगे ॥१॥

---

१. ब्राह्मे मुहूर्त उत्तिष्ठेत् परमेष्ठिस्तुतिं पठन् । किंधर्मा किंकुलश्चास्मि किंव्रतोऽस्मीति च स्मरन् ॥'
—योगशास्त्र ३।१२२

२. ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय सर्वकार्याणि चिन्तयेत् । यतः करोति सान्निध्यं तस्मिन् हृदि सरस्वती ॥

अनादौ बम्भ्रमन् घोरे संसारे धर्ममार्हतम् ।
श्रावकीयमिमं कृच्छ्रात् किलापं तदिहोत्सहे ॥२॥

ततः कृच्छ्रात् 'जगत्यनन्तैक' इत्यादिना प्रागुक्तात् ॥२॥

इत्यास्थायोत्थितस्तल्पाच्छुचिरेकायनोऽर्हतः ।
निर्मायाष्टतयीमिष्टिं कृतिकर्म समाचरेत् ॥३॥

आस्थाय—प्रतिज्ञाय। शुचिः—शरीरचिन्तां कृत्वा विधिवद्विहितशौचदन्तधावनादिक्रियः। एतच्चानुवादपरं लोकप्रसिद्धत्वात् मलोत्सर्गाद्यर्थस्य नोपदेशः। परमप्राप्ते शास्त्रस्यार्थवत्त्वादेवमुत्तरत्राप्यप्राप्त आमुष्मिकादिविषयं उपदेशः फलवानिति चिन्त्यम्। एकायनः—एकाग्रमनाः। इष्टिं—पूजां। कृतिकर्म—योग्यकालासनेत्यादिना प्राक् प्रबन्धेन सूचितप्रायं वन्दनाविधानम् ॥३॥

समाप्युपरमे शान्तिमनुध्याय यथाबलम् ।
प्रत्याख्यानं गृहीत्वेष्टं प्रार्थ्यं गन्तुं नमेत् प्रभुम् ॥४॥

शान्ति—'येऽभ्यर्चिता मुकुटकुण्डलहाररत्नैरित्यादिप्रबन्धेन श्रूयमाणम्। प्रत्याख्यानं—भोगोपभोगादिनियमविशेषम्। इष्टं—वाञ्छितं पुनर्दर्शनसमाधिमरणादिकम्। यथाह—

'दृष्टस्त्वं जिनराजचन्द्र विकसद्भूपेन्द्रनेत्रोत्पलैः,
स्नातस्त्वन्नुतिचन्द्रिकाम्भसि भवद्विद्वच्चकोरोत्सवे।
नीतश्चाद्य निदाघजःक्लमभरः शान्ति मया गम्यते,
देव त्वद्गतचेतसैव भवतो भूयात्पुनर्दर्शनम् ॥' [जिनच० २६]

आगममें कहा है कि इस अनादि घोर संसारमें भटकते हुए मुझे अर्हन्त भगवान्के द्वारा कहा गया यह श्रावक सम्बन्धी धर्म बड़े कष्टसे प्राप्त हुआ है। इसलिए इस अत्यन्त दुर्लभ धर्ममें मुझे प्रमाद छोड़कर प्रवृत्त होना है ॥२॥

विशेषार्थ—आगममें कहा है कि इस संसारकी आदि नहीं है। जैसे बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीजकी सन्तान चलती आती है वैसे ही यह संसार भी अनादि कालसे चलता आता है। संसारका अर्थ ही परिभ्रमण है, यह परिभ्रमण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूपसे पाँच प्रकारका है। इसमें जीव अनादिकालसे भटक रहा है। भटकते-भटकते यह मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ और उसमें भी भगवान् वीतराग सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित सच्चा धर्म प्राप्त हुआ। उस धर्मको समझकर मैंने सम्यग्दर्शन पूर्वक श्रावकके व्रत स्वीकार किये। अब मुझे प्रमाद छोड़कर इन व्रतोंको पालना चाहिए ऐसा विचार गृहस्थको करना चाहिए ॥२॥

इस प्रकारसे प्रतिज्ञा करके शय्यासे उठे और विधिवत् शौच दातौन स्नान आदि करके एकाग्रमन होकर आठ द्रव्योंसे देव शास्त्र गुरुकी पूजा करके पहले अनगार धर्मामृतमें कहे अनुसार योग्य काल आसन आदि पूर्वक वन्दना विधानरूप कृतिकर्मको सम्यक् रीतिसे करे ॥३॥

अवश्य करणीय धर्मध्यानसे निवृत्त होनेपर शान्तिभक्तिका चिन्तन करके शक्तिके अनुसार भोग-उपभोग सम्बन्धी नियमविशेष लेकर इष्टकी प्रार्थना करे। और इस प्रकार क्रिया करके इच्छित स्थानपर जानेके लिए अर्हन्त देवको पंचांग नमस्कार करे ॥४॥

विशेषार्थ—पूजनके बाद कृतिकर्म, कृतिकर्मके पश्चात् 'येऽभ्यर्चिता' इत्यादि शान्तिपाठ पढ़ना चाहिए। यह शान्तिपाठ ही शान्तिभक्ति है जो अवश्य करना चाहिए। उसके बाद उस दिनके लिए कुछ नियम लेना चाहिए। तब भगवान्के सामने इष्ट प्रार्थना करना

तथा—

'दु:खक्षतिः कर्महृतिः समाधिमरणं गतिः ।
सुगतो बोधिलाभोऽर्हद्‌गुणसंपच्च सन्तु मे ॥' [ ]

तथा शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिरित्यादि ॥४॥

साम्यामृतसुधौतान्तरात्मराजज्जिनाकृतिः ।
दैवादैश्वर्यदौर्गत्ये ध्यायन् गच्छेज्जिनालयम् ॥५॥

ततः दैवात्—पुराकृतशुभाशुभकर्मविपाकात् । इदमत्रैदंपर्यं यदीश्वरो महर्धिको राजा सामन्तादिर्वा भवति तदा पुण्यविपाकप्रभवा सम्पदियं न पौरुषेयी । तदस्यां कथमात्मज्ञो मदमुपेयादिति भावयन् गच्छेत् । अथ दरिद्रस्तदा पापविपाकजनितमिदं दारिद्र्यदुःखं न केनापि छेत्तुं शक्यं तदत्र को बुद्धिमान् विषादमासीदतीति भावयन् गच्छेदिति ॥५॥

चाहिए। इष्ट प्रार्थना से यह मतलब नहीं है कि संसार सम्बन्धी धन, पुत्र आदि प्राप्तिकी या किसीके इष्ट-अनिष्टकी प्रार्थना करनी चाहिए। किन्तु 'हे भगवन्, पुनः आपके दर्शन हों, या मेरा समाधिपूर्वक मरण हो'। कहा है—'हे जिनराजरूपी चन्द्रमा, मैंने तुम्हें खिले हुए नेत्ररूपी कमलोंसे देखा, तुम्हारी नमस्काररूप चाँदनीके जलमें स्नान किया, आज मेरा सब थकान चला गया, मैंने शान्ति प्राप्त की। हे देव ! आपका पुनः दर्शन हो।' या मेरे दुख नष्ट हों, कर्मोंका विनाश हो, समाधिमरणपूर्वक गति हो, ज्ञानकी प्राप्ति हो, अर्हद् गुणोंकी सम्पत्ति प्राप्त हो। इत्यादि प्रार्थना करके भगवान्‌को पंचांग नमस्कार करके ही बाहर जाना चाहिए। अभी तक उसने यह सब प्रातःकालीन धार्मिक कृत्य घरके मन्दिरमें किया है। पहले घरोंमें भी धर्मसाधनके लिए चैत्यालय होते थे। उसमें उक्त धार्मिक कृत्य करनेके बाद श्रावक बड़े मन्दिरमें जाता था। उसीका आगे कथन करते हैं॥४॥

समता परिणामरूपी अमृतसे अच्छी तरह धोये गये अर्थात् विशुद्धिको प्राप्त हुए अन्तरात्मामें अर्थात् स्व और परके भेदज्ञानके प्रति उन्मुख हुए अन्तःकरणमें परमात्माकी मूर्तिको सुशोभित करते हुए श्रावक जिनालयमें जावे। तथा अमीरी-गरीबी भाग्यका खेल है यह विचारता हुआ जावे॥५॥

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि ही श्रावक होता है। और सम्यग्दृष्टि समता परिणामवाला और भेदविज्ञानी होता है। जीवन-मरण, इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःखमें जिसका समान भाव होता है वह समता परिणामवाला होता है। ऐसा परिणाम वस्तुस्वरूपका विचार किये बिना नहीं होता और वस्तुस्वरूप विचारनेसे ही स्व और परका भेदज्ञान होता है। यह भेदज्ञान ही सम्यक्त्वका मूल है। अतः मन्दिरकी ओर जानेवाले श्रावकका अन्तरात्मा अर्थात् स्व और परके भेदज्ञानकी ओर झुका हुआ अन्तःकरण समता भावरूपी अमृतसे, अमृत जलको भी कहते हैं, अच्छी तरह धोया जानेसे विशुद्ध हो गया है। उस विशुद्ध हुए अन्तःकरणमें जिनमूर्ति शोभायमान है जिसका वह प्रत्यक्ष दर्शन करने जा रहा है। ऐसे विशुद्ध अन्तःकरण वालोंको यथार्थमें जिनमूर्तिके दर्शन होते हैं। जिन-दर्शनार्थी अमीर भी होते हैं और गरीब भी होते हैं। यदि धनसम्पन्न व्यक्ति हो तो उसे विचारना चाहिए यह सम्पत्ति पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुई है, इसमें पुरुषार्थकी महत्ता नहीं है। तब कोई आत्मज्ञानी सम्पत्तिका मद कैसे कर सकता है। यदि दरिद्र हो तो उसे विचारना चाहिए कि

अथानुवादमुखेन चैत्यालयव्रजनविधिमाह—

यथाविभवमादाय जिनाद्यर्चनसाधनम् ।
व्रजन् कौत्कुटिको देशसंयतः संयतायते ॥६॥

कौत्कुटिकः—पुरो युगमात्रप्रेक्षी ॥६॥

दृष्ट्वा जगद्बोधकरं भास्करं ज्योतिरार्हतम् ।
स्मरतस्तद्गृहशिरोध्वजालोकोत्सवोऽघहृत् ॥७॥

ज्योतिः—ज्ञानमयं वाङ्मयं वा । अघहृत्—पापहरो भवतीत्यर्थः ॥७॥

वाद्यादिशब्द-माल्यादिगन्ध-द्वारादिरूपकैः ।
चित्रैरारोहदुत्साहस्तं विशेन्निसहीगिरा ॥८॥

वाद्यादि—आदिशब्देन धूपचूर्णादि । द्वारादि—आदिशब्देन तोरणस्तम्भशिखरादि ॥८॥

क्षालिताङ्घ्रिस्तथैवान्तः प्रविश्यानन्दनिर्भरः ।
त्रिः प्रदक्षिणयेन्नत्वा जिनं पुण्याः स्तुतीः पठन् ॥९॥

तथैव—निःसहिगिरैव । प्रदक्षिणयेत्—प्रदक्षिणीकुर्यात् । पुण्याः—ज्ञानसंवेगादिगुणप्रव्यक्ती-करणेनाशुभकर्मनिर्जरणीः पुण्याश्रवणीश्च । यथा स्वयमेवावोचत्—

'दृष्टं श्रीमदिदं जिनेन्द्रसदनं स्याद्वादविद्यारस-
स्वादाह्लादसुधाम्बुधिप्लवकिलद्भव्यौघक्लृप्तोत्सवम् ।
अत्रासाद्य सपद्यधिधुरां चित्तप्रसत्तिं परां
संभक्तुं पशवोऽपि सद्दृशमलं मुक्तिश्रियः संफलीम् ॥'

यह दारिद्र्यका दुःख पापकर्मका फल है। इसे कौन टाल सकता है। अतः बुद्धिमान्‌को इसमें खेद खिन्न नहीं होना चाहिए ॥५॥

आगे जिनमन्दिरको जानेकी विधि बताते हैं—

अपनी सम्पत्तिके अनुसार देव, शास्त्र, गुरुके पूजनकी सामग्री लेकर मुनिके समान चार हाथ जमीन आगे देखकर चलनेवाला श्रावक मुनिके समान आचरण करता है ॥६॥

जगत्‌के सोते हुए प्राणियोंकी निद्राको दूर करके जगत्‌को बोध देनेवाले सूर्यको देखकर बहिरात्मा प्राणियोंकी मोहनिद्राको दूर करनेवाले अर्हन्तके ज्ञानमय या वचनमय तेजका स्मरण करते हुए जानेवाले श्रावकको जिनमन्दिरके शिखरपर लगी हुई ध्वजाको देखकर जो आनन्द होता है वह पापको हरनेवाला है ॥७॥

नाना प्रकारके और आश्चर्यको करनेवाले प्रभातकालमें बजनेवाले बाजोंके, स्वाध्याय, स्तुति तथा मंगल गीतोंके शब्दोंसे, चम्पेके फूलों आदिकी मालाओं तथा सुगन्धित धूपकी गन्धसे और द्वार, तोरण, स्तम्भ तथा शिखरपर बने चेतन-अचेतन प्रतिरूपोंके देखनेसे जिसका धर्माचरणका उत्साह बढ़ गया है ऐसा वह श्रावक 'निसही' शब्दका उच्चारण करते हुए जिनमन्दिरमें प्रवेश करे ॥८॥

पैर धोकर 'निसही-निसही' कहते हुए ही जिनालयके भीतर प्रवेश करे। और आनन्दसे गद्गद होते हुए जिन भगवान्‌को तीन बार नमस्कार करे। तथा ज्ञान और वैराग्य आदिको प्रकट करनेवाली होनेसे अशुभ कर्मोंकी निर्जरा और पुण्यकर्मका आस्रव करनेवाली स्तुतियाँ पढ़ते हुए तीन प्रदक्षिणा करे ॥९॥

'उत्पादव्ययनित्यतात्मपदिति न्वक्षि क्षि वा (?)
दभ्यासप्रतिबन्धकक्षयमुखप्रग्राहितानुग्रहात् ।
यः सांसिद्धिकबोधमाप्यपरसं पश्यन् समग्रं समं
हस्तस्थामलकोपमं प्रदिशति स्याद्वादमव्यात्स माम् ॥' [ ]

इत्यादि । यथा वा पांच (?) प्रावोचन्—

'तत्त्वेषु प्रणयः परोऽस्य मनसः श्रद्धानमुक्तं जिनैः,
तत्तु द्वित्रिदशप्रभेदविषयं व्यक्तं चतुर्भिर्गुणैः ।
अष्टाङ्गं भुवनत्रयार्चितमिदं मूढैरपोढं त्रिभि-
श्चित्ते देव दधामि संसृतिलतोल्लासावसानोत्सवम् ॥'
'ते कुर्वन्तु तपांसि दुर्धरधियो ज्ञानानि संचिन्वतां,
वित्तं वा वितरन्तु देव तदपि प्रायो न जन्मच्छिदः ।
एषा येषु न विद्यते तव वचःश्रद्धावधानोद्धुरा,
दुष्कर्माङ्कुरकुञ्जवज्रदहनद्योतावदाता रुचिः ॥' [सो. उपा. ४९४-४९५ श्लो.]

अपि च—

'यदेतद्वो वक्त्राम्बुरुह कुहरात्सूक्तमपतत्-
विमुक्तानां बीजप्रकर इव काले क्वचिदपि ।
.....................ज्ञानामृतसरसमूलाङ्कुरभृतः-
क्रमाज्जायन्तेऽमी फलभरभृतो मुक्ततरवः ॥' [ ]

न तु यथाऽपरे प्राहुः—

'एकं ध्याननिमीलनात्मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुनः,
पार्वत्या विपुले नितम्बफलके शृङ्गारभारालसम् ।
अन्यद्दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं,
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥' [ ]

विशेषार्थ—भगवान्‌के ज्ञान, वैराग्य आदि गुणोंको व्यक्त करते हुए अशुभ कर्मकी निर्जरा और पुण्यकर्मका आस्रव करनेवाली स्तुति पढ़ना चाहिए।—'मैंने आज यह जिनालय देखा जो स्याद्वाद विद्यारूपी रसके स्वादसे आनन्दामृतके समुद्रमें डुबकी लगानेवाले भव्योंको आनन्दित करता है। यहाँ आकर चित्त परम प्रसन्न होता है। पशु भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करके भक्तिके पात्र बनते हैं।' सोमदेवाचार्यने कहा है—'जिनेन्द्रदेवने तत्त्वोंमें मनकी अत्यन्त रुचिको सम्यक्त्व कहा है। इस सम्यग्दर्शनके दो, तीन और दस भेद हैं। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य गुणके द्वारा सम्यक्त्वकी पहचान होती है। उसके आठ गुण हैं, वह तीन मूढ़ताओंसे रहित होता है। हे देव! संसाररूपी लताका अन्त करनेवाले और त्रिलोक-पूज्य उस सम्यग्दर्शनको मैं हृदयमें धारण करता हूँ।' हे देव! जिनकी आपके वचनोंमें एकनिष्ठ श्रद्धापूर्ण रुचि नहीं है, जो रुचि दुष्कर्मरूपी अंकुरोंके समूहको भस्म करनेके लिए वज्राग्निके प्रकाशकी तरह निर्मल है, वे दुर्बुद्धि कितनी ही तपस्या करें, कितना ही ज्ञानार्जन करें और कितना ही दान दें फिर भी जन्मपरम्पराका छेदन नहीं कर सकते; इत्यादि। ऐसी स्तुति नहीं करनी चाहिए जैसी अन्य मतोंमें की जाती है। जैसे शिवकी स्तुतिमें कहा है—'शिवकी एक आँख तो ध्यानसे बन्द है और दूसरी पार्वतीके स्थूल नितम्बोंपर

तथा—

'स वः पायात्कला चान्द्री यस्य मूर्ध्नि विराजते ।
गौरी नखाग्रधारेव भग्नरूढा कचग्रहे ॥' [ ]

इत्यादि ॥९॥

सेयमास्थायिका सोऽयं जिनस्तेऽमी सभासदः ।
चिन्तयन्निति तत्रोच्चैरनुमोदेत धार्मिकान् ॥१०॥

आस्थायिका—समवसरणम् । अनुमोदेत—साधु इमेऽनुतिष्ठन्तीति मनसाऽभिनन्देत् । धार्मिकान्—धर्मं चरतः ॥१०॥

अथेर्यापथसंशुद्धिं कृत्वाऽभ्यर्च्य जिनेश्वरम् ।
श्रुतं सूरिं च तस्याग्रे प्रत्याख्यानं प्रकाशयेत् ॥११॥

ईर्यापथं—ईर्या ईरणं गमनं, पन्था मार्गो यस्य तदीर्यापथं विराधनं, तस्य संशुद्धिः सम्यक् शोधनं प्रतिक्रमणमित्यर्थः । अभ्यर्च्य—'जाव अरहंताणं भयवंताणं णमोक्कारं करेमीति वचनात् प्रतिक्रमणानन्तरं 'नमोऽर्हद्भ्यः' इत्यनेन—

है, तीसरी आँख दूरमें स्थित अपना धनुष ताने कामदेवको भस्म करनेके लिए क्रोधरूपी आगसे उद्दीपित है। इस प्रकार समाधिके समयमें भिन्न रसवाले तीनों नेत्र हमारी रक्षा करें।' तथा—'जिसके मस्तकपर चन्द्रमाकी कला पार्वतीके बालोंके अग्रभागकी धाराके समान शोभित होती है जो बाल खींचते समय गढ़ गयी थी, वे शम्भु हमारी रक्षा करें।' इत्यादि ॥९॥

यह जिनमन्दिर ही वह आगम प्रसिद्ध समवसरण भूमि है। यह प्रतिमामें स्थापित जिन ही आगममें प्रसिद्ध अष्ट महाप्रातिहार्य आदि विभूतिसे भूषित अर्हन्तदेव हैं। ये आराधना करनेवाले भव्य ही आगम प्रसिद्ध सभ्य हैं जो समवसरणकी बारह सभाओंमें बैठते हैं, ऐसा विचार करते हुए जिनमन्दिरमें धर्मका पालन करनेवाले गृहस्थों और मुनियोंकी बारम्बार अनुमोदना करे कि ये सब उत्तम कार्य करते हैं ॥१०॥

विशेषार्थ—जिनमन्दिर यथार्थमें समवसरणके ही प्रतिरूप हैं। जैसे समवसरणमें साक्षात् अर्हन्तदेव विराजमान रहते हैं वैसे ही जिनमन्दिरमें भी उसी मुद्रामें जिनमूर्ति विराजमान रहती है। समवसरणमें भगवान्‌के बाह्यरूपके ही दर्शन होते हैं। जिनमन्दिरमें भी जिनमूर्तिके द्वारा उसी रूपके दर्शन होते हैं। अन्तर इतना ही है कि समवसरणमें भगवान्‌के मुखसे निकली दिव्य ध्वनिको सुननेका सौभाग्य प्राप्त होता है। जिनमन्दिरमें वह सौभाग्य प्राप्त नहीं है। इसीसे जिनमूर्तिके साथ जिनवाणी भी स्थापित रहती है। यदि जिनमूर्तिके दर्शन करनेके पश्चात् जिनवाणीका स्वाध्याय भी किया जाये तो साक्षात् समवसरणका लाभ प्राप्त हो सकता है। मन्दिरमें उपस्थित श्रावक ही समवसरणमें उपस्थित समुदाय है। ऐसा विचार करते हुए श्रावकको धार्मिक पुरुषोंकी हृदयसे अनुमोदना करनी चाहिए ॥१०॥

प्रणामपूर्वक पुण्य स्तुतिके पाठ और प्रदक्षिणा करनेके पश्चात् ईर्यापथ शुद्धि करके और देव शास्त्र गुरुकी पूजा करके पहले घरमें लिये हुए व्रतादिको गुरुके सामने प्रकट कर दे ॥११॥

'जयन्ति निर्जिताशेषसर्वथैकान्तनीतयः।
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वराः ॥' [ ]

इत्यादिना वा वाचनिकनमस्कारेण जलादिपूजाष्टकेन वा अभिमुखं पूजयित्वा। एषः क्रमः श्रुतसूर्योरपि यथास्वं कल्प्यः। स एष जघन्येन वन्दनाविधिः। प्रकर्षवृत्यास्य प्रथममेव गृहेऽनुष्ठानोपदेशात् ॥११॥

**ततश्चावर्जयेत्सर्वान्यथार्हं जिनभाक्तिकान्।
व्याख्यातः पठतश्चार्हद्वचः प्रोत्साहयेन्मुहुः ॥१२॥**

यथार्हं—यथायोग्यप्रतिपत्त्या। तत्र मुनीन् 'नमोऽस्तु' इति। आर्यिका वन्दे इति। श्रावकान् 'इच्छामि' इत्यादि प्रतिपत्त्या। उक्तं च—

'अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्याद्विरतौ विनयक्रिया।
अन्योन्यं क्षुल्लके चाहमिच्छाकारवचः सदा ॥' [सो. उपा. ८१६] ॥१२॥

**स्वाध्यायं विधिवत्कुर्यादुद्धरेच्च विपद्धतान्।
पक्वज्ञानदयस्यैव गुणाः सर्वेऽपि सिद्धिदाः ॥१३॥**

पक्वं—परिणतम् ॥१३॥

विशेषार्थ—ईर्याका अर्थ है गमन और पंथाका अर्थ है मार्ग। गमन जिसका मार्ग है उसे ईर्यापथ कहते हैं। सावधानीपूर्वक चलते हुए भी जो संयमकी विराधना होती है उसकी सम्यक् शुद्धिको ईर्यापथ संशुद्धि कहते हैं यह प्रतिक्रमणके द्वारा होती है। प्रतिक्रमण पाठमें आता है—'जाव अरहंताणं भयवंताणं णमोक्कारं करोमि' इत्यादि। अतः प्रतिक्रमण करनेके बाद वाचनिक नमस्कारके द्वारा या जलादि अष्ट द्रव्य द्वारा देवशास्त्रगुरुकी पूजा करनी चाहिए। यह तो लघु वन्दनाविधि है। बड़ी वन्दनाविधि तो वह घर पर ही कर लेता है ॥११॥

प्रत्याख्यान प्रकट करनेके साथ समस्त क्रियाविधिको समाप्त करनेके बाद अर्हन्तदेवके सब आराधकोंकी यथायोग्य विनय करे। और जो परमागम रूप, न्यायशास्त्र रूप और व्याकरणशास्त्ररूप जिनागमका व्याख्यान करनेवाले, छात्रोंको पढ़ानेवाले उपाध्याय हैं और पढ़नेवाले विद्यार्थी हैं, बार-बार उनको उत्साहित करे ॥१२॥

विशेषार्थ—यथायोग्य विनय करनेसे अभिप्राय यह है कि मुनियोंको 'नमोऽस्तु' कहकर उनका अभिवादन करे। आर्यिकाओंको 'वन्दे' कहे और श्रावकोंको 'इच्छामि' इत्यादि कहकर विनय करे। कहा है—मुनियोंके लिए 'नमोऽस्तु' विरतियोंके लिए विनय क्रिया अर्थात् वन्दे और क्षुल्लकको भी वन्दे कहे तथा परस्परमें इच्छाकार कहना चाहिए ॥१२॥

शास्त्रोक्त विधानके अनुसार व्यंजन शुद्धि आदि पूर्वक स्वाध्याय करे और शारीरिक और मानसिक कष्टोंसे पीड़ित दीन पुरुषोंको कष्टोंसे छुड़ावे। क्योंकि जिसका ज्ञान और दया गुण पक गया है अर्थात् जिसने दोनों गुणोंको पूरी तरहसे आत्मसात् कर लिया है उसीके सब गुण इच्छित अर्थको देनेवाले अथवा मुक्ति देनेवाले होते हैं ॥१३॥

विशेषार्थ—शास्त्रके अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके भेदसे उसके पाँच प्रकार हैं। इनका कथन अनगार धर्मामृतमें आ चुका है। इसी तरह सम्यग्ज्ञानके भी व्यंजनशुद्धि आदि आठ अंग हैं। उनका वर्णन भी उक्त प्रकरणमें आ चुका है। श्रावकको ज्ञानी होनेके साथ दयालु भी होना चाहिए। इसलिए जो भी दीन-हीन कष्टपीड़ित प्राणी हों यथाशक्ति उनका कष्ट दूर करनेका प्रयत्न करना

मध्ये जिनगृहं हासं विलासं दुःकथां कलिम् ।
निद्रां निष्ठ्यूतमाहारं चतुर्विधमपि त्यजेत् ॥१४॥

एवं धर्मविधिमुपदिश्येदानीमर्थचिन्तामनूद्य तद्विधिमाह—

ततो यथोचितस्थानं गत्वाऽर्थेऽधिकृतान् सुधीः ।
अधितिष्ठेद्व्यवस्येद्वा स्वयं धर्माविरोधतः ॥१५॥

अर्थेऽधिकृतान्—अर्थस्यार्जने रक्षणे वर्धने च नियुक्तान् । धर्माविरोधतः—जिनधर्माबाधया । धर्माविरोधश्च राज्ञां दरिद्रेश्वरयोर्मान्यामान्ययोरुत्तमनीचयोर्माध्यस्थ्येन न्यायदर्शनात्, नियोगिनां च राजार्थप्रजार्थसाधनेन, वणिजां च कूटतुलामानादिपरिहारेण वनजीविकादिपरिहारेण च बोद्धव्यः ॥१५॥

अथ पौरुषस्य नैष्फल्यसाफल्यादौ विषादहर्षपरिहारार्थमाह—

निष्फलेऽल्पफलेऽनर्थफले जातेऽपि पौरुषे ।
न विषीदेन्नान्यथा वा हृष्येल्लीला हि सा विधेः ॥१६॥

अन्यथा—बहुफले सफले अर्थानुबन्धिफलेऽपि जाते पौरुष इत्यर्थः । सा पौरुषस्य निष्फलत्वादिजननलक्षणा ॥१६॥

चाहिए। तत्त्वोंके बोधका नाम ज्ञान है और समस्त प्राणियोंके दुःखोंको दूर करनेकी अभिलाषाका नाम दया है। किसीको कष्टमें देखकर कोरी सहानुभूति दिखानेका नाम दया नहीं है। उस कष्टको दूर करनेका प्रयत्न करना दया है ॥१३॥

इस प्रकार करने योग्य आचरणका उपदेश देकर न करने योग्य आचरणका उपदेश करते हैं—

जिनालयमें हास्य, शृंगार युक्त चेष्टा रूप विलास, खोटी कथा, कलह, निद्रा, थूकना और चारों प्रकारका आहार, ये सात कार्य नहीं करना चाहिए ॥१४॥

इस प्रकार प्रातःकालीन धार्मिक कृत्योंका उपदेश देकर उसके बाद करने योग्य धन कमाने आदिकी विधिको कहते हैं—

प्रातःकालीन धार्मिक कर्म समाप्त करनेके बाद इस लोक और परलोक सम्बन्धी हित अहितके विचारमें चतुर श्रावक धनके उपार्जन करनेके योग्य अपनी दूकान आदि स्थानपर जाकर धनके कमाने, बढ़ाने और रक्षणमें नियुक्त अपने कर्मचारियोंकी देख-भाल करे। यदि इतना बड़ा कारभार नहीं है तो स्वीकार किये गये जिनधर्मका घात न करते हुए स्वयं व्यवसाय करे ॥१५॥

विशेषार्थ—यहाँ जो धर्मका घात न करते हुए व्यवसाय करनेके लिए कहा है उसका अभिप्राय यह है कि राजाओंको गरीब, अमीर, उत्तम, नीच, सम्मान्य और अमान्य व्यक्तियोंका विचार न करते हुए माध्यस्थ भावसे न्याय करना चाहिए। उनके कर्मचारियोंको राजा और प्रजा दोनोंका हित साधते हुए अपना काम करना चाहिए। व्यापारियोंको कमती तोलना, बढ़ती लेना, कम नापना आदि नहीं करना चाहिए, तथा जंगल आदि सम्बन्धी क्रूर कर्मोंसे आजीविका नहीं करनी चाहिए ॥१५॥

व्यापारमें होनेवाले हानि लाभसे हर्ष विषाद न करनेका उपदेश करते हैं—

यदि पुरुषार्थ निष्फल हो जाये अर्थात् व्यापारमें कुछ भी लाभ न हो, या थोड़ा लाभ हो, या अनर्थफल हो अर्थात् व्यापारमें लगायी पूँजी ही डूब जावे तो खेदखिन्न नहीं होना चाहिए। इससे विपरीत होनेपर अर्थात् यदि पुरुषार्थ सफल हो जावे, या प्रचुर लाभ हो

अथ प्राणयात्राविधर्ष नवश्लोकोमाह—

कदा माधुकरी वृत्तिः सा मे स्यादिति भावयन् ।
यथालाभेन सन्तुष्ट उत्तिष्ठेत तनुस्थितौ ॥१७॥

माधुकरी—भ्रमरसम्बन्धिनीव पुष्पाणामिव दातॄणामनुपपीडनेनात्मपीडन[प्रीणन]हेतुत्वात् । वृत्तिः—भिक्षा । सा—सूत्रोक्ता । स्यात्—भविष्यति । उत्तिष्ठेत्—उद्यमं कुर्यात् ॥१७॥

नीरगोरसधान्यैधःशाकपुष्पाम्बरादिभिः ।
क्रीतैः शुद्धयविरोधेन वृत्तिः कल्प्याऽघलाघवात् ॥१८॥

धान्यानि—तण्डुलादीनि । एधांसि—इन्धनानि । अम्बरादि—आदिशब्देन खट्वा-पट्टक-तृणादि ॥१८॥

सधर्मिणोऽपि दाक्षिण्याद्विवाहादौ गृहेऽप्यदन् ।
निशि सिद्धं त्यजेद्धीनैर्व्यवहारं च नावहेत् ॥१९॥

सधर्मणोऽपि न परं पुत्रादेः । दाक्षिण्यात्—उपरोधवशात् अपि । विवाहादावपि न परमिष्टभोज्यादौ । निशि—रात्रौ । तदा ह्यन्नपाके त्रसघातपातौ परिहर्तुं न शक्येते । हीनैः—सत्त्वधर्मधनादिना त्यक्तैरल्पैर्वा सह । व्यवहारं दानप्रतिग्रहणादिलक्षणम् ॥१९॥

तो हर्ष भी न करे। क्योंकि पुरुषार्थकी सफलता या असफलता पूर्व उपार्जित पाप पुण्यका खेल है ॥१६॥

अर्थोपार्जनके बाद भोजन आदिकी विधि नौ श्लोकोंसे कहते हैं—

मेरी वह माधुकरी भिक्षा कब होगी ऐसा चित्तमें विचार करते हुए जो कुछ लाभ हुआ उतनेसे ही सन्तुष्ट होकर वह श्रावक शरीरकी स्थितिके लिए अर्थात् भोजनादिके लिए उद्यम करे ॥१७॥

विशेषार्थ—धनोपार्जनकी चिन्तासे विरत होनेके बाद महाश्रावकको भोजनादिका प्रबन्ध करना चाहिए। मुनियोंकी भिक्षावृत्तिको माधुकरी वृत्ति कहते हैं। मधुकर भौंरेको कहते हैं। जैसे भौंरा फूलोंको पीड़ा पहुँचाये बिना उनसे मधु ग्रहण करता है। उसी तरह साधु भी दाताओंको कष्ट न पहुँचा कर भिक्षा ग्रहण करता है। महाश्रावक यही भावना करता है कि मैं भी मुनियोंकी तरह भोजन ग्रहण करूँ ॥१७॥

अपने द्वारा स्वीकृत सम्यक्त्व और व्रतोंको हानि न पहुँचाकर खरीदे गये जल, दूध आदि, धान्य, ईंधन, शाक, फूल वस्त्रादिके द्वारा कमसे-कम पाप हो, इस तरहसे अपने शरीरका भरण-पोषण करे ॥१८॥

विशेषार्थ—आजके श्रावकोंको यह कथन कुछ अटपटा लग सकता है। किन्तु जो साधारण स्थितिके श्रावक होते हैं, जिन्हें प्रतिदिन कमाकर अपना भरण-पोषण करना पड़ता है। उनकी दृष्टिसे इस कथनको देखना चाहिए। तथा इससे यह भी प्रकट होता है कि महाश्रावकको बहु आरम्भी और बहुसंचयी नहीं होना चाहिए। प्रतिदिनके लिए आवश्यक वस्तुओंको प्रतिदिन खरीदकर काम चलाना चाहिए। ग्रन्थकार मारवाड़के थे और मारवाड़में पानी दुर्लभ है। इसलिए खरीदी वस्तुओंमें उन्होंने जलको भी लिया है ॥१८॥

आग्रहवश साधर्मीके भी घरमें, वह भी विवाह आदिमें भोजन करना पड़े तो रात्रिमें बनाया गया भोजन न करे। तथा जो धर्म हीन हैं या आचार-विचारमें हीन हैं ऐसे गृहस्थोंके साथ देन लेन खान-पानका व्यवहार न करे ॥१९॥

उद्यानभोजनं जन्तुयोधनं कुसुमोच्चयम् ।
जलक्रीडान्दोलनादि त्यजेदन्यच्च तादृशम् ॥२०॥
यथादोषं कृतस्नानो मध्याह्ने धौतवस्त्रयुक् ।
देवाधिदेवं सेवेत निर्द्वन्द्वः कल्मषच्छिदे ॥२१॥

जन्तुयोधनं—पदाति-कुक्कुट-मेषादीनां परस्परसंप्रहारम् । आन्दोलनादि—आदिशब्देन चैत्रसितप्रतिपदादिषु भस्मव्यतिकारि परिहासादि । तादृशं—द्रव्यभावहिंसाबहुलं कौमुदीमहोत्सवकुर्दन-नाटकावलोकनं राजसभ (रास-) क्रीडादिकं ॥२०-२१॥ स्पष्टम् ।

आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तदिलां पीठ्यां चतुष्कुम्भयुक्-
कोणायां सकुशश्रियां जिनपतिं न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक् ।
नीराज्याम्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः सिक्त्वा कृतोद्वर्तनं
सिक्तं कुम्भजलैश्च गन्धसलिलैः संपूज्य नुत्वा स्मरेत् ॥२२॥

विशेषार्थ—व्रती श्रावकको सामूहिक भोजोंमें भोजन करने नहीं जाना चाहिए; क्योंकि वहाँ शुद्ध भोजनकी व्यवस्था सम्भव नहीं होती। शुद्ध भोजनके नामपर जो भोजन वहाँ होता है वह भी वास्तवमें शुद्ध नहीं होता। किन्तु आपसदारीके आग्रहवश साधर्मीके भी घर जाना पड़े और वह भी विवाह आदिके समय जिसे टालना शक्य नहीं होता तो रात्रिका बना पक्वान्न नहीं खाना चाहिए; क्योंकि रात्रिके बने भोजनमें त्रसजीवोंका घात अवश्य होता है और वे जन्तु उसी भोजनमें गिरकर मरते हैं। तथा जिन लोगोंका आचार-विचार ठीक न हो उनसे व्यवहार ही नहीं रखना चाहिए। न आप उन्हें बुलायेंगे, न आपको उनके यहाँ जाना पड़ेगा ॥१९॥

यह महाश्रावक उद्यानमें भोजन, मुर्गे-मेढ़े आदि जन्तुओंका लड़ाना, पुष्पोंका संचय, जलक्रीड़ा, झूलाझूलन आदि तथा अन्य भी जो इस प्रकारके कार्य हैं उन्हें न करे, उनका त्याग कर दे ॥२०॥

विशेषार्थ—मनोविनोदके लिए ये सब कर्म लोकमें किये जाते हैं। इन सभी कार्योंमें निष्प्रयोजन रागादिरूप भावहिंसा तथा जीवघात होता है। ग्रन्थकारने टीकामें लिखा है कि चैत्र कृष्ण प्रतिपदाके दिन जो धूलैण्डी खेली जाती है, तथा कौमुदी महोत्सव, कूदना, नाटक देखना, युद्ध देखना, रासक्रीडा आदि ये सब भी नहीं करना चाहिए। ये सब उस समयके मनोरंजनके साधन थे। आजका नया मनोरंजन सिनेमा है इससे बचना चाहिए ॥२०॥

मध्याह्नकालमें जब साधुओंकी भ्रामरी वेलाका समय निकट होता है, अशुद्धिके अनुसार यथायोग्य शरीर प्रक्षालन करके और धुले हुए वस्त्र पहनकर नवीन और पुराने पापोंको नष्ट करनेके लिए समस्त प्रकारकी उलझनोंसे मुक्त होकर देवाधिदेव अर्हन्तदेवकी पूजा करे ॥२१॥

आगे जिन भगवान्‌के अभिषेक आदिसे उपासनाकी विधि कहते हैं—

अभिषेककी प्रतिज्ञा करके अभिषेककी भूमिका शोधन करे। उसपर सिंहासन स्थापित करे। सिंहासनके चारों कोनोंमें जलसे भरे चार कलश स्थापित करे तथा चन्दनसे 'श्री' और 'ह्रीं' अक्षर लिखे। उसपर कुश क्षेपण करे। फिर उसके ऊपर जिनेन्द्र भगवान्‌को स्थापित करे। फिर इष्ट दिशामें खड़े होकर आरती करे। फिर जल, रस, घी, दूध और दहीसे अभिषेक करके नन्द्यावर्त आदिका अवतारण करके पहले सुगन्धित जलसे अन्तमें चारों कोनोंमें

आश्रुत्य—कर्तव्यतया प्रतिज्ञाय। प्रस्तावनार्थमिदम्। षड्विधं हि देवसेवनमाहुः। यथाह—

'प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सन्निधापनम्।
पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम्॥' [सो. उपा. ५२९]

विशोध्य—रत्नाम्बुकुशाग्नि[1]नागसंतर्पणविधिना शोधयित्वा। चतुःकुम्भयुक्कोणायां—चत्वारः कुम्भयुजः पूर्णकलशोपेताः कोणा यस्याः। सकुशश्रियां—दर्भैश्चन्दननिर्मितश्रीकाराक्षरेण च सहितायाम्। श्रियामित्युपलक्षणम्। तेन ह्रींकारोऽपि लेख्यः। अन्ये तु अक्षतनिर्मितं श्रीकारमेवाहुः। तदुक्तम्—

'निस्तुषनिर्व्रणनिर्मलजलार्द्रशालेयतण्डुलालिखिते।
श्रीकामः श्रीनाथं श्रीवर्णे स्थापयाम्युच्चैः॥' [ ]

पुराकर्मेदम्। न्यस्य—[2]स्थापनीयम्। अन्तमाप्य—आत्मसन्निधिं प्रापय्य। सन्निधापनमिदम्। इष्टा—यज्ञांशं प्रापिता जिनयज्ञमभिवर्धयन्तो वानुमोदिता दिशस्तत्स्थदिक्पाला यत्र नीराजनकर्मणि। येन वा श्रावकेण। नीराज्य पूजापुरस्सरं मृत्स्ना-गोमय-भूतिपिण्डदूर्वादर्भपुष्पाक्षतसुचन्दनोदकैर्नीराजनं प्रापय्य। रसाः—इक्षु-द्राक्षाम्रादिफलनिर्यासाः। कृतोद्वर्तनं—एलादिचूर्णकल्ककषायैरुद्वर्त्य कृतनन्द्यावर्ताद्यवतरणम्। कुम्भेत्यादि। कुम्भाएव पूर्वस्थापितकलशजलानि पञ्चसुगन्धशुद्धसलिलानि तैः। संपूज्य—जलादिभिरष्टाभिः सम्यगर्चयित्वा। नुत्वा—नित्यवन्दनाविधिना वन्दित्वा। स्मरेत्—यथाशक्ति जपेद्धयायेच्च॥२२॥

स्थापित कलशोंके जलसे अभिषेक करे। फिर पूजा करके नित्य वन्दनादि विधिसे नमस्कार करे। फिर यथाशक्ति जप और ध्यान करे॥२२॥

विशेषार्थ—जिनपूजा विधिके छह प्रकार सोमदेव सूरिने उपासकाध्ययनमें कहे हैं—प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजाफल। इनका कथन करते हुए उन्होंने कहा है कि जो प्रतिमामें जिनभगवान्‌की स्थापना करके पूजन करते हैं उनके लिए अभिषेक, पूजन, स्तवन, जप, ध्यान और श्रुतदेवताका आराधन इन छह विधियोंको बताते हैं। अभिषेककी प्रतिज्ञा लेकर स्वयं उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके खड़ा हो, और जिनबिम्बका मुख पूरब दिशाकी ओर करके उनकी स्थापना करे तथा पूजनके समय अपने मन-वचन-कायको स्थिर रखे। देवपूजनके छह प्रकार हैं—प्रस्तावना आदि। पहले प्रस्तावनाको कहते हैं—हे जिनेन्द्र! आपका परम औदारिक शरीर मलसे रहित है, आप काम आदिका भी सेवन नहीं करते। अतः जलस्नानसे आपको कोई प्रयोजन नहीं है। फिर भी मैं अपने पुण्य संचयके लिए आपका अभिषेक आरम्भ करता हूँ। यह प्रस्तावना है। आगे पुराकर्मको कहते हैं—रत्नसहित जलसे तथा कुश और अग्निसे शुद्ध की गयी भूमिमें दूधसे नागेन्द्रोंको तृप्त करके पूर्वादि दश दिशाओंको दूर्वा, अक्षत, पुष्प और कुशसे युक्त करे। वेदीके चारों कोनोंमें पल्लव और फूलोंसे शोभित जलसे भरे चार घटोंको स्थापित करे। यह पुराकर्म है। सिंहासनको शुद्ध जलसे धोनेके पश्चात् उसपर श्री ह्रीं लिखकर तथा अर्घ देकर जिनबिम्बकी स्थापना करना स्थापना है। यह जिनबिम्ब ही साक्षात् जिनेन्द्र हैं, यह सिंहासन सुमेरु पर्वत है। कलशोंमें भरा जल साक्षात् क्षीरसागरका जल है। और आपके अभिषेकके लिए इन्द्रका रूप धारण करनेके कारण मैं साक्षात् इन्द्र हूँ। यह सन्निधापन है। इसके बाद पूजा है। इसमें आठों दिग्पालोंको आमन्त्रित करके, जिनबिम्बकी आरती करके भगवान्‌का अभिषेक किया

---

१. भिन्ना सन्त—भ. कु. च.।
२. स्थापयित्वा—भ. कु. च.।

सम्यग्गुरूपदेशेन सिद्धचक्रादि चार्चयेत् ।
श्रुतं च गुरुपादांश्च को हि श्रेयसि तृप्यति ॥२३॥

सिद्धचक्रं लघु बृहद्वा । आदिशब्देन पार्श्वनाथयन्त्रं, गणधरवलयं सारस्वतयन्त्रमन्यद्वा । सम्यक्त्व-संयमाविरोधेन दृष्टादृष्टेष्टफलप्रसादत्वेन जिनशासने प्रसिद्धम् । एतच्च रहस्यभावात् पदस्थध्याननिरूपणावसरे प्रपञ्चयिष्ये ॥२३॥

ततः पात्राणि संतर्प्य शक्तिभक्त्यनुसारतः ।
सर्वांश्चाप्याश्रितान् काले सात्म्यं भुञ्जीत मात्रया ॥२४॥

काले—बुभुक्षाकालो भोजनकालः । स च 'प्रसृष्टे विण्मूत्र' इत्यादिना प्राग्व्याख्यातः । एतेन माध्याह्निकदेवपूजाभोजनयोर्नास्ति कालनियम इति बोधयति । तीव्रबुभुक्षुर्हि मध्याह्नादर्वागपि.......... । मात्रया—सुखजरणलक्षणया । यदाह—'सायं प्रातर्वा वह्निशमनमनवसादयन् भुञ्जीतेति' ॥२४॥

जाता है । अभिषेकके पश्चात् अष्ट द्रव्यसे पूजन करके उनका स्तवन, जप, ध्यान किया जाता है । यह पूजा है । उसके बादकी प्रार्थना वगैरह पूजाफल है । इसीके अनुसार आशाधरजी-ने भी कथन किया है । जिन भगवान्की स्थापना करनेके स्थानपर अक्षतसे 'श्री' अक्षर बनाकर उसपर भी स्थापना करनेका विधान है ॥२२॥

अन्य पूजाका उपदेश करते हैं—

सच्चे गुरुके उपदेशसे सिद्धचक्र आदिकी तथा शास्त्रकी व दीक्षा देनेवाले आचार्यके चरणोंकी पूजा करे, क्योंकि अभ्युदय और मोक्षके साधक कार्योंमें कौन तृप्त होता है ॥२३॥

विशेषार्थ—सच्चे गुरुके उपदेशसे इसलिए कहा है कि पूजन निष्फल न हो और उसमें विघ्न न आवें । विना समझे-बूझे स्वयं अपनी समझसे करनेसे ऐसा हो सकता है । सिद्धचक्र विधान लघु भी होता है और बृहत् भी होता है । आदि शब्दसे पार्श्वनाथयन्त्र, गणधरवलययन्त्र, सारस्वतयन्त्र आदि तथा अन्य भी जो सम्यक्त्व और संयमके अविरुद्ध होते हुए जिनशासनमें इहलौकिक और पारलौकिक फलके दाता प्रसिद्ध हैं उनका पूजन करना चाहिए। श्लोकमें जो तीसरा 'च' आया है वह इस बातका सूचक है कि देव, शास्त्र और गुरु तीनों ही समान रूपसे पूज्य हैं । यह प्रश्न हो सकता है कि ये अन्य पूजा किस लिए कही हैं, क्योंकि जिनपूजासे ही समस्त मनोरथोंकी सिद्धि हो जाती है ? इस शंकाके उत्तरमें यह कहा गया है कि जिन साधनोंसे जीवका कल्याण होता है उनकी जितनी अधिक प्राप्ति हो उतना ही उत्तम है । उनसे किसीको सन्तोष नहीं होता ॥२३॥

जिन पूजा आदि करनेके पश्चात् अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार पात्रोंको और अपने आश्रित सब प्राणियोंको, जिनमें पालतू पशु भी सम्मिलित हैं, अच्छी तरहसे सन्तृप्त करके योग्य कालमें उचित मात्रामें सात्म्य वस्तु खावे ॥२४॥

विशेषार्थ—यहाँ जो कालमें खानेके लिए लिखा है वह यह बतलाता है कि मध्याह्न कालकी पूजा और भोजनके लिए कोई कालका नियम नहीं है । तीव्र भूख लगनेपर मध्याह्नसे पहले भी ग्रहण किये गये प्रत्याख्यानका निर्वाह करते हुए देवपूजा आदि पूर्वक भोजन करनेवाला श्रावक दोषका भागी नहीं है । भोजन भूखके समय ही करना चाहिए । भोजन शास्त्रमें कहा है—'मल-मूत्रका त्याग करनेपर, हृदयसे स्वच्छ रहते हुए, वात, पित्त, कफके

---

१. 'प्रसृष्टे विण्मूत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे,
विशुद्धे चोद्गारे क्षुदुपगमने वातेऽनुसरति ।

लोकद्वयाविरोधीनि द्रव्यादीनि सदा भजेत् ।
यतेत व्याध्यनुत्पत्तिच्छेदयोः स हि वृत्तहा ॥२५॥

द्रव्यादीनि—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकर्मसहायादीनि । व्याध्यनुत्पत्तिच्छेदयोः । तद्विधिर्यथा—

'त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमस्मृतिः ।
देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम् ॥
अनुत्पत्तौ समासेन विधिरेषः प्रदर्शितः ।
निजागन्तुविकाराणामुत्पन्नानां च शान्तये ॥' [ ]

तथा—

'नित्यं हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः ।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानपापसेवीह भवत्यरोगः ॥
अर्थेष्वलभ्येष्वकृतप्रयत्नं कृतादरं नित्यमुपायवत्सु ।
जितेन्द्रियं नानुपतन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम् ॥' [ ]

वृत्तहा—संयमस्य हन्ता ॥२५॥

अपने मार्गपर रहते हुए, मलवाहक द्वारोंके खुलनेपर, भूख लगनेपर, वायुका निःसरण होते हुए, तथा जठराग्निके उद्दीप्त होनेपर, इन्द्रियोंके प्रसन्न और शरीरमें हलकापन होते हुए विधिपूर्वक नियमित आहार करना चाहिए। वही भोजनका काल माना है। भोजन मात्रामें करना चाहिए। मात्रासे मतलब है जितना सुखपूर्वक पच सके। कहा है—प्रातः और सायंकाल जठराग्निको कष्ट न देते हुए भोजन करना चाहिए। और भी कहा है—'गरिष्ठ पदार्थ भूखसे आधा खाना चाहिए। हलके पदार्थ भी अति मात्रामें नहीं खाना चाहिए। जितना सुखपूर्वक पचे वही मात्राका प्रमाण है।' तथा सात्म्य वस्तु खानेको कहा है प्रकृति विरुद्ध भी खान-पान जिसके संयोगसे खानेपर सुखकारक होते हैं उसे सात्म्य कहते हैं ॥२४॥

श्रावक सदा इस लोक और परलोकमें पुरुषार्थका घात न करनेवाले द्रव्य आदिका सेवन करे। और ऐसा प्रयत्न करे कि रोग उत्पन्न न हो। यदि उत्पन्न हो जाये तो उसे दूर करनेका प्रयत्न करे; क्योंकि रोग चारित्रका घातक है। रोग होनेपर प्रतिदिनका धर्म-कर्म सब छूट जाता है ॥२५॥

विशेषार्थ—रोग उत्पन्न न हो और हुआ हो तो दूर हो जाये, इसकी विधि इस प्रकार कही है—मनुष्यको बुद्धिपूर्वक अपराध करनेका त्याग करना चाहिए। इन्द्रियोंको शान्त रखना चाहिए। देश, काल और अपनेको जानना चाहिए। सदाचारका पालन करना चाहिए। उत्पन्न हुए रोगोंको शान्त करनेका तथा नये रोग उत्पन्न न होनेकी संक्षेपमें यह विधि है। तथा—जो नित्य हितकारक आहार विहार करता है, सोच विचार कर काम करता है, विषयोंमें अनासक्त रहता है। दानशील, समभावी, समशील, क्षमावान तथा पापका सेवन नहीं करता वह नीरोग रहता है। जो अलभ्य पदार्थोंके लिए प्रयत्न नहीं करता, उपायसे सम्पन्न हो सकने वाले कार्योंमें प्रयत्नशील होता है उस जितेन्द्रियको रोग नहीं होते। किन्तु यदि दैव भी अनुकूल हो तो ॥२५॥

तथाम्नावुदृक्ते विशदकरणे देहे च सुलघौ,
प्रयुञ्जीताहारं विधिनियमितं कालः स हि मतः ॥' अष्टांगहृ. ।

१. 'गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां नातितृप्तता । मात्रप्रमाणं निर्दिष्टं सुखं तावद् विजीर्यति ॥' अष्टांगहृ. ।
२. 'पानाहारादयो यस्य विरुद्धाः प्रकृतेरपि । सुखित्वायावकल्पंते तत्सात्म्यमिति कथ्यते ॥' अष्टांगहृ. ।

विश्रम्य गुरुसब्रह्मचारिश्रेयोर्थिभिः सह ।
जिनागमरहस्यानि विनयेन विचारयेत् ॥२६॥

ततश्च विश्रम्य—भोजनश्रममपनीय । यदाह सुश्रुतः—

'भुक्त्वा राजवदासीत यावदन्नक्लमो गतः ।
ततः पादशतं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत् ॥' [ ]

सब्रह्मचारिणः—सहाध्यायिनः । रहस्यानि—ऐदंपर्याणि विचारयेत्, इदमित्थं भवति न वेति संप्रधारयेत् । गुरुमुखाच्छ्रुताम्यपि शास्त्ररहस्यानि परिशीलनविकलानि न चेतसि सुदृढप्रतिष्ठानि भवन्तीति कृत्वा ॥२६॥

सायमावश्यकं कृत्वा कृतदेवगुरुस्मृतिः ।
न्याय्ये कालेऽल्पशः स्वप्याच्छक्त्या चाब्रह्म वर्जयेत् ॥२७॥

ततश्च सायं—सन्ध्यासमये आवश्यकं देवार्चनं भूमिकौचित्येन च सामायिकादिषट्कम् । स्मृतिः—मनस्यारोपणम् । न्याय्ये—न्यायादनपेते । न्याय्यश्च कालो रात्रेः प्रथमयामोऽर्धरात्रं वा । शरीरसात्म्येन अल्पशः अल्पं एतच्च विशेषणमिति विधिः । सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामत इति न्यायात् । स्वप्यादिति च विशेष्यम् । न च तत्र विधिर्दर्शनावरणीयकर्मोदयेन स्वापस्य स्वतः सिद्धत्वात् । अल्पमपि च प्रशस्तं [1]यदा भवति तदा स्वप्यादिति शसा द्योत्यते । तेन रोगमार्गश्रमादौ बहुशोऽपि स्वप्यादिति विधिः । अब्रह्म—मैथुनं । उपलक्षणं चैतत्, तेन 'यावन्न सेव्या विषयास्तावत्तानाप्रवृत्तितो व्रतयेदिति वचनाद् भोगादिनियमं विना क्षणमपि स्थातुं न युक्तमिति स्मारयति ॥२७॥

भोजनके बाद क्या करना चाहिए, यह बताते हैं—

भोजनके बाद विश्राम करके गुरुओंके साथ, सहाध्यायियोंके साथ और अपना कल्याण चाहनेवालोंके साथ विनयपूर्वक जिनागमके रहस्योंका विचार करे ॥२६॥

विशेषार्थ—भोजनके बाद विश्राम करना स्वास्थ्यके लिए आवश्यक है । सुश्रुतने कहा है—'भोजनके पश्चात् तबतक राजाकी तरह बैठे जबतक भोजन सम्बन्धी थकान दूर हो । उसके पश्चात् सौ कदम चलकर बायीं करवटसे लेट जाये । इस प्रकार विश्राम करनेके पश्चात् शास्त्रचिन्तन करना चाहिए । गुरुके मुखसे सुने हुए भी शास्त्रके रहस्योंका यदि परिशीलन न किया जाये तो वे चित्तमें दृढ़तापूर्वक ठहरते नहीं हैं । इसलिए जिनागमके रहस्योंका विचार गुरु, साथमें स्वाध्याय करनेवाले तथा जो अन्य आत्महितके इच्छुक हों उनके साथ करना चाहिए ॥२६॥

उसके बाद—

सन्ध्या समयमें देवपूजा तथा भूमिकाके अनुसार सामायिक आदि षट्कर्म करके देव और गुरुका स्मरण पूर्वक उचित कालमें थोड़ा सोवे । और शक्तिके अनुसार मैथुन छोड़े ॥२७॥

विशेषार्थ—सोनेका उचित काल रात्रिका प्रथम पहर या आधी रात है । यहाँ 'सोवे' यह विशेष्य है और 'अल्पशः' विशेषण है । विशेषण सहित वाक्यमें विधि निषेध विशेषण पर निर्भर होता है ऐसा न्याय है । यद्यपि इसकी विधि आवश्यक नहीं है क्योंकि दर्शनावरणीय कर्मके उदयसे सोना तो स्वतःसिद्ध है । 'अल्पशः' में जो शस् प्रत्यय लगा है उससे

---

१. यथा भवति तथा—भ. कु. च. ।

अथ परिणतायां रात्रौ निद्राच्छेदे सति निर्वेदादिभावनां कुर्यादित्युपदेशार्थं सप्तदशश्लोकानाह—

निद्राच्छेदे पुनश्चित्तं निर्वेदेनैव भावयेत् ।
सम्यग्भावितनिर्वेदः सद्यो निर्वाति चेतनः ॥२८॥

निर्वेदेन—संसारशरीरवैराग्येण ॥२८॥

अथ संसारनिर्वेदार्थमाह—

दुःखावर्ते भवाम्भोधावात्मबुद्धयाऽध्यवस्यता ।
मोहाद्देहं हहात्माऽयं बद्धोऽनादि मुहुर्मया ॥२९॥

दुःखावर्ते—दुःखानि नारकादिभववेदना । आवर्ता जलभ्रमणानीवानियतोत्थानत्वाद्दुर्निवारत्वाच्च यत्र । संसारे हि नारकाणां दुःखानि स्वाभाविकपरस्परोदीरित-संक्लिष्टासुरकृतक्षेत्रानुभावजान्यत्यन्त-दुःसहसततान्तस्ताप-परमदुर्गन्ध-खरस्पर्श-कटुरस-कृष्णवर्णदेहादिदारक-पूर्ववैरोद्घट्टनतदनुरूपातिप्रचण्डदण्डप्रयोग-यातनामुख-पूर्वभववैरादिनिर्बंदना(?)नुस्मारणप्रमुखभृशोष्णशीतभूमिस्पर्शमधुच्छत्रायमाणजन्मसालाधोमुखज्वल-द्वज्रावनिपातादिकानि । तिरश्चां च वधबन्धताडनपारवश्यक्षुत्पिपासातिभारारोपणाङ्गच्छेदादिसंभवानि । मनुष्याणां च दारिद्रयव्याधिपारवश्यावरोधबन्धादि निबन्धनां [-धीनि देवानां] चेर्ष्याविषादविपक्षसम्पद्दर्शन-प्रियाङ्गनामरण-स्वमरणशोचनादिप्रभवानि बहुशोऽनुभूयन्ते । तथा चोक्तम्—

'श्वभ्रे शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुरव्याहते-
स्तैरश्चे श्रमदुःखपावकशिखासंभारभस्मीकृतैः ।
मानुष्यैरतुलप्रयासवशगैर्देवेषु रागोद्धतैः,
संसारेऽत्र दुरन्तदुर्गतिमये बंभ्रम्यते प्राणिभिः ॥' [ ]

ज्ञात होता है कि थोड़ा भी शयन प्रशस्त हो इस तरह सोना चाहिए। इससे यह विधि होती है कि रोगमें मार्ग चलनेके थकान आदिमें बहुत भी सो सकते हैं ॥२७॥

रात्रिमें यदि नींद खुल जाये तो वैराग्य भावना भाना चाहिए यह सतरह श्लोकोंसे कहते हैं—

नींद टूटने पर मनको संसार और शरीर विषयक वैराग्यसे ही सुसंस्कृत करे, धनादि की चिन्ता न करे, इसके लिए 'वैराग्यसे ही' कहा है; क्योंकि ठीक रीतिसे वैराग्यका अभ्यास करनेवाला आत्मा शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त करता है ॥२८॥

संसारसे वैराग्यके लिए क्या विचारना चाहिए, यह बताते हैं—

यह संसार एक समुद्र है। इसमें नारक आदि भवोंका दुःख भँवर है। अर्थात् जैसे समुद्रमें भँवर रहते हैं वैसे ही संसारमें दुःख है। इस संसार समुद्रमें गोते खाते हुए मैंने मोहवश शरीरको ही आत्मा माना। और इस अपनी भूलसे यह स्वसंवेदनके द्वारा प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाला आत्मा अनादि कालसे बार-बार ज्ञानावरण आदि कर्मसे बद्ध किया। यह बड़े खेदकी बात है ॥२९॥

विशेषार्थ—संसारमें नारकियोंको स्वाभाविक दुःख तो है ही, परस्परमें तथा संक्लिष्ट असुरकृत दुःख भी है वहाँका क्षेत्र भी दुखदायक है। अत्यन्त दुःसह आन्तरिक संताप, परम दुर्गन्ध, कठोर स्पर्श, कटुक रस, काले वर्णका शरीर, पूर्वजन्मके वैरके प्रकट होने पर तदनुसार प्रचण्ड दण्डका प्रयोग, पूर्व जन्मकी स्मृति, अत्यन्त शीत या उष्ण स्पर्श जन्य कष्ट, जन्म होते ही मधुमक्खियोंके छत्तेके समान जन्म स्थानसे नीचेको मुख किये हुए जलती हुई आगमें गिरना ये सब कष्ट हैं। तिर्यञ्चोंको वध, बंध, ताड़न, भूख प्यासकी वेदना, अतिभार

मोहात्—अविद्यासंस्कारात् । यदाह—

'स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम् ।
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥
अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः ।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥' [समाधितं. ११-१२]

बद्धः—ज्ञानावरणादिकर्मपरतन्त्रीकृतः ॥२९॥

तदिदानीं किं करोमीत्याह—

तदेनं मोहमेवाहमुच्छेत्तुं नित्यमुत्सहे ।
मुच्येतैतत्क्षये क्षीणरागद्वेषः स्वयं हि ना ॥३०॥

आत्मा न प्रधानं पुमान् वा न स्त्री मनुष्यो वा न देवादिः । प्रकृतियोषितोः सांख्यसितपटकल्पितस्य निर्वाणस्य युक्तिबाधितत्वात् । देवनारकाणां च संयममात्रस्याप्यसंभवात्तिरश्चां च सर्वविरतेरभावात् ॥३०॥

इदानीं बन्धमूलामनर्थपरम्परां परामृशन् पुनर्बन्धानुबन्धिनं विषयसेवाभिनिवेशं संहर्तुं प्रतिज्ञां करोति—

वहन करना, अंगोंका छेदन आदिका दुःख है। मनुष्योंको दरिद्रता, व्याधि, दासता, वध-बन्ध आदिका दुःख है। देवोंको ईर्षा, विवाद, विपक्षी देवोंकी सम्पत्तिका दर्शन, प्रिय देवांगनाका मरण, अपने मरणकी चिन्ता आदिका दुःख है। कहा है—'नरकमें शूल, कुठार, यन्त्र, अग्नि, तीक्ष्ण क्षुरेसे आघातका दुःख है। तिर्यंचोंमें श्रमके दुःखरूपी आगकी ज्वालासे प्राणी पीड़ित है। मनुष्योंमें घोर प्रयास करना पड़ता है। देवोंमें राग सताता है। इस प्रकार दुर्गतिमय दुखपूर्ण संसारमें प्राणी भ्रमण करते हैं।' इसका कारण मोह है। कहा है—आत्माको न जाननेवाले मनुष्योंको शरीरमें ही आत्मबुद्धि होनेसे यह मेरा पुत्र है, यह मेरी पत्नी है इत्यादि भ्रम रहता है। यही अविद्या है, अज्ञान है, मोह है, उससे संस्कार दृढ़ होता है। उस संस्कारवश पुनः मनुष्य शरीरको ही आत्मा मानकर उसीमें रमा रहता है। और इस तरह संसारमें भ्रमण किया करता है ॥२९॥

इसलिए मैं इस मोहका ही क्षय करनेके लिए निरन्तर प्रयत्नशील हूँ। क्योंकि इस मोहका क्षय हो जानेपर राग द्वेषका क्षय हो जाता है और राग द्वेषके क्षय हो जाने पर आत्मा स्वयं ही विना प्रयत्नके मुक्त हो जाता है ॥३०॥

विशेषार्थ—संसारकी जड़ मोह है। इस मोहको ही जड़ मूलसे उखाड़नेका प्रयत्न करना चाहिए। राग द्वेषका मूल तो मोह ही है। मोहके जाने पर राग द्वेष अधिक दिन तक नहीं ठहरते। इसी लिए सम्यग्दर्शनको धर्मका मूल कहा है। मोहका क्षय उसीके द्वारा होता है। स्वामी समन्तभद्रने कहा है—यदि गृहस्थ निर्मोह है तो मोक्षमार्गी है और घर छोड़ देनेवाला मुनि यदि मोही है तो वह मोक्षमार्गी नहीं है। मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है ॥३०॥

अब इस अनर्थ परम्पराका मूल कर्मबन्धको जानते हुए कर्म बन्धको करनेवाली विषयासक्तिके संहारकी प्रतिज्ञा करता है—

---

१. 'गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् । अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥'
—रत्न. श्रा. ३३।

बन्धाद्देहोऽत्र करणान्येतैश्च विषयग्रहः ।
बन्धश्च पुनरेवातस्तदेनं संहराम्यहम् ॥३१॥
ज्ञानिसङ्गतपोध्यानैरप्यसाध्यो रिपुः स्मरः ।
देहात्मभेदज्ञानोत्थवैराग्येणैव साध्यते ॥३२॥

एनं विषयग्रहं ॥३१-३२॥

अथात्मदेहान्तरज्ञानार्थितया संन्यस्तसमस्तसंगानां प्राचां [श्लाघापूर्वकमात्मानं कलत्रमात्रत्यागेऽप्यसमर्थं गर्हमाणः प्राह-]—

धन्यास्ते येऽत्यजन् राज्ये भेदज्ञानाय तादृशम् ।
धिङ्मादृशकलत्रेच्छातंत्रगार्हस्थ्यदुःस्थितान् ॥३३॥

ते—भरतसागरादयः । कलत्रेच्छातन्त्र भार्याच्छन्दाधीनं तद्विषयाभिलाषायत्तं वा ॥३३॥

पुण्य-पाप रूप कर्मके उदयसे शरीर होता है। शरीरमें स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ होती हैं। इन इन्द्रियोंसे स्पर्श आदि विषयोंका ग्रहण होता है। विषयोंके ग्रहणसे पुनः शुभाशुभ कर्म पुद्गलोंका बन्ध होता है। इसलिए बन्धका मूल जो यह इन्द्रियों द्वारा विषयोपभोग है इसका मैं निर्मूलन करनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ ॥३१॥

सब विषयोंमें स्त्री भोगकी इच्छा अत्यन्त दुर्निवार है। इसलिए उसके निग्रहके उपायका विचार करते हैं—

आत्मदर्शी ज्ञानी पुरुषोंकी संगति तप और ध्यानसे भी वशमें न आनेवाला यह शत्रु कामदेव शरीर और आत्माके भेदज्ञानसे उत्पन्न हुए वैराग्यसे ही वशमें आता है ॥३२॥

विशेषार्थ—कामकी वासना बड़ी प्रबल होती है। भर्तृहरिने लिखा है कि मदोन्मत्त हाथीका गण्डस्थल चीर देनेवाले वीर इस पृथ्वी पर हैं। कुछ प्रचण्ड सिंहका वध करनेमें भी चतुर हैं। किन्तु मैं बलवानोंके सामने जोर देकर कहता हूँ कि कामके मदका दलन करनेवाले मनुष्य बहुत विरल हैं। कुछका कहना है कि आत्मज्ञानियोंकी संगतिसे या तप और ध्यानसे कामको वशमें किया जा सकता है। किन्तु यह भी भ्रम है। हरि हर ब्रह्मा आदि सभी तो इसके सामने हार चुके हैं। इसको वशमें करनेका एक ही उपाय है कि शरीर और आत्माके भेदको जान लेने पर जो वैराग्य उत्पन्न होता है उसीसे इसे जीता जा सकता है ॥३२॥

आगे, शरीर और आत्माके भेदज्ञानके लिए समस्त परिग्रहका त्याग कर देनेवाले पूर्व पुरुषोंकी प्रशंसा करते हुए, स्त्री मात्रका भी त्याग करनेमें असमर्थ अपनी निन्दा करता है—

भरत सगर चक्रवर्ती आदि जिन पुरुषोंने भेद ज्ञानके लिए ऐसे विशाल राज्यको त्याग दिया, वे धन्य हैं। जिसमें स्त्रीकी इच्छाका ही प्राधान्य है उस गृहस्थाश्रममें दुःख पूर्ण जीवन बितानेवाले हमारे जैसे विषयी लोगोंको धिक्कार है ॥३३॥

---

१. 'मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः केचित् प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥'—भ. शृङ्गारशतक ७११ श्लो. ।

अथाभिलष्यमाणोपशमश्रीस्त्रियोराकर्षणविषये बलाबलं चिन्तयति—

इतः शमश्रीः स्त्री चेतः कर्षतो मां जयेन्नु का ।
आ ज्ञातमुत्तरैवात्र जेत्री या मोहराड्चमूः ॥३४॥

आः संतापतापप्रकोपयोः । आ इति स्मरणे वा ॥३४॥

अथ कलत्रदुस्त्यजत्वं भावयति—

चित्रं पाणिगृहीतीयं कथं मां विश्वगाविशत् ।
यत्पृथग्भावितात्माऽपि समवैम्यनया पुनः ॥३५॥

चित्रं—यस्याः खलु पाणिर्गृह्यते सा कथं सर्वात्मना ग्राहकात्मानं [प्रविशतीति] विस्मयो मे । पाणिगृहीती—परिणीतस्त्री । समवैमि—तादात्म्यं प्रतिपद्येऽहम् ॥३५॥

अथ स्त्रीनिवृत्तिमात्मनो निरूपय्य [-निरूप्य] वित्तमुपपत्त्या प्रतिक्षिपन्नाह—

स्त्रीतश्चित्त निवृत्तं चेन्ननु वित्तं किमीहसे ।
मृतमण्डनकल्पो हि स्त्रीनिरीहे धनग्रहः ॥३६॥

श्रावक स्वयं जिस प्रशमसुखरूप लक्ष्मीकी इच्छा करता है उसमें और स्त्रीके प्रति अपने आकर्षणके विषयमें बलाबलका विचार करता है—

इस ओरसे प्रशमसुखरूप लक्ष्मी और दूसरी ओरसे स्त्री मेरे चित्तको आकृष्ट करती हैं। इनमें-से किसकी जीत होगी? अथवा मुझे निश्चय हो गया कि इन दोनोंमें-से स्त्री ही जीतेगी, जो मोह राजाकी सेना है ॥३४॥

विशेषार्थ—श्रावक स्त्री और शमश्रीको दृष्टिमें रखकर अपनेको तोलता है। फिर दोनोंके बलाबलको तोलकर निश्चय करता है कि स्त्री शमश्रीसे बलवती है क्योंकि वह मोह राजाकी सेना है। यहाँ मोहसे चारित्र मोहनीय लेना चाहिए। जैसे राजा अपनी सेनाके द्वारा शत्रुको जीतता है वैसे ही मोह स्त्रीके द्वारा जय प्राप्त करता है ॥३४॥

आगे विचार करता है कि स्त्रीको छोड़ना कठिन है—

आश्चर्य है कि यह पाणिगृहीती अर्थात् जिसका मैंने पाणिग्रहण किया है कैसे मुझमें चारों ओरसे घुस गयी। क्योंकि मैं भिन्न हूँ और यह मुझसे भिन्न है इस प्रकार तत्त्वज्ञानसे बारम्बार विचार करनेपर भी मैं फिर उसके साथ अपनेको एकमेक कर लेता हूँ ॥३५॥

विशेषार्थ—विवाहको पाणिग्रहण कहते हैं और इसीसे पत्नीको पाणिगृहीती कहते हैं। पाणिगृहीतीका अर्थ है, जिसका हाथ ग्रहण किया गया है। जिसका हाथ ग्रहण किया गया हो, पकड़ा गया हो, वह हाथ पकड़नेवालेको कैसे सर्वात्मना—सब ओरसे वेष्टित कर सकता है। किन्तु यहाँ आश्चर्य यही है कि पाणिगृहीती स्त्रीने उसका पाणिग्रहण करनेवालेको ऐसे जकड़ लिया है कि वह तत्त्वज्ञानके द्वारा बार-बार यह चिन्तवन करता है कि मैं भिन्न हूँ और वह मुझसे भिन्न है, मेरा इसके साथ अभेद कैसा? किन्तु यह सब तत्त्वज्ञान रखा रह जाता है और मैं मोहवश अभेद भावनारूपसे परिणत हो जाता हूँ ॥३५॥

इस तरह अपनेको स्त्रीसे निवृत्त बतलाकर युक्तिसे धनसंग्रहका तिरस्कार करता है—

हे चित्त! यदि तुम विवेकके बलसे स्त्रीसे निवृत्त हो तो फिर धनकी इच्छा क्यों करते हो। क्योंकि स्त्रीके प्रति निस्पृह होनेपर धनका अर्जन-रक्षण आदि वैसा ही है जैसे मुर्देको सजाना ॥३६॥

ननु अमर्थे ॥३६॥

एवं निर्वेदं भावयित्वा परमसामायिकभावनार्थं सप्तश्लोकीमाह—

इति च प्रतिसंदध्यात्सुद्योगं मुक्तिवर्त्मनि ।
मनोरथा अपि श्रेयोरथाः श्रेयोऽनुबन्धिनः ॥३७॥

इति—वक्ष्यमाणप्राणकायबलास्थिरत्वाद्यनुचिन्तनलक्षणेन प्रकारेण प्रतिसंदध्यात्– पुनः संयोजयेत् । श्रेयोरथाः—मोक्षारूढाः ॥३७॥

अथायुःकायमयत्वाज्जीवितस्य तदपायानुध्यानमुखेन जीवितव्योच्छेदं भावयन् प्रौढोक्त्या स्वार्थसिद्धिभ्रंशं भावयति—

क्षणे क्षणे गलत्यायुः कायो ह्रसति सौष्ठवात् ।
ईहे जरां नु मृत्युं नु सध्रीचीं स्वार्थसिद्धये ॥३८॥

विशेषार्थ—जैसे मुर्देके शरीरमें वस्त्राभूषण पहनाना निरर्थक है क्योंकि उनको भोगनेवाला नहीं है। उसी तरह स्त्री आदि विषयोंसे जो विमुख हो गया है उसका धनोपार्जन भी निरर्थक है। धन विषय-सुखका साधन है यह प्रसिद्ध है। उसमें स्त्रियाँ आलम्बन, विभावरूप होनेसे मुख्य हैं। मकान, बाग, बगीचे वगैरह उद्दीपन विभावरूप होनेसे गौण हैं। अर्थात् विषय-सुखका आलम्बन तो स्त्री ही है। मकान वगैरह तो उसके सहायक होते हैं। जिसको स्त्रीकी ही चाह नहीं, उसके लिए अन्य विषयोंकी चाह निरर्थक है ॥३६॥

इस प्रकारसे वैराग्यकी भावना करनेवाले महाश्रावकके परम सामायिककी भावनाके लिए सात श्लोकोंसे कथन करते हैं—

आगे कहे जानेवाले आयु, कायबल आदिकी क्षणभंगुरताका विचार करनेके द्वारा महाश्रावकको मोक्षके मार्गमें भी उद्योग करना चाहिए अर्थात् केवल संसार आदि वैराग्यका चिन्तन ही नहीं करना चाहिए किन्तु आगे कहे अनुसार मोक्षमार्गमें भी लगना चाहिए। क्योंकि श्रेय अर्थात् मोक्ष ही जिनका रथ है ऐसे मनोरथ भी भव-भवमें अभ्युदयको देनेवाले होते हैं ॥३७॥

विशेषार्थ—जिनकी प्राप्ति अशक्य है ऐसे पदार्थोंकी अभिलाषाको मनोरथ कहते हैं। जो कुछ आचरण करता नहीं उसके मनोरथ तो स्वप्नमें राज्य पानेके समान निरर्थक हैं ऐसी आशंका करनेवालेके लिए कहते हैं कि अच्छे कार्योंके मनोरथसे भी प्रचुर पुण्यका बन्ध होता है, आचरण करनेकी बातका तो कहना ही क्या है। अतः वे मनोरथ भी मोक्षकी ओर ले जानेवाले होते हैं। कहा भी है[1]—जिस भावमें मोक्ष प्राप्त करानेकी शक्ति है उससे स्वर्गकी प्राप्ति कुछ भी दूर नहीं है। जो शीघ्र ही भार लेकर दो कोस जा सकता है उसके लिए आधा कोस जाना क्या कठिन है? ॥३७॥

हमारा जीवन आयु और शरीरके आधार है। अतः आयु और शरीरकी क्षणभंगुरताके चिन्तनके द्वारा जीवनके विनाशका चिन्तन करते हुए स्वार्थसिद्धिकी चिन्ता व्यक्त करते हैं—

प्रतिक्षण आयुकर्म थोड़ा-थोड़ा करके क्षयको प्राप्त हो रहा है। प्रति समय शरीर

---

१. 'यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी ।
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्धे किं स सीदति ॥'—इष्टोपदेश–४ श्लो. ।

ईहे—वाञ्छाम्यहम् । सध्रीचीं—सहायभूताम् ॥३८॥

जिनधर्मसेवासहचारिणीरापदोऽभिनन्द्य तद्विरहभाविनीः सम्पदोऽपि प्रतिक्षिपन् संगत्यागे दार्ढ्यं भावयति—

क्रियासमभिहारोऽपि जिनधर्मजुषो वरम् ।
विपदां संपदां नासौ जिनधर्ममुचस्तु मे ॥३९॥

क्रियासमभिहारोऽपि—पौनःपुन्यं भृशत्वे (-त्वं) च । अपिशब्देन न परं सकृद्भवनं मन्दत्वं चेति[1] प्रकाश्यते । जिनधर्मजुषः—जिनोक्तं धर्मं शुद्धचिदानन्दरूपात्मपरिणतिलक्षणं प्रीत्या सेवमानस्य ॥३९॥

अथ श्रमणकर्माभ्यासेनानन्यगम्यं सर्वत्र साम्यं कामयते—

लब्धं यदिह लब्धव्यं तच्छ्रामण्यमहोदधिम् ।
मथित्वा साम्यपीयूषं पिबेयं परदुर्लभम् ॥४०॥

इह नृजन्मनि गृहाश्रमे वा । श्रामण्यं—श्रमणानां कर्म मूलोत्तरगुणाचरणलक्षणं । मथित्वा—अभ्यस्य विलोड्य वा । पिबेयं—पातुमर्हामि ॥४०॥

अपनी कार्य करनेकी सामर्थ्यको खो रहा है। ऐसी स्थितिमें अपने इष्ट अर्थकी सिद्धिके लिए सहायक क्या बुढ़ापेको चाहूँ या मृत्युको चाहूँ ? ॥३८॥

विशेषार्थ—जीवनके दो आधार हैं, एक भवधारणमें कारण आयुकर्म और दूसरा शरीर। इनके ऊपर ही मनुष्यका जीवन अवलम्बित है किन्तु ये दोनों ही क्षणभंगुर हैं। आयु प्रतिसमय बीतती जाती है और शरीरमें भी प्रतिसमय क्षीणता आती है। और पुरुषार्थमें आयु और शरीर प्रधान कारण हैं। और इन दोनोंका अन्तिम परिणाम है बुढ़ापा या मृत्यु। समस्त शारीरिक शक्तिके क्षयका नाम बुढ़ापा है और समस्त आयुके क्षयका नाम मृत्यु है। ये दोनों ही पुरुषार्थको नष्ट करनेवाले हैं। अब इन्हींकी सम्भावना है ॥३८॥

अब जिनधर्मकी सेवा करते हुए आनेवाली आपत्तियोंका अभिनन्दन करते हुए जिन-धर्मके अभावमें प्राप्त होनेवाली सम्पदाओंका भी तिरस्कार करनेकी भावना करता है—

शुद्ध चिदानन्दरूप आत्मपरिणति ही जिनधर्म है। इस धर्मका प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए मेरे पर शारीरिक और मानसिक दुःखों तथा परीषह और उपसर्गोंका बारम्बार आना भी उत्तम है। और उक्त जिनधर्मके छूट जानेपर समस्त इन्द्रियजन्य सुखोंके साधन-भूत सम्पत्तियोंकी बारम्बार प्राप्ति भी श्रेष्ठ नहीं है ॥३९॥

आगे मुनिधर्मके अभ्याससे सर्वत्र साम्यभावकी कामना करता है—

इस मनुष्यजन्ममें या गृहस्थाश्रममें जो स्त्री सम्पदा आदि प्राप्त करने योग्य है वह मुझे प्राप्त हो गया। अब मुनियोंका जो मूलगुण-उत्तरगुणरूप मुनिधर्मरूपी समुद्र है उसका मथन करके वह समतारूपी अमृत पीना है जो दूसरोंको दुर्लभ है ॥४०॥

विशेषार्थ—इस गृहस्थाश्रममें रहते हुए जो सांसारिक सुखके साधन प्राप्त करने होते हैं वे मुझे प्राप्त हैं। अतः मैं एक तरहसे कृतकृत्य हूँ। अब तो मुझे मुनिधर्मरूपी समुद्रका मथन करके परदुर्लभ समतारूपी अमृतका पान करना है। इसमें यह भावना है कि जैसे हिन्दू पुराणोंमें सुना जाता है कि देव और दानवोंने समुद्रका मथन करके अमृत निकाला था और उसका पान किया था वैसे ही मुनिधर्मकी भावना करके मैं आत्मामें उपेक्षारूप चारित्रको परिणत करनेका प्रयत्न करता हूँ। मुनिधर्म समुद्रकी तरह अमूल्य रत्नोंकी

---

१. वरं सकृद्भवनं मन्दत्वं चेत्यपिशब्दार्थः ।—भ. कु. च. ।

तदेव भूयो भावयति—

पुरेऽरण्ये मणौ रेणौ मित्रे शत्रौ सुखेऽसुखे ।
जीविते मरणे मोक्षे भवे स्यां समधीः कदा ॥४१॥

पुर इत्यादि । पुरारण्यादिषु तुल्यमतित्वमन्यस्यापि भवेदसौ तु परमवैराग्योपगतो मोक्षभवयोरपि निर्विशेषत्वमर्थयते—

'मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तम ।'

इति श्रुतेः ॥४१॥

अथ यतिधर्मचर्याकाष्ठाधिरोहणमाशंसति—

मोक्षोन्मुखक्रियाकाण्डविस्मापितबहिर्जनः ।
कदा लप्स्ये समरसस्वादिनां पङ्क्तिमात्मदृक् ॥४२॥

क्रियाकाण्डगुरुकुलोपासनक्लेशातापनादियोगादि । पंक्ति—लक्षणया सजातीयत्वम् । आत्मदृक्—आत्मदर्शी सन् ॥४२॥

उत्पत्तिमें निमित्त है, उसका अवगाहन करना कठिन है तथा उसका पार पाना भी दुर्गम है अतः वह समुद्रके समान है। समुद्रका मथन करके अमृत निकालना जैसे दूसरे लोगोंके लिए दुर्लभ है वैसे ही जो जिनमार्गसे अनजान हैं उनके लिए मुनिधर्मका धारण करना ही दुर्लभ है, उसका मथन करके समतारूपी अमृतका तो कहना ही क्या है। जिनमार्गको जाननेवालोंके लिए भी वह अत्यन्त दुर्लभ है। उनमें-से भी विरल मनुष्य ही उसे प्राप्त कर पाते हैं ॥४०॥

पुनः वही भावना भाता है—

नगरमें, वनमें, मणिमें, धूलिमें, मित्रमें, शत्रुमें, सुखमें, दुःखमें, जीवनमें, मरणमें और मोक्षमें, संसारमें कब मैं समान बुद्धिवाला होऊँगा ॥४१॥

विशेषार्थ—ये सब एक दूसरेसे विपरीत हैं। नगर समृद्धिका स्थान है, जंगल उससे विपरीत है। नगरसे राग होता है, जंगलसे द्वेष होता है। आगेके भी सबकी यही स्थिति है। किन्तु मुझे इनमें-से किसीसे भी राग-द्वेष न होकर सबमें समान रूपसे उपेक्षा भाव रहे यही भावना है। यहाँ विशेष बात यह है कि नगर-वन आदिमें समान बुद्धि दूसरोंकी भी हो सकती है। किन्तु परम वैराग्य अवस्थाको प्राप्त जिनधर्मी तो मोक्ष और संसारमें भी समभावकी कामना करता है। कहा भी है—हे मुनिश्रेष्ठ ! मोक्ष और संसारमें सर्वत्र निस्पृह हो ॥४१॥

आगे मुनिधर्मकी चरम सीमाकी प्राप्तिकी भावना करता है—

मोक्षमें लगे हुए साधुवर्गके क्रियाकाण्डसे बहिरात्मदृष्टिवाले लोगोंको आश्चर्यचकित करते हुए मैं आत्मदर्शी होता हुआ समरसका स्वाद लेनेवालोंकी श्रेणीको कब प्राप्त होऊँगा ॥४२॥

विशेषार्थ—अनन्तज्ञान आदि चतुष्टयके आविर्भाव स्वभाववाले मोक्षमें लगे साधु पुरुषोंका बाह्य क्रियाकाण्ड है गुरुकुलकी उपासना, आतापन आदि योग, कायक्लेश आदि। इनसे बाह्य दृष्टिवाले लोग बहुत प्रभावित होते हैं। किन्तु ये सब हों और आत्मदर्शन न हो तो सब बेकार है। इसीसे मोक्षके लिए तत्पर साधुओंका बाह्य क्रियाकाण्ड अपनाकर बाह्य लोगोंको अचरजमें डालनेके साथ आत्मदर्शी होनेकी भी कामना करता है। ध्याता,

अथ योगपरमकाष्ठामभिकांक्षति—

शून्यध्यानैकतानस्य स्थाणुबुद्ध्याऽनडुन्मृगैः ।
उद्घृष्यमाणस्य कदा यास्यन्ति दिवसा मम ॥४३॥

शून्यध्यानैकतानस्य—निर्विकल्पसमाधिपरिणतस्य । अनड्वाहः—उत्कृष्टपशवः । एतैः पुराद्बहिः कायोत्सर्गं लक्षयति—मृगैरिवारण्ये उद्घृष्यमाणस्य स्कन्धशृङ्गकण्डूयनगोचरीक्रियमाणस्य । अत्रान्तरश्लोकाः—

'बहिर्वाग्ज्योतिषात्मानं प्रकाश्यान्तः स्वयं विदन् ।
शुद्धं द्रागवान्तरागः स्यां मुक्तो जीवन्नपि क्षणम् ॥१॥
व्यावर्त्य विषयेभ्योऽन्तेर्नीत्वा युक्तेन चेतसा ।
पश्यतस्तल्लयो मेऽस्तु मय्येवानन्दनिर्भरे ॥२॥
यद्विक्षिप्तं मनःकष्टं तन्मय्यपि गतागतम् ।
स्यान्मुदे किं पुनः श्लिष्टं सुलीनं त्वहमेव तत् ॥३॥
अहमेवाहमित्यात्मज्ञानादन्यत्र चेतनाम् ।
इदमस्मि करोमीदं इदं भुञ्ज इति क्षिपे ॥४॥
अहमेवाहमित्यन्तर्जल्पसंपृक्तकल्पनाम् ।
त्यक्त्वा वागगोचरं ज्योतिः स्वयं पश्यामि शाश्वतम् ॥५॥
स्वात्माभिमुखसंवित्तिलक्षणश्रुतचक्षुषा ।
पश्यन् पश्यामि शुद्धं मां केवलज्ञानचक्षुषा ॥६॥
दृगादियुगपद्वृत्तिप्रवृत्तैकाग्र्यसंगतः ।
निष्पीतानन्तपर्यायं वेद मां शुद्धचिन्मयम् ॥७॥
सर्वदा सर्वथा सर्वं यत्र भावि निखातवत् ।
तज्ज्ञानात्मानमद्धा मां विदन् शीतीभवाम्यहम् ॥८॥' [ ] ॥४३॥

अथ महानिशायां पुराद् बहिः प्रोषधोपवासव्रतान् कायोत्सर्गस्थितानुपसर्गजयेन योगादचलितान् प्राच्यश्रावकान् प्रशंसति—

ध्येय और ध्यान इन तीनोंका एकत्व होनेपर जो आनन्द होता है उसे समरस कहते हैं। उसका जो निरन्तर अनुभवन करते हैं वे समरसस्वादी होते हैं। उन्हींके समान होनेकी कामना महाश्रावक करता है ॥४२॥

अब योगकी चरम सीमाको प्राप्त करनेकी भावना करता है—

निर्विकल्प समाधिमें लीन और वनके पशु तथा मृग आदिके द्वारा मुझे ठूँठ मानकर अपने शरीरकी खुजलाहट शान्त करनेके लिए उनके घर्षणका पात्र बनते हुए मेरे दिन कब बीतेंगे ॥४३॥

विशेषार्थ—जब मैं नगरके बाहर कायोत्सर्गसे खड़ा रहूँगा तब स्वच्छन्द विचरण करनेवाले साँड़ वगैरह अपने कन्धे आदिकी खुजलाहटसे व्याकुल होकर खाज मिटानेके लिए मुझे स्थाणु मानकर अपनी खाल खुजायेंगे। और मैं नगर और वनमें समभाव रखकर शुद्ध चिदानन्दमय अपनी आत्मामें ही वास करूँगा। ऐसे मेरे दिन कब बीतेंगे। ऐसा मनोरथ इस महाश्रावकका है ॥४३॥

महारात्रिमें नगरसे बाहर प्रोषधोपवासव्रतपूर्वक कायोत्सर्गसे स्थित और उपसर्ग होनेपर भी योगसे विचलित न होनेवाले प्राचीन श्रावकोंकी प्रशंसा करते हैं—

धन्यास्ते जिनदत्ताद्याः गृहिणोऽपि न येऽचलन् ।
तत्तादृगुपसर्गोपनिपाते जिनधर्मतः ॥४४॥

जिनदत्ताद्याः—आदिशब्देन वारिषेणकुमारादयः । जिनधर्मतः—जिनोक्ताज्जिनसेविताद्वा सामायिकात् ॥४४॥

अथ व्रतिकप्रतिमामुपसंहरंस्तदनुष्ठायिनः फलविशेषमाह—

इत्याहोरात्रिकाचारचारिणि व्रतधारिणि ।
स्वर्गश्रीः क्षिपते मोक्षश्रीर्ष्ययेव वरस्रजम् ॥४५॥

स्पष्टम् । उक्तं च—

पञ्चाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकम् ।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ॥ [र. श्रा. ६३]

इति भद्रम् ।

इत्याशाधरदृब्धायां धर्मामृतपञ्जिकायां ज्ञानदीपिकापरसंज्ञायां
पञ्चदशोऽध्यायः ।

वे जिनदत्त श्रेष्ठी आदि धन्य हैं, जो गृहस्थ होते हुए भी शास्त्रमें प्रसिद्ध तथा असाधारण उपसर्गोंके आनेपर जिन भगवान्‌के द्वारा प्रतिपादित सामायिकसे विचलित नहीं हुए ॥४४॥

विशेषार्थ—जिनदत्त श्रेष्ठी चतुर्दशीकी रात्रिमें श्मशानमें आकर प्रतिमायोग धारण करता था। एक बार दो देवोंने परीक्षाके लिए उसपर घोर उपसर्ग किया। किन्तु वह ध्यान-से विचलित न हुआ। तब देवोंने उसका बहुत आदर-सत्कार किया ॥४४॥

आगे व्रतिक प्रतिमाका उपसंहार करते हुए उसके पालन करनेवालेको प्राप्त होनेवाले फलविशेषको कहते हैं—

इस प्रकार दिन और रातकी सम्पूर्ण क्रियाओंका पालन करनेवाले व्रत प्रतिमाधारीमें मानो मोक्षरूपी लक्ष्मीकी ईर्ष्यासे ही स्वर्गकी लक्ष्मी वरमाला डाल देती है। अर्थात् उसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है ॥४५॥

इस प्रकार पं. आशाधर रचित धर्मामृतके अन्तर्गत सागारधर्मामृतकी स्वोपज्ञ
संस्कृत टीकानुसारिणी हिन्दी टीकामें आदिसे १५वाँ और सागारधर्मका
छह अध्याय समाप्त हुआ।

षोडश अध्याय (सप्तम अध्याय)

अथ सामायिकादिप्रतिमानवकस्वरूपनिरूपणार्थमुपक्रमते । तत्र यद् व्रतिकप्रतिमायां सामायिकशीलतया निर्दिष्टं तदेवेह व्रतत्वेन प्रतिपद्यमानं प्रतिमारूपतां यातीति निरूपयन्नाह—

सुदृङ्मूलोत्तरगुणग्रामाभ्यासविशुद्धधीः ।
भजंस्त्रिसंध्यं कृच्छ्रेऽपि साम्यं सामायिकी भवेत् ॥१॥

सुदृक्—सुशब्दोऽत्र प्राशस्त्यार्थो दृगादीनां त्रयाणामपि निरतिचारत्वद्योतनार्थविशेषणत्वेनोपात्तः ॥१॥

अथ व्यवहारसामायिकविध्युपदेशपुरस्सरं निश्चयसामयिकं विधेयतयोपदिशति—

कृत्वा यथोक्तं कृतिकर्म संध्यात्रयेऽपि यावन्नियमं समाधेः ।
यो वज्रपातेऽपि न जात्वपैति सामायिकी कस्य स न प्रशस्यः ॥२॥

अब सामायिक आदि नौ प्रतिमाओंका स्वरूप कथन करनेका उपक्रम करते हैं। उनमें-से व्रतिक प्रतिमामें जो सामायिक शीलरूपसे कहा गया था, वही यहाँ व्रतरूपसे धारण करनेपर प्रतिमारूप होता है, यह कथन करते हैं—

निरतिचार सम्यग्दर्शन तथा मूलगुण और उत्तरगुणोंके समूहके अभ्याससे जिसकी बुद्धि अर्थात् ज्ञान विशुद्ध हो गया है, तथा जो परिग्रह और उपसर्गके आनेपर भी तीनों सन्ध्याओंमें साम्यभाव धारण करता है वह श्रावक सामायिक प्रतिमावाला होता है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—पहले कहा है कि आगेकी प्रतिमा धारण करनेका वही अधिकारी होता है जो उससे पूर्वकी प्रतिमाओंमें सुदृढ़ होता है। अतः तीसरी प्रतिमा धारण करनेवाला प्रथम प्रतिमा दर्शनिक और दूसरी प्रतिमा व्रतिकके सम्यग्दर्शन मूलगुण तथा उत्तरगुणोंका पूर्ण अभ्यासी होना चाहिए। उस अभ्यासके प्रसादसे उसके रागादि और क्षीण हो जानेसे विकसित हुए शुद्ध आत्माके ज्ञानसे होनेवाले सुखका स्वाद भी बढ़ना चाहिए। यही ज्ञानकी विशुद्धता है। द्रव्यश्रुतके ज्ञानके साथ भावश्रुत ज्ञान भी होना चाहिए। तभी तो वह तीनों सन्ध्याओंमें कष्ट आनेपर भी साम्यभावसे नहीं डिगता है। मोह और क्षोभसे रहित आत्म-परिणामको साम्य[1] कहते हैं। दर्शनमोहजन्य परिणाम मोह है और चारित्रमोहजन्य परिणाम क्षोभ है। इनसे रहित परिणाम साम्य है। साम्यभावका धारी सामायिक प्रतिमावाला है। सामायिक तीनों सन्ध्याओंमें की जाती है। उस समय कष्ट आनेपर साम्यभावसे विचलित नहीं होना चाहिए। तभी वह सामायिक प्रतिमा कहलाती है ॥१॥

व्यवहारसामायिककी विधिके कथनपूर्वक निश्चयसामायिकको करनेका उपदेश करते हैं—

तीनों भी सन्ध्याओंमें आवश्यकोंके कथनवाले अध्यायमें विस्तारसे कहे गये वन्दना-कर्मको करके प्रतिज्ञात कालपर्यन्त वज्रपात होनेपर भी जो कभी भी समाधिसे च्युत नहीं

---

१. 'मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो' ॥—प्रवचनसार गा.

कृतिकर्म। यत्स्वामी—

'चतुरावर्तत्रितयश्चतु:प्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥' [र. श्रा. १३९]

सन्ध्यात्रयेऽपि, शक्त्याऽन्यदापि। साम्यानुक्तार्थमपिशब्दः। समाधेः—रत्नत्रयैकाग्रतालक्षणाद्योगात्। तदेतन्निश्चयसामायिकम् ॥२॥

निश्चयसामायिकशिखराधिरूढाय श्लाघते —

आरोपितः सामायिकव्रतप्रासादमूर्धनि।
कलशस्तेन येनैषा भूरारोहि महात्मना ॥३॥

स्पष्टम् ॥३॥

होता वह सामायिक प्रतिमाधारी किसकी प्रशंसाके योग्य नहीं है? अपितु सभीकी प्रशंसाके योग्य है ॥२॥

विशेषार्थ—पीछे अनगारधर्मामृतके षडावश्यक अध्यायमें जो वन्दनाकर्म कहा है उसे कृतिकर्म कहते हैं। तीनों सन्ध्याओंमें कृतिकर्म करनेको व्यवहारसामायिक कहते हैं। व्यवहारसामायिकपूर्वक जो ध्यान किया जाता है जिसका लक्षण है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकाग्रता। वह ध्यान ऐसा निश्चल हो कि अन्य उपसर्गकी तो बात ही क्या, यदि वज्र भी टूट पड़े तो विचलित न हो। ऐसी स्थिरता निश्चयसामायिक है। 'अपि' शब्दसे यह बतलाया है कि शक्तिके अनुसार अन्य कालमें भी सामायिक की जा सकती है ॥२॥

जो निश्चयसामायिकके शिखरपर आरूढ़ हैं उनकी प्रशंसा करते हैं—

जिस महात्माने व्यवहारसामायिकपूर्वक निश्चयसामायिक प्रतिमापर आरोहण किया उसने सामायिकव्रतरूपी देवालयके शिखरके ऊपर कलश चढ़ा दिया ॥३॥

विशेषार्थ—समय अर्थात् नियमित कालमें होनेवाले सामायिक अर्थात् साम्यभावना रूप व्रतको सामायिक व्रत कहते हैं। वह व्रत एक बड़े विशाल देवालयके तुल्य है क्योंकि एक तो उस पर चढ़ना कठिन होता है, दूसरे वह इष्ट सिद्धिका कारण होता है। जैसे देवालयके शिखर पर कलशारोहणसे देवालयका कार्य पूर्ण हो जानेके साथ उसकी शोभा बढ़ जाती है वैसे ही वज्रपात होने पर भी चलायमान न होने सामायिक प्रतिमाकी पूर्ति होनेके साथ उसकी गरिमा बढ़ जाती है। सामायिक प्रतिमावाला भी पूर्वमें कहे बारह व्रतोंका पालन करता है। उनमें भी सामायिक नामका व्रत है। तब प्रश्न होता है कि सामायिक व्रत और सामायिक प्रतिमामें क्या अन्तर है? लाटी संहितामें कहा है कि व्रत प्रतिमामें जो सामायिक व्रत है वह सातिचार होता है तथा उसमें त्रिकाल सामायिक करनेका नियम नहीं है। सामायिक प्रतिमामें सामायिक निरतिचार होती है तथा त्रिकाल सामायिक करना उसी तरह आवश्यक है जैसे मुनिको मूलगुणोंका पालन आवश्यक है। यदि व्रत प्रतिमावाला कारण वश कभी सामायिक न भी कर पाये तो उससे उसके व्रतकी क्षति नहीं होती। किन्तु सामायिक प्रतिमावाला त्रिकाल सामायिक न करे तो उसके व्रतकी हानि होती है, अतिचारकी तो कथा ही क्या है? ॥३॥

अथ चतुःश्लोक्या प्रोषधोपवासस्थानं व्याचष्टे—

स प्रोषधोपवासी स्याद्यः सिद्धः प्रतिमात्रये ।
साम्यान्न च्यवते यावत्प्रोषधानशनव्रतम् ॥४॥

सिद्धः—निष्पन्नः प्रतीतो वा । साम्यात्—भावसामायिकात् । प्रोषधोपवासशीले तु तदुपरमे नामादिसामायिकपञ्चकस्याप्यनुचरणात् । उक्तं च—

'पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य ।
प्रोषधनियमविधायी प्रणिधिपरः प्रोषधानशनः ॥' [र. श्रा. १४९] ॥४॥

अथ प्रोषधोपवासिनो निष्ठाकाष्ठां निर्दिशति—

त्यक्ताहाराङ्गसंस्कारव्यापारः प्रोषधं श्रितः ।
चेलोपसृष्टमुनिवद्भाति नेदीयसामपि ॥५॥

त्यक्ताः—सर्वात्मना प्रत्याख्याताः । देशतस्तत्प्रत्याख्यानस्य पूर्वं समर्थितत्वात् । अङ्गसंस्कारः—स्नानोद्वर्तन-वर्णक-विलेपन-पुष्प-गन्धविशिष्टवस्त्राभरणादिः । साहचर्यात्सावद्यारम्भः । चेलोपसृष्टमुनिवत्—उपसर्गवशाद् वस्त्रेण वेष्टितो निर्ग्रन्थः, [यथा] ब्रह्मचर्यधारणशरीरादिममत्ववर्जनयोगात् । एतेन परमतमाहारादिप्रोषधभेदात्तद्व्रतचातुर्विध्यमपि संगृह्यते । तद्यथा—चतुष्पर्व्यां चतुर्थादिकुव्यापारनिषेधनं, ब्रह्मचर्यक्रिया, स्नानादित्यागः प्रोषधव्रतम् । नेदीयसां—निकटतराणां पार्श्ववर्तिलोकानां बान्धवादीनां वा ॥५॥

आगे चार श्लोकोंसे प्रोषधोपवास प्रतिमाका स्वरूप कहते हैं—

जो श्रावक दर्शन, व्रत और सामायिक प्रतिमामें सिद्ध अर्थात् परिपूर्ण होता हुआ प्रोषधोपवासकी प्रतिज्ञाके विषयभूत सोलह पहर पर्यन्त साम्यभावसे अर्थात् भावसामायिकसे च्युत नहीं होता वह प्रोषधोपवास प्रतिमावाला है ॥४॥

विशेषार्थ—सामायिक प्रतिमामें सामायिक करते हुए जो स्थिति भावसाम्यकी रहती है वैसी ही स्थिति प्रोषधोपवासमें सोलह पहर तक रहे तो वह प्रोषधोपवास प्रतिमा कहलाती है । इसका मतलब यह नहीं है कि वह सोलह पहर तक ध्यानमें बैठा रहता है । मतलब है साम्यभावके बने रहनेसे । सामायिकके छह भेद कहे हैं—नामसामायिक, स्थापनासामायिक, क्षेत्रसामायिक, कालसामायिक, द्रव्यसामायिक और भावसामायिक । प्रोषधोपवास व्रतमें तो भावसामायिककी स्थितिके अभावमें नामादि पाँच सामायिक होनेसे भी काम चलता है किन्तु प्रोषध प्रतिमामें तो सोलह पहर तक भावसामायिककी स्थिति होनी चाहिए ॥४॥

आगे प्रोषधोपवासीकी निष्ठाकी सीमा बतलाते हैं—

चारों प्रकारका आहार, स्नान आदि अंगसंस्कार तथा व्यापारको छोड़कर प्रोषधोपवास करनेवाला चतुर्थ प्रतिमाधारी पासमें रहनेवाले बन्धु-बान्धवोंको भी उपसर्गवश वस्त्रसे वेष्ठित मुनिकी तरह मालूम होता है ॥५॥

विशेषार्थ—प्रोषधोपवास प्रतिमाका धारी प्रोषधोपवासके कालमें चारों प्रकारका आहार, स्नान, तेल, उबटन, गन्ध, पुष्प, विशिष्ट वस्त्राभरण और सावद्य आरम्भ सर्वात्मना छोड़ देता है । ब्रह्मचर्य धारण करता है, शरीर आदिसे ममत्व नहीं करता । अतः वह समीपवर्ती लोगोंको भी ऐसे मुनिकी तरह लगता है जिसपर किसीने वस्त्र डाल दिया है । अब

अथ सामायिकप्रोषधोपवासयोः प्रतिमाभावे युक्तिमाह—

यत्प्राक्सामायिकं शीलं तद्व्रतं प्रतिमावतः ।
यथा तथा प्रोषधोपवासोऽपीत्यत्र युक्तिवाक् ॥६॥

शीलं वृतिकल्पं, व्रतं सत्यदेश्यम् । युक्तिवाक्—समाधानवचनम् ॥६॥

अथ परमकाष्ठाप्रपन्नान् प्रोषधोपवासिनः प्रशंसन्ति—

निशां नयन्तः प्रतिमायोगेन दुरितच्छिदे ।
ये क्षोभ्यन्ते न केनापि तान्नुमस्तुर्यभूमिगान् ॥७॥

स्पष्टम् ॥७॥

अथ सचित्तविरतस्थानं चतुःश्लोक्या व्याचष्टे—

हरिताङ्कुरबीजाम्बुलवणाद्यप्रासुकं त्यजन् ।
जाग्रत्कृपश्चतुर्निष्ठः सचित्तविरतः स्मृतः ॥८॥

लवणादि । आदिशब्देन कन्दमूल-फल-पत्र-करीरादि । अत्र च द्वितीयपादे नवाक्षरत्वं न दोषाय अनुष्टुभि नवाक्षरस्यापि पादस्य शिष्टप्रयोगेषु क्वापि क्वापि दर्शनात् । तथा च नेमिनिर्वाणाख्ये महाकाव्ये—

'नूपुरध्वनिभिर्मीणां विजिहीषू'णां प्रबोधितः ।
वनेषु व्याकुलं कं न चक्रे कन्दर्पकेसरी ॥' [८।२]

क्वचिच्च—

'ऋषभाद्या वर्धमानान्ता जिनेन्द्रा दशपञ्च च ।
त्रिकवर्गसमायुक्ता दिशन्तु तव सम्पदम् ॥' [ ]

समीपवर्ती लोगोंको ऐसा लगता है तब दूसरोंको तो विशेष रूपसे ऐसा लगता है। इससे आहारत्याग, अंगसंस्कारत्याग, व्यापारत्याग और ब्रह्मचर्यधारणसे प्रोषध व्रतको चार प्रकारका कहा है ॥५॥

सामायिक और प्रोषधोपवासके प्रतिमारूप होनेमें युक्ति देते हैं—

जैसे, व्रत प्रतिमापालनके समयमें जो सामायिक व्रत शीलरूप होता है तीसरी प्रतिमाके धारी श्रावकके वह व्रतरूप होता है। वैसे ही व्रत प्रतिमामें जो प्रोषधोपवास शीलरूप होता है, चतुर्थ प्रतिमाके पालक श्रावकके वह व्रतरूप होता है, यह सामायिक और प्रोषधोपवासके प्रतिमारूप होनेमें समाधान वचन है ॥६॥

विशेषार्थ—जो व्रतकी रक्षाके लिए हो उसे शील कहते हैं। व्रत प्रतिमामें सामायिक और प्रोषधोपवास अणुव्रतोंकी रक्षाके लिए होते हैं। किन्तु सामायिक प्रतिमा और प्रोषधोपवास प्रतिमामें व्रतरूपसे अवश्य करणीय होते हैं ॥६॥

परम काष्ठा को प्राप्त प्रोषधोपवासियोंकी प्रशंसा करते हैं—

जो अशुभ कर्मकी निर्जराके लिए मुनिकी तरह कायोत्सर्गसे स्थित होकर पर्वकी रात बिताते हैं और किसी भी परीषह अथवा उपसर्ग द्वारा समाधिसे च्युत नहीं किये जाते, उन चतुर्थ प्रतिमाधारी श्रावकोंका हम स्तवन करते हैं ॥७॥

सचित्तविरत प्रतिमाको चार श्लोकोंके द्वारा कहते हैं—

पूर्वोक्त चार प्रतिमाका निर्वाह करने वाला जो दयामूर्ति श्रावक अप्रासुक अर्थात् अग्निमें न पकाये हुए हरित अंकुर, हरित बीज, जल, नमक आदिको नहीं खाता, उसे शास्त्रकारोंने सचित्तविरत श्रावक माना है ॥८॥

चतुर्निष्ठः—चतसृषु पूर्वोक्तप्रतिमासु निष्ठा निर्वाहो यस्य। उक्तं च—

'जं वज्जिज्जदि हरिदं तयपत्त-पवाल-कंद-फल-बीयं।
अप्पासुगं च सलिलं सचित्तणिवित्ति तं ठाणं ॥' [वसु. श्रा. २९५] ॥८॥

अथ आयतकृप इति समर्थयते—

पादेनापि स्पृशन्नर्थवशाद्योऽतिऋतीयते।
हरितान्याश्रितानन्तनिगोतानि स भोक्ष्यते ॥९॥

अतिऋतीयते—अत्यर्थं घृणां करोति। हरितानि—हरितावस्थवनस्पतीन्। आश्रितेत्यादि। उक्तं चार्षे ब्राह्मणसृष्टिप्रस्तावे—

'सन्त्येवानन्तशो जीवा हरितेष्वङ्कुरादिषु।
निगोता इति सार्वज्ञं देवास्माभिः श्रुतं वचः ॥' [महापु. ३८।१८]

भोक्ष्यते काक्वा न भक्षयिष्यतीत्यर्थः ॥९॥

विशेषार्थ—पं. आशाधरजीने जो म्लान नहीं हुई है आर्द्र अवस्थामें है उसे हरित कहा है। आचार्य समन्तभद्रने उसे 'आम' शब्दसे कहा है। आमका अर्थ होता है कच्चा, जो पका नहीं है। और अप्रासुकका अर्थ पं. आशाधरजीने 'अनग्निपक्व'—जो आगसे नहीं पकाया गया—किया है। यद्यपि अप्रासुकको प्रासुक करनेके कई प्रकार आगममें कहे हैं[1]—सुखाना, पकना, आगपर गर्म करना, चाकूसे छिन्न-भिन्न करना, उसमें नमक आदि मिलाना। लाटी संहितामें कहा है कि सचित्तविरत प्रतिमामें सचित्तके भक्षणका नियम है, सचित्तको स्पर्शन करनेका नियम नहीं है। इसलिए अपने हाथसे उसे प्रासुक करके भोजनमें ले सकता है[2] ॥८॥

सचित्तविरतको दयामूर्ति क्यों कहा, इसका समर्थन करते हैं—

पाँचवीं प्रतिमाके साधनमें तत्पर जो श्रावक प्रयोजनवश हरित वनस्पतिको पैरसे छूनेमें भी अत्यन्त घृणा करता है जिसमें अनन्त निगोदनामक साधारण शरीर वनस्पतिकायिक जीवोंका वास है उस हरित वनस्पतिको क्या वह खायेगा? अर्थात् नहीं खायेगा ॥९॥

विशेषार्थ—आगममें हरित वनस्पतिमें अनन्त निगोदिया जीवोंका वास कहा है। प्रत्येक वनस्पतिके दो भेद हैं—सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक। जिस प्रत्येक वनस्पतिके आश्रयसे साधारण वनस्पतिकायिक जीव रहते हैं जिन्हें निगोद कहते हैं उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। ऐसी वनस्पतिको पंचम श्रावक पैरसे छूनेमें भी ग्लानि करता है। यद्यपि पाक्षिक श्रावक भी ऐसा करता है किन्तु पंचम श्रावक तो उससे भी बढ़कर ग्लानि करता है। महापुराणमें ब्राह्मण वर्णकी उत्पत्ति बतलाते हुए कहा है कि भरत चक्रवर्तीने परीक्षाके लिए मार्गमें हरित घास बिछवा दी थी। तो जो दयालु विचारवान् आगन्तुक थे वे उसपरसे नहीं आये। भरतने उनसे इसका कारण पूछा। तो वे बोले—'हे देव! हमने

---

१. 'सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिललवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं ॥' [ ]

२. 'भक्षणेऽत्र सचित्तस्य नियमो न तु स्पर्शने। तत्स्वहस्तादिना कृत्वा प्रासुकं चात्र भोजयेत् ॥'
—ला. सं. ७।१७।

अथ सचित्तविरतेभ्यः श्लाघते—

अहो जिनोक्तिनिर्णीतिरहो अक्षजितिस्सताम् ।
नालक्ष्यजन्त्वपि हरितु प्सान्त्येतेऽसुक्षयेऽपि यत् ॥१०॥

अलक्ष्याः—केवलागमगम्यत्वात् प्रत्यक्षाद्यसंवेद्याः । प्सान्ति—भक्षयन्ति ॥१०॥

अथ भोगोपभोगपरिमाणशीलातिचारत्वेनोक्तं सचित्तभोजनमिह त्यज्यमानं प्रतिमाभावं यातीत्युपदिशति—

सचित्तभोजनं यत्प्राक् मलत्वेन जिहासितम् ।
व्रतयत्यङ्गिपञ्चत्वचकितस्तच्च पञ्चमः ॥११॥

जिहासितं—परिहर्तुमिष्टं शीलोपदेशस्याभ्यासदशाविषयत्वात् । स्वामी पुनर्भोगोपभोगपरिमाणशीलातिचारानन्यथा पठित्वा पञ्चमप्रतिमामेवमध्यगीष्ट—

'मूलफल-शाक-शाखा-करीर-कन्द-प्रसून-बीजानि ।
नामानि योऽस्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥' [र. श्रा. १४१] ॥११॥

सर्वज्ञ देवके वचन सुने हैं कि हरित अंकुर आदिमें अनन्त जीव रहते हैं जिन्हें निगोद कहते हैं ।' इसलिए पंचम श्रावकको दयामूर्ति कहा है ॥९॥

सचित्तविरतकी प्रशंसा करते हैं—

सचित्त त्यागके लिए सावधान सज्जन पुरुषोंका जिन भगवान्‌के वचनोंपर निश्चय आश्चर्यकारी है । उनका इन्द्रियजय विस्मय पैदा करता है । क्योंकि जिस वनस्पतिके जन्तु प्रत्यक्षसे नहीं देखे जाते केवल आगमसे ही जाने जाते हैं, ये प्राण जानेपर भी उसे नहीं खाते हैं ॥१०॥

विशेषार्थ—सचित्तविरत श्रावकोंकी दो विशेषताएँ आश्चर्य पैदा करनेवाली हैं—एक उनका जिनागमके प्रामाण्यपर विश्वास और दूसरे, उनका जितेन्द्रियपना । जिस वनस्पतिमें जन्तु दृष्टिगोचर नहीं होते, उसको भी न खाना उनकी प्रथम विशेषताका समर्थन करता है और प्राण चले जानेपर भी न खाना उनकी दूसरी विशेषताका समर्थन करता है ॥१०॥

अब कहते हैं कि भोगोपभोग परिमाण व्रतमें अतिचार रूपसे जिस सचित्त भोजनको त्याज्य कहा है वह यहाँ प्रतिमा रूप हो जाता है—

पहले शीलोंका कथन करते समय भोगोपभोग परिमाण नामक शीलके अतिचाररूपसे जो सचित्त भोजन व्रत प्रतिमाधारीके लिए त्याज्य कहा था, खाये जानेवाले सचित्त द्रव्यमें रहनेवाले जीवोंके मरणसे भीत पंचम श्रावक उस सचित्त भोजनको व्रत रूपसे त्याग देता है ॥११॥

विशेषार्थ—स्वामी समन्तभद्रने भोगोपभोगपरिमाणके अतिचार अन्य रूपसे कहे हैं । उनमें सचित्त भोजन नहीं है । इसलिए उन्होंने हरित मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कन्द, फूल और बीजोंके नहीं खानेको सचित्तविरत कहा है । इसमें वनस्पतिके सभी प्रकार आ जाते हैं । किन्तु आशाधरजीकी तरह उन्होंने जल, नमक वगैरहके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहा है । आशाधरजीका सचित्तविरत अप्रासुकका त्यागी होता है । किन्तु समन्तभद्र स्वामीके मतसे वह केवल सचित्त वनस्पतिका त्यागी होता है । यह उत्तरकालीन विकास प्रतीत होता है ॥११॥

अथ रात्रिभक्तव्रतं चतुःश्लोक्या व्याकरिष्यन्नादौ तल्लक्षणमाह—

स्त्रीवैराग्यनिमित्तैकचित्तः प्राग्वृत्तनिष्ठितः ।
यस्त्रिधाऽह्नि भजेन्न स्त्रीं रात्रिभक्तव्रतस्तु सः ॥१२॥

स्त्रीवैराग्यनिमित्तं 'नित्यं कामाङ्गनासंग' इत्यादिना प्रागुक्तम् । प्राग्वृत्तनिष्ठितः—पूर्वोक्तप्रतिमापञ्चकाचारनिर्व्यूढः । त्रिधा मनोवाक्कायकृतादिभिः । तदुक्तम्—

'मणवयणकायकद-कारिदाणुमोदेहि मेहुणं णवधा ।
दिवसम्मि यो विवज्जदि गुणम्मि सो सावयो छट्ठो ॥' [वसु. श्रा. २९६] ॥१२॥

अथ षष्ठप्रतिमाव्रतः स्तौति—

अहो चित्रं धृतिमतां संकल्पच्छेदकौशलम् ।
यन्नामापि मुदे साऽपि दृष्टा येन तृणायते ॥१३॥

साऽपि दृष्टा । सापि कान्ता । सा कान्ता दृष्टापीति चावृत्त्या योज्यम् । गृहस्थस्य स्वदारान् प्रति प्रेम्णो दृग्व्यापारस्य च संभवात् ॥१३॥

अथास्य रात्रावपि मैथुनविनिवृत्तिमुपपादयन्नाह—

अब चार इलोकोंके द्वारा रात्रिभक्त व्रतका वर्णन करते हुए पहले उसका लक्षण कहते हैं—

जो पूर्वोक्त पाँच प्रतिमाओंके आचारमें पूरी तरहसे परिपक्व होकर स्त्रियोंसे वैराग्यके निमित्तोंमें एकाग्रमन होता हुआ मन-वचन-काय और कृत कारित अनुमोदनासे दिनमें स्त्रीका सेवन नहीं करता, वह रात्रिभक्तव्रत होता है ॥१२॥

विशेषार्थ—कामसेवनके दोष, स्त्रीके दोष, स्त्रीसंगके दोष, और अशौच तथा आर्य पुरुषोंकी संगति ये स्त्रीसे विरक्त होनेके निमित्त हैं। कामसेवन आदिके दोषोंका चिन्तवन करनेसे तथा ब्रह्मचारी कामजयी पुरुषोंकी संगतिसे स्त्रीसे विराग उत्पन्न होता है। जब उसका मन उन निमित्तोंमें एकाग्रमन हो जाये अर्थात् उसके मनमें स्त्रीसेवन न करनेके प्रति दृढ़ता आ जावे तब सबसे प्रथम दिनमें उसके सेवन न करनेका नियम लेनेवाला श्रावक छठी प्रतिमाका धारी होता है। यह कहा जा सकता है कि दिनमें स्त्रीका सेवन तो विरले ही मनुष्य करते हैं। इसमें क्या विशेषता हुई। किन्तु जो दिनमें केवल कायसे ही सेवन नहीं करते वे भी मनसे, वचनसे और उनकी कृत कारित अनुमोदनासे सेवन करते हैं उसीका त्याग छठी प्रतिमामें होता है। आचार्य वसुनन्दिने भी कहा है—मन, वचन, काय, कृत-कारित अनुमोदनासे जो दिनमें मैथुनका त्याग करता है वह छठा श्रावक है ॥१२॥

इसीसे आगे छठी प्रतिमावालेकी प्रशंसा करते हैं—

जिस स्त्रीका नाम भी सुनना प्रीतिकारक होता है, वही स्त्री आँखोंके सामने होते हुए भी जिस मनोव्यापारको रोकनेकी शक्तिके द्वारा तृणकी तरह तुच्छ प्रतीत है, धीर-वीर उन पुरुषोंके मनोविकारको रोकनेकी सामर्थ्य अद्भुत आश्चर्य पैदा करनेवाली है ॥१३॥

षष्ठ प्रतिमाधारीके रात्रि आदिमें भी मैथुनसे निवृत्तिका कथन करते हैं—

---

१. अहो—भ. कु. च.।

रात्रावपि ऋतावेव सन्तानार्थमृतावपि ।
भजन्ति वशिनः कान्तां न तु पर्वदिनादिषु ॥१४॥

ऋतावेव—चतुर्थदिनस्नानानन्तरमेव । आवृत्त्या सन्तानार्थमेव न विषयसुखार्थम् । पर्वदिनादिषु । आदिशब्देनामावस्याग्रहणादिषु ॥१४॥

अथ चारित्रसारादिशास्त्रमतेन रात्रिभक्तव्रतं निरुक्त्या लक्षयन् रत्नकरण्डादिप्रसिद्धं तदर्थं कथयति—

रात्रिभक्तव्रतो रात्रौ स्त्रीसेवावर्तनादिह ।
निरुच्यतेऽन्यत्र रात्रौ चतुराहारवर्जनात् ॥१५॥

रात्रिभक्तव्रतः—रात्रौ भक्तं स्त्रीभजनं व्रतयति प्रवर्तयतीति तथोक्तः । शास्त्रान्तरेषु तु रात्रौ भक्तं चतुर्विधाहारं व्रतयति निवर्तयति इति निरुच्यते । यथाह स्वामी—

'अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम् ।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥ [र. श्रा. १४२] ॥१५॥

अथ ब्रह्मचर्यस्थानं व्याचष्टे—

तत्तादृक्संयमाभ्यासवशीकृतमनास्त्रिधा ।
यो जात्वशेषा नो योषा भजति ब्रह्मचार्यसौ ॥१६॥

तत्तादृक्संयमः—प्राक्प्रतिमाषट्कोक्तः । अशेषाः—मानवीर्दैवीस्तैरश्चीस्तत्प्रतिकृतिश्च ॥१६॥

जितेन्द्रिय पुरुष रात्रिमें भी ऋतुकालमें ही अर्थात् रजोदर्शनसे आगेके चतुर्थ दिनके स्नानके अनन्तर ही स्त्रीका सेवन करते हैं। तथा ऋतुमें भी सन्तान उत्पन्न करनेके लिए ही स्त्रीका सेवन करते हैं, विषय सुखके लिए सेवन नहीं करते। तथा पर्वके दिनोंमें अर्थात् धर्म-कर्मके अनुष्ठानके दिनों अष्टमी आदिमें कभी भी स्त्रीका सेवन नहीं करते ॥१४॥

अब चारित्रसार आदि शास्त्रके मतसे रात्रिभक्तव्रतका निरुक्तिपूर्वक लक्षण करके रत्नकरण्डक आदिमें प्रसिद्ध उसके अर्थको कहते हैं—

चारित्रसार आदि शास्त्रोंका अनुसरण करनेवाले इस ग्रन्थमें रात्रिमें स्त्रीसेवनका व्रत लेनेसे रात्रिभक्तव्रत कहा जाता है। और अन्य रत्नकरण्डक आदि शास्त्रोंमें रात्रिमें चारों प्रकारके आहारके त्यागसे रात्रिभक्तव्रत कहा जाता है ॥१५॥

विशेषार्थ—पहले लिख आये हैं कि छठी प्रतिमाके स्वरूपको लेकर ग्रन्थकारोंमें मत-भेद है। छठी प्रतिमाका नाम रात्रिभक्तव्रत है। भक्तका अर्थ स्त्रीसेवन भी होता है जिसे भाषामें भोगना कहते हैं और भोजन भी होता है। इस ग्रन्थके मतसे जो रात्रिमें स्त्रीसेवन-का व्रत लेता है वह रात्रिभक्तव्रत है और रत्नकरण्डकके अनुसार जो रात्रिमें चारों प्रकारके आहारका त्याग करता है वह रात्रिभक्तव्रत है। उसमें कहा है कि जो रात्रिमें अन्न, पान, खाद्य, लेह्य चारों प्रकारके आहारको नहीं खाता वह रात्रिभक्त विरत है ॥१५॥

अब ब्रह्मचर्य प्रतिमाका स्वरूप कहते हैं—

पहले छह प्रतिमाओंमें कहे गये और क्रमसे बढ़ते हुए संयमके अभ्याससे मनको वशमें कर लेनेवाला जो श्रावक-मन-वचन कायसे मानवी, दैवी, तिर्यंची और उनके प्रतिरूप समस्त स्त्रियोंको रात्रि अथवा दिनमें कभी भी नहीं सेवन करता है वह ब्रह्मचारी है ॥१६॥

विशेषार्थ—जो ब्रह्ममें चरण करता है वह ब्रह्मचारी है। ब्रह्मके अनेक अर्थ हैं—चारित्र, आत्मा, ज्ञान आदि। अर्थात् निश्चयसे तो आत्मामें रमण करनेवाला ही ब्रह्मचारी है और व्यवहारमें जो सब स्त्रियोंके सेवनका त्यागी है वह ब्रह्मचारी है। सब स्त्रियोंसे

अथ ब्रह्मचारिणे श्लाघ्यते—

अनन्तशक्तिरात्मेति श्रुतिर्वस्त्वेव न स्तुतिः ।
यस्स्वद्रव्ययुगात्मैव जगज्जैत्रं जयेत्स्मरम् ॥१७॥

वस्त्वेव—वस्तुविषयैव । स्तुतिः—गुणाल्पत्वे सति तद्बहुत्वकथनम् । स्वद्रव्ययुक्—परद्रव्यव्यावर्तनेनात्मद्रव्यं समादधानः ॥१७॥

अथ मन्दमत्यनुजिघृक्षया ब्रह्मचर्यमाहात्म्यमाह—

विद्या मन्त्राश्च सिद्ध्यन्ति किङ्करन्त्यमरा अपि ।
क्रूराः शाम्यन्ति नाम्नाऽपि निर्मलब्रह्मचारिणाम् ॥१८॥

सिद्ध्यन्ति—वरप्रदा भवन्ति । उक्तं च—

'मौनी नियमितचित्तो मेधावी बीजधारणसमर्थः ।
मायामदनमदोनः सिद्ध्यति मन्त्री न संदेहः ॥' [ ]

क्रूराः—ब्रह्मराक्षसादयः ॥१८॥

अथ प्रसङ्गवशाद् ब्रह्मचर्याश्रमं किंचिद् व्याचष्टे—

प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता ये पञ्चोपनयादयः ।
तेऽधीत्य शास्त्रं स्वीकुर्युर्दारानन्यत्र नैष्ठिकात् ॥१९॥

उपनयादयः । आदिशब्देनावलम्बनदीक्षागूढनैष्ठिका गृह्यन्ते । तत्र उपनयब्रह्मचारिणो गणधरसूत्रधारिणः समभ्यस्तागमा गृहिधर्मानुष्ठायिनो भवन्ति । अवलम्बब्रह्मचारिणः क्षुल्लकरूपेणागममभ्यस्य परिगृहीतगृहवासा भवन्ति । अदीक्षाब्रह्मचारिणो वेषमन्तरेणाभ्यस्तागमा गृहिधर्मनिरता भवन्ति । गूढब्रह्मचारिणः कुमारश्रमणाः सन्तः स्वीकृतागमाभ्यासा बन्धुभिर्दुःसहपरीषहैरात्मना नृपतिभिर्वा निरस्तपरमेश्वररूपा

केवल मनुष्य जातिकी ही सब स्त्रियाँ नहीं ली जातीं। बल्कि देवांगना और पशुयोनिकी स्त्रियाँ और उनकी पत्थर, काष्ठ आदिमें तथा चित्रोंमें अंकित प्रतिकृतियाँ भी ली जाती हैं। उनका सेवन कायसे ही नहीं, बल्कि मन-वचनसे भी नहीं होना चाहिए ॥१६॥

ब्रह्मचारीकी प्रशंसा करते हैं—

आत्मा अनन्त शक्तिवाला है, इस प्रकारका आप्तका उपदेश वास्तविक ही है स्तुति नहीं है अर्थात् बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कहा गया है; क्योंकि परद्रव्यसे हटकर स्वद्रव्य—आत्मद्रव्यमें लीन आत्मा ही जगत्‌को जीतनेवाले कामको जीतता है ॥१७॥

मन्द बुद्धि लोगोंको समझानेके लिए ब्रह्मचर्यका माहात्म्य कहते हैं—

निरतिचार ब्रह्मचर्यका पालन करनेवालोंका नाम लेने मात्रसे ब्रह्मराक्षस आदि क्रूर प्राणी भी शान्त हो जाते हैं, देवता भी सेवकोंकी तरह व्यवहार करते हैं तथा विद्या और मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं ॥१८॥

प्रसंगवश ब्रह्मचर्याश्रमका थोड़ा-सा कथन करते हैं—

जो मौञ्जीबन्धनपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रतका अनुष्ठान करनेवाले उपनय ब्रह्मचारी आदि पाँच प्रकारके ब्रह्मचारी आगममें कहे हैं वे उपासकाध्ययन आदि शास्त्रका अध्ययन करनेके बाद पत्नीको स्वीकार कर सकते हैं। उनमें-से जो नैष्ठिक है वह ऐसा नहीं कर सकता ॥१९॥

विशेषार्थ—चारित्रसारमें पाँच प्रकारके ब्रह्मचारी कहे हैं—उपनय, अवलम्ब, दीक्षा, गूढ और नैष्ठिक। उपनय ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत धारण करके आगमका अध्ययन करनेके बाद गृहस्थ धर्मका पालन करते हैं। अवलम्ब ब्रह्मचारी क्षुल्लकके रूपमें आगमका

गृहवासरता भवन्ति। नैष्ठिकब्रह्मचारिणः समधिगतशिखालक्षितशिरोलिङ्गा गणधरसूत्रोपलक्षितवक्षोलिङ्गाः शुक्लरक्तवसनकौपीनकटिलिङ्गाः। स्नातका: भिक्षावृत्तयो देवार्चनपरा भवन्ति ॥१९॥

अथ जिनदर्शने वर्णाश्रमव्यवस्था कुत्रोक्तास्तीति पृच्छन्तं प्रत्याह—

> ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्च सप्तमे।
> चत्वारोऽङ्गे क्रियाभेदादुक्ता वर्णवदाश्रमाः ॥२०॥

सप्तमे—उपासकाध्ययनाख्ये। उक्तं च—

> 'ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
> इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमाङ्गाद् विनिःसृताः ॥' [ ]

क्रियाभेदात्—ब्रह्मचारिणस्तावदिमाः क्रियाः—'द्विजसूनोर्गर्भाष्टमे वर्षे जिनालये कृतार्हत्पूजनमौण्ड्यस्य त्रिगुणमौञ्जीबन्धसप्तगुणग्रथितयज्ञोपवीतादिलिङ्गविशुद्धे स्थूलहिंसाविरत्यादि-व्रतं ब्रह्मचर्योपबृंहितं गुरुसाक्षिकं धारणीयम्। श्लोकाः—

> 'शिखी सितांशुकः सान्तर्वासो निर्वेषविक्रियः।
> व्रतचिह्नं दधत्सूत्रं तदोक्तो ब्रह्मचार्यसौ ॥
> चरणोचितमन्यच्च नामधेयं तदास्य वै।
> वृत्तिश्च भिक्षयान्यत्र राजन्यादुद्धवैभवात् ॥
> सोऽन्तःपुरे चरेत्पात्र्यां नियोग इति केवलम्।
> तदग्रं देवसात्कृत्य ततोऽन्नं योग्यमाहरेत् ॥' [महापु. ३८।१०६-१०८]

अभ्यास करके गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं। अदीक्षा ब्रह्मचारी किसी प्रकारके वेषके बिना आगमका अभ्यास करके गृहस्थ धर्म अपना लेते हैं। गूढ़ ब्रह्मचारी कुमार अवस्थामें ही मुनिपद धारण करके आगमका अभ्यास करते हैं और फिर बन्धुओंके कहनेसे या परीषहोंको न सह सकनेसे स्वयं ही, या राजाके कहनेसे दिगम्बर रूपको छोड़कर घर बसा लेते हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी सिरपर चोटी, छाती पर यज्ञोपवीत और कमरमें सफेद या लाल वस्त्रकी लँगोटी लगाते हैं, भिक्षावृत्तिपूर्वक देवपूजामें तत्पर रहते हैं। यह गृहवासी नहीं होते। बचपनमें ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन करनेवाले कुमार ब्रह्मचारियोंके ये भेद चारित्रसारसे पहले महापुराणमें देखनेमें नहीं आते। ग्रन्थकारने इन्हें चारित्रसारसे ही लिया है ॥१९॥

जो यह प्रश्न करते हैं कि जिनागममें वर्ण व्यवस्था कहाँ है? उनको उत्तर देते हैं।

उपासकाध्ययन नामक सातवें अंगमें धर्म कर्मके भेदसे ब्राह्मण आदि चार वर्णोंकी तरह ब्रह्मचारी, गृही, वानप्रस्थ और भिक्षु ये चार आश्रम कहे हैं ॥२०॥

विशेषार्थ—जैसे आगममें क्रियाके भेदसे चार वर्ण कहे हैं वैसे ही क्रियाके भेदसे चार आश्रम कहे हैं। जिस श्रम धातुसे श्रमण शब्द निष्पन्न हुआ है उसीसे आश्रम भी बना है। अतः विचारकोंका मत है कि आश्रम व्यवस्था श्रमणपरम्परासे सम्बद्ध है। अस्तु, सातवें उपासकाध्ययन नामक अंगमें ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और भिक्षु ये चार आश्रम कहे हैं। प्रथम ब्रह्मचारीकी क्रिया महापुराणमें इस प्रकार कही है—गर्भसे आठवें वर्षमें जिनालयमें जाकर उसे पूजन करना चाहिए। तथा सिरका मुण्डन कराकर उसकी कमरमें तीन लरकी मूँजकी रस्सी बाँधकर सात लरका यज्ञोपवीत पहनाना चाहिए। फिर उसे व्रतधारण कराना

---

१. अयं श्लोकः 'उक्तञ्चोपासकाध्ययने' इति कृत्वा चारित्रसारनाम्नि ग्रन्थे (पृ. २०) उद्धृतः।

'दन्तकाष्ठग्रहो नास्य न ताम्बूलं न चाञ्जनम् ।
न हरिद्रादिभिः स्नानं शुद्धस्नानं दिनं प्रति ॥
न खट्वाशयनं तस्य नान्याङ्गपरिघट्टनम् ।
भूमौ केवलमेकाकी शयिता व्रतसिद्धये ॥
यावद्विद्यासमाप्तिः स्यात्तावदस्येदृशं व्रतम् ।
ततोऽप्यूर्ध्वं व्रतं तत्स्यात्तन्मूलं गृहमेधिनाम् ॥' [महापु. ३८।११५-११७]

इत्यादि प्रबन्धेनार्षे । पूर्वोक्तनित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्थो गृहस्थः स द्वेधा जातितीर्थक्षत्रियभेदात् । तत्र जातिक्षत्रियाः क्षत्रियब्राह्मणवैश्यशूद्रभेदाच्चतुर्विधाः । तीर्थक्षत्रियाः स्वजीवितविकल्पादनेकभेदा भिद्यन्ते । वानप्रस्था अपरिगृहीतजिनरूपा वस्त्रखण्डधारिणो निरतिशयतपःसमुद्यता भवन्ति । यथा—

'देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिह मुनिः स्यादृषिः प्रोद्गतर्द्धि-
रारूढश्रेणियुग्मोऽजनि यतिरनगारोऽपरः साधुवर्गः ।
राजा ब्रह्मा च देवः परम इति ऋषिर्विक्रियाऽक्षीणशक्ति-
प्राप्तो बुद्ध्यौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण ॥' [ ]

तत्क्रियाश्च प्राक् प्रबन्धेनोक्तास्तद्वद् । वर्णक्रियाश्च व्याख्याताः ॥२०॥

चाहिए। सफेद धोती, सफेद दुपट्टा उसका वस्त्र होता है। उस समय उस बालकको ब्रह्मचारी कहते हैं। वैभवशाली राजपुत्रको छोड़कर सब ब्रह्मचारी बालकोंको भिक्षावृत्तिसे निर्वाह करना चाहिए। राजपुत्र भी राजमहलमें जाकर अपनी माता आदिसे भिक्षा लेकर निर्वाह करता है। केवल शुद्ध जलसे प्रतिदिन स्नान करना, खाटपर न सोना, दूसरेके शरीरसे अपना शरीर न रगड़ना, पृथ्वीपर एकाकी शयन करना, जबतक विद्याध्ययन समाप्त न हो तबतक ऐसा करना आवश्यक है। विद्याध्ययनकी समाप्तिके बाद साधारण व्रतोंका तो पालन करता है किन्तु विद्याध्ययन कालके विशेष व्रत छूट जाते हैं। फिर आजीविकाके साथ गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता है। विवाहके बाद उसे धन, धान्य, मकान आदि मिल जाता है और वह पिताकी आज्ञासे स्वतन्त्रतापूर्वक आजीविका करता है इसे उसकी वर्णलाभ क्रिया कहा है।

गृहस्थ अवस्थामें वह पूर्वोक्त नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान करता है। उसके दो भेद हैं—जातिक्षत्रिय और तीर्थक्षत्रिय। जातिक्षत्रिय क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रके भेदसे चार प्रकारके होते हैं। तीर्थक्षत्रिय अपनी जीविकाके भेदसे अनेक प्रकारके हैं। पं. आशाधरजीने अपनी टीकामें यह भेदकथन चारित्रसारके आधारपर किया है। महापुराणमें यह कथन नहीं है। अस्तु।

जब उसका पुत्र घरका भार सँभालनेमें समर्थ हो जाता है तो वह उसपर भार सौंपकर तीसरा वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार करता है। घर छोड़कर मात्र एक वस्त्र धारण करता है। फिर वस्त्र आदिको भी त्याग कर दिगम्बर रूप धारण कर चतुर्थ आश्रममें प्रवेश करता है। जिसे भिक्षु आश्रम कहा है। जिनरूपधारी भिक्षु अनगार, यति, मुनि, ऋषि आदिके भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं। सामान्य साधुओंको अनगार कहते हैं। उपशम या क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ साधुओंको यति कहते हैं। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, केवलज्ञानियोंको मुनि कहते हैं। ऋद्धिधारियोंको ऋषि कहते हैं। उनके चार भेद हैं—राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि

---

१. समुद्यताः—भ. कु. ।

अथारम्भविरतं द्वाभ्यामाह—

निरूढसप्तनिष्ठोऽङ्गिघाताङ्गत्वात्करोति न ।
न कारयति कृष्यादीनारम्भविरतस्त्रिधा ॥२१॥

न कारयति पुत्रादीन् प्रत्यनुमतेः क्वाचित्निवारयितुमशक्यत्वात् मनोवाक्कायैः कृतकारिताभ्यामेव सावद्यारम्भान्निवर्तत इत्यर्थः। कृष्यादीन्—कृषिसेवावाणिज्यादिव्यापारान् न पुनः स्नपनदानपूजाविधानाद्यारम्भान्। तेषामङ्गिघाताङ्गत्वाभावात्प्राणिपीडापरिहारेणैव तत्संभवात्। वाणिज्याद्यारम्भादपि तथा संभवतस्तर्हि विनिवृत्ति न स्यादिति चेदेवमेतत् ।

तदुक्तम्—

'सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति ।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥' [रत्न. श्रा. १४४]

वसुनन्दिसैद्धान्तस्त्वविशेषेणैवाह । यथा—

'जं किंचिगिहारंभं बहु थोवं वा सया विवज्जेत्तो ।
आरम्भणियत्तमदी सो अट्ठम सावओ भणिओ ॥' [वसु. श्रा. २९८] ॥२१॥

और परमर्षि । अक्षीणऋद्धि तथा विक्रियाऋद्धिके धारियोंको राजर्षि कहते हैं । बुद्धिऋद्धि और औषधऋद्धिके धारियोंको ब्रह्मर्षि कहते हैं । आकाशचारी ऋषियोंको देवर्षि कहते हैं और केवलज्ञानीको परमर्षि कहते हैं ॥२०॥

दो श्लोकोंके द्वारा आरम्भविरतका स्वरूप कहते हैं—

पहलेकी सात प्रतिमाओंके संयममें पूर्णनिष्ठ जो श्रावक प्राणियोंकी हिंसाका कारण होनेसे खेती, नौकरी, व्यापार आदि आरम्भोंको मन, वचन, कायसे न स्वयं करता है और न दूसरोंसे कराता है वह आरम्भविरत है ॥२१॥

विशेषार्थ—रोजगार-धन्धेके कामोंको आरम्भ कहते हैं क्योंकि उनसे जीवघात होता है । किन्तु दान-पूजा आदिको आरम्भ नहीं कहते; क्योंकि ये प्राणिघातके कारण नहीं हैं, प्राणियोंकी पीड़ाको बचाकर करनेसे ही दानपूजा सम्भव होती है । यदि व्यापार आदिमें भी प्राणिपीड़ा बचाना सम्भव होता तो उसका त्याग न कराया जाता । अतः यहाँ धार्मिक कार्योंका निषेध नहीं है । आरम्भका त्याग श्रावक मन, वचन, कायपूर्वक कृत और कारितसे करता है । अनुमतिका त्याग नहीं करता क्योंकि पुत्रादिको अनुमति देनेसे बचना कभी-कभी अशक्य हो जाता है । स्वामी समन्तभद्रने मन, वचन, काय या कृत-कारितका निर्देश नहीं किया है । जो हिंसाके कारण सेवा, खेती, व्यापार आदि आरम्भका त्यागी है वह आरम्भविरत है । आचार्य वसुनन्दिने 'जो कुछ भी थोड़ा या बहुत गृह सम्बन्धी आरम्भ है उसको सदाके लिए छोड़ देता है, उसे आरम्भत्यागी कहा है । लाटी संहितामें तो आरम्भत्यागको बहुत व्यापक रूप दे दिया गया है । लिखा है—'आठवीं प्रतिमासे पहले हिंसाके कामोंसे जैसे सचित्तके स्पर्शनसे या अपने हाथसे पानी भरनेसे अतीचार होता था । अब पानी आदिकी तरह जो सचित्त द्रव्य है उसे अपने हाथसे नहीं छूता । बहुत आरम्भकी तो बात ही क्या है ? अपने बन्धु वर्गके मध्यमें रहता है और मुनिकी तरह तैयार भोजनादि करता है । यदि कोई साधर्मी आमन्त्रित करे तो उसके घर भोजन करनेमें न कोई दोष है, न गुण है । व्रती होनेपर भी दसवीं प्रतिमासे पहले वह मनका मालिक होकर रहता है, वस्त्रोंका प्रक्षालन प्रासुकसे स्वयं करे या साधर्मीसे करावे । बहुत कहनेसे क्या ? अपने लिए या दूसरेके

यो मुमुक्षुरघाद्बिभ्यत्त्यक्तुं भक्तमपीच्छति ।
प्रवर्तयेत्कथमसौ प्राणिसंहरणीः क्रियाः ॥२२॥

प्रवर्तयेत्—कुर्यात्कारयेद्वा ॥२२॥

अथ परिग्रहविरतं सप्तश्लोकेन व्याचष्टे—

स ग्रन्थविरतो यः प्राग्व्रतव्रातस्फुरद्धृतिः ।
नैते मे नाहमेतेषामित्युज्झति परिग्रहान् ॥२३॥

प्राग्व्रतानि—दर्शनिकाद्यष्टप्रतिमानुष्ठानानि । 'स्वाचाराप्रातिलोम्येन लोकाचारं प्रमाणयेदिति वचनात्सर्वत्र स्वस्वस्थानाविरोधेनैव पूर्वस्थानानुष्ठानमनुष्ठेयम् । उक्तं च—

'बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः ।
स्वस्थः सन्तोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ॥ [र. श्रा. १४५] ॥२३॥

लिए जिसमें आरम्भका लेश भी हो, उस क्रियाको न करे ।' इस तरह प्रारम्भमें आजीविका-विषयक आरम्भके त्यागको आरम्भविरत कहते थे। उत्तरकालमें खासकर लाटी संहिताके युगमें उसे बहुत विस्तार दे दिया गया। किसी पहलेके अन्य ग्रन्थमें ऐसा कथन नहीं है ॥२१॥

आगे आरम्भत्यागका समर्थन करते हैं—

जो मुमुक्षु पापसे डरता हुआ भोजन भी छोड़ना चाहता है वह जीवघातवाली क्रियाएँ कैसे स्वयं कर या करा सकता है ॥२२॥

अब परिग्रहत्यागविरत प्रतिमाको सात श्लोकोंसे कहते हैं—

पहलेकी दर्शन आदि प्रतिमा सम्बन्धी व्रतोंके समूहसे जिसका सन्तोष बढ़ा हुआ है वह आरम्भविरत श्रावक 'ये मेरे नहीं हैं और न मैं इनका हूँ' ऐसा संकल्प करके मकान, खेत आदि परिग्रहोंको छोड़ देता है उसे परिग्रहविरत कहते हैं ॥२३॥

विशेषार्थ—परिग्रहमें जो ममत्व भाव होता है उसके त्यागपूर्वक परिग्रहके त्यागको परिग्रह विरत कहते हैं। 'ये मेरे नहीं हैं' और 'न मैं इनका हूँ' इसका मतलब है कि न मैं इनका स्वामी और भोक्ता हूँ और न ये मेरे स्वत्व और भोग्य हैं। इस संकल्पपूर्वक परिग्रहका त्याग किया जाता है। यही बात स्वामी समन्तभद्राचार्यने भी कही है कि दस प्रकारके बाह्य परिग्रहोंमें ममत्वभावको छोड़कर निर्ममत्वभावमें मग्न सन्तोषी श्रावक परिग्रहविरत है। चारित्रसारमें[1] कहा है—परिग्रह क्रोधादि कषायोंकी, आर्त और रौद्रध्यानकी, हिंसा आदि पाँच पापोंकी तथा भयकी जन्मभूमि है, धर्म और शुक्लध्यानको पास भी नहीं आने देती ऐसा मानकर दस प्रकारके बाह्य परिग्रहसे निवृत्त सन्तोषी श्रावक परिग्रहत्यागी होता है। उक्त सभी कथन अन्तरंग परिग्रहके साथ बाह्य परिग्रहके त्यागको परिग्रहविरत कहते हैं। किन्तु आचार्य वसुनन्दी[2] कहते हैं कि 'जो वस्त्रमात्र परिग्रहके अतिरिक्त शेष सब परिग्रहको छोड़ देता है और वस्त्रमें भी ममत्व नहीं करता, वह नवम श्रावक जानो।' लाटी संहितामें[3] कहा है—'जिसमें स्वर्ण आदि द्रव्यका सर्वथा त्याग माना गया है वह

---

१. चारित्रसार—पृ. १९ ।

२. 'मोत्तूण वत्थमेत्तं परिग्गहं जो विवज्जए सेसं ।
तत्थवि मुच्छं ण करेइ जाणइ सो सावओ णवमो' ॥—वसु. श्रा., २९९ गा. ।

३. 'नवमं प्रतिमास्थानं व्रतं चास्ति गृहाश्रये । यत्र स्वर्णादिद्रव्यस्य सर्वतस्त्यजनं स्मृतम् ॥
इतः पूर्वं सुवर्णादि संख्यामात्रापकर्षणः । इतः प्रभृति वित्तस्य मूलादुन्मूलनं व्रतम् ॥

अथास्य सकलदत्तिमुत्तरप्रबन्धेन व्याचष्टे—

अथाहूय सुतं योग्यं गोत्रजं वा तथाविधम् ।
ब्रूयादिदं प्रशान् साक्षाज्ज्ञातिज्येष्ठसधर्मणाम् ॥२४॥

तथाविधं—योग्यपुत्राभावे तत्सदृशम् । प्रशान्—प्रशमपरः ॥२४॥

ताताद्य यावदस्माभिः पालितोऽयं गृहाश्रमः ।
विरज्यैनं जिहासूनां त्वमद्यार्हसि नः पदम् ॥२५॥

तात—स्वस्य पोष्यस्वगर्भपुत्रादेः प्रियस्यामन्त्रणमिदम् ॥२५॥

पुत्रः पुपूषोः स्वात्मानं सुविधेरिव केशवः ।
य उपस्कुरुते वप्तुरन्यः शत्रुः सुतच्छलात् ॥२६॥

पुत्रः स भवतीत्यध्याहारः । पुपूषोः—शोधयितुमिच्छोः । सुविधेः—ऋषभनाथस्य पूर्वभवे सुविधिनाम्नो राज्ञः । उक्तं चार्षे—

'नृपस्तु सुविधिः पुत्रस्नेहाद् गार्हस्थ्यमत्यजन् ।
उत्कृष्टोपासकस्थाने तपस्तेपे सुदुश्चरम् ॥' [महापु. १०।१५८]

गृहस्थकी नवीं प्रतिमा है। इससे पहले सुवर्ण आदिकी संख्या मात्र घटायी थी। अब धन सम्पत्तिका मूलसे उन्मूलनरूप व्रत है। अपने एक शरीरमात्रके लिए वस्त्र, मकान आदि स्वीकृत है अथवा धर्मके साधन मात्र स्वीकृत हैं, शेष सब छोड़ देता है। इससे पहले मकान, स्त्री आदिका वह स्वामी था। वह सब निःशल्य होकर जीवनपर्यन्तके लिए सब प्रकारसे छोड़ना चाहिए।' यहाँ 'मकान' इसलिए कहा प्रतीत होता है कि अभी उसने गृहवास नहीं छोड़ा है। मकानके स्वामित्वसे यहाँ अभिप्राय नहीं है। आगे परिग्रहके त्यागकी विधिका जो वर्णन है जिसे सकलदत्ति नाम दिया है उससे भी यही प्रकट होता है कि आचार्य वसुनन्दीने जो वस्त्रमात्रके सिवाय शेषका त्याग कहा है वही आशाधरजीको भी मान्य है और वही परिग्रहविरतका भाव है ॥२३॥

आगे परिग्रहविरत श्रावककी सकलदत्तिका वर्णन करते हैं—

अथ शब्द अधिकारवाची है जो इस बातको सूचित करता है कि यहाँसे सकलदत्तिका अधिकार है। योग्य अर्थात् अपना भार उठानेमें समर्थ पुत्रको अथवा योग्य पुत्रके अभावमें योग्य पुत्रके समान भाई या उसके पुत्र आदिको बुलाकर जातिमें मुख्य साधर्मियोंके सामने नवम श्रावक इस प्रकार कहे ॥२४॥

हे तात! आजतक हमने इस गृहस्थाश्रमका यथाविधि निर्वाह किया। अब संसार शरीर भोगोंसे विरक्त होकर इसे हम छोड़नेके इच्छुक हैं। तुम हमारे पदको स्वीकार करनेके लिए योग्य हो ॥२५॥

जैसे अपने आत्माको शुद्ध करनेको इच्छुक राजा सुविधिका उपकार उसके पुत्र केशवने किया, उसी प्रकार अपने आत्माको शुद्ध करनेके इच्छुक पिताका जो उपकार करता है वह पुत्र है। और जो ऐसा नहीं करता वह पुत्रके रूपमें शत्रु है ॥२६॥

अस्त्यात्मैकशरीरार्थं वस्त्रवेश्मादि स्वीकृतम् । धर्मसाधनमात्रं वा शेषं निःशेषमीयताम् ॥
स्यात्पुरस्तादितो यावत्स्वामित्वं सद्मयोषिताम् । तत्सर्वं सर्वतस्त्याज्यं निःशल्यं जीवनावधि ॥'

—लाटी. ५।४१-४२ ।

उपस्कुरुते—गृहादिममत्वच्छेदेनातिशयमाधत्ते। शत्रुः—शातयिता इष्टविघातित्वात्। तथा चावोचत्स्वयमेव सिद्धचक्रे—

'पुत्रः स येनोद्भरेण तातो लघूकृतोऽकस्मिरोऽधिरोहते (?)। १
सौरिस्तु येन स्वभरोपरोपाद्गुरूकृतो लोकतलं प्रगच्छेत्॥' ॥२६॥

तदिदं मे धनं धर्म्यं पोष्यमप्यात्मसात्कुरु।
सैषा सकलदत्तिर्हि परं पथ्या शिवार्थिनाम् ॥२७॥ १

धर्म्यं—चैत्यालयपात्रदानादि। पोष्यं—गृहिणीमातृपित्रादि। सकलदत्तिः अन्वयदत्त्यपराभिधाना। पथ्या—पथोऽनपेता रत्नत्रयानुगतेरित्यर्थः ॥२७॥

विदीर्णमोहशार्दूलपुनरुत्थानशङ्किनाम्। १
त्यागक्रमोऽयं गृहिणां शक्त्यारम्भो हि सिद्धिकृत् ॥२८॥

विदीर्णः—तत्तन्निष्ठासौष्ठवेन भिन्नः ॥२८॥

विशेषार्थ—ऐसा कथन है कि जो जन्म लेकर वंशको पवित्र करता है वह पुत्र है। अतः जब पिता घरबार छोड़कर अपनी आत्माको कर्मबन्धनसे मुक्त करना चाहता हो तब घरका भार सम्हालकर पिताकी आत्मसाधनामें सहयोग देनेवाला ही वास्तवमें पुत्र कहलानेके योग्य है। जैसे भगवान् ऋषभदेवका जीव पूर्वभवमें सुविधि नामक राजा हुआ था और उसकी पूर्वभवकी पत्नी श्रीमतीके जीवने सुविधिके पुत्र केशवके रूपमें जन्म लिया था। राजाका अपने पुत्रसे अत्यधिक स्नेह था। उसीके कारण वह घरमें ही रहकर उत्कृष्ट श्रावकके व्रतोंका पालन करता था और केशव इसमें उसकी पूरी सहायता करता था। अन्तमें पिता और पुत्रने दिगम्बरी दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण किया। ऐसा पुत्र ही वास्तवमें पुत्र कहलानेके योग्य होता है ॥२६॥

इसलिए मेरा धन, धर्मस्थान, चैत्यालय, दानशाला आदि, तथा पोष्य माता, पिता, पत्नी आदिको अपने संरक्षणमें लेओ। आगममें कही गयी यह सकलदत्ति मुमुक्षुओंके लिए अत्यन्त हितकारी है ॥२७॥

विशेषार्थ—प्रथम अध्यायमें प्रकारान्तरसे दानके पात्रदत्ति, समक्रियादत्ति, अन्वयदत्ति और दयादत्ति ये चार भेद, दान जिन्हें दिया जाता है उनकी अपेक्षासे कहे थे। इस सकलदत्तिको ही अन्वयदत्ति कहते हैं। सब कुछ दान कर देनेसे इसका नाम सकलदत्ति है और यह दान अपने वंशमें किया जाता है इसलिए इसे अन्वयदत्ति कहते हैं। इसके बिना मोक्षके मार्गमें चलना दुष्कर है। इसीसे इस सर्वस्व त्यागको मोक्षार्थियोंके लिए हितकर कहा है ॥२७॥

प्रथमादि प्रतिमाओंमें की जानेवाली आत्माकी आराधनाके द्वारा जिनका मोहरूपी सिंह छिन्न-भिन्न तो हो गया है किन्तु फिर भी जिन्हें उसके उठ खड़ा होनेकी आशंका है उन गृहस्थोंके त्यागका धीरे-धीरे बाह्य और अन्तरंग परिग्रहको छोड़नेका यह क्रम है। क्योंकि शक्तिके अनुसार किया गया इष्ट अर्थकी साधनाका उपक्रम इष्ट अर्थका साधक होता है ॥२८॥

एवं व्युत्सृज्य सर्वस्वं मोहाभिभवहानये ।
किंचित्कालं गृहे तिष्ठेदौदास्यं भावयन्सुधीः ॥२९॥

व्युत्सृज्य—विशेषेण विविधं वाच भृशं त्यक्त्वा । मोहाभिभवः—मोहेन ममत्वेन अभिभवः उपेक्षा शैथिल्यं येन पृष्टोऽपृष्टो वा आरम्भादौ पुत्रादेरनुमतिं दाप्यते । किंचित्कालं । एतेन सिताम्बरपरिकल्पितं प्रतिमासु कालनियमं निराकरोति । तथाहि तद्ग्रन्थः—'शङ्कादिदोषरहितं प्रशमादिलिङ्गं स्थैर्यादिभूषणं मोक्षमार्गप्रासादपीठभूतं सम्यग्दर्शनं भयलोभलज्जादिभिरप्यनतिचरन्मासमात्रं सम्यक्त्वमनुपालयतीत्येषा प्रथमा प्रतिमा । द्वौ मासौ यावदखण्डितान्यविराधितानि च पूर्वप्रतिमानुष्ठानसहितानि द्वादशापि व्रतानि पालयतीति द्वितीया । त्रीन्मासानुभयकालमप्रमत्तः पूर्वोक्तप्रतिमानुष्ठानसहितः सामायिकमनुपालयतीति तृतीया । चतुरो मासांश्चतुष्पर्व्यां पूर्वप्रतिमानुष्ठानसहितोऽखण्डितं प्रोषधं पालयतीति चतुर्थी । पञ्चमासांश्चतुष्पर्व्यां गृहे तद्द्वारे चतुष्पथे वा परिषहोपसर्गविनिष्कम्पकायोत्सर्गः पूर्वोक्तप्रतिमानुष्ठानं पालयन् सकलां रात्रिमास्ते इति पञ्चमी । एवं वक्ष्यमाणास्वपि प्रतिमासु पूर्वपूर्वप्रतिमानुष्ठाननिष्ठता अवसेया । नवरं षण्मासान् ब्रह्मचारी भवतीति षष्ठी । सप्तमासान् सचित्ताहारान् परिहरतीति सप्तमी । अष्टौ मासान् स्वयमारम्भं न करोती-त्यष्टमी । नवमासान् प्रेष्यैरप्यारम्भं न कारयतीति नवमी । दशमासानात्मार्थनिष्पन्नमाहारं न भुङ्क्ते इति दशमी । एकादशमासांस्त्यक्तसङ्गो रजोहरणादिमुनिवेषधारी कृतकेशोत्पाटः स्वायत्तेषु गोकुलादिषु वसन्

इस प्रकार तत्त्वज्ञानसे सम्पन्न नवम श्रावक समस्त चेतन-अचेतन परिग्रहको छोड़कर ममत्वभावसे होनेवाली संयममें शिथिलताको दूर करनेके लिए उपेक्षाका चिन्तवन करते हुए कुछ समय तक घरमें रहे ॥२९॥

विशेषार्थ—नवम प्रतिमाधारी श्रावक ममत्व भावको हटानेके लिए सर्वस्वका त्याग करके भी तत्काल घर नहीं छोड़ता। कुछ समय तक उदासीनताका अभ्यास करते हुए घरमें ही रहता है। ममत्वभाव होनेसे ही अभी वह आरम्भ आदिमें पुत्र आदिको अनुमति देता है। इसीको दूर करनेके लिए वह घरमें रहता है। घरमें रहनेसे यह भी द्योतित होता है कि वह अपने शरीरको ढाँकनेके लिए वस्त्र मात्र धारण करता है। किन्तु उसमें भी मूर्च्छा नहीं रखता, जैसा आचार्य वसुनन्दीने अपने श्रावकाचारमें कहा है। यहाँ जो कुछ काल घरमें रहनेके लिए लिखा है उससे सिताम्बराचार्योंने जो नियम किया है कि पहली प्रतिमाका पालन एक मास, दूसरीका दो मास, इसी तरह नौवीं प्रतिमावाला नौ मास पालन करता है उस नियमका निराकरण होता है। पं. आशाधरजीने अपनी उक्त टीका ज्ञानदीपिकामें सिताम्बरोंके मतका कथन किया है। जो श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द्रके योगशास्त्रसे उद्धृत हैं उसमें कहा है—भय, लोभ और लज्जा आदिसे अतिचार न लगाते हुए एक मास तक सम्यक्त्वका पालन करना पहली प्रतिमा है।१। दो मास तक पहली प्रतिमाके अनुष्ठानके साथ निरतिचार बारह व्रतोंको पालना दूसरी प्रतिमा है।२। तीन मास तक पूर्वोक्त प्रतिमाओंके अनुष्ठानके साथ प्रमाद छोड़कर दोनों समय सामायिक करना तीसरी प्रतिमा है।३। चार मास तक चारों पर्वोंमें पूर्वप्रतिमाके अनुष्ठानके साथ अखण्डित प्रोषधका पालन करना चतुर्थ प्रतिमा है।४। पाँच मास तक चारों पर्वोंमें घरमें या घरके द्वारपर या चौराहेपर परीषह उपसर्ग आदिमें निश्चल कायोत्सर्गपूर्वक पूरी रात स्थिर रहना पाँचवीं प्रतिमा है।५। इसी प्रकार आगेकी प्रतिमाओंमें भी पूर्व-पूर्व प्रतिमाओंके अनुष्ठानसे युक्त जानना चाहिए। छह मास तक ब्रह्मचारी रहता है यह छठी प्रतिमा है।६। सात मास तक सचित्त आहारका त्यागी होता है।७। आठ मास तक स्वयं आरम्भ नहीं

'प्रतिमाप्रतिपन्नाय श्रमणोपासकाय भिक्षां दत्त' इति वदन् धर्मलाभशब्दोच्चारणरहितं सुसाधुवत्समाचरतीत्ये-कादशीति ।' [योगशा. टी. ३।१४८]

'गृहे तिष्ठेत्' एतेन स्वाङ्गाच्छादनार्थं वस्त्रमात्रधारणममूर्छामस्य लक्षयति । तेन विना गृहेऽस्यानानुपपत्तेः । तथा ह्यागमः—

'मोत्तूण वत्थमेत्तं परिग्गहं जो विवज्जदे सेसं ।
तत्थ वि मुच्छण्ण करेदि जाण सो सावओ णवमो ।।' [वसु. श्रा. २९९] ।।२९।।

अथानुमतिविरतं सप्तश्लोक्या व्याचष्टे—

नवनिष्ठापरः सोऽनुमतिव्युपरतः त्रिधा ।
यो नानुमोदते ग्रन्थमारम्भं कर्म चैहिकम् ।।३०।।

नवनिष्ठापरः—दर्शनिकादिप्रतिमानवकानुष्ठाननिष्ठः । ग्रन्थं—धनधान्यादिकम् । आरम्भं—कृष्यादिकम् । ऐहिकं—विवाहादिकं ।

उक्तं च—

'अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा ।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ।।' [र. श्रा. १४६]

तथा—

'पुट्ठो वा पुट्ठो वा णियमपरेहिं च सगिहकज्जम्मि ।
अणुमणणं जो ण कुणदि वियाण सो सावओ दसमो ।।' [वसु. श्रा. ३००] ।।३०।।

करता ।८। नौ मास तक दूसरोंसे भी आरम्भ नहीं कराता ।९। दस मास तक अपने उद्देशसे बनाये गये आहारको ग्रहण नहीं करता ।१०। ग्यारह मास तक परिग्रह छोड़कर रजोहरण आदि मुनिवेषको धारण करके केशोंको उखाड़ता है, स्वाधीन गोकुल आदिमें निवास करता है। 'प्रतिमाधारी श्रमणोपासकको भिक्षा दो' यह कहकर 'धर्म लाभ हो' ऐसा न कहकर साधुकी तरह भिक्षा करता है यह ग्यारहवीं प्रतिमा है ।११। (योगशास्त्र ३।१४८ की स्वोपज्ञ टीका)। इस तरह सिताम्बरोंमें पहली प्रतिमा धारणके बाद प्रत्येक प्रतिमामें उसकी संख्या के अनुसार मास तक रहकर आगे बढ़ना ही होता है। और ६६ मासके बाद मुनिपद धारण करना होता है। एक ही प्रतिमामें जीवन-भर रहनेका नियम नहीं है ।।२९।।

अब सात श्लोकोंसे अनुमतिविरतको कहते हैं—

दर्शनिक आदि नौ प्रतिमाओंके अनुष्ठानमें तत्पर जो श्रावक धनधान्य आदि परिग्रह, कृषि आदि आरम्भ और इस लोक सम्बन्धी विवाह आदि कर्ममें मन-वचन-कायसे अनुमति नहीं देता, वह अनुमति विरत है ।।३०।।

विशेषार्थ—आचार्य समन्तभद्रने भी आरम्भ, परिग्रह और ऐहिक कार्योंमें जिसकी अनुमति नहीं है उसे अनुमतिविरत कहा है। चारित्रसारमें आहार आदि आरम्भोंमें अनुमति न देनेवालेको अनुमतिविरत कहा है। आचार्य वसुनन्दिने कहा है जो स्वजनों और परजनोंके पूछनेपर भी अपने गृहसम्बन्धी कार्योंमें अनुमति नहीं देता वह अनुमतिविरत है। लाटी संहितामें भी ऐसा ही कहा है ।।३०।।

---

१. वरहितं—यो. टी. ३।१४८ ।

अथास्य विधिविशेषमाह—

चैत्यालयस्थः स्वाध्यायं कुर्यान्मध्याह्नवन्दनात् ।
ऊर्ध्वमामन्त्रितः सोऽश्नाद् गृहे स्वस्य परस्य वा ॥३१॥

स्वस्य—आत्मीयस्य पुत्रादेः । परस्य—यस्य तस्य साधर्मिकस्य ॥३१॥

अथास्योद्दिष्टत्यागार्थं भावनाविशेषं श्लोकद्वयेनाह—

यथाप्राप्तमदन् देहसिद्ध्यर्थं खलु भोजनम् ।
देहश्च धर्मसिद्ध्यर्थं मुमुक्षुभिरपेक्ष्यते ॥३२॥

स्पष्टम् ॥३२॥

सा मे कथं स्यादुद्दिष्टं सावद्याविष्टमश्नतः ।
कर्हि भैक्षामृतं भोक्ष्ये इति चेच्छेज्जितेन्द्रियः ॥३३॥

सा—धर्मसिद्धिः । भैक्षममृतमिवाजरामरत्वहेतुत्वात् । तदुक्तम्—

'स धर्मलाभशब्देन प्रतिवेश्म सुधोपमाम् ।
सपात्रो याचते भिक्षां जरामरणसूदनीम् ॥' [ ] ॥३३॥

अथास्य गृहत्यागविधिमाह—

इसकी विशेष विधि कहते हैं—

वह अनुमतिविरत श्रावक चैत्यालयमें रहकर स्वाध्याय करे। और मध्याह्नकालकी वन्दनाके पश्चात् बुलाने पर अपने पुत्र आदिके या जिस-किसी धार्मिकके घर भोजन करे ॥३१॥

इसकी उद्दिष्ट त्यागके लिए भावना विशेषको दो गाथाओंसे कहते हैं—

इन्द्रियोंको जीतनेवाला दशम श्रावक जो प्राप्त हो उसे संयमकी अनुकूलतापूर्वक खाते हुए इस प्रकार इच्छा करे कि मुमुक्षु शरीरकी स्थितिके लिए भोजनकी और धर्मकी सिद्धिके लिए शरीरकी अपेक्षा करते हैं। अधःकर्मसे युक्त अपने उद्देशसे बनाये गये आहारको खाने वाले मेरेको वह धर्मसिद्धि कैसे हो सकती है ? मैं भिक्षासे प्राप्त अमृतको कब खाऊँगा ? ॥३२-३३॥

विशेषार्थ—दसवीं प्रतिमाधारी श्रावककी विशेषविधिका कथन केवल लाटी संहिता[1]में हमारे देखनेमें आया है। आशाधरजीसे पूर्वके किसी श्रावकाचारमें नहीं है। लाटी संहितामें कहा है कि वह भोजनमें यह बनाना और यह न बनाना, ऐसा आदेश नहीं देता। मुनिकी तरह उसे प्रासुक शुद्ध अन्न आदि देना चाहिए। घरमें रहे, सिरके बाल आदि कटवाये न कटवाये उसकी इच्छा है। अब तक न तो वह नग्न ही रहता है और न किसी प्रकारका वेष ही रखता है। चोटी जनेऊ आदि रखे या न रखे उसकी इच्छा है। जिनालयमें या सावद्य रहित घरमें रहे। बुलाने पर अपने सम्बन्धीके घर या अन्यके घर भोजन करे ॥३३॥

अब उसके गृह त्यागनेकी विधि कहते हैं—

---

१. लाटी सं. ७।४७–५०।

पञ्चाचारक्रियोद्युक्तो निष्क्रमिष्यन्नसौ गृहात् ।
आपृच्छेत् गुरून् बन्धून् पुत्रांश्च यथोचितम् ॥३४॥

पञ्चेत्यादि । अयं विधिः—

अहो कालविनयोपधान-बहुमानानिह्नवार्थव्यञ्जनतदुभयसंपन्नत्वलक्षणज्ञानाचार ! न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि । तथापि त्वां तावदाश्रयामि यावत्त्वत्प्रसादाच्छुद्धमात्मानमुपालभे । अहो निःशङ्कितत्व-निःकाङ्क्षितत्व-निर्विचिकित्सतत्व-निर्मूढदृष्टित्वोपबृंहण-स्थितिकरण-वात्सल्य-प्रभावनालक्षणदर्शनाचार ! शेषं पूर्ववत् । अहो मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतोपेतकायवाङ्मनोगुप्तीर्याभाषैषणादाननिक्षेपण-प्रतिष्ठापन-समितिलक्षणचारित्राचार ! शेषं पूर्ववत् । अहो अनशनावमोदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन-कायक्लेश-प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-ध्यानव्युत्सर्गलक्षणतपाचार ! शेषं प्राग्वत् । अहो समस्तेतराचारप्रवर्तक स्वशक्त्यनिगूहनलक्षणवीर्याचार ! शेषं प्राग्वत् । यथोचितं, तथाहि—[अहो मदीयशरीरजनकस्यात्मन् अहो मदीयशरीरजनन्यात्मन् नायं मदात्मा युवाभ्यां जनि-] तो भवतीति निश्चयेन युवां जानीत । तत आपृष्टौ युवामिममात्मानं विमुञ्चत । अयमात्माऽद्योद्भिन्नज्ञान-ज्योतिरात्मानमेवात्मनोऽनादिजनकमुपसर्पति । तथा अहो मदीयशरीरबन्धुजनवर्तिन आत्मानः अयं मदात्मा न किंचनापि युष्माकं भवतीति निश्चयेन यूयं

ज्ञानाचार आदि पाँच आचारोंके पालनेमें तत्पर दशम श्रावक घरसे निकलनेकी इच्छा होनेपर गुरुजन, बन्धु-बान्धव और पुत्र आदिसे यथायोग्य पूछे ॥३४॥

विशेषार्थ—घर छोड़नेकी इच्छा होनेपर घरवालोंसे पूछकर घर छोड़ता है। और ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारका पालन करनेके लिए उद्यत होता है। प्रवचनसारके चारित्र प्रकरणके प्रारम्भमें आचार्य अमृतचन्द्रने अध्यात्म शैलीमें इसकी विधि इस प्रकार कही है—

काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थसम्पन्नता, व्यंजनसम्पन्नता और तदुभयसम्पन्नता इन आठ अंगोंसे युक्त हे ज्ञानाचार! मैं यह निश्चयसे जानता हूँ कि शुद्ध आत्माके तुम नहीं हो। तब भी मैं तबतक तुम्हें अपनाता हूँ जबतक तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्माको प्राप्त कर सकूँ। निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ अंगोंसे युक्त हे दर्शनाचार! मैं निश्चयसे जानता हूँ कि शुद्ध आत्माके तुम नहीं हो। फिर भी मैं तब तकके लिए अपनाता हूँ जबतक तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्माको प्राप्त कर सकूँ। मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिके कारण पाँच महाव्रत सहित कायगुप्ति, वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान निक्षेपणसमिति और प्रतिष्ठापनसमिति युक्त हे त्रयोदशविध चारित्राचार! मैं निश्चयसे जानता हूँ कि शुद्ध आत्माके तुम नहीं हो। फिर भी तुम्हें तबतकके लिए अपनाता हूँ जबतक तुम्हारे प्रसादसे मुझे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो।

हे अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, रूपबाह्य और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यानरूप अभ्यन्तर तपाचार! मैं निश्चयसे जानता हूँ कि शुद्ध आत्माके तुम नहीं हो। फिर भी तबतक तुम्हें अपनाता हूँ जबतक तुम्हारे प्रसादसे मुझे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो। इन समस्त आचारोंके प्रवर्तक तथा अपनी शक्तिको न छिपाना लक्षणवाले हे वीर्याचार! मैं निश्चयसे जानता हूँ कि शुद्ध आत्मामें तुम नहीं हो। फिर भी तबतक तुम्हें अपनाता हूँ जबतक तुम्हारे प्रसादसे मुझे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो।' इस विधिसे वह पाँच आचारोंको अपनाता है। शुद्ध

आनीत तत आपृष्टा यूयं। शेषं प्राग्वत्। नवरं जनकमित्यस्य स्थाने बन्धुमिति पाठ्यम्। अहो मदीयशरीरपुत्रस्यात्मन् ममात्मनो न त्वं जन्यो भवसीति निश्चयेन त्वं जानीहि। तत आपृष्टस्त्वमिममात्मानं विमुञ्च। शेषं प्राग्वत्। नवरं बन्धुस्थाने जन्यं पठेत्। अहो मदीयशरीररमण्या आत्मन् ममात्मा न त्वां रमयतीति निश्चयेन त्वं जानीहि। तत आपृष्टस्त्वमिममात्मानं विमुञ्च। अयमात्माद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः स्वानुभूतिमेवात्मनोऽनादिरमणीमुपसर्पतीत्यादि ॥३४॥

अथ विनयादाचारस्य भेदं विस्तरेण प्रागुक्तमिदानीं संक्षिप्य पुनराह—

सुदृङ्निवृत्ततपसां मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ।
यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु ॥३५॥

वीर्यात्—स्वशक्तिमनिगुह्य। एतेन पञ्चमो वीर्याचारः सूच्यते ॥३५॥

निश्चयनयसे आत्मामें न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है। आत्मा तो एक अखण्ड शुद्ध वस्तु है। उसको समझानेके लिए अखण्डमें भी जो खण्ड कल्पना की जाती है वह भी व्यवहार है। इस व्यवहार द्वारा आत्माके स्वरूपको समझकर भेदरत्नत्रयके द्वारा आत्म-साधना की जाती है जो अभेदरत्नत्रयरूपमें क्रमशः परिणत होती है। शुद्धात्माके अनुभव द्वारा ही शुद्धात्माको प्राप्त किया जा सकता है। इन सब आचारोंके मूलमें शुद्धात्माकी अनुभूति गर्भित है। वह शुद्धात्म परिणतिका मूलकारण है अस्तु। अब घरके लोगोंसे पूछनेकी विधि कहते हैं—हे मेरे शरीरके जनककी आत्मा! तथा मेरे शरीरकी जननीकी आत्मा! आप दोनोंसे मेरे इस आत्माका जन्म नहीं हुआ, यह आप निश्चयसे जानते हैं। अतः आप दोनों इस आत्माको घर छोड़ने की आज्ञा दें। आज इस आत्मामें ज्ञान ज्योति प्रकट हुई है। यह आत्मा अपने अनादि जनक आत्माके पास जा रहा है। मेरे शरीरके बन्धुजनोंमें रहनेवाले आत्माओ! मेरी यह आत्मा तुम्हारा कुछ भी नहीं है यह तुम निश्चयसे जानो। अतः पूछनेपर मुझे जानेकी आज्ञा दो। हे मेरे शरीरके पुत्रके आत्मा! तुम मेरी आत्मासे पैदा नहीं हुए हो, यह तुम निश्चयसे जानो। अतः पूछनेपर इसे जानेकी आज्ञा दो। हे मेरे शरीरकी पत्नीकी आत्मा! मेरी आत्मा तुम्हारे साथ रमण नहीं करती यह तुम निश्चयसे जानो। अतः पूछनेपर इसे मुक्त करो। अब यह आत्मा अपनी अनादि रमणी स्वानुभूतिके पास जा रहा है। इस तरह सबसे पूछकर घर छोड़े ॥३४॥

विनय और आचारके भेदको पहले विस्तारसे कहा है। अब सुखपूर्वक स्मरण करानेके लिए पुनः संक्षेपसे कहते हैं—

मोक्षकी इच्छा रखनेवाले श्रावकका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपके दोषोंको दूर करनेमें जो प्रयत्न है उसे विनय कहते हैं। और अपनी शक्तिको न छिपाकर उन निर्मल किये गये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपमें जो प्रयत्न है उसे आचार कहते हैं ॥३५॥

विशेषार्थ—यहाँ विनयसे आचारमें क्या भेद है इसे स्पष्ट किया है। सम्यग्दर्शन आदि चारोंके दोषोंको दूर करके उन्हें निर्मल बनानेका जो प्रयत्न है वह विनय है। और उनके निर्मल हो जानेपर शक्तिके अनुसार जो उनका आचरण वह आचार है। इससे पाँचवें वीर्याचारका सूचन होता है क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि तो चार ही हैं उनका यथाशक्ति पालन पाँचवाँ वीर्याचार है ॥३५॥

अथोपसंहरति—

इति चर्यां गृहत्यागपर्यन्तां नैष्ठिकाग्रणीः ।
निष्ठाप्य साधकत्वाय पौरस्त्यपदमाश्रयेत् ॥३६॥

पौरस्त्यं—एकादशम् ॥३६॥

अथोद्दिष्टविरतस्थानं त्रयोदशभिः श्लोकैर्व्याचष्टे—

तत्तद्व्रतास्त्रनिर्भिन्नश्वसन्मोहमहाभटः ।
उद्दिष्टं पिण्डमप्युज्झेदुत्कृष्टः श्रावकोऽन्तिमः ॥३७॥

श्वसन्—किञ्चिज्जीवन् । येन जिनरूपतां न प्राप्नोति । उद्दिष्टं—आत्मोद्देशेन कल्पितं नवकोटिभिरविशुद्धमित्यर्थः । पिण्डमपि । अपिशब्दादुपधिशयनासनादि । उत्कृष्टः—अयमित्थंभूतनयादुत्कृष्टोऽनुमतिविरतस्तु नैगमनयादित्युभौ 'भिक्षुकौ प्रकृष्टौ च' इति वचनान्न पौनरुक्त्यदोषः ॥३७॥

अब इसका उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार दर्शनिक आदि नैष्ठिक श्रावकोंमें मुख्य अनुमतिविरत श्रावक घर त्यागने पर्यन्तकी चर्याको समाप्त करके आत्मशोधनके लिए ग्यारहवें उद्दिष्टविरत स्थानको स्वीकार करे ॥३६॥

अब तेरह श्लोकोंसे उद्दिष्टविरत स्थानको कहते हैं—

उन-उन व्रतरूपी अस्त्रोंके द्वारा पूरी तरहसे छिन्न-भिन्न किये जानेपर भी जिसका मोहरूपी महान् वीर किंचित् जीवित है, वह उत्कृष्ट अन्तिम श्रावक अपने उद्देशसे बने भोजनको भी छोड़ दे ॥३७॥

विशेषार्थ—ग्यारहवीं प्रतिमाधारीका मोह अभी किंचित् जीवित है उसीका यह फल है कि वह पूर्ण जिनरूप मुनिमुद्रा धारण करनेमें असमर्थ है। पहले कहा था दशम और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक उत्कृष्ट हैं। फिर भी यहाँ ग्यारहवीं प्रतिमाधारीको उत्कृष्ट यह बतलानेके लिए कहा है कि ग्यारहवीं प्रतिमाधारी एवंभूतनयसे उत्कृष्ट है और अनुमतिविरत नैगमनयसे उत्कृष्ट है। अर्थात् ग्यारहवीं प्रतिमावाला तो वर्तमानमें उत्कृष्ट है किन्तु अनुमतिविरत आगे उत्कृष्ट होनेवाला है इस दृष्टिसे उत्कृष्ट है। यह अपने उद्देशसे बनाये गये भोजनको भी स्वीकार नहीं करता। भोजनको भी स्वीकार न करनेसे यह अभिप्राय है कि नवकोटिसे विशुद्ध भोजनको ही स्वीकार करता है। तथा भोजनकी तरह ही अपने उद्देशसे निर्मित उपधि, शय्या, आसन आदिको भी स्वीकार नहीं करता। आचार्य समन्तभद्रने प्रत्येक प्रतिमाका स्वरूप केवल एक श्लोकमें ही कहा है। उन्होंने इस उत्कृष्ट श्रावकका भी स्वरूप एक श्लोकसे कहा है कि घरसे मुनिवनमें जाकर गुरुके पासमें व्रत ग्रहण करके जो भिक्षा भोजन करता है, तपस्या करता है और वस्त्रखण्ड धारण करता है वह उत्कृष्ट श्रावक है। चारित्रसार (पृ. १९) में कहा है—'उद्दिष्टविरत श्रावक अपने उद्देशसे बनाये गये भोजन, उपधि, शयन, वस्त्र आदि ग्रहण नहीं करता। एक शाटक धारण करता है, भिक्षाभोजी है, बैठकर हस्तपुटमें भोजन करता है, रात्रिप्रतिमा आदि तप करता है, आतापन आदि योग नहीं करता।' समन्तभद्र स्वामीने 'उद्दिष्ट'की कोई चर्चा नहीं की, न उद्दिष्टविरत नाम ही दिया। हाँ, भिक्षाभोजनसे उद्दिष्टविरतकी बात आ जाती है। उन्होंने केवल एक वस्त्रका टुकड़ा रखनेकी बात कही है। उत्तर कालमें उसका स्थान एक शाटकने ले लिया। आचार्य अमितगतिने अपने श्रावकाचारके सातवें परिच्छेदमें

स द्वेधा प्रथमः श्मश्रुमूर्धजानपनाययेत् ।
सितकौपीनसंव्यानः कर्तर्या वा क्षुरेण वा ॥३८॥

स द्वेधा—उत्कृष्टः श्रावको द्विविधो भवति इति संबन्धः । तत्राद्यस्य प्रथम इत्यादिना प्रबन्धेन विधिमभिधत्ते । श्मश्रूणि—कूर्चकेशान् । संव्यानं—उत्तरीयवस्त्रम् ॥३८॥

स्थानादिषु प्रतिलिखेत् मृदूपकरणेन सः ।
कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवासं चतुर्विधम् ॥३९॥

स्थानादिषु—उद्भिभावोपवेशन-संवेशनादिनिमित्तम् ॥३९॥

स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्पाणिपात्रेऽथ भाजने ।
स श्रावकगृहं गत्वा पात्रपाणिस्तदङ्गणे ॥४०॥

समुपविष्टः—निश्चलनिविष्टः ॥४०॥

---

६७ से ७७ श्लोक पर्यन्त ग्यारह श्लोकोंमें ग्यारह प्रतिमाओंका साधारण कथन किया है। किन्तु आठवें परिच्छेदमें षडावश्यकोंका वर्णन करनेके बाद कहा है कि उत्कृष्ट-श्रावकको ये षडावश्यक प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। आगे कहा है कि 'उत्कृष्टश्रावक वैराग्यकी परमभूमि और संयमका घर होता है। यह सिर, दाढ़ी, और मूँछके बालोंका मुण्डन कराता है। केवल लँगोटी या वस्त्रके साथ लँगोटी रखता है। एक ही स्थानपर अन्न जल ग्रहण करता है। यह पात्र हाथमें लेकर धर्मलाभ कहकर घर-घरसे भिक्षा-याचना करता है।' इस तरह अमितगतिजीके अनुसार उत्कृष्ट श्रावक या तो अकेली लँगोटी रखता था या वस्त्रके साथ लँगोटी रखता था। आचार्य वसुनन्दीके श्रावकाचारमें इसी आधारपर उसके दो भेद हो गये। प्रथम एक वस्त्रधारी और दूसरा कौपीनधारी। प्रथम उत्कृष्ट श्रावक छुरे या कैंचीसे हजामत कराता है। उपकरणसे प्रतिलेखना करता है। बैठकर एक बार पाणिपात्रमें या भाजनमें भोजन करता है। पर्वमें नियमसे उपवास करता है। आगे उसके भोजनकी विधि कही है। उसीके अनुसार आशाधरजीने सब कथन किया है इसलिए यहाँ उसका अर्थ नहीं दिया जा रहा है ॥३७॥

उत्कृष्ट श्रावकके भेद और उनके लक्षण कहते हैं—

उत्कृष्ट श्रावकके दो भेद हैं। प्रथम उत्कृष्ट श्रावक एक सफेद लँगोटी और उत्तरीय वस्त्र धारण करता है। वह अपने दाढ़ी, मूँछ और सिरके बालोंको कैंची या छुरेसे कटावे ॥३८॥

वह प्रथम उत्कृष्ट श्रावक उठते-बैठते हुए जन्तुओंको बाधा न पहुँचानेवाले कोमल वस्त्र वगैरहसे स्थान आदिको साफ करे और दो अष्टमी दो चतुर्दशी इन चारों पर्वोंमें चारों प्रकारके आहारके त्यागपूर्वक उपवास अवश्य करे ॥३९॥

वह प्रथम उत्कृष्ट श्रावक निश्चल बैठकर हस्तपुटमें या थाली आदि पात्रमें स्वयं भोजन करे। (आगे उसके भिक्षाकी विधिको कहते हैं)—हाथमें पात्र लिये हुए प्रथम उत्कृष्ट

---

१. 'वैराग्यस्य परां भूमिं संयमस्य निकेतनम् । उत्कृष्टः कारयत्येष मुण्डनं तुण्डमुण्डयोः ॥
केवलं वा सवस्त्रं वा कौपीनं स्वीकरोत्यसौ । एकस्थानान्नपानीयो निन्दागर्हापरायणः ॥
स धर्मलाभशब्देन प्रतिवेश्म सुधोपमम् । सपात्रो याचते भिक्षां जरामरणसूदनीम् ॥'
—अमि. श्रा. ८।७३-७५ ।

स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं भणित्वा प्रार्थयेत वा ।
मौनेन दर्शयित्वाङ्गं लाभालाभे समोऽचिरात् ॥४१॥

स्थित्वा—उद्भीभूत्वा ॥४१॥

निर्गत्यान्यद्गृहं गच्छेद्भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित्।
भोजनायार्थितोऽद्यात्तद्भुक्त्वा यद्भिक्षितं मनाक् ॥४२॥

मनाक्—अल्पम् । बहौ तु भिक्षिते सति नाऽन्यान्नं न भुञ्जीत इति भावः ॥४२॥

प्रार्थयेतान्यथा भिक्षां यावत्स्वोदरपूरणीम् ।
लभेत प्रासु यत्राम्भस्तत्र संशोध्य तां चरेत् ॥४३॥

चरेत्—गोवद् भुञ्जीत इति भावः ॥४३॥

आकाङ्क्षन्संयमं भिक्षापात्रप्रक्षालनादिषु ।
स्वयं यतेत चादर्पः परथाऽसंयमो महान् ॥४४॥

अदर्पः—विद्यातिशयाद्यनाहितमदः ॥४४॥

ततो गत्वा गुरूपान्तं प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् ।
गृह्णीयाद्विधिवत्सर्वं गुरोश्चालोचयेत्परः ॥४५॥

प्रत्याख्यानं—प्रतीपमभिमुखं ख्यापनमभिधानं वा । सर्वं—गमनादिप्रभृति स्वचेष्टितम् ॥४५॥

श्रावक, श्रावकके घर जाकर, उसके आँगनमें खड़े होकर 'धर्म लाभ' कहकर भिक्षाकी प्रार्थना करे। अथवा मौन पूर्वक अपना शरीर श्रावकको दिखाकर, भिक्षाके मिलने या न मिलनेमें समभाव रखते हुए शीघ्र ही उस घरसे निकलकर भिक्षाके लिए दूसरे घरमें, जिसमें अभी भिक्षाके लिए नहीं गया हो, जावे। किसी श्रावकके द्वारा भोजनका अनुरोध करने पर अन्य गृहोंसे भिक्षामें जो थोड़ा भोजन मिला हो उसे जीमकर शेष उस घरसे लेकर जीमे। अर्थात् यदि भिक्षामें अन्य गृहोंसे पर्याप्त भोजन मिला हो तो किसीके अनुरोध करने पर उसका भोजन नहीं जीमना चाहिए। जो मिला है वही खाना चाहिए। यदि कोई भोजनका अनुरोध न करे तो अपने उदरकी पूर्तिके लायक भिक्षा प्राप्त होने तक भिक्षाकी प्रार्थना करे। और जहाँ प्रासुक जल प्राप्त हो वहाँ शोधन करके उस भिक्षाको ऐसे खावे जैसे गाय चरती है अर्थात् स्वाद आदिका विचार न करके खा लेवे ॥४१-४३॥

संयम अर्थात् प्राणिरक्षाकी अभिलाषा रखनेवाला प्रथम उत्कृष्ट श्रावक गर्व छोड़कर भिक्षाके पात्रको धोने आदिमें स्वयं प्रवृत्ति करे। ऐसा न करने पर महान् असंयम होता है।

विशेषार्थ—प्रथम उत्कृष्ट श्रावकको अपनी भिक्षाका पात्र स्वयं ही माँजना धोना चाहिए। इतना ही नहीं अपना आसन भी स्वयं करे, जूठन भी स्वयं उठावे। उसे इसमें अपने ज्ञान चारित्र आदिका कोई मद नहीं करना चाहिए। शिष्य या श्रावक आदिसे ये काम करानेमें महान् असंयम है ॥४४॥

भोजन कर लेनेके बाद गुरुके समीपमें विधि पूर्वक चारों प्रकारके आहारका त्याग करे। और गुरुके सामने भोजनके लिए जानेसे लेकर अपनी सब चेष्टाओंकी आलोचना करे। तथा 'च' शब्दसे गोचरी सम्बन्धी प्रतिक्रमण भी करे ॥४५॥

विशेषार्थ—आचार्य वसुनन्दीने प्रथम उत्कृष्ट श्रावककी उक्त भिक्षाचर्याका विधान करनेके बाद लिखा है कि यदि इस प्रकार घर-घरसे भिक्षा माँगना न रुचे तो एक घरसे ही भिक्षा लेने वाला चर्याके लिए घरमें प्रवेश करे। मुद्रित पाठसे अर्थ स्पष्ट नहीं होता।

यस्त्वेकभिक्षानियमो गत्वाऽद्यादनुमुन्यसौ ।
भुक्त्यभावे पुनः कुर्यादुपवासमवश्यकम् ॥४६॥

अनुमुनि—ऋषेः पश्चात् ॥४६॥

वसेन्मुनिवने नित्यं शुश्रूषेत गुरूँश्चरेत् ।
तपो द्विधाऽपि दशधा वैयावृत्यं विशेषतः ॥४७॥

मुनिवने—ऋष्याश्रमे । द्विधा—बाह्यमाभ्यन्तरं च । उक्तं च—

'एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो ।
वत्थेगधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ ॥
धम्मिल्लाणवणयणं करेदि कत्तरि छुरेण वा पढमो ।
ठाणादिसु पडिलेहदि मिदोवकरणेण य अदप्पो ॥
भुंजेदि पाणिपत्तम्मि भायणि वा सइं समुपविट्ठो ।
उववासं पुण णियमा चउव्विहं कुणदि पव्वेसु ॥
पक्खालिऊण पत्तं पविसदि चरियाए पंगणे ठिच्चा ।
भणिऊण धम्मलाहं याचिदि भिक्खं सइं चेव ॥
सिग्घं लाहालाहे अदीणवयणो णियत्तिऊण तदो ।
अण्णम्मि गिहे वच्चदि दरिसदि मोणेण कायं वा ॥
यदि अद्धवहे कोइवि भणेदि इत्थेव भोयणं कुणह ।
भोत्तूण णिययभिक्खं तेच्छेल्लं भुञ्जए सेसं ॥
अह ण भणदि तो भिक्खं भमेज्ज णियपोट्टपूरणपमाणं ।
पच्छा एयम्मि गिहे जाएज्जो पासुअं सलिलं ॥

आशाधरजीने उसके आधारसे प्रथमके भी दो भेद कर दिये हैं एक अनेक घरसे भिक्षा लेनेका नियमवाला और दूसरा एक घरसे ही भिक्षा लेनेका नियमवाला। ऊपर पहलेकी चर्याका कथन है ॥४५॥

इस प्रकार अनेक घरोंसे भिक्षा लेनेका नियमवाले प्रथम उत्कृष्ट श्रावककी भोजन विधि कहकर अब एक घरसे भिक्षा लेनेके नियमवालेकी भोजनविधि कहते हैं—

जिस प्रथम उत्कृष्ट श्रावकके एक ही घरसे भिक्षा लेनेका नियम है वह मुनियोंके पश्चात् दाताके घर जाकर भोजन करे। यदि भोजन न मिले तो नियमसे उपवास करे ॥४६॥

उसकी विशेष विधि कहते हैं—

प्रथम उत्कृष्ट श्रावक सर्वदा मुनियोंके आश्रममें निवास करे। गुरुओंकी सेवा करे। और बाह्य तथा अभ्यन्तरके भेदसे दोनों प्रकारका तप, विशेषरूपसे दस प्रकारका वैयावृत्य तप करे ॥४७॥

विशेषार्थ—यह कथन एक भिक्षा और अनेक भिक्षावाले दोनों ही प्रथम उत्कृष्ट श्रावकोंके लिए है। स्वामी समन्तभद्रने भी उन्हें मुनिवनमें रहनेके लिए कहा है। पहले मुनि वनमें रहते थे अतः जिस वनमें मुनि रहते हों उसीमें उसे रहना चाहिए। गुरुओंकी सेवा और बाह्य तथा अभ्यन्तर तप करना चाहिए। वैयावृत्य अर्थात् साधुओंके कष्टोंको दूर करनेका कार्य विशेषरूपसे करना चाहिए। यद्यपि वैयावृत्य अभ्यन्तर तपमें आ जाता

१. तस्सण्णं—व. श्रा.।

जं किं पि पडदि भिक्खं भुंजिज्जो सोहिदूण जत्तेण ।
पक्खालिऊण पत्तं गच्छेज्जा गुरुसयासम्मि ॥
जइ एवं ण चईज्जो कादुं रिसिगोहणम्मि चरियाए ।
पविसित्तु एयभिक्खं पवित्तिणियमेण ता कुज्जा ॥
गन्तूण गुरुसमीवं पच्चक्खाणं चउव्विहं विहिणा ।
गहिऊण तदो सव्वं आलोएज्जो पयत्तेण ॥' [वसु. श्रा. ३०१-३१०] ॥४७॥

अथ द्वितीयं लक्षयति—

तद्वद् द्वितीयः किन्त्वार्यसञ्ज्ञो लुञ्चत्यसौ कचान् ।
कौपीनमात्रयुग्धत्ते यतिवत्प्रतिलेखनम् ॥४८॥

लुञ्चति—हस्तेनोत्पाटयति । उक्तं च—

'गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।
भैक्षाशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥' [र. श्रा. १४०] ॥४८॥

स्वपाणिपात्र एवात्ति संशोध्यान्येन योजितम् ।
इच्छाकारं समाचारं मिथः सर्वे तु कुर्वते ॥४९॥

अन्येन—गृहस्थादिना । उक्तं च—

'एमेव होदि बिदिओ णवरि विसेसो कुणिज्ज णियमेण ।
लोचं धरेज्ज पिच्छं भुंजेज्जा पाणिपत्तम्मि ॥' [वसु. श्रा. ३११]

है फिर भी उसका अलगसे कथन यह बतलानेके लिए किया है कि अन्य तपोंसे वैयावृत्य तप श्रावकको विशेषरूपसे करना चाहिए । स्वामी समन्तभद्रने कहा है कि गुणोंमें अनुरागवश संयमीजनोंकी आपत्तिको दूर करना, पैर मर्दन करना, अन्य भी जितना उपकार है वह सब वैयावृत्य है ॥४७॥

उद्दिष्टविरतके दूसरे भेदका स्वरूप कहते हैं—

दूसरे उत्कृष्ट श्रावककी क्रिया पहलेके समान है। विशेष यह है कि यह 'आर्य' कहलाता है, दाढ़ी, मूँछ और सिरके बालोंको हाथसे उखाड़ता है, केवल लँगोटी पहनता है और मुनिकी तरह पीछी रखता है ॥४८॥

अन्य गृहस्थ आदिके द्वारा अपने हस्तपुटमें ही दिये गये आहारको सम्यक्रूपसे शोधन करके खाता है । (इस प्रकार विशेष आचारको कहकर सामान्य आचारको कहते हैं) वे सभी ग्यारह श्रावक परस्परमें 'इच्छामि' इस प्रकारके उच्चारण द्वारा विनय व्यवहार करते हैं ॥४९॥

विशेषार्थ—लाटी संहितामें वसुनन्दि श्रावकाचारकी गाथा ३-१ उद्धृत है जिसमें उत्कृष्ट श्रावकके दो भेद कहे हैं। इससे स्पष्ट है कि लाटीसंहिताकारने वसुनन्दीका अनुसरण किया है । किन्तु उन दोनोंको ऐलक और क्षुल्लक नाम दे दिये हैं। ऐलक लँगोटी

---

१. 'व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥'—श्रा., ११२ श्लो. ।

२. उत्कृष्टः श्रावको द्वेधा क्षुल्लकश्चैलकस्तथा ।
एकादशव्रतस्थौ द्वौ स्तो द्वौ निर्जरकौ क्रमात् ॥—लाटी सं., ७।५५ आदि ।

सर्वे—एकादशोऽपि । उक्तं च—

'इच्छाकारं समाचारं संयमासंयमस्थितः ।
विशुद्धिवृत्तिभिः सार्धं विदधाति प्रियंवदः ॥' [ ] ॥४९॥

इदानीं दशभिः पद्यैः शेषं संगृह्णन्नाह—

श्रावको वीरचर्याहः प्रतिमातापनादिषु ।
स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ॥५०॥

वीरचर्या—स्वयं भ्रामर्या भोजनम् । रहस्यं—प्रायश्चित्तशास्त्रम् ।

उक्तं च—

'दिणपडिम-वीरचरिया-तियालजोगेसु णत्थि अहियारो ।
सिद्धंतरहस्साणवि अज्झयणं देसविरदाणं ॥' [वसु. श्रा. ३१२] ॥५०॥

मात्र वस्त्र रखता है, केशलोंच करता है, कमण्डलु और पीछी रखता है। वह चैत्यालयमें, संघमें या वनमें मुनियोंके समीप रहे या शून्य मठादिमें रहे। निर्दोष शुद्ध स्थानमें रहना चाहिए। मध्याह्न कालमें भोजनके लिए नगरमें घूमे। ईर्यासमिति पूर्वक घरोंकी संख्याका नियम करके भ्रमण करे। दोनों हाथोंको पात्र बनाकर भोजन करे। मुक्तिके साधन धर्मका उपदेश दे। बारह प्रकारका तप करे और प्रायश्चित्त आदि करे। क्षुल्लकका आचार कोमल होता है, वह चोटी जनेऊ रखे, लंगोटीके साथ एक वस्त्र, वस्त्रकी पीछी और कमण्डलु रखे, काँसे या लोहेका भिक्षापात्र स्वीकार करे। एषणा दोषसे रहित एक बार भिक्षा भोजन करे। दाढ़ी मूँछ और सिरके बालोंको छुरे से मुँडवावे। अतीचार लगने पर प्रायश्चित्त करे। निर्दिष्ट कालमें भोजनके लिए भ्रमण करे। भ्रमरकी तरह पाँच घरोंसे पात्रमें भिक्षा लेकर उनमें-से किसी एक घरमें प्रासुक जल देखकर कुछ क्षण अतिथि दानके लिए प्रतीक्षा करे। दैववश पात्र प्राप्त हो तो गृहस्थकी तरह उसे दान दे। जो शेष बचे उसे स्वयं खावे, अन्यथा उपवास करे। यदि साधर्मियोंके द्वारा गन्ध आदि द्रव्य प्राप्त हो तो प्रसन्नता पूर्वक जिनबिम्ब, साधु आदिकी पूजा करे। इनमें कुछ साधक होते हैं, कुछ गूढ़ होते हैं, कुछ वानप्रस्थ होते हैं। सब क्षुल्लकके समान वेश धारण करते हैं उसीके समान क्रिया करते हैं जो न तो अति मृदु होती है और न अति कठोर होती है। गुरु और आत्माकी साक्षिपूर्वक क्षुल्लककी तरह पाँच मध्यवर्ति व्रत (?) होते हैं। इन साधक आदिमें कुछ विशेष होता है। कुछ तो बिना व्रत ग्रहण किये व्रतोंका अभ्यास करते हैं। कुछ व्रतोंका अभ्यास करके साहस पूर्वक व्रत ग्रहण करते हैं। कुछ व्रत ग्रहण न करके घर लौट जाते हैं।' इस लाटीसंहिताके कथनमें पूर्व श्रावकाचारोंसे विशेषता है। क्षुल्लकका अपनी भिक्षामें-से अतिथिको दान देना और श्रावकोंके द्वारा अष्ट द्रव्य प्राप्त होनेपर जिनपूजा द्रव्यसे करना, ये दो बातें विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। क्षुल्लकके बाद जो कुछ साधक आदि कहे हैं वे तो अभ्यासी प्रतीत होते हैं। श्रावक होनेसे उनका कथन किया प्रतीत होता है ॥४९॥

आगे दस श्लोकोंसे अवशिष्ट बातोंका संग्रह करते हैं—

श्रावक वीरचर्या, दिनप्रतिमा, आतापन आदि त्रिकालयोग, सूत्ररूप परमागम और प्रायश्चित्तशास्त्रके अध्ययनमें अधिकारी नहीं होता ॥५०॥

विशेषार्थ—मुनिकी तरह स्वयं भ्रामरी वृत्तिसे भोजन करनेको वीरचर्या कहते हैं। दिनमें प्रतिमायोग धारण करनेको दिन प्रतिमा कहते हैं। मुनिकी तरह स्वयं भ्रामरी वृत्तिसे

दानशीलोपवासार्चाभेदादपि चतुर्विधः ।
स्वधर्मः श्रावकैः कृत्यो भवोच्छित्त्यै यथायथम् ॥५१॥

स्पष्टम् ॥५१॥

अथ व्रतरक्षायां यत्नविधापनार्थमुत्तरप्रबन्धः—

प्राणान्तेऽपि न भङ्क्तव्यं गुरुसाक्षिश्रितं व्रतम् ।
प्राणान्तस्तत्क्षणे दुःखं व्रतभङ्गो भवे भवे ॥५२॥

स्पष्टम् ॥५२॥

भोजन करनेको वीरचर्या कहते हैं। दिनमें प्रतिमायोग धारण करनेको दिनप्रतिमा कहते हैं। ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यकी ओर मुख करके पर्वतके शिखर पर, वर्षाऋतुमें वृक्षके नीचे, शीतकालमें रातके समय चौराहेपर खड़े होकर कायक्लेश करनेको आतापन आदि योग कहते हैं। ये सब मुनिकी क्रियाएँ हैं। श्रावक इनके करनेका पात्र नहीं होता। इसी तरह सूत्र जो परमागम हैं तथा प्रायश्चित्त शास्त्र है उनके भी पढ़नेका श्रावकको अधिकार नहीं है। 'सिद्धान्त' का अर्थ आशाधरजीने अपनी टीकामें सूत्ररूप परमागम कहा है। जो गणधरके द्वारा कहा गया हो या प्रत्येक बुद्धके द्वारा कहा गया हो या श्रुतकेवलीके द्वारा या अभिन्न दसपूर्वीके द्वारा कहा गया हो उसको सूत्र कहते हैं। वर्तमानमें उपलब्ध कोई सिद्धान्त ग्रन्थ ऐसा नहीं है जो इनके द्वारा कहा गया हो। षट्खण्डागम, कसाय पाहुड और महाबन्ध पूर्वोंसे सम्बद्ध होनेसे पूर्व सम्बन्धी सिद्धान्त ग्रन्थ हैं। पीछे आशाधरजीने पाक्षिकके प्रकरणमें (२।२१) नवीन जैन धर्म धारण करनेवालेको भी द्वादशांग और चौदह पूर्वोंके आश्रित उद्धारग्रन्थोंको पढ़नेकी प्रेरणा की है। वर्तमान उक्त सिद्धान्त ग्रन्थ उसीमें है। आचार्य वसुनन्दीके श्रावकाचारमें उक्त कथन मिलता है ॥५०॥

संसारपरिभ्रमणका विनाश करनेके लिए दान, शील, उपवास और जिनादि पूजाके भेदसे भी चार प्रकारका अपना आचार श्रावकोंको अपनी-अपनी प्रतिमासम्बन्धी आचरणके अनुसार करना चाहिए ॥५१॥

विशेषार्थ—आशय यह है कि दर्शन, व्रत आदिके भेदसे ग्यारह प्रकारका आचार ही केवल ग्राह्य नहीं है किन्तु दान, शील, उपवास और पूजा भी यथायोग्य करना चाहिए। आचार्य अमितगतिने अपने श्रावकाचारके बारहवें परिच्छेदमें पूजा, शील और उपवासका वर्णन किया है। गुरुकी साक्षिपूर्वक ग्रहण किये गये व्रतोंके रक्षणका नाम शील है। इसीसे ग्रन्थकार यहाँसे आगे व्रतोंकी रक्षाका यत्न करनेके लिए कहते हैं ॥५१॥

गुरु अर्थात् पंचपरमेष्ठी, दीक्षागुरु और प्रमुख धार्मिक पुरुषोंके सामने लिये गये व्रतको प्राणान्त होनेपर भी नहीं भंग करना चाहिए। अर्थात् व्रतभंग न करनेपर यदि प्राणोंका भी नाश होता हो तब भी व्रतभंग नहीं करना चाहिए। क्योंकि प्राणोंका अन्त तो उसी क्षणमें दुःखदायी होता है। किन्तु व्रतका भंग भव-भवमें दुःखदायी होता है ॥५२॥

---

१. 'भक्षयित्वा विषं घोरं वरं प्राणा विसर्जिताः। न कदाचिद् व्रतं भग्नं गृहीत्वा सूरिसाक्षिकम् ॥'

—अमि. श्रा. १२।४४

शीलवान् महतां मान्यो जगतामेकमण्डनम् ।
स सिद्धः सर्वशीलेषु यः संतोषमधिष्ठितः ॥५३॥

स्पष्टम् ॥५३॥

तत्र न्यञ्चति नो विवेकतपनो नाञ्चत्यविद्यातमो,
नाप्नोति स्खलितं कृपामृतसरिन्नोदेति दैन्यज्वरः ।
विस्निह्यन्ति न संपदो न वृशमप्यासूत्रयन्त्यापदः
सेव्यं साधुमनस्विनां भजति यः संतोषमंहोमुषम् ॥५४॥

न्यञ्चति नो—नीचैर्न भवति । आरूढारूढ एव तिष्ठतीत्यर्थः । नाञ्चति—न प्रचरति । विस्निह्यन्ति—विरज्यन्ति । साधुमनस्विनां—सिद्धिसाधकानामभिमानिनाम् ॥५४॥

स्वाध्यायमुत्तमं कुर्यादनुप्रेक्षाश्च भावयेत् ।
यस्तु मन्दायते तत्र स्वकृत्ये स प्रमाद्यति ॥५५॥

उत्तमं—अध्यात्मादिविद्याविषयं प्रकृष्टशक्तिपर्यन्तं च ॥५५॥

धर्मान्नान्यः सुहृत्पापान्नान्यः शत्रुः शरीरिणाम् ।
इति नित्यं स्मरन्न स्यान्नरः संक्लेशगोचरः ॥५६॥

संक्लेशगोचरः—रागद्वेषमोहविषयः ॥५६॥

शीलवान् अर्थात् पवित्र आचरणवाला श्रावक अथवा यति, इन्द्र आदिसे भी आदरणीय और जगत्के लोगोंका एक उत्कृष्ट भूषण होता है। जो सन्तोष अर्थात् धैर्यको धारण करता है वह समस्त शीलोंमें अर्थात् समस्त सदाचारोंमें सिद्ध होता है अर्थात् शीलकी सिद्धिका उपाय सन्तोष है ॥५३॥

जो मनुष्य साधु और स्वाभिमानी पुरुषोंके द्वारा पालनीय पापनाशक सन्तोषको अपनाता है उस सन्तोषसेवक पुरुषमें विवेक अर्थात् उचित-अनुचितका विचाररूपी सूर्य डूबता नहीं है अर्थात् उसका विवेक सदा बना रहता है। इसीसे उसमें अज्ञानरूपी रातका फैलाव नहीं होता। दयारूपी अमृतकी नदी सूखती नहीं है। दीनतारूपी ज्वर उत्पन्न नहीं होता। लक्ष्मी अपना अनुराग नहीं छोड़ती। और विपदाएँ तो उसकी ओर अपनी आँखें उठानेका भी साहस नहीं करतीं ॥५४॥

श्रावक अध्यात्म आदि विषयक उत्तम स्वाध्याय करे। अनित्यत्व आदि बारह भावनाओंको और 'च' शब्दसे दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओंको भावे। जो श्रावक इन कार्योंमें आलस्य करता है वह आत्माके कार्यमें प्रमाद करता है अर्थात् ये सब कार्य स्वयं उसीके हितके हैं ॥५५॥

प्राणियोंका धर्मके सिवाय कोई दूसरा मित्र नहीं है। और पापसे अन्य कोई शत्रु नहीं है। अर्थात् संसारमें प्राणीका यदि कोई मित्र है तो वह धर्म है और यदि कोई शत्रु है तो वह है पाप। इनके सिवाय न कोई किसीका मित्र है और न कोई किसीका शत्रु है। ऐसा निरन्तर चिन्तन करनेवाला मनुष्य राग-द्वेष और मोहके चक्रमें नहीं पड़ता। ये ही संक्लेशकी जड़ होनेसे संक्लेश हैं ॥५६॥

सल्लेखनां करिष्येऽहं विधिना मारणान्तिकीम् ।
अवश्यमित्यदः शीलं संनिदध्यात्सदा हृदि ॥५७॥

सल्लेखनां—संलिख्यते—कृशीक्रियते शरीरं कषायाश्चानयेति । संनिदध्यात्—संयोजयेत् । उक्तं च—
'मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि ।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥'

अपि च—
'इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम् ।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥' [पुरुषा. १७६, १७५] ॥५७॥

सहगामीकृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः ।
समाधिमरणं येन भवविध्वंसि साधितम् ॥५८॥

समाधिमरणं—रत्नत्रयैकाग्रतया प्राणत्यागः ॥५८॥

यत्प्रागुक्तं मुनीन्द्राणां वृत्तं तदपि सेव्यताम् ।
सम्यङ् निरूप्य पदवीं शक्तिं च स्वामुपासकैः ॥५९॥

वृत्तं—समितिगुप्त्याद्याचरणम् ॥५९॥

अथ प्रकृतमुपसंहरन्नौत्सर्गिकहिंसादिनिवृत्तिं प्रति देशयति प्रयुङ्क्ते—

इत्यापवादिकीं चित्रां स्वभ्यसन् विरतिं सुधीः ।
कालादिलब्धौ क्रमतां नवधौत्सर्गिकीं प्रति ॥६०॥

क्रमतां—उत्सहताम् । नवधा—मनोवाक्कायैः प्रत्येकं कृतकारितानुमतानां त्यागेन ॥६०॥

'मैं शास्त्रोक्त विधिके अनुसार मरणके समय होनेवाली सल्लेखनाको अर्थात् समाधिपूर्वक मरण अवश्य करूँगा ।' इस सल्लेखना नामक शीलको श्रावक सदा हृदयमें रखे ॥५७॥

जिस श्रावकने संसारका निर्मूलन करनेवाले समाधिमरणको कर लिया, उसने व्यवहार निश्चय रत्नत्रयरूप धर्मको दूसरे भवमें जानेके लिए अपना साथी बना लिया ॥५८॥

पहले अनगारधर्मामृतके चौथे अध्यायसे नौवें अध्याय पर्यन्त जो मुनिराजोंका समिति गुप्ति आदि आचरण कहा है वह भी अपनी शक्ति और संयमकी भूमिकाको अच्छी तरहसे विचारकर श्रावकोंको पालना चाहिए ॥५९॥

उक्त प्रकारसे नाना भेदवाली अपवादमार्गरूप हिंसादि विरतिको अच्छी रीतिसे पालता हुआ तत्त्वज्ञानी श्रावक काल, देश, बल, वीर्य आदि साधन सामग्रीके प्राप्त होनेपर मन, वचन, कायमें-से प्रत्येकके कृत, कारित, अनुमोदनारूप नौ प्रकारोंसे त्यागनेसे नव प्रकारकी औत्सर्गिक विरतिको धारण करनेका उत्साह करे ॥६०॥

विशेषार्थ—परिग्रह मुनियोंके अपवादका कारण है अतः परिग्रहको अपवाद कहते हैं । श्रावक परिग्रह रखता है अतः श्रावक धर्म अपवाद धर्म है । उसके नाना भेद हैं । और उत्सर्ग कहते हैं सर्वपरिग्रहके त्यागको । अतः मुनिधर्म उत्सर्गधर्म कहलाता है । उसमें हिंसा आदिका त्याग मन, वचन, काय तथा प्रत्येकके कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ विकल्पोंसे किया जाता है अतः उसके नौ प्रकार हैं । जब श्रावक उत्कृष्ट श्रावककी चर्यामें निष्पन्न हो जाये तो उसे मुनिधर्म स्वीकार करना चाहिए ॥६०॥

अथ साधकत्वं व्याकर्तुकामस्तत्स्वामिनं निर्दिशति—

इत्येकादशधाम्नातो नैष्ठिकः श्रावकोऽधुना।
सूत्रानुसारतोऽन्त्यस्य साधकत्वं प्रवक्ष्यते ॥६१॥

अन्त्यस्य—उद्दिष्टविरतस्य। इति भद्रम् ॥

इत्याशाधरदृब्धायां धर्मामृतपञ्जिकायां ज्ञानदीपिकापर-
संज्ञायां षोडशोऽध्यायः।

अब साधकका कथन करनेके लिए उसके स्वामीका निर्देश करते हैं—

इस प्रकार हमने परम्परासे प्राप्त उपदेशके अनुसार नैष्ठिक श्रावकके ग्यारह भेदोंका वर्णन किया। अब परमागमके अनुसार अन्तिम उद्दिष्ट विरत श्रावकके तीसरे साधकपनेरूप पदको विशेष रूपसे कहेंगे ॥६१॥

इस प्रकार पं. आशाधर रचित धर्मामृतके अन्तर्गत सागारधर्मकी स्वोपज्ञ संस्कृतटीका तथा
ज्ञानदीपिकानुसारिणी हिन्दी टीकामें प्रारम्भसे १६वाँ और इस प्रकरणके
अनुसार सप्तम अध्याय पूर्ण हुआ।

सप्तदश अध्याय (अष्टम अध्याय)

अथ सल्लेखनाविधिमभिधातुकामस्तत्प्रयोक्तारं साधकं लक्षयन्नाह—

देहाहारेहितत्यागात् ध्यानशुद्ध्याऽऽत्मशोधनम् ।
यो जीवितान्ते संप्रीतः साधयत्येष साधकः ॥१॥

देहत्यागः—शरीरममत्ववर्जनम् । ईहितं—मनोवाक्कायकर्म । संप्रीतः—सर्वाङ्गीणध्यानसमुत्थानन्दयुक्तः ॥१॥

अथ कस्य श्रावकत्वेन कस्य च यतित्वेन मोक्षमार्गप्रवृत्तिः कर्तव्येति पृच्छन्तं प्रत्याह—

सामग्रीविधुरस्यैव श्रावकस्यायमिष्यते ।
विधिः सत्यां तु सामग्र्यां श्रेयसी जिनरूपता ॥२॥

सामग्रीविधुरस्य—जिनलिङ्गग्रहणयोग्यत्रिस्थानकदोषादियुक्तस्य । अयं—उक्तो वक्ष्यमाणश्च । श्रेयसी—प्रशस्यतरा ॥२॥

अब ग्रन्थकार सल्लेखनाकी विधि कहना चाहते हैं। पहले सल्लेखना करनेवालेका अर्थात् साधकका लक्षण कहते हैं—

जो जीवनका अन्त आनेपर शरीर, आहार और मन-वचन-कायके व्यापारको त्यागकर ध्यानशुद्धिके द्वारा आनन्दपूर्वक आत्माकी शुद्धिकी साधना करता है वह साधक है ॥१॥

विशेषार्थ—प्रारम्भमें श्रावकके तीन भेद कहे थे—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। पाक्षिक और नैष्ठिकके कथनके बाद अन्तमें साधकका वर्णन करते हैं। जो साधना करता है उसे साधक कहते हैं। जब जीवनका अन्त उपस्थित हो तब शरीरसे ममत्वको त्यागकर, चारों प्रकारके आहारको त्यागकर और मन-वचन-कायके व्यापारको रोककर ध्यानशुद्धिके द्वारा आत्मशोधन करनेवालेको साधक कहते हैं। अन्य सब ओरसे चिन्ताओंको हटाकर एक ही ओर चिन्ताके लगानेको ध्यान कहते हैं। आर्तध्यान, रौद्रध्यानको छोड़कर स्वात्मामें ही लीन होना ध्यानशुद्धि है अर्थात् ध्यानशुद्धिका अर्थ होता है निर्विकल्प समाधि। और आत्मशोधनसे मतलब है आत्मासे मोह, राग, द्वेषका दूर होना अर्थात् आत्माकी रत्नत्रयरूप परिणति। जो मरते समय इसकी साधना करता है, अपने उपयोगको सब ओरसे हटाकर अपनी आत्मामें लगाता है वह साधक कहलाता है। आगे इसीका वर्णन है ॥१॥

किसको श्रावकके रूपमें और किसको मुनिके रूपमें मोक्षमार्गमें लगना चाहिए ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

जो श्रावक जिनलिंग धारण करनेके अयोग्य होता है उसीके लिए आगेकी विधि पूर्वाचार्योंने मान्य की है। जिनलिंग धारणके योग्य सामग्री होनेपर तो जिनलिंग धारण करना ही अति उत्तम है ॥२॥

विशेषार्थ—जब मरणकाल उपस्थित हो और श्रावकमें मुनिपद धारणकी पात्रता हो

किंचित्कारणमासाद्य विरक्ताः कामभोगतः ।
त्यक्त्वा सर्वोपधिं धीराः श्रयन्ति जिनरूपताम् ॥३॥

अथ जिनलिङ्गस्वीकारमाहात्म्यमाह—

अनादिमिथ्यादृगपि श्रित्वाऽर्हद्रूपतां पुमान् ।
साम्यं प्रपन्नः स्वं ध्यायन् मुच्यतेऽन्तर्मुहूर्ततः ॥४॥

अपि—न केवलं सादिमिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिः श्रावको वेत्येवमर्थः ।

उक्तं च—

'आराध्य चरणमनुपममनादिमिथ्यादृशोऽपि यत्क्षणतः ।
दृष्टा विमुक्तिभाजस्ततोऽपि चारित्रमत्रेष्टम् ॥' ॥४॥ [ ]

तो मुनिपद धारण कर लेना ही उत्तम है किन्तु जिसमें ऐसी पात्रता नहीं होती उसके लिए आगेकी विधि कहते हैं ॥२॥

जिनलिंग क्यों धारण करते हैं, यह बतलाते हैं—

किसी भी कारणवश काम और भोगसे विरक्त हुए धीर वीर श्रावक समस्त अन्तरंग-बहिरंग परिग्रहको त्यागकर जिनलिंग स्वीकार कर लेते हैं ॥३॥

विशेषार्थ—स्पर्शन और रसना इन्द्रियोंके द्वारा विषयके अनुभवको काम कहते हैं और घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रियके द्वारा विषयके अनुभवको भोग कहते हैं। इनसे विरक्त होना ही सच्चा वैराग्य है। विरागका अन्तरंग कारण तो तत्त्वज्ञानमें रुचि है। शरीर और आत्माके भेदज्ञानके द्वारा आत्मानुभूति होनेपर विषयोंमें आसक्ति मन्द पड़ जाती है। इसके साथ ही आकाशमें बादलोंके बनने-बिगड़नेसे, सम्पत्तिके विनाशसे या इसी तरहके कारण उपस्थित होनेपर परीषह और उपसर्गको सहन करनेमें समर्थ श्रावक सब परिग्रह छोड़कर मुनिपद धारण करते हैं ॥३॥

जिनलिंगके स्वीकार करनेका माहात्म्य कहते हैं—

अनादि मिथ्यादृष्टि भी पुरुष जिनरूपताको धारण करके साम्यभावको प्राप्त हो अपने आत्माका ध्यान करता हुआ अन्तर्मुहूर्तमें ही मुक्त हो जाता है अर्थात् द्रव्यकर्म और भावकर्मसे स्वयं ही भिन्न हो जाता है ॥४॥

विशेषार्थ—द्रव्यकर्म और भावकर्मसे अलग हो जानेका नाम ही मुक्ति है। अनादि मिथ्यादृष्टि भी उसी भवमें सम्यक्त्वको प्राप्त करके जिनलिंग धारण करके मुक्त हो सकता है। सादिमिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि और श्रावककी तो बात ही क्या है। किन्तु ऐसा करनेवाला द्रव्यसे पुरुष ही होना चाहिए। उसे ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। केवल जिनरूपता धारण करनेसे भी मुक्ति नहीं हो सकती। किन्तु माध्यस्थ भावपूर्वक आत्मध्यान करनेसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है। अतः मुक्तिके लिए चारित्रको आवश्यक माना है। जिनरूपताका धारण और साम्यभावकी प्राप्तिपूर्वक आत्मध्यान ये सब चारित्र ही तो हैं। कहा भी है—'यतः अनादिमिथ्यादृष्टि भी अनुपम चारित्रकी आराधना करके क्षणमात्रमें मुक्तिको प्राप्त हुए देखे गये हैं इसलिए भी यहाँ चारित्र इष्ट है।' किन्तु इसका मतलब मिथ्यात्वपूर्वक चारित्र धारण करना नहीं है। यद्यपि पहले मिथ्यात्व गुणस्थानसे मनुष्यको एकदम सातवाँ गुणस्थान हो सकता है। अर्थात् सम्यक्त्व और सकल चारित्रकी प्राप्ति एक साथ हो सकती है ॥४॥

अथ स्थायिनः पातोन्मुखस्य च शरीरस्य नाशने शोचने च निषेधमुपपादयति—

न धर्मसाधनमिति स्थास्नु नाश्यं वपुर्बुधैः ।
न च केनापि नो रक्ष्यमिति शोच्यं विनश्वरम् ॥५॥

स्थास्नु—साधुत्वेन रत्नत्रयानुष्ठानसाधकत्वलक्षणेन तिष्ठत् । नो रक्ष्यं—रक्षयितुमशक्यम् । विनश्वरं—विशेषेण नश्यत् तद्भवमरणं प्राप्नुवदित्यर्थः । उक्तं च—

'गहनं न शरीरस्य हि विसर्जनं किन्तु गहनमिह वृत्तम् ।
तन्न स्थास्नु विनाश्यं न नश्वरं शोच्यमिदमाहुः ॥' [सो. उपा. ८९२ श्लो.] ॥५॥

अथ कायस्यानुवर्तनोपचरणपरिहरणयोग्यतोपदेशार्थमाह—

कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यात् प्रतीकार्यश्च रोगितः ।
उपकारं विपर्यस्यंस्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा ॥६॥

अनुवर्त्यः—स्वास्थ्य एव स्थाप्यः । विपर्यस्यन्—अधर्मसाधनत्वं गच्छन्नित्यर्थः । त्याज्यः—स्वस्थातुरोपचारपरिहारेणोपेक्षणीय इत्यर्थः । खलः—दुर्जनः पिण्याको वा ॥६॥

अथ शरीरार्थं धर्मोपघातस्यात्यन्तनिषेधमाह—

नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः ।
देहो नष्टो पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः ॥७॥

देह इत्यादि । देहमात्रापेक्षयेदमुच्यते । धर्मः—प्रक्रमात् समाधिमरणलक्षणः ॥७॥

स्थायी शरीरको नष्ट करनेका और नाशोन्मुख शरीरके लिए शोक करनेका निषेध करते हैं—

यतः धर्मका साधन है इसलिए साधुरूपसे ठहरते हुए शरीरको तत्त्वज्ञानी पुरुषोंको नष्ट नहीं करना चाहिए। कोई योगी या देव या दानवोंका स्वामी भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता इसलिए यदि वह नष्ट होता हो तो उसका शोक नहीं करना चाहिए ॥५॥

विशेषार्थ—यह प्रसिद्ध उक्ति है कि शरीर ही धर्मका मुख्य साधन है। इसलिए यदि शरीर रत्नत्रयकी साधनामें सहयोग देता हो तो उसे जबरदस्ती नष्ट नहीं करना चाहिए और यदि वह छूटता हो तो उसका शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि मृत्यु तो अवश्यंभावी है। उससे बचा सकना किसीके लिए भी सम्भव नहीं है। कहा भी है—'शरीरको समाप्त करना कठिन नहीं है। कठिन है उसको चारित्रका साधन बनाना, उसके द्वारा धर्मसाधन करना। इसलिए यदि शरीर ठहरनेवाला हो तो उसे नष्ट नहीं करना चाहिए। और नष्ट होता हो तो उसका शोक नहीं करना चाहिए।' ॥५॥

कब शरीरका पोषण करना चाहिए? कब उपचार करना चाहिए? और कब उसकी उपेक्षा करनी चाहिए, यह बतलाते हैं—

साधु पुरुषोंको यदि शरीर स्वस्थ हो तो अनुकूल आहार-विहारसे उसे स्वस्थ रखनेका प्रयत्न करना चाहिए। यदि रोग हो जाये तो योग्य औषधि आदिसे उसका उपचार करना चाहिए। यदि शरीर स्वास्थ्य और आरोग्यके लिए किये गये उपकारको भूलकर विपरीत प्रवृत्ति करे अर्थात् स्वस्थ होकर अधर्मका साधन बने या चिकित्सा करनेपर भी रोग बढ़ता जाये तो दुर्जनकी तरह उसे त्याग देना चाहिए ॥६॥

आगे शरीरके लिए धर्मका उपघात करनेका अत्यन्त निषेध करते हैं—

जिसका विनाश निश्चित है उस शरीरके लिए इच्छित वस्तुको देनेवाले धर्मका घात

अथ विधिवत्प्राणांस्त्यजत आत्मघातशङ्कामपनुदति—

न चात्मघातोऽस्ति वृषक्षतौ वपुरुपेक्षितुः।
कषायावेशतः प्राणान् विषाद्यैर्हिंसतः स हि ॥८॥

वृषक्षतौ—प्रतिपन्नव्रतविनाशहेतावुपस्थिते सति। उपेक्षितुः—यथाविधि भक्तप्रत्याख्यानादिना साधुत्वेन त्यजतः। विषाद्यैः—गरलशस्त्रश्वासनिरोध-जलाग्निप्रवेश-लङ्घनादिभिः। उक्तं च—

'मरणेऽवश्यंभाविनि कषायसेनातनूकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥
यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजल-धूमकेतु-विष-शस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणांस्तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥' [पुरुषार्थ. १७७-१७८] ॥८॥

नहीं करना चाहिए। शरीर नष्ट हुआ तो पुनः अवश्य प्राप्त होगा। किन्तु धर्म अर्थात् समाधिमरण तो अत्यन्त दुर्लभ है ॥७॥

विशेषार्थ—शरीर अवश्य नष्ट होता है। ऐसी स्थितिमें यदि धर्मका घात करके शरीर बचाया भी तो कितने समयके लिए? एक दिन तो वह नष्ट होगा ही। वह नष्ट होगा तो नया जन्म धारण करनेपर नया शरीर भी अवश्य ही मिलेगा। बिना शरीरके तो जन्म होता नहीं। किन्तु धर्म गया तो उसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। यह प्रकरण समाधिमरणका है। अतः यहाँ धर्मसे समाधिमरण ही लेना चाहिए। मरते समय शरीरके मोहसे यदि समाधि धारण न की तो उसका मिलना दुर्लभ है ॥७॥

विधिवत् प्राण त्यागनेमें आत्मघातकी आशंकाका खण्डन करते हैं—

स्वीकार किये हुए व्रतोंके विनाशके कारण उपस्थित होनेपर जो विधिके अनुसार भक्तप्रत्याख्यान आदिके द्वारा साधु रीतिसे शरीरको छोड़ता है उसे आत्मघातका दोष नहीं होता; क्योंकि क्रोधादिके आवेशसे जो विषपान करके या शस्त्रघात द्वारा या जल में डूबकर अथवा आग लगाकर प्राणोंका घात करता है उसे आत्मघातका दोष होता है ॥८॥

विशेषार्थ—धर्मकी रक्षाके लिए शरीरकी उपेक्षा करना आत्मघात नहीं है। मुस्लिम शासनमें न जाने कितने हिन्दू इस्लाम धर्मको स्वीकार न करनेके कारण मार डाले गये। क्या इसे आत्मघात कहा जायेगा। जैनधर्ममें समाधिपूर्वक मरण तभी किया जाता है जब मरण टालेसे भी नहीं टलता। शरीर धर्मका साधन रहे तो रक्षा करनेके योग्य है। किन्तु उसकी रक्षाके पीछे धर्म ही जाता हो तो शरीर बचाना अधर्म है। पूज्यपाद स्वामीने सर्वार्थसिद्धि (७।२२) में एक दृष्टान्त दिया है। कहा है—जैसे एक व्यापारी, जो अनेक प्रकारकी विक्रेय वस्तुओंके देने-लेने और संचयमें लगा है, अपने मालघरको नष्ट करना नहीं चाहता। यदि घरमें आग लग जाये तो उसे बचानेकी कोशिश करता है। किन्तु जब देखता है कि घरको बचाना शक्य नहीं है तो घरकी चिन्ता न करके घरमें भरे मालको बचाता है। वैसे ही गृहस्थ भी व्रतशील रूपी धनके संचयमें लगा है। वह नहीं चाहता कि जिस शरीरकेद्वारा यह धर्मका व्यापार चलता है वह नष्ट हो जाये। यदि शरीरमें रोगादि होते हैं तो अपने व्रतशीलकी रक्षा करते हुए शरीरकी चिकित्सा करता है। किन्तु जब देखता है कि शरीरको बचाना शक्य नहीं है तो शरीरकी चिन्ता न करके अपने धर्मका नाश न हो ऐसा प्रयत्न करता है। ऐसी स्थितिमें यह आत्मवध कैसे हो सकता है। अमृतचन्द्राचार्यने भी कहा है—जब मरण अवश्य होनेवाला है तब कषायोंको कृश करनेमें लगे हुए पुरुषके रागादिके अभाव-

अथैवं संयमविनाशहेतुसंनिधाने कायत्यागं समर्थ्य साम्प्रतं कालोपसर्गमरणनिर्णयपूर्वकप्रायोपवेशनेन तत्तन्निष्ठासाफल्यविधापनार्थमाह—

> कालेन वोपसर्गेण निश्चित्यायुः क्षयोन्मुखम् ।
> कृत्वा यथाविधि प्रायं तास्ताः सफलयेत् क्रियाः ॥९॥

उपसर्गेण—दुर्निवाराशु[1]कारिरोग-शत्रुप्रहारादिलक्षणेनोपद्रवेण । प्रायं—संन्यासयुक्तानशनम् । तास्ताः—दर्शनिकादि-प्रतिमाविषयाः ।

तदुक्तम्—

> 'अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।
> तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥' [र. श्रा. १२३] ॥९॥

अथ सुनिश्चिते मरणे स्वाराधनापरिणतया मुक्तिः करस्थेत्युपदेशार्थमाह—

> देहादिवैकृतैः सम्यङ् निमित्तैस्तु सुनिश्चिते ।
> मृत्यावाराधनामग्नमतेर्दूरे न तत्पदम् ॥१०॥

देहादिवैकृतैः—श[2]रीरशीलादिविकृतिभिः स्वस्थातुरारिष्टैरित्यर्थः । सम्यग्निमित्तैः—समीचीन-भाविशुभाशुभज्ञानोपायैः कर्णपिशाचिकादिविद्याज्योतिषोपश्रुतिशकुनादिभिः ॥१०॥

अथोपसर्गमरणोपनिपाते प्रायविधिमाह—

> भृशापवर्तकवशात् कदलीघातवत्सकृत् ।
> विरमत्यायुषि प्रायमविचारं समाचरेत् ॥११॥

अपवर्तकं—अपमृत्युकारणम् । कदलीघातवत्—छिद्यमानकदलीकाण्डे यथा । अविचारं—विचरणं

में आत्मघात कैसे हो सकता है। हाँ, जो क्रोधादि कषायमें आकर श्वासनिरोध, जल, अग्नि विष या शस्त्र द्वारा प्राणोंका घात करता है उसके आत्मघात होना यथार्थ है ॥८॥

इस प्रकार संयमके विनाशके कारण उपस्थित होनेपर शरीरके त्यागका समर्थन करके अब मरणका निर्णय होनेपर संन्यासपूर्वक उपवासके द्वारा प्रतिमाविषयक क्रियाओंको सफल करनेकी प्रेरणा करते हैं—

आयु पूरी होनेका समय आ जानेसे अथवा किसी उपसर्गके कारण यह निश्चित होने-पर कि अब जीवनका विनाश निकट है, विधिपूर्वक संन्याससहित उपवास स्वीकार करके दर्शनिक आदि प्रतिमा विषयक जो नित्य नैमित्तिक क्रियाएँ की हैं उन्हें सफल करना चाहिए। अर्थात् जीवन-भर जो धर्म किया है उसकी सफलता समाधिपूर्वक मरणसे ही सम्भव है। अन्यथा सब निष्फल है ॥९॥

आगे कहते हैं कि आत्माकी आराधनारूप परिणतिके साथ शरीर त्यागनेपर मुक्ति हाथमें है—

शरीर आदिके विकारोंके द्वारा और भावी शुभ-अशुभ जाननेके समीचीन उपाय ज्योतिष, शकुन आदिके द्वारा मरणके सुनिश्चित होनेपर निश्चय आराधनामें संलग्न पुरुषको वह पद दूर नहीं है अर्थात् उसे कुछ ही भवोंमें निर्वाणकी प्राप्ति हो सकती है ॥१०॥

अब अचानक उपसर्गसे मरण उपस्थित होनेपर संन्यासविधि कहते हैं—

अवश्यभावि अपमृत्युके कारणवश कदलीघातकी तरह आयुके एक साथ समाप्त होने-

---

१. राशकारि—भ. कु. च. । २. शरीरसंशील—भ. कु. च. ।

नानाविधमनमहींविनानाप्रकारप्रवृत्तिपरिणमनं विचारस्तेन रहितम्। प्रायं—भक्तप्रत्याख्यानं सार्वकालिकसंन्यासं शुद्धस्वात्मध्यानपरत्वमित्यर्थः ॥११॥

अथ स्वपाकच्युत्या स्वयंपातोन्मुखे देहे सल्लेखना विधेयेत्युपदिशति—

क्रमेण पक्त्वा फलवत् स्वयमेव पतिष्यति।
देहे प्रीत्या महासत्त्वः कुर्यात्सल्लेखनाविधिम् ॥१२॥

क्रमेण—कालक्रमेण। उक्तं च—

'तरुदलमिव परिपक्वं स्नेहविहीनं प्रदीपमिव देहम्।
स्वयमेव विनाशोन्मुखमवबुध्य करोतु विधिमन्त्यम् ॥' [सो. उपा. ८९१ श्लो.]

पातोन्मुखकायलिङ्गं यथा—

'प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम्।
वपुरेव नृणां निगिरति चरमचरित्रोदयं समयम् ॥' [सो. उपा. ८९३ श्लो.] ॥१२॥

अथ कायनिर्ममत्वभावनाविधिमाह—

जन्ममृत्युजरातङ्काः कायस्यैव न जातु मे।
न च कोऽपि भवत्येव ममेत्यङ्गेऽस्तु निर्ममः ॥१३॥

मे शुद्धचिद्रूपमात्रस्यात्मनः ॥१३॥

की स्थितिमें विचारमें समय नष्ट न करके भक्तप्रत्याख्यान नामक सार्वकालिक संन्यास ले लेना चाहिए ॥११॥

आगे कहते हैं कि क्रमसे पककर स्वयं शरीरके छूटनेकी स्थितिमें सल्लेखना करना चाहिए—

जैसे पकनेपर वृक्षसे फल स्वयं गिर जाता है उसी तरह क्रमसे कालानुसार पककर किसी अन्य कारणके बिना ही शरीरके विनाशकी ओर जानेपर धीरवीर श्रावक प्रेमपूर्वक सल्लेखना विधिको अपनावे ॥१२॥

विशेषार्थ—एक मृत्यु होती है और एक अपमृत्यु होती है। शस्त्रघात आदि दुर्घटना वश जो मृत्यु होती है वह अपमृत्यु है। उसे ही कदलीघात मरण कहते हैं। जैसे काटनेसे केला झट कट जाता है उसी तरह आकस्मिक मृत्युमें झट मरण हो जाता है। उस समय सल्लेखना विधिका समय नहीं रहता न उस सम्बन्धमें कुछ विचारका ही समय रहता है। किन्तु जब धीरे-धीरे आयु घटते-घटते बुढ़ापा आकर शरीर छूटनेको होता है तब विचार पूर्वक सल्लेखना विधि अपनाना चाहिए। शरीर छूटनेवाला है इसके चिह्न अनेक बतलाये हैं। कहा है—'प्रतिदिन जिसकी शक्ति क्षीण होती जाती है, भोजन रुचता नहीं, चिकित्सासे कोई लाभ नहीं, ऐसा शरीर ही बतलाता है कि अब अन्तिम चारित्र धारण करनेका समय आ गया है। अतः वृक्षके पके हुए पत्तेकी तरह और तेलरहित दीपककी तरह शरीरको स्वयं ही विनाशकी ओर उन्मुख जानकर सल्लेखनाविधि करना चाहिए ॥१२॥

सबसे प्रथम शरीरसे निर्ममत्व भावनाकी विधि कहते हैं—

जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग शरीरमें ही होते हैं, शुद्ध चिद्रूप मात्र जो यह आत्मा है जिसे 'मैं' शब्दसे कहा जाता है उसके इनमेंसे कोई भी नहीं होता। तथा यह शरीर शुद्ध चिदानन्दमय मेरा न उपकारक है और न अपकारक है। इस प्रकार जानकर समाधिमरणका इच्छुक शरीरमें 'यह मेरा है' इस प्रकारके संकल्पसे रहित होवे ॥१३॥

अथाहारह्रापनसमयमाह—

पिण्डो जात्याऽपि नाम्नाऽपि समो युक्त्याऽपि योजितः ।
पिण्डोऽस्ति स्वार्थनाशार्थो यदा तं ह्रापयेत्तदा ॥१४॥

जात्या—पुद्गलत्वलक्षणया । नाम्ना—संज्ञया । आहारदेहयोरुभयोरपि पिण्डशब्दाभिधेयत्वाविशेषात् । युक्त्या—शास्त्रोक्तविधिना । स्वार्थः—आहारस्योपचयौजोलक्षणं देहकार्यं, देहस्य च धर्मसिद्धिलक्षणमात्मकार्यम् । ह्रापयेत्—परिचारकादिभिस्त्याजयेत् ॥१४॥

अथ सल्लेखनाविधिपूर्वकं समाधिमरणोद्योगविधिमाह—

उपवासादिभिः कायं कषायं च श्रुतामृतैः ।
संलिख्य गणमध्ये स्यात् समाधिमरणोद्यमी ॥१५॥

संलिख्य—सम्यक् कृशीकृत्य । उक्तं च—

'उपवासादिभिरङ्गे कषायदोषे च बोधिभावनया ।
कृतसल्लेखनकर्मा प्रायेऽथ यतेत् गणमध्ये ॥' [सो. उपा. ८९६] ॥१५॥

विशेषार्थ—जिसकी शरीरमें आत्मबुद्धि है उसे बहिरात्मा या मिथ्यादृष्टि कहते हैं। यह बहिरात्मा आत्मज्ञानसे विमुख होकर अपने शरीरको ही आत्मा मानता है। मनुष्यके शरीरमें रहने वाले आत्माको मनुष्य मानता है। तिर्यंचके शरीरमें रहनेवाले आत्माको तिर्यंच मानता है। देवके शरीरमें रहनेवाले आत्माको देव मानता है और नारकीके शरीरमें रहनेवाले आत्माको नारकी मानता है। शरीरमें आत्मबुद्धि करनेसे ही शरीरसे सम्बन्ध रखने वालोंमें पुत्र पत्नी आदिकी कल्पना होती है। अतः संसारके दुःखका मूल शरीरमें आत्मबुद्धि ही है। इसे छोड़ने पर ही जीवका कल्याण हो सकता है। यह भावना समाधिमरण करनेवालेकी होनी चाहिए। कायसे ममत्व भावना त्यागे बिना कायसे सम्बन्ध रखनेवालोंसे भी ममत्व नहीं छूट सकता। और उसके छूटे बिना समाधिमें मन नहीं लगता ॥१३॥

अब आहार कब छोड़ना चाहिए, यह कहते हैं—

पिण्ड शरीरको भी कहते हैं—और पिण्ड भोजनको भी कहते हैं। इस तरह दोनोंमें नामसे समानता है और जातिसे भी समानता है क्योंकि दोनों ही पुद्गल हैं। फिर भी आश्चर्य है कि पिण्ड अर्थात् शरीरमें शास्त्रोक्त विधिसे दिया गया भी पिण्ड अर्थात् भोजन जब स्वार्थका नाश करता है अर्थात् शरीरको हानि पहुँचाता है तब आहारका त्याग करा देना चाहिए ॥१४॥

विशेषार्थ—यहाँ आश्चर्य इस बातका है कि सजातीय भी स्वार्थका नाश करता है। आहारका स्वार्थ है शरीरमें बल और ओजकी वृद्धि करना। और देहका स्वार्थ है धर्मसिद्धि। किन्तु जब शरीरमें बल और ओज बढ़ानेके लिए दिया गया आहार, वह भी वैद्यके कहे अनुसार, फिर भी यदि आहार शरीरको हानि पहुँचाता है तो आहार छुड़ा देना ही उचित है ॥१४॥

सल्लेखनाकी विधिके साथ समाधिमरणके उद्योगकी विधि कहते हैं—

समाधिमरणके लिए प्रयत्नशील साधक उपवास आदिके द्वारा शरीरको और श्रुतज्ञानरूपी अमृतके द्वारा कषायको सम्यक् रूपसे कृश करके चतुर्विध संघमें उपस्थित होवे। अर्थात् जहाँ चतुर्विध संघ हो वहाँ चला जावे ॥१५॥

अथ मृत्युकाले धर्मविराधनाराधनयोः फलविशेषमाह—

आराद्धोऽपि चिरं धर्मो विराद्धो मरणे मुधा।
स त्वाराद्धस्तत्क्षणेंऽहः क्षिपत्यपि चिरार्जितम् ॥१६॥

मुधा। उक्तं च—

'यमनियमस्वाध्यायास्तपांसि देवार्चना विधिर्दानम्।
एतत्सर्वं निष्फलमवसाने चेन्मनो मलिनम् ॥' [सो. उपा. ८९७ श्लो.]

अपि चिरार्जितं—असंख्यातभवकोट्युपार्जितमपि। उक्तं च—

'यद्बद्धं कर्मरजो विसंख्यभवशतसहस्रकोटिभिः।
सम्यक्त्वोत्पत्तौ तत् क्षपयत्येकेन समयेन ॥' [ ] ॥१६॥

अथ चिरकालभावितश्रामण्यस्यापि विराध्य म्रियमाणस्याकीर्तिदुष्परिपाकां स्वार्थक्षतिं दर्शयति—

नृपस्येव यतेर्धर्मो चिरमभ्यस्तिनोऽस्त्रवत्।
युधीव स्खलितो मृत्यौ स्वार्थभ्रंशोऽयशःकटुः ॥१७॥

अभ्यस्तिनः—अभ्यस्तः पूर्वमनेनेति विगृह्य श्राद्धं भुक्तं येनेत्यधिकृत्य 'इन्' इत्यनेन इन् प्रत्ययः। उक्तं च—

'द्वादशवर्षाणि नृपः शिक्षितशस्त्रो रणेषु यदि मुह्येत्।
किं स्यात्तस्यास्त्रविधेर्यथा तथान्ते यतेः पुरा चरितम् ॥' [सो. उपा. ८९८ श्लो.]

अपि च—

'स किं धन्वी तपस्वी वा यो रणे मरणेऽपि च।
शरसन्धाने मनःसमाधाने च मुह्यति ॥' [ ] इति ॥१७॥

मृत्युकालमें धर्मकी विराधना और आराधनाका फल कहते हैं—

दीर्घकाल तक आराधित भी धर्म यदि मरते समय न पाला गया हो तो चिरकाल से किया गया धर्माराधन व्यर्थ है। किन्तु यदि मृत्युके समय धर्मका आराधन किया गया है तो वह धर्म असंख्यात कोटि भवोंमें भी उपार्जित पापको दूर कर देता है ॥१६॥

विशेषार्थ—सोमदेव सूरिने भी कहा है—'यदि मरते समय मन मलिन हो गया तो यम, नियम, स्वाध्याय, तप, देवपूजाविधि, दान ये सब निष्फल हैं।' अन्यत्र भी कहा है—जैसे असंख्यात करोड़ों वर्षोंमें बाँधा हुआ कर्म सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेपर एक क्षणमें नष्ट हो जाता है वैसे ही अन्तिम समयके धर्माराधनसे होता है ॥१६॥

चिरकाल तक मुनिधर्मकी आराधना करके भी यदि मरते समय विराधना हो जाये तो अपयशके साथ स्वार्थकी भयंकर क्षति बतलाते हैं—

जैसे चिरकाल तक शस्त्र संचालनका अभ्यास करनेवाला राजा युद्धमें डिग जाये तो उसका राज्य छिन जाता है और दुखदायी अपयश होता है। उसी तरह चिरकाल तक धर्मकी आराधना करनेवाला यति मरते समय धर्मकर्ममें चूक जाये तो उसका स्वार्थ मोक्ष साधन नष्ट हो जाता है और दुःखदायी अपयश होता है ॥१७॥

विशेषार्थ—सोमदेवाचार्यने भी कहा है—'जैसे बारह वर्ष तक शस्त्र चलानेका शिक्षण लेनेवाला राजा यदि युद्धमें विचलित हो जाये तो उसकी अस्त्रशिक्षा किस कामकी। वैसे ही यदि अन्त समयमें साधु सल्लेखना न करे तो उसका धर्मसाधन किस कामका? वह

ननु सुभावितमार्गस्यापि कस्यचित्समाधिमरणं न दृश्यते, कस्यचित्पुनरभावितमार्गस्यापि तदुपलभ्यते। तदनाप्तीयमिदमिति शङ्कमानं प्रति श्लोकद्वयमाह—

सम्यग्भावितमार्गोऽन्ते स्यादेवाराधको यदि।
प्रतिरोधि सुदुर्वारं किञ्चिन्नोदेति दुष्कृतम् ॥१८॥

यदीत्यादि। उक्तं च—

'मृतिकाले नरा हन्त सन्तोऽपि चिरभाविताः।
पतन्ति दर्शनादिभ्यः प्राक्कृताशुभगौरवात् ॥' [ ] ॥१८॥

योऽत्वभावितमार्गस्य कस्याप्याराधना मृतौ।
स्यादन्धनिधिलाभोऽयमवष्टभ्यो न भाक्तिकैः ॥१९॥

भाक्तिकैः—जिनवचनाराधनपरैः। तदुक्तम्—

'पूर्वमभावितयोगो यद्यप्याराधयेन्मृतौ कश्चित्।
स्थाणौ निधानलाभो निदर्शनं नैव सर्वत्र ॥' [ ] ॥१९॥

ननु दूरभव्यस्य व्रतं चरतोऽपि न मुक्तिः स्यात्तदलं तद्द्वीयस्त्वे व्रतयत्नेन इत्यारेकायां समाधत्ते—

धनुधारी कैसा जो युद्धमें बाण चलाना भूल जाये। उसी तरह वह तपस्वी कैसा जो मरण-के समय मनको स्थिर न रख सके ॥१७॥

कोई शंका करता है कि जीवन-भर धर्मकी आराधना करने पर भी किसीका समाधि-मरण नहीं देखा जाता। और जिसने जीवनमें धर्मकी आराधना नहीं की है ऐसेका भी समाधिमरण देखा जाता है। अतः आपका कथन प्रामाणिक नहीं है। इसका दो श्लोकोंसे समाधान करते हैं—

यदि समाधिका बाधक और सैकड़ों प्रयत्न करनेपर भी जिसको रोकना शक्य न हो ऐसा कोई पूर्वकृत अशुभ कर्म उदयमें न आवे तो चिरकाल तक सम्यक् रूपसे रत्नत्रयका अभ्यास करनेवाला अन्त समयमें आराधक होता ही है ॥१८॥

विशेषार्थ—जीवन-भर धर्मका अभ्यास करनेवाले भी पूर्वजन्ममें अर्जित अशुभ कर्मकी बलवत्तासे मरते समय सम्यग्दर्शन आदिसे च्युत हो जाते हैं अतः समाधिमरण नहीं कर पाते ॥१८॥

किन्तु धर्मकी आराधना न करनेवाले किसीके मरते समयमें जो आराधना देखी जाती है वह तो अन्धे मनुष्यको निधिलाभके समान है। जिनधर्मपर श्रद्धा रखनेवालोंको उसका आग्रह नहीं करना चाहिए ॥१९॥

विशेषार्थ—यद्यपि पहलेसे रत्नत्रयकी आराधना न करनेवाला कोई मरते समय आराधना करे यह सम्भव है। जैसे किसी अन्धेको निधि मिल जाये या ठूँठमें-से किसीको निधिका लाभ हो जाये। किन्तु इसे सर्वत्र उदाहरणके रूपमें नहीं माना जा सकता। अतः जिनवचनको प्रमाण मानकर जीवन भर धर्मसाधनके साथ समाधिमरणके लिए प्रयत्न करना चाहिए ॥१९॥

कोई शंका करता है कि व्रताचरण करनेपर भी दूरभव्यकी मुक्ति नहीं होती। अतः मुक्तिके दूर रहते हुए व्रताचरण व्यर्थ है ? इसका समाधान करते हैं—

---

१. यह श्लोक किसी भी मुद्रित प्रतिमें नहीं है। श्लोक १८ की टीकामें मिल गया है। —सं.

कार्यो मुक्तौ दवीयस्यामपि यत्नः सदा व्रते ।
वरं स्वः समयाकारो व्रतान्न नरकेऽव्रतात् ॥२०॥

समयाकारः—मुक्तेरर्वाक्कालयापना । व्रतात्—व्रतानुष्ठानार्जितपुण्यविपाकात् ॥२०॥

अथ भक्तप्रत्याख्यानयोग्यतामाह—

धर्माय व्याधिदुर्भिक्षजरादौ निष्प्रतिक्रिये ।
त्यक्तुं वपुः स्वपाकेन तच्च्युतौ चाशनं त्यजेत् ॥२१॥

निःप्रतिक्रिये—प्रतीकाररहिते । उक्तं च—

'व्याधिश्च दुरुच्छेदो जरा च चारित्रयोगहानिकरी ।
सुरनरतिर्यग्जनिता यस्यात्युग्रा भवेयुरुपसर्गाः ॥
विद्वेषिणोऽनुकूलाश्चारित्रविघातहेतवो यस्य ।
दुर्भिक्षक्षीणे वा गुरुतरवनगमनपीडितो यश्च ॥
चक्षुर्वीक्षाविकलं श्रोत्रं बाधिर्यबाधितं यस्य ।
जङ्घाबलहीनतया यो न समर्थो विहर्तुं वा ॥
प्रत्यासीदति हेतावेवंभूते मृतेः परस्मिंश्च ।
प्रत्याख्यातुं भक्तं सोऽर्हति विरतोऽप्यविरतश्च ॥' [ ]

तच्च्युतौ—वपुषि स्वयमेव च्यवमाने । एतेन शरीरत्यजनच्यवनच्यावनविषयं त्रिविधं भक्तप्रत्याख्यानमरणमन्वाख्यातं बोद्धव्यम् ॥२१॥

मुक्तिके अत्यन्त दूर होते हुए भी सदा व्रतमें यत्न करना चाहिए। क्योंकि व्रत धारण करके मुक्ति प्राप्त होनेसे पहलेका समय स्वर्गमें बिताना श्रेष्ठ है, हिंसा आदिके द्वारा पापका अर्जन करके नरकमें समय बिताना श्रेष्ठ नहीं है। अर्थात् मुक्ति दूर होनेसे यदि व्रताचरण नहीं करेंगे तो हिंसा आदिके द्वारा पापकर्मका बन्ध करेंगे। पाप करके नरकमें समय बितानेसे क्या पुण्य करके स्वर्गमें समय बिताना उत्तम नहीं है ? ॥२०॥

भक्तप्रत्याख्यान कब करना चाहिए, यह बताते हैं—

जिनको दूर करनेका कोई उपाय नहीं है ऐसे धर्मविनाशके कारण व्याधि, दुर्भिक्ष, ज्वर या उपसर्गादि उपस्थित होनेपर अपने साथ दूसरे भवमें धर्मको ले जानेके उद्देशसे शरीरको त्यागनेके लिए भोजनका त्याग कर दे। तथा कालक्रमसे स्वयं आयुका क्षय होनेसे शरीरके छूटनेका समय आनेपर भोजनका त्याग कर दे। 'च' शब्दसे घोर उपसर्ग आदिके कारण शरीर छूटता जावे तब भी भोजनका त्याग कर दे ॥२१॥

विशेषार्थ—कहा है—'न दूर होने योग्य व्याधिके होनेपर, चारित्रयोगको हानि पहुँचानेवाले बुढ़ापेके आनेपर या देव, मनुष्य और तिर्यंचकृत घोर उपसर्ग उपस्थित होनेपर, अथवा चारित्रका घात करनेमें कारण शत्रुओं और मित्रोंके होनेपर या दुर्भिक्षके कारण शरीरके क्षीण होनेपर अथवा गहन वनमें फँस जानेपर या दृष्टिसे दिखाई न देनेपर अथवा कानोंसे सुनाई न पड़नेपर अथवा पैरोंके शक्तिहीन होने कारण विहार करनेमें असमर्थ होनेपर, ऐसे कारण उपस्थित होनेपर विरत हो या अविरत, भोजनका त्याग कर देनेका पात्र होता है।' इसमें भक्तप्रत्याख्यानमरणके तीन प्रकार सूचित किये हैं। भोजनके त्यागपूर्वक जो मरण होता है उसे भक्तप्रत्याख्यानमरण कहते हैं। पहला प्रकार है शरीर त्यजन।

अथ समाधिमरणार्थं शरीरोपस्कारविधिमाह—

अन्नैः पुष्टो मलैर्दुष्टो देहो नान्ते समाधये ।
तत्कर्श्यो विधिना साधोः शोध्यश्चायं तदीप्सया ॥२२॥

अन्नैरित्यादि । उक्तं च—

'देहम्मि असंलिहिए सहसा धादूहिं खिज्जमाणेहिं ।
जायइ अट्टज्झाणं सरीरिणो चरमकालम्मि ॥' [ ]

तथा—

'पानक मा ·· ··· ···· ··· ···· ··· शोषनाय सत्तपसा ।
मधुरं पाययितव्यो मन्दं च विरेचनं कार्यम् ॥
बस्त्यानाहाद्यैरपि कर्तव्यं जठरशोधनममोघम् ।
उत्पादयत्प्रपीडां पुरीषमुदरस्थितं.... ... ॥' [ ] ॥२२॥

अथ कषायकर्शनं विना कायकर्शनस्य नैष्फल्यं समर्थयते—

सल्लेखनाऽसंलिखतः कषायान्निष्फला तनोः ।
कायोऽजडैर्दण्डयितुं कषायानेव दण्ड्यते ॥२३॥

अजडैः—बुधैः । उक्तं च—

'तथा श्रुतमधीष्व शश्वदिह लोकपङ्क्तिं विना,
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः ।
कषायविषयद्विषो विजयसे यथा दुर्जयान्,
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपःशास्त्रयोः ॥' [आत्मानु. १९०] ॥२३॥

जब कोई ऐसा रोगादि हो जाता है जिसका इलाज अशक्य है तो शरीरको छोड़नेके लिए भोजनका त्याग कर दिया जाता है। दूसरा प्रकार है शरीर च्यवन। जब आयु पूरी होकर शरीर छूटनेका समय आता है तो भोजन त्याग दिया जाता है। तीसरा प्रकार है शरीर च्यावन। घोर उपसर्ग आदिसे अचानक शरीर छूटता जान पड़े तो भोजन त्याग दिया जाता है ॥२१॥

समाधि मरणके लिए शरीरका संस्कार करनेकी विधि कहते हैं—

यतः आहारसे पुष्ट और वात-पित्त-कफके दोषसे युक्त शरीर मरते समय समाधिके योग्य नहीं होता। इसलिए समाधिकी इच्छासे साधु सल्लेखनाकी विधिसे शरीरको कृश करे और योग्य विरेचन वस्तिकर्म (एनिमा) आदिके द्वारा पेटके मलको दूर करके शुद्ध करे ॥२२॥

विशेषार्थ—यदि शरीरको पहलेसे कृश न किया जाये तो अन्तिम समयमें शरीरधारी-को आर्तध्यान होता है, जल्दी शरीर छूटता नहीं है। अतः शरीरशोधनके लिए दूध आदि मधुर पेय देना चाहिए तथा हलका विरेचन करना चाहिए। पेटकी शुद्धिके लिए वस्तिकर्म (एनिमा) करना चाहिए। क्योंकि पेटमें यदि मल होता है तो वह पीड़ा देता है ॥२२॥

आगे कषायको कृश किये बिना शरीरके कृश करनेको निष्फल बतलाते हैं—

कषायोंको कृश न करनेवाले साधुका शरीरको कृश करना व्यर्थ है। क्योंकि ज्ञानी जन कषायोंके निग्रहके लिए ही शरीरका निग्रह करते हैं ॥२३॥

विशेषार्थ—आचार्य गुणभद्रने कहा है—इस लोकमें लोकपूजाका विचार न करके इस प्रकार निरन्तर शास्त्रका अध्ययन कर तथा शरीरको कृश करनेके साधनोंके द्वारा कृश कर

अथाहारवृत्तमनसां कषायदुर्जयत्वं प्रकाश्य भेदज्ञानबलात्तज्जेतॄणां जयवादमाह—

अन्धोमदान्धैः प्रायेण कषायाः सन्ति दुर्जयाः ।
ये तु स्वाङ्गान्तरज्ञानात्तान् जयन्ति जयन्ति ते ॥२४॥

अन्धः—भक्तम् । जयन्ति ते—सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते साम्प्रतं प्रणतोऽस्मीत्यर्थः ॥२४॥

एवं देहाहारत्यागं विधाप्येदानीमीहितत्यागेन स्वात्मसमाधये प्रेरयन्नाह—

गहनं न तनोर्हानं पुंसः किन्त्वत्र संयमः ।
योगानुवृत्तेर्व्यावर्त्य तदात्मात्मनि युज्यताम् ॥२५॥

योगानुवृत्तेः—मनोवाक्कायव्यापारानुगमात् । युज्यतां—समाधीयताम् । तथैवावोचत्स्वयमेव-सिद्धचक्रे—

'पाकं कर्मसु पुद्गलोपधिततया दृग्वृत्तसंमोहयोः,
संहृत्य प्रयतस्तदन्वयनतो व्यावर्त्य शुद्धं परम् ।
संशुद्धे ह्युपयोगमात्मनि समाधत्तेऽचलं भावतो,
योगानप्रणयन् स्वकर्मसु यतिव्रातः सदास्मिन्वसन् ॥' [ ] ॥२५॥

अथ यतिद्वयस्य समाधिमरणफलविशेषमभिधत्ते—

श्रावकः श्रमणो वान्ते कृत्वा योग्यां स्थिराशयः ।
शुद्धस्वात्मरतः प्राणान् मुक्त्वा स्यादुदितोदितः ॥२६॥

योग्यं—प्रायार्थीत्यादि प्रबन्धेन वक्ष्यमाणं परिकर्म ॥२६॥

जिससे दुर्जय कषाय और विषयरूपी शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर सके ; क्योंकि मुनिगण तप और शास्त्रका फल 'सम' भाव मानते हैं ॥२३॥

जिनका मन आहारमें आसक्त है वे कषायोंको नहीं जीत सकते, यह तथ्य प्रकाशित करके भेदज्ञानके बलसे कषायके जीतनेवालोंका अभिनन्दन करते हैं—

बहुत करके आहारके मदसे जो अन्धे हैं, जिन्हें स्व और परका ज्ञान नहीं है उनके द्वारा कषायोंको जीतना अशक्य है । किन्तु जो आत्मा और शरीरके भेदज्ञानसे उन कषायोंको जीतते हैं वे ही जयशील होते हैं ॥२४॥

इस प्रकार शरीर और आहारके त्यागकी विधि बताकर शरीर, वचन और मनके व्यापारको त्यागनेके द्वारा क्षपकको समाधिकी प्रेरणा करते हैं—

पुरुषके लिए शरीरका त्यागना कठिन नहीं है, किन्तु शरीरको त्यागते समय संयमपूर्वक त्यागना कठिन है । इसलिए मन-वचन-कायके व्यापारसे हटाकर आत्माको आत्मामें लीन करो ॥२५॥

विशेषार्थ—शरीरका त्याग कठिन नहीं है । प्रतिवर्ष कितनी स्त्रियाँ घरेलू झगड़ोंके कारण प्राण त्यागती हैं । युवक तक आत्मघात करते हैं किन्तु संयमपूर्वक शरीर त्यागना बहुत कठिन है । इसलिए समाधिके लिए जैसे आहारका त्याग, और शरीरसे ममत्वका त्याग आवश्यक है वैसे आत्माको मन-वचन-कायके व्यापारसे भी हटाना आवश्यक है उसके बिना आत्मा आत्मामें लीन नहीं हो सकता । और आत्माका आत्मामें लीन होना ही समाधि है । उसीके लिए सब प्रयत्न है ॥२५॥

आगे श्रावक और मुनि दोनोंको ही समाधिमरणसे होनेवाले फलविशेषको कहते हैं—

श्रावक अथवा मुनि मरण समयमें आगे कहे जानेवाले परिकर्मको करके निश्चल चित्त-

अथ निर्यापकबलाद्भावितात्मनो समाधिमरणान्तरायाभावं दर्शयति —

समाधिसाधनचणे गणेशे च गणे च न ।
दुर्दैवेनापि सुकरः प्रत्यूहो भावितात्मनः ॥२७॥

स्पष्टम् ॥२७॥

अथ श्लोकद्वयेन समाधिमरणमाहात्म्यं स्तुवन्नाह—

प्राग्जन्तुनाऽमुनाऽनन्ताः प्राप्तास्तद्भवमृत्यवः ।
समाधिपुण्यो न परं परमश्चरमक्षणः ॥२८॥

अमुना—संसारिणा । तद्भवमृत्यवः—भवान्तरप्राप्तेरनन्तरोपश्लिष्टपूर्वभवविगमनं तद्भवमरणमाख्यायते ॥२८॥

परं शंसन्ति माहात्म्यं सर्वज्ञाश्चरमक्षणे ।
यस्मिन् समाहिता भव्या भञ्जन्ति भवपञ्जरम् ॥२९॥

स्पष्टम् ॥२९॥

अथ संन्यासार्थं क्षेत्रविशेषस्वीकारमाह—

पूर्वक अपने निर्मल चित्स्वरूपमें लीन होकर प्राणत्याग करनेपर नाना प्रकारके सांसारिक अभ्युदयोंको भोगकर मुक्तिका भागी होता है ॥२६॥

विशेषार्थ—आगे ३०वें श्लोकसे जिस विधिका कथन करनेवाले हैं उस विधिको करके स्थिर चित्तसे शुद्ध स्वात्मामें लीनतापूर्वक प्राण छोड़नेसे ही सब कुछ प्राप्त हो सकता है ॥२६॥

आगे बतलाते हैं कि समाधिमरण करानेमें दक्ष निर्यापककी सहायतासे आत्माकी भावना करनेवालेकी समाधिमें विघ्न नहीं आता ॥२७॥

निर्यापकाचार्य और संघके समाधिके सम्पादनमें दक्ष होनेपर अपने आत्माकी भावना करनेवाले समाधिसाधककी समाधिमें पूर्वकृत अशुभ कर्मके द्वारा भी विघ्न डालना सरल नहीं है। अर्थात् निर्यापकाचार्य और संघ अनेक समाधिमरण करानेका अनुभवी होनेके रूपमें प्रसिद्ध हो तो अन्यकी तो बात ही क्या दुर्दैव भी विघ्न नहीं डाल सकता ॥२७॥

दो श्लोकोंसे समाधिमरणका माहात्म्य कहते हैं—

इस संसारी जीवने इससे पहले अनन्त तद्भव मरण पाये किन्तु समाधिसे पवित्र उत्कृष्ट अन्तिम क्षण प्राप्त नहीं किया। अर्थात् इससे पहले भी यह जीव अनन्त बार जन्मा और अनन्त बार मरा। नया जन्मधारणसे लगे हुए पूर्वभवके विनाशको तद्भव मरण कहते हैं। अतः यह जीव इससे भी पहले अनन्त बार मर चुका है। किन्तु मरणका अन्तिम क्षण समाधिसे पवित्र हुआ हो अर्थात् समाधिपूर्वक मरण कभी नहीं पाया। इस समाधिसे पवित्र अन्तिम क्षणको चरम कहा है क्योंकि वह क्षण संसारके कारणभूत कर्मोंको मूलसे नष्ट करनेमें समर्थ है ॥२८॥

सर्वज्ञ देव अन्तिम क्षणमें उत्कृष्ट माहात्म्य बतलाते हैं, जिसमें समाधिको प्राप्त हुए भव्य जीव इस संसाररूपी पिंजरेको तोड़ देते हैं ॥२९॥

अब समाधिके लिए विशेष क्षेत्र अपनानेको कहते हैं—

प्रायार्थो जिनजन्मादि स्थानं परमपावनम् ।
आश्रयेत्तदलाभे तु योग्यमर्हद्गृहादिकम् ॥३०॥

जन्मादि । आदिशब्देन निष्क्रमणज्ञाननिर्वाणानि । तत्र जन्मस्थानं वृषभनाथस्यायोध्या । निष्क्रमणस्थानं सिद्धार्थवनम् । ज्ञानस्थानं शकटामुखोद्यानम् । निर्वाणस्थानं कैलासः । एवमन्येषामपि जन्मादिस्थानानि यथागममधिगम्यानि । योग्यं—समाधिसाधनसमर्थम् ॥३०॥

अथ तीर्थं प्रति चलितस्यावान्तरमार्गेऽपि मृतस्याराधकत्वं दर्शयति—

प्रस्थितो यदि तीर्थाय म्रियतेऽवान्तरे तदा ।
अस्त्येवाराधको यस्माद् भावना भवनाशिनी ॥३१॥

तीर्थाय—जिनजन्मादिस्थानाय निर्यापकाचार्याय वा । अवान्तरे—स्वस्थानतीर्थस्थानयोरन्तराले । उपलक्षणमेतत् । तेन निर्यापकाचार्यमरणेऽप्याराधकः स्यादेव । यदाहुः—

'आलोचनापरिणतः सम्यक् संप्रस्थितो गुरुसकाशम् ।
यद्याचार्यः कालं कुर्यादाराधको भवति ॥
उद्धर्तुमनाः शल्यं संवेगोद्वेगपरिणतमनस्कः ।
यदि याति शुद्धिहेतोराराधयिता ततो भवति ॥' [ ] ॥३१॥

अथ तीर्थं गमिष्यन् क्षमापणं क्षमणं च कुर्यादित्युपदिशति—

समाधिपूर्वक मरणका इच्छुक श्रावक परम पवित्र जिनदेवके जन्म आदि स्थानपर चला जाये। यदि उसका लाभ न हो तो समाधि साधनके योग्य जिनालय आदिको अपनावे ॥३०॥

विशेषार्थ—तीर्थंकरोंके कल्याणकोंसे पवित्र हुए स्थानोंका बड़ा महत्त्व है। वहाँके वायुमण्डलमें जानेपर स्वयं ही भावनाएँ पवित्र होती हैं। अतः हस्तिनापुर, अयोध्या, सम्मेदशिखर, गिरनार आदि स्थान समाधिके योग्य हैं। यदि जा सकना सम्भव न हो तो जिनालयमें समाधिमरण करना चाहिए। परिवारके मध्यमें समाधि नहीं हो सकती ॥३०॥

आगे कहते हैं कि समाधिका इच्छुक तीर्थपर जाते हुए यदि मार्गमें मर जाये तब भी वह आराधक ही कहलाता है—

यदि समाधिका इच्छुक साधक जिन भगवान्‌के जन्म आदि स्थानके लिए या निर्यापकाचार्यके समीप पहुँचनेके लिए चले और मार्गमें मर जाये, तब भी वह आराधक ही है क्योंकि भावना अर्थात् समाधि मरणका ध्यान भी संसारका नाशक है ॥३१॥

विशेषार्थ—टीकामें कहा है कि निर्यापकाचार्यके पास जानेपर यदि निर्यापकाचार्यका मरण हो जाये तो भी समाधिका इच्छुक आराधक ही है क्योंकि उसकी भावना आराधनामें है। तथा यदि निर्यापकाचार्य मर जाये तब भी आराधक ही है। कहा है—आलोचना करनेवाला यदि गुरुके पास गया और आचार्य कालगत हो गये तब भी वह आराधक होता है। जिसके मनमें संवेग और उद्वेगका भाव है वह अपने मनसे शल्य निकालनेके लिए यदि गमन करता है तो वह आराधक होता है ॥३१॥

आगे तीर्थको जानेवालेको क्षमा माँगने और क्षमा करनेका उपदेश देते हैं—

रागाद् द्वेषान्ममत्वाद्वा यो विराद्धो विराधकः ।
यश्च तं क्षमयेत्तस्मै क्षाम्येच्च त्रिविधेन सः ॥३२॥

विराद्धः—दुःखे स्थापितः । तं—विराद्धम् । तस्मै—विराधकाय । उक्तं च—

'स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥' [र. श्रा. १२४] ॥३२॥

अथ क्षमणकरणाकरणयोः फलमाह—

तीर्णो भवार्णवस्तैर्ये क्षाम्यन्ति क्षमयन्ति च ।
क्षाम्यन्ति न क्षमयतां ये ते दीर्घाजवञ्जवाः ॥३३॥

स्पष्टम् ॥३३॥

योग्यायां वसतौ काले स्वागः सर्वं स सूरये ।
निवेद्य शोधितस्तेन निःशल्यो विहरेत्पथि ॥३४॥

अथ क्षपकस्यालोचनाविधिमाह—

विशुद्धिसुधया सिक्तः स यथोक्तं समाधये ।
प्रागुदग्वा शिरः कृत्वा स्वस्थः संस्तरमाश्रयेत् ॥३५॥

रागसे या द्वेषसे या ममत्व भावसे जिसे दुःख दिया है—कष्ट पहुँचाया है, तीर्थंको जानेवाला उससे मन-वचन-कायसे क्षमा माँगे। और जिसने अपनेसे वैर किया हो—अपनेको कष्ट पहुँचाया हो उसे मन-वचन-कायसे क्षमा प्रदान करे ॥३२॥

विशेषार्थ—आचार्य समन्तभद्रस्वामीने कहा है—स्नेह, वैर, परिवार, परिग्रहको छोड़कर शुद्ध मन होकर अपने स्वजनों और परिजनोंको क्षमा करके प्रियवचनोंके द्वारा उनसे क्षमा माँगे ॥३२॥

क्षमा करने और करानेका फल कहते हैं—

जो अपराधीको क्षमा करते हैं और उनसे जिनके प्रति अपराध हुआ है उनसे क्षमा माँगते हैं उन्होंने संसाररूपी समुद्रको पार कर लिया है। किन्तु जो क्षमा माँगनेपर भी क्षमा नहीं करते वे चिरसंसारी हैं अर्थात् उनका संसार जल्द समाप्त होनेवाला नहीं है ॥३३॥

अब क्षपककी आलोचनाकी विधि कहते हैं—

वह क्षपक आलोचनाके योग्य स्थान और योग्य कालमें निर्यापकाचार्यके सामने अपने समस्त व्रत आदिमें लगे अतिचारोंको निवेदन करे। इसीका नाम आलोचना है। और आचार्यके द्वारा प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त आदि विधिसे दोषोंका शोधन करके, माया आदि तीन शल्योंसे रहित होकर रत्नत्रयरूप मार्गमें विहार करे ॥३४॥

विशेषार्थ—समाधिमरणमें बैठनेसे पहले निर्यापकाचार्यके सामने अपने दोषोंका निवेदन करके उनके द्वारा बतलायी गयी विधिसे उनका शोधन करना चाहिए। और तब निःशल्य होकर समाधिमें लगना चाहिए ॥३४॥

इसके बाद समाधिके लिए बनाये संस्तरेपर लेटनेकी विधि कहते हैं—

मन और शरीरकी निर्मलता अथवा प्रायश्चित्तविधानरूप विशुद्धिरूपी अमृतसे सिंचित हुआ वह क्षपक आगमके अनुसार समाधिके लिए पूरब या उत्तर दिशाकी ओर सिर करके निराकुल हो, संस्तरेपर लेट जाये ॥३५॥

विशुद्धिः मानसी शारीरी च । यथोक्तं तथाहि—

'फलकशिलातृणमूद्भिः प्रकल्पितसंस्तरो भवति भद्रः ।
सम्यक् समाधिहेतुः पूर्वशिरा वोत्तरशिरा वा ॥
सुषिरबिलजन्तुविकले समेऽविघर्षे च युक्तमाने च ।
अस्निग्धे घनकुड्ये सालोके भूमिसंस्तरकः ॥' [ ]

अविघर्षे—अमृदौ । मृदुर्हि भूभागो गात्रकरचरणप्रमर्दनेन बाध्यते । अस्निग्धे—अनार्द्रे ।
'विध्वस्तश्चास्फुटितो निःकम्पः सर्वतोऽप्यसंसक्तः ।
समपृष्ठः सालोकः शिलामयः संस्तरो भवति ॥' [ ]

विध्वस्तः—दाहात्कुट्टनाद् घर्षणाद्वा प्रासुकीकृतः ।
'भूमिसमबहुललघुको निःकम्पो निर्घनीः पुरुषमानः ।
निश्छिद्रश्चास्फुटितो मसृणोऽपि च फलकसंस्तारः ॥' [ ]

बहुलः—स्थूलः ।
'निःसन्धिर्निर्विवरो निरुपहतः समधिवास्य निर्जन्तुः ।
सुखसंशोध्यो मृदुकस्तृणास्तरो भवति तुरीयः ॥' [ ]

निःसन्धिः—निर्ग्रन्थिः । निरुपहतः—अचूर्णितः । समधिवास्यः—सुखस्पर्शः ।
'युक्तप्रमाणचरितः सन्ध्याध्यासे विशोधनोपेतः ।
विधिविहितः संस्तरकः स्वारोढव्यस्त्रिगुप्तेन ॥' [ ]

सन्ध्याध्यासे—सूर्योदयास्तमनकालद्वये ॥३५॥

अथ संस्तरारोहणकाले महाव्रतमर्थयमानस्यार्यस्याचेलक्यलिङ्गविधानार्थमाह—

त्रिस्थानदोषयुक्तायाप्यापवादिकलिङ्गिने ।
महाव्रतार्थिने दद्याल्लिङ्गमौत्सर्गिकं तदा ॥३६॥

विशेषार्थ—सम्यक्समाधिके लिए लकड़ीके पटिये, शिला और तृण और मिट्टीसे बना संस्तर उत्तम होता है। उसका सिर पूरब या उत्तरकी ओर होना चाहिए। मिट्टी या भूमिपर संस्तर बनाया जाये तो वह भूमि छिद्र, बिल और जन्तुसे रहित, सम, कड़ी, उचित प्रमाणवाली, सूखी और प्रकाशयुक्त होनी चाहिए। यदि भूभाग कोमल होता है तो शरीर-हाथ पैरके मर्दनसे दब जाता है। शिलामय संस्तर प्रासुक, निश्चल, सब ओरसे असंसक्त, अत्रुटित और प्रकाशयुक्त तथा पीठके लिए सम होना चाहिए। ऊँचा-नीचा खुरदरा नहीं हो। फलक संस्तर भूमिके समान मोटा किन्तु हलका, निश्चल, बिना घुना, पुरुष प्रमाण, छिद्ररहित, अत्रुटित तथा कठोर होता है। चौथा तृणका संस्तर छिद्ररहित, जोड़रहित, चूर्ण न होनेवाला, जन्तुरहित, कोमल और सुखस्पर्श होना चाहिए ॥३५॥

संस्तरपर आरोहण करते समय यदि क्षपक महाव्रतकी याचना करे तो उसे जिनलिंग देनेकी विधि बताते हैं—

तीन स्थानोंमें दोषसे युक्त भी आपवादिक लिंगका धारी उत्कृष्ट श्रावक यदि महाव्रतकी याचना करे तो निर्यापकाचार्य संस्तरपर आरोहण करते समय उसे औत्सर्गिक लिंग दे देवे ॥३६॥

त्रिस्थानदोषः—त्रिषु स्थानेषु दोषो वृषणयोः कुक्ष्यातिलम्बमान- [-त्वादिर्मेहने च चर्मरहित-] त्वातिदीर्घत्वासकृदुत्थानशीलत्वातिस्थूलत्वादि । आपवादिकं—यतीनामपवादहेतुत्वादपवादः परिग्रहः, सोऽस्यास्ति । औत्सर्गिकं—उत्सर्गः सकलपरिग्रहत्यागभावः ।

तदुक्तं—

'यस्याप्यव्यभिचारो दोषस्त्रिस्थानिको भवेद्विहृतौ ।
संस्तरमध्यासीनो विवसनभावं भवेत्सोऽपि ॥' [ ]

अव्यभिचारः—औषधादीनामप्रसाध्यः । विहृतौ—विहारे वसतामित्यर्थः ॥३६॥

अथोत्कृष्टस्यापि श्रावकस्योपचरितायापि महाव्रतायाप्रभुत्वमाह—

कौपीनेऽपि समूर्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम् ।
अपि भाक्तममूर्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति ॥३७॥

अपि भाक्तं—उपचरितमपि अर्हति । भाक्तमेव महाव्रतमिति संबन्धः ॥३७॥

विशेषार्थ—परिग्रहसहित वेषको आपवादिक लिंग कहते हैं क्योंकि परिग्रह अपवादका कारण होता है। और सकल परिग्रहके त्यागमें होनेवाले लिंगको अर्थात् नग्नताको औत्सर्गिक लिंग कहते हैं। जिस मनुष्यके दोनों अण्डकोशोंमें और पुरुष चिह्नमें दोष होता है उसे जिनलिंग नहीं दिया जाता। अण्डकोशोंमें वृद्धिरोगका होना, उनका बहुत लटके हुए होना दोष है। मूत्रेन्द्रियका मुख चर्मरहित हो या ऐसी स्थितिमें हो जिसे देखकर लज्जा पैदा हो तो यह नग्नताके लिए दोष है। ऐसे दोषयुक्त व्यक्तिको जिनदीक्षा नहीं दी जाती। किन्तु ऐसे दोषोंसे युक्त भी व्यक्ति यदि मरते समय मुनिव्रतकी इच्छा करता है तो उस समय उसे नग्नता दी जा सकती है क्योंकि वह मरणोन्मुख है। उसे जनताके बीचमें विचरण नहीं करना है। कहा है—'जिसके तीन स्थानोंमें ऐसा दोष हो जो औषध आदिसे भी दूर न हो सके, उसे भी संस्तरपर आरोहण करते समय नग्नता दी जा सकती है।' ॥३६॥

आगे कहते हैं कि उत्कृष्ट भी श्रावक अपनी अवस्थामें रहते हुए उपचारसे भी महाव्रती कहलानेका अधिकारी नहीं है—

आश्चर्य है कि लंगोटी मात्रमें ममत्वभाव रखनेसे उत्कृष्ट श्रावक उपचरित भी महाव्रतके योग्य नहीं है। और आर्यिका साड़ीमें भी ममत्व भाव न रखनेसे उपचरित महाव्रतके योग्य होती है ॥३७॥

विशेषार्थ—महाव्रती वही होता है जो समस्त परिग्रहका त्याग करता है। आर्यिका स्त्री होनेके कारण शरीरके वस्त्रका त्याग नहीं कर सकती। इसलिए वह महाव्रत धारण नहीं करती। ऐसा उसे जिनशासनकी आज्ञावश करना पड़ता है। स्वयं उसकी अपनी साड़ीसे कोई ममता नहीं होती, इसलिए उसे उपचरित महाव्रती माना है। किन्तु उत्कृष्ट श्रावक तो केवल एक लंगोटी रखता है फिर भी उसे उपचरित भी महाव्रतका अधिकारी नहीं कहा; क्योंकि वह चाहे तो लंगोटीका त्याग कर सकता है। किन्तु अपनी कमजोरीसे त्याग नहीं करता। इसमें आश्चर्यकी बात यही है कि एक साड़ी रखते हुए भी उपचरित महाव्रती है। और एक मात्र लंगोटी रखकर भी उपचरित महाव्रती भी नहीं है। यहाँ यह कथन प्रसंगवश वह बतलानेके लिए किया है। उत्कृष्ट श्रावक लंगोटी त्यागे बिना उपचरित महाव्रती भी नहीं हो सकता ॥३७॥

अथ प्रशस्तमुष्कमेहनस्य सर्वत्र प्रसक्तमौत्सर्गिकलिङ्गमपवदन्नाह—

ह्रीमान् महर्द्धिको यो वा मिथ्यात्वप्रायबान्धवाः।
सोऽविविक्ते पदे नाग्न्यं शस्तलिङ्गोऽपि नार्हति ॥३८॥

पदे—स्थाने। लिङ्गं—पुंस्त्वचिह्नं मुष्कमेहनमित्यर्थः।

यदाह—

'मिथ्यादृक्परिवारो योग्यावसथव्यपान्वितः श्रीमान्।
अपवादिकलिङ्गमसौ भजति भदन्ता वदन्त्येवम् ॥' [ ] ॥३८॥

अथ संस्तरारोहणसमये स्त्रिया लिङ्गविकल्पमतिदिशन्नाह—

यदौत्सर्गिकमन्यद्वा लिङ्गमुक्तं जिनैः स्त्रियाः।
पुंवत्तदिष्यते मृत्युकाले स्वल्पीकृतोपधेः ॥३९॥

पुंवत्। अयमर्थः—पुंसो यदौत्सर्गिकलिङ्गस्य मृत्यावौत्सर्गिकमेव लिङ्गमिष्यते। आपवादिकलिङ्गस्यानन्तरमेव व्याख्यातप्रकारम्। तथा योषितोऽपि स्वल्पीकृतोपधेः—विविक्तवसत्यादिसंपत्तौ सत्यां वस्त्रमपि त्यक्तवत्याः। उक्तं च—

'औत्सर्गिकमन्यद्वा लिङ्गं यद्योषितः समुपलब्धम्।
तस्यास्तदेव लिङ्गं परिमितमुपधिं दधानायाः ॥' ॥३९॥

अथ मुमुक्षोर्लिङ्गाग्रहत्यागेन स्वद्रव्यग्रहपरत्वमुपदिशति—

देह एव भवो जन्तोर्यल्लिङ्गं च तदाश्रितम्।
जातिवत्तद्ग्रहं तत्र त्यक्त्वा स्वात्मग्रहं विशेत् ॥४०॥

तत्र—लिङ्गे। उक्तं च—

'लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ॥' [स. तन्त्र ८७]

तीन स्थानोंमें दोषसे रहित व्यक्तिको भी विशेष स्थितिमें नग्नता देनेका निषेध करते हैं—

यदि श्रावक लज्जाशील है, या सम्पत्तिशाली है, या उसके अधिकांश कुटुम्बी विधर्मी हैं तो उसके पुरुषचिह्न आदिके निर्दोष होते हुए भी बहुजन समाजके सामने वह नग्नता प्रदान करनेके योग्य नहीं है। अर्थात् उसे एकान्त स्थानमें नग्नता दी जा सकती है ॥३८॥

संस्तर पर आरोहणके समय स्त्रीके लिंगके सम्बन्धमें कहते हैं—

जिन भगवान्ने स्त्रीका जो औत्सर्गिक लिंग या अन्य पद वगैरह कहा है वह उसके मृत्युकालमें जब एकान्त वसतिका आदिके होनेपर वह वस्त्र मात्रका भी परित्याग कर देती है तब पुरुषकी तरह स्वीकार किया है ॥३९॥

विशेषार्थ—आशय यह है कि जैसे औत्सर्गिक लिंगके धारक पुरुषके मृत्युके समयमें औत्सर्गिक लिंग ही इष्ट है उसी प्रकार स्त्रीके भी मृत्युके समय औत्सर्गिक लिंग माना है क्योंकि एकान्त वसतिका आदि स्थानमें वह वस्त्र त्याग कर सकती है ॥३९॥

मुमुक्षुको लिंगका मोह छोड़कर आत्मद्रव्यमें लीन होनेका उपदेश देते हैं—

क्योंकि जीवका संसार शरीर ही है, ब्राह्मणत्व आदि जातिकी तरह जो नाग्न्य आदि लिंग है वह भी देहसे ही सम्बन्ध रखता है। इसलिए जातिकी तरह लिंगमें भी अभिनिवेशको छोड़कर अपने शुद्ध चिद्रूपमें क्षपक प्रवेश करे ॥४०॥

इत्यादि । तथा—

'न संस्तरो भद्र समाधिसाधनं न लोकपूजा न च सङ्घमेलनम् ।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं विमुच्य सर्वामपि बाह्य वासनाम् ॥'
[अमि. सा. पा.] ॥४०॥

अथ परद्रव्यग्रहस्य बन्धहेतुत्वात्तत्प्रतिपक्षभावनामुपदिशति—

परद्रव्यग्रहेणैव यद्बद्धोऽनादिचेतनः ।
तत्स्वद्रव्यग्रहेणैव मोक्ष्यतेऽतस्तमावहेत् ॥४१॥

स्पष्टम् ॥४१॥

अथ शुद्धिविवेकप्राप्तिपूर्वकं समाधिमरणं प्रणौति—

अलब्धपूर्वं किं तेन न लब्धं येन जीवितम् ।
त्यक्तं समाधिना शुद्धिं विवेकं चाप्य पञ्चधा ॥४२॥

स्पष्टम् ॥४२॥

अथ बहिरङ्गान्तरङ्गविषयभेदात्पञ्चधा शुद्धिमाह—

विशेषार्थ—मुमुक्षुको शरीरका मोह छोड़ना आवश्यक कहा है ऐसी स्थितिमें जिनका शरीरके साथ सम्बन्ध है उनका मोह भी छूटना ही चाहिए। अन्यथा शरीरका मोह छूटा नहीं कहलायेगा। शरीरसे मोह न करे और शरीरसे जिनका सम्बन्ध है उनसे मोह करे, यह तो विपरीत बात है। जाति कुल लिंग आदिको यद्यपि मुक्तिके लिए आवश्यक माना है। मुमुक्षुको समीचीन जाति आदिका होना चाहिए तथा समस्त परिग्रहके त्याग पूर्वक नग्नता होना चाहिए। तथापि इन सबका सीधा सम्बन्ध शरीरसे है। अतः शरीराश्रित लिंगका मोह भी उसी प्रकार नहीं करना चाहिए जैसे शरीरका मोह नहीं किया जाता। पूज्यपाद स्वामीने कहा है—लिंग (नाग्न्य आदि) देहाश्रित होता है और देह ही जीवका संसार है। अतः जो लिंगमें आग्रह रखते हैं वे संसारसे नहीं छूटते। इसी तरह जाति भी देहाश्रित है अतः जो जातिका आग्रह रखते हैं वे भी मुक्त नहीं होते। अधिक क्या, ब्राह्मणत्व आदि जातिसे विशिष्ट व्यक्ति दीक्षा लेनेसे मुक्त होता है इस प्रकारका अभिनिवेश रखनेवाले भी मुक्त नहीं होते। अतः समस्त अभिनिवेश हेय है। अमितगति आचार्यने भी कहा है—हे भद्र ! समाधिका साधन न संस्तर है, न लोकपूजा है, न संघ सम्मेलन है। इसलिए सब बाह्य वासनाओंको छोड़कर रात दिन आत्मामें रत रहो।' ॥४०॥

परद्रव्यका अभिनिवेश बन्धका कारण है। अतः उसके विरोधी भावनाका उपदेश देते हैं—

क्योंकि परद्रव्य शरीर आदिके ममत्वसे ही चेतन अनादि कालसे परतन्त्रतामें पड़ा हुआ है। इसलिए शुद्ध स्वात्मामें रत होनेसे ही छूट सकता है। इसलिए मुमुक्षु उस आत्मलीनताको धारण करे ॥४१॥

शुद्धि और विवेककी प्राप्ति पूर्वक होनेवाले समाधिमरणकी प्रशंसा करते हैं—

जिसने पाँच प्रकारकी शुद्धि और पाँच प्रकारके विवेकको प्राप्त करके समाधि पूर्वक जीवनको त्यागा, उस महाभव्यने अनादि कालसे अप्राप्त सम्यक्त्व सहचारि महान् अभ्युदय आदि क्या प्राप्त नहीं कर लिया ? अर्थात् सब ही प्राप्त कर लिया ॥४२॥

बहिरंग और अन्तरंग विषयके भेदसे पाँच प्रकारकी शुद्धि कहते हैं—

शय्योपध्यालोचनान्नवैयावृत्येषु पञ्चधा ।
शुद्धिः स्याद् दृग्धीवृत्तविनयावश्यकेषु वा ॥४३॥

उपधिः—संयमसाधनम् । उक्तं च—

'संस्तरण-पान-भोजन-शय्यालोचनयुजां प्रभेदेन ।
वैयावृत्यकृतामपि शुद्धिः.........................॥' [ ]
'अथवावश्यकदर्शन......दनचारित्रविनयभेदेन ।
शुद्धिः पञ्चविकल्पा तां प्राप्य भवार्णवं तरति ॥' [ ] ॥४३॥

अथ शुद्धिवन्मतद्वयेन पञ्चधा विवेकमाह—

विवेकोऽक्षकषायाङ्गभक्तोपधिषु पञ्चधा ।
स्याच्छय्योपधिकायान्नवैयावृत्यकरेषु वा ॥४४॥

विवेकः—आत्मनः पृथग्भावाध्यवसायः । उक्तं च—

'उपकरणकषायेन्द्रियवपुषामपि भक्तपानभेदस्य ।
एष विवेकः कथितः पञ्चविधो द्रव्यभावगतः ॥
अथवा शय्यासंस्तरविग्रहपानाशनप्रपञ्चानाम् ।
वैयावृत्यकृतामपि भवति विवेकोऽयमन्येषाम् ॥' [ ] ॥४४॥

शय्या, उपधि, आलोचना, आहार और वैयावृत्य इन पाँचोंमें प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयम पूर्वक प्रवृत्ति रूप पाँच प्रकारकी बाह्य शुद्धि है। तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, विनय और सामायिक आदि छह आवश्यकोंमें निरतिचार प्रवृत्तिरूप पाँच प्रकारकी अन्तरंग शुद्धि है ॥४३॥

विशेषार्थ—निर्दोष प्रवृत्तिका नाम शुद्धि है। शय्या अर्थात् स्थान और संथरा, उपधि अर्थात् संयमके साधन पीछी आदि, आलोचना अर्थात् गुरुसे दोषका निवेदन, चार प्रकारका आहार और वैयावृत्य अर्थात् परिचर्या करनेवालोंके द्वारा किये जानेवाले पैर दबाना आदिमें संयमपूर्वक प्रवृत्ति पाँच प्रकारकी बाह्य शुद्धि है। तथा दर्शन आदि पाँचका निरतिचार पालन करना पाँच प्रकारकी अन्तरंग शुद्धि है ॥४३॥

शुद्धिकी तरह दो मतोंसे पाँच प्रकारके विवेकको कहते हैं—

इन्द्रिय आदिसे आत्माके भिन्न चिन्तन करनेको विवेक कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं। उनमेंसे इन्द्रियोंसे और कषायोंसे आत्माका भिन्न चिन्तन करना ये दो प्रकारका भाव विवेक है। और शरीर, आहार तथा संयमके उपकरणोंसे आत्माके भिन्न चिन्तवन करनेसे तीन प्रकारका द्रव्यविवेक है। इस तरह विवेक पाँच प्रकारका है। दूसरे मतसे, शय्या, उपधि, शरीर, आहार और वैयावृत्य करनेवाले परिचारकोंसे आत्माके भिन्न चिन्तन करनेसे कोई आचार्य विवेकके पाँच भेद कहते हैं ॥४४॥

विशेषार्थ—समाधिमरणके समय उक्त पाँच प्रकारकी शुद्धियाँ और पाँच प्रकारका विवेक आवश्यक है। निर्दोष प्रवृत्तिको शुद्धि और आत्मासे भिन्न चिन्तनको विवेक कहते हैं। समाधिमरणके समय समाधि करनेवालेका सम्बन्ध पाँच वस्तुओंसे रहता है शय्या अर्थात् जिस स्थान पर वह समाधिमरण करता है और जिस संथरे पर वह लिटा है, संयमके उपकरण पीछी कमण्डलु, शरीर, भोजन और सेवा करनेवाले। उनमें भी राग न हो, इसलिए उनसे भिन्न चिन्तन करना विवेक है यह दूसरे मतसे विवेकके पाँच भेद हैं।

अथ निश्चेलसचेलयोर्महाव्रतभावनाविशेषमाह—

निर्यापके समर्प्य स्वं भक्त्यारोप्य महाव्रतम् ।
निश्चेलो भावयेदन्यस्त्वनारोपितमेव तत् ॥४५॥ ३

स्पष्टम् ॥४५॥

अथातिचारपञ्चकपरिहारेण सल्लेखनाविधिना प्रवृत्तिमुपदिशति—

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागं सुखानुबन्धमजन् । ६
सनिदानं संस्तरगश्चरेच्च सल्लेखना विधिना ॥४६॥

जीविताशंसा—शरीरमिदमवश्यं हेयं जलबुद्बुदवदनित्यमस्यावस्थानं कथं स्यादित्यादरम् । पूजा-विशेषदर्शनात् प्रभूतपरिवारावलोकनात् सर्वलोकश्लाघाश्रवणाच्चैवं हि मन्यते प्रत्याख्यातचतुर्विधाहारस्यापि मे ९ जीवितमेवाश्रयः यत एवंविधा मदुद्देशेनेयं विभूतिर्वर्तत इत्याकाङ्क्षामिति यावत् । मरणाशंसा—रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनसंक्लेशस्य मरणं प्रति चित्तप्रणिधानम् । यदा न कश्चित्तं प्रतिपन्नानशनं प्रति

ग्रन्थकारके मतसे विवेक द्रव्यविवेक और भावविवेकके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें इन्द्रिय और कषायोंसे 'यह मेरे नहीं है' इस प्रकारके चिन्तनसे दो प्रकारका भावविवेक है। तथा शरीर आहार और सेवकोंसे भिन्न हूँ इस प्रकारका चिन्तन करनेसे द्रव्यविवेक तीन प्रकारका है। कहा है—उपकरण, कषाय, इन्द्रिय, शरीर और भक्तपानके भेदसे पाँच प्रकार-का द्रव्य और भावविवेक कहा है। अथवा मतान्तरसे शय्या, संस्तर, शरीर, भोजन-पान और वैयावृत्य करनेवालेके भेदसे विवेक पाँच प्रकारका है ॥४४॥

निर्वस्त्र मुनि और सवस्त्र उत्कृष्ट श्रावककी महाव्रतकी भावनामें भेद बतलाते हैं—

वस्त्र आदि समस्त परिग्रहका त्यागी मुनि अपनेको भक्तिपूर्वक निर्यापकाचार्यके अधीन करके और निर्यापकाचार्यके उपदेशसे अपनेमें पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिके भेदसे तेरह प्रकारके चारित्रको भक्तिपूर्वक आरोपित करके बारम्बार मनमें उनका चिन्तन करे। और जो सवस्त्र श्रावक है वह महाव्रतको धारण किये बिना ही महाव्रतका चिन्तन करे ॥४५॥

विशेषार्थ—जो संसारसे निकलनेवाले क्षपकको प्रेरणा करता है उसे निर्यापक कहते हैं। छत्तीस गुणोंसे युक्त आचार्य ही निर्यापकाचार्य कहे जाते हैं। उन्हींके संरक्षणमें क्षपक समाधिमरण करता है। समाधिमरणका इच्छुक अपना कुल उत्तरदायित्व उनपर सौंपकर उनकी आज्ञानुसार वर्तन करता है। जो समस्त परिग्रह त्यागमें समर्थ होते हैं वे महाव्रत धारण करके महाव्रतकी भावना भाते हैं और जो ऐसा नहीं कर सकते वे महाव्रत धारण किये बिना ही महाव्रतकी भावना भाते हैं ॥४५॥

आगे पाँच अतिचारोंको दूर करते हुए सल्लेखनाकी विधिसे प्रवृत्ति करनेका क्षपकको उपदेश देते हैं—

संस्तरेपर आरूढ़ हुआ क्षपक जीवनकी इच्छा, मरणकी इच्छा, मित्रानुराग सुखानु-बन्ध निदान नामके अतिचारोंको दूर करता हुआ सल्लेखनाकी विधिसे प्रवृत्ति करे ॥४६॥

विशेषार्थ—सल्लेखनाके पाँच अतिचारोंका अर्थ इस प्रकार है—जीनेकी इच्छा—यह शरीर अवश्य हेय है, जलके बुलबुलेके समान अनित्य है, इत्यादि चिन्तन न करके 'यह

---

१. त्यक्तिस्थातिक्रमस्मरतोऽस्याव—भ. कु. च.।

सपर्यया आद्रियते, न च कश्चिच्छ्लाघ्यते तदा तस्य यदि शीघ्रं म्रिये तदा भद्रकमित्येवंविधपरिणामोत्पत्तिर्वा। सुहृदनुरागं—बाल्ये: सह पांसुक्रीडनादेर्व्यसने सहायत्वमुत्सवे संभ्रम इत्येवमादिकं मित्रसुकृतस्यानुस्मरणं बाल्याद्यवस्थासहक्रीडितमित्रानुस्मरणं वा। सुखानुबन्धं—एवं मया भुक्तमेवं शयितमेवं क्रीडितमित्येवमादि प्रीतिविशेषं प्रति स्मृतिसमन्वाहारम्। अजन्—निराकुर्वन्। निदानं—अस्मात्तपसः सुदुश्चराज्जन्मान्तरे इन्द्रश्चक्रवर्ती धरणेन्द्रो वा स्यामहमित्येवमाद्यनागताभ्युदयाकाङ्क्षाम्। चरेत्—चेष्टेत। सल्लेखना-विधिना—जन्ममृत्युजरेत्यादिप्राक्प्रबन्धोक्तेन ॥४६॥

अथैवं संस्तरारूढस्य क्षपकस्य निर्यापकाचार्य एतत्कृत्वा इदं कुर्यादित्याह—

यतीन्नियुज्य तत्कृत्ये यथार्हं गुणवत्तमान्।
सूरिस्तं भूरि संस्कुर्यात् स ह्यार्याणां महाक्रतुः ॥४७॥

तत्कृत्ये—आराधकस्यामर्शनादिशरीरकार्ये विकथानिवारणे धर्मकथायां भक्तपानतल्पशोधनमलोत्सर्जनादौ च। गुणवत्तमान्—मोक्षकारणगुणातिशयशालिनः। उक्तं च—

'धर्मप्रियदृढमनसः संविग्ना दोषभीरवो धीराः।
छन्दज्ञाः प्रत्ययिनः प्रत्याख्यानप्रयोगज्ञाः ॥
कल्प्याकल्प्ये कुशलाः समाधिमरणोद्यताः श्रुतरहस्याः।
अष्टाचत्वारिंशन्निर्यापकसाधवः सुधियः ॥' [ ]

सः—क्षपकसमाधिसाधनविधिः ॥४७॥

शरीर कैसे बना रहे' इस प्रकारकी इच्छा होना। अपना विशेष आदर-सत्कार तथा बहुत-से सेवकोंको देखकर, सब लोगोंसे अपनी प्रशंसा सुनकर ऐसा मानना कि चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देनेपर भी मेरा जीवित रहना ही उत्तम है यह प्रथम अतिचार है। दूसरा अतिचार है मरनेकी इच्छा। रोग आदिके उपद्रवोंसे व्याकुल होनेसे मरनेके प्रति चित्तका उपयोग लगाना। अथवा जब आहार त्याग देनेपर भी कोई आदर नहीं करता, न कोई प्रशंसा करता है तब यदि मैं शीघ्र मर जाऊँ तो उत्तम है इस प्रकारके परिणाम होना मरणाशंसा नामक दूसरा अतिचार है। बचपनमें साथ-साथ खेलने, कष्टमें सहायक होने, उत्सवोंमें आनन्दित होने आदि, मित्रोंके अनुरागका स्मरण करना तीसरा अतिचार है। मैंने जीवनमें इस प्रकारके भोग भोगे, मैं इस प्रकार सोता था, इस प्रकार क्रीड़ा करता था इत्यादि अनुभूत भोगोंका स्मरण करना सुखानुबन्ध नामका चतुर्थ अतिचार है। इस कठोर तपके प्रभावसे मैं आगामी जन्ममें इन्द्र या चक्रवर्ती या धरणेन्द्र होऊँ, इस प्रकारके अनागत अभ्युदयकी इच्छा निदान नामक पाँचवाँ अतिचार है। इन अतिचारोंसे क्षपकको बचना चाहिए ॥४६॥

इस प्रकार संस्तरेपर आरूढ़ क्षपकके लिए निर्यापकाचार्य क्या करें यह बतलाते हैं—

निर्यापकाचार्य क्षपकके कार्योंमें यथायोग्य मोक्षके कारण सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी विशेषतासे युक्त साधुओंको नियुक्त करके पुनः उस क्षपकको रत्नत्रयके संस्कारोंसे युक्त करे; क्योंकि क्षपकके समाधिके साधनकी विधि साधुओंका परमयज्ञ है ॥४७॥

विशेषार्थ—आचार्य समन्तभद्रने कहा है कि तपका फल अन्तिम क्रियाको सँभालना है इसलिए पूरी शक्तिसे समाधिमरणमें प्रयत्न करना चाहिए। जो समाधिमरण करता है उसके अनेक कार्य होते हैं, उसके शरीरकी सेवा होनी चाहिए, विकथासे बचाकर धर्मकथामें लगाना चाहिए, उसके खान-पान, शय्याको अनुकूल करना, मल-मूत्र कराना आदि अनेक

अथ क्षपकस्याहारविशेषप्रकाशनाद्भोजनासक्तिनिषेधार्थमाह—

योग्यं विचित्रमाहारं प्रकाश्येष्टं तमाशयेत् ।
तत्रासजन्तमज्ञानाज्ज्ञानाख्यानैर्निवर्तयेत् ॥४८॥

इष्टं—किंचित्सर्वं वा क्षपकेणाकांक्ष्यमाणम् । कश्चिद्धि भोज्यविशेषान् दृष्ट्वा तीरं प्राप्तस्य किं ममैभि-रिति प्राप्तवैराग्यः संवेगपरः स्यात् । कश्चिच्च किमपि भुक्त्वा अपरश्च सर्वं भुक्त्वा तथा स्यात् । कश्चित्तु तानास्वाद्य तद्रसासक्तिपरः स्याद्विचित्रत्वान्मोहनीयकर्मविलसितानाम् ॥४८॥

अथ नवभिः श्लोकैराहारविशेषगृद्धिप्रतिषेधपुरस्सरं तत्परिहारक्रममाह—

भो निर्जिताक्ष विज्ञातपरमार्थ महायशः ।
किमद्य प्रतिभान्तीमे पुद्गलाः स्वहितास्तव ॥४९॥

इमे—भोजनशयनाद्युपकल्पिताः ॥४९॥

किं कोऽपि पुद्गलः सोऽस्ति यो भुक्त्वा नोज्झितस्त्वया ।
न चैष मूर्तोऽमूर्तेस्ते कथमप्युपयुज्यते ॥५०॥

अमूर्तेः—रूपादिरहितस्य ॥५०॥

कार्य हैं जिनका निर्वाह सेवाभावी संयमी ही कर सकते हैं। उनके थोड़े-से भी प्रमादसे क्षपकके परिणाम विचलित हुए तो समाधिमरणका सब आयोजन व्यर्थ हो सकता है। इसलिए इस कार्यमें गुणवानोंमें भी श्रेष्ठ साधुओंको लगाया जाता है। कहा है—'धर्मप्रेमी, दृढ़ चित्तवाले, संसारसे विरक्त, दोषोंसे डरनेवाले, धीर, प्रायश्चित्तके ज्ञाता, प्रत्याख्यानके प्रयोगमें कुशल, कल्प्य-अकल्प्यके वेत्ता, शास्त्रके रहस्यके ज्ञाता ४८ निर्यापक साधु समाधि-मरण करानेमें तत्पर होते हैं' ॥४७॥

अब विविध आहारोंका उपयोग करते हुए क्षपककी भोजनमें आसक्ति दूर करनेके लिए कहते हैं—

नाना प्रकारके साधुके योग्य आहार क्षपकको दिखाकर जिसकी वह इच्छा करे वह उसे आचार्य खिला देवें। यदि अज्ञानसे वह भोजनमें आसक्ति करे तो ज्ञानप्रेरक प्रसिद्ध कथाओंसे उसे विरत करें ॥४८॥

विशेषार्थ—भोजनको देखकर कोई तो यह विचार कर कि अब मुझे इससे क्या प्रयोजन है, वैराग्यकी ओर बढ़ता है। कोई थोड़ा-सा खाकर और कोई पूरा भोजन करके उससे अपना मन हटा लेता है। किन्तु कोई भोजनका स्वाद लेकर उसमें आसक्त होता है क्योंकि मोहनीय कर्मके विलास विचित्र हैं। इस प्रकार भोजनमें अज्ञानवश आसक्ति करने वालेको आचार्य उपदेश द्वारा प्राचीन कथाओंके द्वारा समझाते हैं ॥४८॥

नौ श्लोकोंसे आहार विशेषकी तृष्णाका निषेध करते हुए आहारके त्यागका क्रम बतलाते हैं—

अहो समस्त इन्द्रियोंको जीतनेवाले! असाधारण रूपसे वस्तु तत्त्वका निर्णय करने-वाले! महायशस्वी क्षपकोत्तम! क्या आज ये भोजन आदिके रूपमें रखे गये पुद्गल तुम्हें आत्माके उपकारक प्रतीत होते हैं? ॥४९॥

जिसे तुमने भोगकर नहीं छोड़ा; वह पुद्गल कोई भी है क्या? फिर यह पुद्गल रूपादिमान होनेसे मूर्तिक है और तुम रूपादिसे रहित अमूर्तिक हो। यह पुद्गल किसी तरह तुम्हारा उपकारी नहीं है ॥५०॥

केवलं करणैरेनमालम्ब्यानुभवन्भवान् ।
स्वभावमेवेष्टमिदं भुञ्जेऽहमिति मन्यते ॥५१॥

स्वभावं—आत्मपरिणामं वस्तु तस्यैवात्मना भोग्यत्वात् ।
तदुक्तम्—

'परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या ।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च ॥' [पुरुषा. १०] ॥५१॥

तदिदानीमिमां भ्रान्तिमभ्याजोन्मिषतीं हृदि ।
स एष समयो यत्र जाग्रति स्वहिते बुधाः ॥५२॥

अभ्याज—निवारय ॥५२॥

अन्योऽहं पुद्गलश्चान्य इत्येकान्तेन चिन्तय ।
येनापास्य परद्रव्यग्रहावेशं स्वमाविशेः ॥५३॥

स्वं—आत्मद्रव्यम् । आविशेः—उपयुञ्जीथास्त्वम् ॥५३॥

क्वापि चेत्पुद्गले सक्तो म्रियेथास्तद् ध्रुवं चरेः ।
तं कृमीभूय सुस्वादु चिर्भटासक्तभिक्षुवत् ॥५४॥

चरेः—भक्षयेस्त्वम् ॥५४॥

किन्तु चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा इस पुद्गलको विषय करके आत्मपरिणामका ही अनुभव करते हुए आप 'मैं इस सामने उपस्थित इष्ट वस्तुको ही भोगता हूँ' ऐसा मानते हैं। अर्थात् जिस समय आप किसी इष्ट वस्तुको भोगते हैं उस समय इन्द्रियोंके द्वारा आप मात्र उस वस्तुको विषय करते हैं, भोगते नहीं हैं। भोगते तो आप उस समय भी आत्मपरिणामको ही है क्योंकि वास्तवमें आत्मपरिणाम आत्माका भोग्य है। वस्तुभोगकी तो कल्पना मात्र है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका न कर्ता होता है और न भोक्ता होता है ॥५१॥

विशेषार्थ—आचार्य अमृतचन्द्रने कहा है—'अनादि सन्तान परम्परासे निरन्तर ज्ञानादि गुणोंके विकाररूप रागादि परिणामोंसे परिणमन करता हुआ यह जीव अपने परिणामोंका ही कर्ता और भोक्ता होता है' ॥५१॥

इसलिए इस समय हृदयमें उत्पन्न हो रही इस भ्रान्तिको दूर करो। वह समय यही है जिसमें तत्त्वदर्शी पुरुष अपने हितमें सावधान होते हैं ॥५२॥

मैं अन्य हूँ और पुद्गल अन्य है। अर्थात् मैं पुद्गलसे भिन्न हूँ और पुद्गल मुझसे भिन्न है, इस प्रकार सर्वथा चिन्तन करो। जिससे अर्थात् आत्मा और पुद्गलके भेदका चिन्तन करनेसे परद्रव्यमें आसक्तिको छोड़कर अपने आत्मद्रव्यमें उपयोगको लगाओ ॥५३॥

किसी भी भोजनादिरूप पुद्गलमें आसक्त रहते हुए मरे तो स्वादिष्ट चिर्भटी फलमें आसक्त भिक्षुकी तरह अवश्य ही उसीमें कीट होकर उसे खाओगे ॥५४॥

विशेषार्थ—एक मुनिराज जिनालयमें समाधिमरण करते थे। एक श्रावकने जिन भगवान्के सम्मुख खरबूजा चढ़ाया। उसकी गन्ध मुनिराजकी नाकमें पहुँची और उनकी इच्छा खरबूजा खानेकी हुई। उसी समय उनका मरण हुआ। तो वह मरकर उसी खरबूजे में कीट हुए। अतः मरते समय यदि समाधिमरण करनेवालेकी आसक्ति किसी खाद्यमें रही तो उसकी दुर्गति अनिवार्य होती है ॥५४॥

१. मलं ह्यनु-मु.।

> किं चाङ्गस्योपकार्यन्नं न चैतत्तत्प्रतीच्छति ।
> तच्छिन्धि तृष्णां भिन्धि स्वं देहात्रुन्धि दुरास्रवम् ॥५५॥

तृष्णां—अन्ने वाञ्छानुबन्धम् ॥५५॥

> इत्थं पथ्यप्रयासारैर्वितृष्णीकृत्य तं क्रमात् ।
> त्याजयित्वाशनं सूरिः स्निग्धपानं विवर्धयेत् ॥५६॥

पथ्यप्रयासारैः—हितप्रकाशनधारासंपातैः । स्निग्धपानं—दुग्धादिः । विवर्धयेत्—परिपूर्णं दद्यात् ॥५६॥

> पानं षोढा घनं लेपि ससिक्थं सविपर्ययम् ।
> प्रयोज्य हापयित्वा तत् खरपानं च पूरयेत् ॥५७॥

घनं—बहलं दध्यादि । सविपर्ययमिति वचनादच्छं तु तिन्त्रिकादिफलरससौवीरकोष्णजलादि । यदाह —

> 'आम्लेन कफः प्रलयं गच्छति पित्तं च शान्तिमुपयाति ।
> वायो रक्षाहेतोरत्र विदयो (विधेयो) महायत्नः ॥' [ ]

लेपि—यद्धस्ततलं लिम्पति तद्विपरीतमलेपि । ससिक्थं—सिक्थसहितं पयादि । तद्विपरीतमसिक्थं मण्डादि । यदाह—

> '.... ... ... ।
> ... ... वागूर्वीरत्नद्रवा ॥' [ ]

खरपानं—प्रथमं शुद्धकाञ्जिकादिरूपं पश्चाच्च शुद्धपानीयरूपम् । पूरयेत्—विवर्धयेत् ॥५७॥

इत्थं [च निर्यापकाचार्यः क्षपकं शिक्षयेदिति षड्भिः श्लोकैराह -]

तथा यह भोज्य पदार्थ शरीरका भी उपकारी नहीं है और न यह शरीर ही उसे उपकारक रूपसे ग्रहण करता है। इसलिए भोजन-विषयक तृष्णाको नष्ट करो, अपनेको शरीरसे भेदरूपसे भावन करो तथा पापकर्मके आस्रवके कारणको रोको। अर्थात् शरीरमें आत्मबुद्धि होनेसे ही पाप कर्मका आस्रव होता है। वही उसका मूल कारण है। अतः उसे दूर करो ॥५५॥

निर्यापकाचार्य इस प्रकार हितोपदेशरूपी जलवृष्टिके द्वारा उस क्षपकको भोजनकी ओरसे तृष्णारहित करके क्रमसे कवलाहारका त्याग करा दें और दूध आदि सचिक्कण पेय पदार्थको पूरी तरहसे देवें ॥५६॥

पेय द्रव्यके छह प्रकार हैं—१ घन अर्थात् गाढ़ा दही आदि, २ उसका विपरीत इमली आदि फलोंका रस, ३ लेपि अर्थात् जो हथेलीको लिप्त कर दे, ४ उससे विपरीत अर्थात् जो हाथसे चिपके नहीं, ५ ससिक्थ अर्थात् फुटकी सहित दूध आदि, ६ उससे विपरीत असिक्थ माण्ड आदि।

निर्यापकाचार्य ये छह प्रकारके पेयद्रव्य परिचारकोंके द्वारा दिलाकर फिर क्षपकके द्वारा छुड़वा दे। उसके बाद पहले शुद्ध कांजी आदि रूप और अन्तमें शुद्ध पानीरूप खरपान देवे ॥५७॥

निर्यापकाचार्य क्षपकको इस प्रकारसे शिक्षा देवें, यह छह श्लोकोंसे कहते हैं—

शिक्षयेच्चेति तं सेयमन्त्या सल्लेखनाऽऽर्य ते ।
अतीचारपिशाचेभ्यो रक्षैनामतिदुर्लभाम् ॥५८॥

अन्त्या—मारणान्तिकी । अतिदुर्लभा—आसंसारमप्राप्तपूर्वत्वात् ॥५८॥

प्रतिपत्तौ सजन्नस्यां मा शंस स्थास्नु जीवितम् ।
भ्रान्त्या रम्यं बहिर्वस्तु हास्यः को नाऽऽयुराशिषा ॥५९॥

प्रतिपत्तौ—आचार्यादिभिः क्रियमाणे परिचर्यादिविधौ । [महर्द्धिकैः पुरुषैश्च गौरवादरादिके । आयुराशिषा—जीवितं मे भूयादि]त्याशंसनेन । स एष जीविताशंसो नामातिचारः । पुनरनूद्योपपत्ति-विशेषेण त्याज्यतयोपदिष्टः । एवमुत्तरेऽपि ॥५९॥

परीषहभयादाशु मरणे मा मतिं कृथाः ।
दुःखं सोढा निहन्त्यंहो ब्रह्म हन्ति मुमूर्षुकः ॥६०॥

सोढा—साधुत्वेनासंक्लेश [परिणामलक्षणेन सहमानः । निहन्ति—निरुद्धास्रवं क्षपयति विपाकान्त]-त्वात्कर्मणाम् । मुमूर्षुकः—कुत्सितविधिना मर्तुमिच्छन् ॥६०॥

सहपांसुक्रीडितेन स्वं सख्या माऽनुरञ्जय ।
ईदृशैर्बहुशो भुक्तैर्मोहदुर्ललितैरलम् ॥६१॥
मा समन्वाहर प्रीतिविशेषे[1] कुत्रचित्स्मृतिम् ।
वासितोऽक्षसुखैरेव बम्भ्रमीति भवे भवी ॥६२॥

आचार्य क्षपकको इस प्रकार शिक्षा देवें—हे आर्य ! तुम्हारी यह वह आगम प्रसिद्ध अन्तिम सल्लेखना है । अत्यन्त दुर्लभ इस सल्लेखनाको अतिचाररूपी पिशाचोंसे बचाओ ।।५८।।

क्रमसे पाँच अतिचारोंको दूर करनेकी शिक्षा देते हैं—

इस आचार्य आदिके द्वारा की जा रही परिचर्या आदि विधिमें तथा बड़े सम्पन्न पुरुषोंके द्वारा किये जा रहे गौरवदान आदि आदर-सत्कारमें आसक्त होकर अधिक काल तक जीनेकी इच्छा मत करो । क्योंकि बाह्य वस्तु भ्रमसे अपनेको प्रिय प्रतीत होती है । आयुका आशीर्वाद चाहनेसे अर्थात् मैं जीवित रहूँ इस इच्छासे कौन मनुष्य लौकिक और विचारक जनोंकी हँसीका पात्र नहीं होता ॥५९॥

विशेषार्थ—यह जीविताशंसा नामक प्रथम अतीचार यहाँ उपपत्ति पूर्वक छुड़ानेके लिए पुनः कहा गया है । इसी प्रकार आगे भी प्रत्येक अतीचार कहा गया है ॥५९॥

दुःसह भूख-प्यास आदिकी वेदनाके भयसे शीघ्र मरनेकी इच्छा मत करो । क्योंकि दुःखको बिना संक्लेश भावसे सहन करनेवाला पूर्व उपार्जित पापकर्मका नाश करता है । किन्तु जो कुत्सित विधिसे मरना चाहता है वह आत्माका हनन करता है क्योंकि आत्मघात से संसार दीर्घ होता है ॥६०॥

बाल्य अवस्थामें जिसके साथ धूलमें खेले थे उस बचपनके मित्रके साथ अपनेको स्नेहबद्ध मत करो । पूर्व जन्मोंमें बहुत बार भोगे गये मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न इस प्रकारके खोटे परिणामोंसे तुम्हें क्या प्रयोजन है । तुम तो परलोक जानेके लिए तैयार हो ॥६१॥

किसी इन्द्रियके द्वारा पहले अनुभव किये गये किसी प्रीतिविशेषमें मनको मत लगाओ

---

१. प्रीतिविशिष्टे मु. ।

मा समन्वाहर—मानुबन्धिनीं कुरु उत्पद्यमानामेव निवारय [इत्यर्थः। ... ...॥६२॥

मा कांक्षीर्भाविभोगादीन् रोगादीनिव दुःखदान्।
वृणीते कालकूटं हि कः प्रसाद्येष्टदेवताम् ॥६३॥

[क्षपकस्य चतु-] विधाहारसंन्यासविधिं द्वाभ्यामाह—

इति व्रतशिरोरत्नं कृतसंस्कारमुद्वहन्।
खरपानक्रमत्यागात् प्रायेऽयमुपवेक्ष्यति ॥६४॥
एवं निवेद्य संघाय सूरिणा निपुणेक्षिणा।
सोऽनुज्ञातोऽखिलाहारं यावज्जीवं त्यजेत् त्रिधा ॥६५॥

व्रतशिरोरत्नं....—सल्लेखनां, तस्या एव सर्वव्रतानां साफल्यसम्पादकत्वेनोपरि भ्राजमानत्वात्। [चूडामणिरिवाभरणानाम्। प्राये चतुर्विधाहारसंन्यासे उपवेक्ष्य-] ति—निश्चलं स्थास्यति, दृढप्रतिज्ञो भविष्यतीत्यर्थः ॥६४॥ एवं—अत्रायं विधिः—

'त्यक्ष्यति सर्वाहारं यावज्जीवं निरन्तरत्रिविधम्।
निर्यापकसूरिवरः सङ्घाय निवेदयेदेवम् ॥
क्षपयति यः क्षपकोऽसौ पिच्छं[1] तस्येति संयमधनस्य।
दर्शयितव्यं नीत्वा सङ्घातितेषु[2] सर्वेषु ॥' [ ]

निपुणेक्षिणा—व्याधि-देश-काल-सत्त्व-सात्म्य-बल-परीषहक्षमत्व-[संवेग - वैराग्यादीनां सूक्ष्मेक्षिकया विचारकेणेत्यर्थः। त्रिधा-मनो-] वाक्कायैः ॥६५॥

कि मैंने इस प्रकार सुन्दर कामिनी आदिको देखा था और इस प्रकार आलिंगन किया था। क्योंकि इन्द्रिय सुखोंके दृढ़ संस्कारोंकी वासनाके कारण ही यह जीव संसारमें भ्रमण करता है। अर्थात् इसके भ्रमणका कारण आत्मज्ञानके संस्कार नहीं हैं किन्तु विषयवासनाके संस्कार हैं ॥६२॥

रोगोंकी तरह दुःख देनेवाले भावि भोगोंकी आकांक्षा कि तपके माहात्म्य आदिसे अमुक इष्ट विषय मुझे प्राप्त हो, मत करो। क्योंकि इष्ट वस्तुको देनेमें समर्थ देवी या देवको प्रसन्न करके उससे तत्काल प्राणहारी विष कौन माँगता है। अर्थात् समाधि पूर्वक मरण करके स्वर्ग आदिके भोगोंकी कामना वैसी ही है जैसे कोई वरदान देने वाले देवताको प्रसन्न करे और उससे प्रार्थना करे कि हमें ऐसा विष दो जिसके खाते ही प्राण चले जाये। भोग विषसे कम भयानक नहीं होते ॥६३॥

अब दो श्लोकोंसे क्षपकके चारों प्रकारके आहारके त्यागकी विधि कहते हैं—

पूर्वोक्त प्रकारसे अतिशयको प्राप्त तथा सब व्रतोंके चूड़ामणि सल्लेखनाको उत्तम रीति से धारण करनेवाला यह क्षपक शुद्ध जल मात्रके उपयोगका क्रमसे त्याग करके चारों प्रकार-के आहारके त्यागमें दृढ़ प्रतिज्ञ होगा।' इस प्रकार चतुर्विध श्रमण संघको सूचित करके सूक्ष्मदृष्टिसे सम्पन्न निर्यापकाचार्यके द्वारा अनुमति मिलने पर वह क्षपक जीवन पर्यन्तके लिए मन वचन कायसे चारों प्रकारके भोजनका त्याग करे ॥६४-६५॥

विशेषार्थ—पहले जो क्रमसे पाँच अतिचारोंको उपपत्ति पूर्वक त्यागनेकी प्रेरणा की है वही इस सल्लेखनाव्रतका संस्कार है। अतिचारोंके त्यागसे उसमें विशेषता आ जाती है। तथा जैसे सब आभूषणोंमें चूड़ामणि मस्तक पर धारण किया जाता है उसी तरह यह

१. पिच्छं। २. संघातकेषु—भ. कु. च.।

एवमतिशयेन परीषहबाधाक्षमं प्रति चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानमुपदिश्येदानीमतथाभूतस्य क्षपकस्य पानी-[यमात्रविकल्पनपूर्वकं त्रिविधप्रत्याख्यानमुपदिश्य चतुर्विधप्रत्याख्यानावसरनिरूपणार्थमाह —]

व्याध्याद्यपेक्षयाम्भो वा समाध्यर्थं विकल्पयेत् ।
भृशं शक्तिक्षये जह्यात्तदप्यासन्नमृत्युकः ॥६६॥

[व्याध्याद्यपेक्षया—यदि पैत्तिको व्याधिर्वा ग्रीष्मादिकालो वा मरुस्थलादिदेशो वा पैत्तिको प्रकृतिर्वा अन्यदप्येवंविधं तृष्णापरीषहोद्रेकासह-] न कारणं वा भवेत् गुर्वनुज्ञया पानीयमुपभोक्ष्येऽहमिति प्रत्याख्यानं प्रतिपद्येतेत्यर्थः । तदुक्तम्—

'अथवा समाधि... ... ... ।
... ... कालम् ॥' [ ] ॥६६॥

अथ तत्कालोचितं क्षपकोपकारिसंघस्यावश्यकरणीयमाह—

तदाऽखिलो वर्णिमुखप्राहितक्षमणो गणः ।
तस्याविघ्नसमाधानसिद्धये तनुतात्तनूत्सृतिम् ॥६७॥

वर्णीत्यादि । वर्णिनो—ब्रह्मचारिणो मुखेन ग्राहितो [क्षापितो यथाकथंचित्कृतापराधान् मम यूयं क्षमध्वम-] हं च भवत्कृतांस्तान् क्षम्ये इति क्षमणं यः स तथोक्तः । एतच्च 'एवं निवेद्य संघाय' इति प्रागुक्तमेव विशेष्यं पुनरुक्तम् । तस्येत्या [तस्य प्रत्याख्यातचतुर्विधभक्तस्य क्ष-] पकस्य च निरुपसर्गताहेतोः कायोत्सर्गः संघेन भवति कर्तव्यः ॥६७॥

सल्लेखना सब व्रतोंका चूड़ामणि है क्योंकि इसके धारणसे ही सब व्रत सफल होते हैं। समाधिमरण करानेवाले निर्यापकाचार्यको निपुण अर्थात् सूक्ष्मदृष्टिसे सम्पन्न कहा है क्योंकि वह क्षपकके रोग, देश, काल, सत्त्व, बल, परीषह सहन करनेकी क्षमता, संवेग, वैराग्य आदिका सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करता है। तब आहार त्याग कराता है। अन्यत्र भी इस विधिका कथन इसी प्रकार किया है—'यह निर्वेक्ष क्षपक जीवन पर्यन्तके लिए समस्त प्रकारके आहारका मन वचन कायसे त्याग करेगा' निर्यापकाचार्य इस प्रकार संघसे निवेदन करें। जो कर्मोंका क्षपण करता है वह क्षपक है। उस संयमीको सब प्रकारका भोजन दिखाकर उसका त्याग कराना चाहिए ॥६४-६५॥

इस प्रकार जो क्षपक परीषहकी बाधा सहनेमें अतिसमर्थ होता है उसके लिए चारों प्रकारके आहारके त्यागका उपदेश देकर अब जो क्षपक समर्थ नहीं है उसके लिए जल मात्रके सिवाय तीन प्रकारके आहारके त्यागका उपदेश करते हुए चतुर्विध आहारके त्यागका अवसर बतलाते हैं—

'यदि क्षपकको पित्त सम्बन्धी रोग है, अथवा ग्रीष्म आदि ऋतु है, मरुस्थल आदिका प्रदेश है या पित्त प्रकृति है, अथवा इसी प्रकारका तृष्णा परीषहके उद्रेकको सहन न कर सकनेका कोई कारण हो तो गुरुकी अनुज्ञासे मैं पानीका उपयोग करूँगा' इस प्रकारका प्रत्याख्यान स्वीकार करे, क्योंकि उसके बिना उसकी समाधि सम्भव नहीं होगी। जब उसकी शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाये और मरण निकट हो तो क्षपक उस जल का भी त्याग कर दे ॥६६॥

उस समय क्षपकके उपकारी जो कार्य संघको अवश्य करना चाहिए उसे कहते हैं—

उस समय किसी ब्रह्मचारीके मुखसे 'जिस किसी तरह हुए अपराधोंको आप क्षमा करें हम आपके अपराध क्षमा करते हैं' इस प्रकार क्षमा ग्रहण करके समस्त संघ 'उस क्षपक-की समाधि निर्विघ्न हो उसमें कोई विघ्न न आवे' इस हेतुसे कायोत्सर्ग करे ॥६७॥

अथैवमाराधनापताकाग्रहणोद्यतस्य क्षपकस्य निर्या[पकाः किं कुर्युरित्याह-]... ... ...

ततो निर्यापकाः कर्णे जपं प्रायोपवेशिनः ।
दद्युः संसारभयदं प्रीणयन्तो वचोऽमृतैः ॥६८॥

[अथातो निर्यापकाचार्यका-] र्यां क्षपकस्य महतीमनुशिष्टिमुत्तरप्रबन्धेनोपदिशति—

मिथ्यात्वं वम सम्यक्त्वं भजोर्जय जिनादिषु ।
भक्तिं भावनमस्कारे रमस्व ज्ञानमाविश ॥६९॥

भज—भावय । ऊर्जय—बलवतीं जीवन्तीं वा कुरु । आविश—उपयुंक्ष्व ।... ... ...

महाव्रतानि रक्षोच्चैः कषायान् जय यन्त्रय ।
अक्षाणि पश्य चात्मानमात्मनात्मनि मुक्तये ॥७०॥

[मिथ्यात्वस्यापायहेतुत्वं श्लोकद्वयेन स्प-] ष्टयति—

अधोमध्योर्ध्वलोकेषु नाभून्नास्ति न भावि वा ।
तद्दुःखं यन्न दीयेत मिथ्यात्वेन महारिणा ॥७१॥

स्पष्टम् ॥७१॥

संघश्रीर्भावयन्भूयो मिथ्यात्वं वन्दकाहितम् ।
धनदत्तसभायां प्राक् स्फुटिताक्षोऽभ्रमद् भवम् ॥७२॥

इस प्रकार आराधनाका झण्डा ग्रहण करनेके लिए तत्पर क्षपकके प्रति निर्यापक क्या करें, यह बताते हैं—

उसके पश्चात् अमृतके समान वचनोंसे क्षपकको सम्बोधित करते हुए निर्यापकगण समाधिमरण करनेवाले संन्यासीके कानमें संसारसे संवेग और निर्वेद देनेवाला जप देवें ॥६८॥

अब यहाँसे निर्यापकाचार्य क्षपकको जो महान् उपदेश देते हैं उसका वर्णन करते हैं—

हे आराधकराज ! विपरीत अभिनिवेशरूप मिथ्यात्वको वमन करो। अर्थात् जैसे वमनके द्वारा अन्दरका सब विकार बाहर कर दिया जाता है वैसे ही मिथ्यात्वको निःशेष कर दो। तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्वकी भावना करो। अर्हन्त आदि परमेष्ठियोंमें उनके प्रतिबिम्बोंमें और व्यवहारनिश्चयरूप रत्नत्रयमें भक्तिको बढ़ाओ। भावनमस्कार अर्थात् अर्हन्त आदिके गुणोंके अनुरागपूर्ण ध्यानमें रमण करो। तथा बाह्य और आध्यात्मिक तत्त्व-बोधमें उपयोगको लगाओ ॥६९॥

महाव्रतोंका पालन करो। क्रोधादि कषायोंका अत्यन्त निग्रह करो। स्पर्शन आदि इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्ति करनेसे रोको। तथा मुक्तिके लिए आत्मामें आत्मासे आत्माको देखो ॥७०॥

मिथ्यात्व अपायका कारण है, यह दो श्लोकोंसे कहते हैं—

परम शत्रु मिथ्यात्वके द्वारा जो दुःख दिया जाता है वह दुःख अधोलोक अर्थात् सुमेरुसे नीचे सात नरकोंमें, मध्यलोक अर्थात् जम्बूद्वीपसे लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त तिर्यग्लोकमें और ऊर्ध्वलोक अर्थात् मेरुकी चूलिकाके अन्तसे लेकर तनुवातवलय पर्यन्त न हुआ, न है और न भविष्यमें होगा ॥७१॥

वन्दकके द्वारा पुनः आरोपित मिथ्यात्वको अन्तरंगमें भाता हुआ धनदत्त राजाका मन्त्री संघश्री अपने स्वामी धनदत्तकी सभामें तत्काल अन्धा होकर संसारमें भ्रमण करता रहा ॥७२॥

सङ्घश्रीः—मन्त्री । बन्धकाहितं—भूयः स्वगुरुणा बन्धकेन पुनरारोपितम् ॥७२॥

अधोमध्योर्ध्वलोकेषु नाभून्नास्ति न भावि वा ।
१ तत्सुखं यन्न दीयेत सम्यक्त्वेन सुबन्धुना ॥७३॥

अथ सम्यक्त्वस्योपकारकत्वं द्वाभ्यां... ... ...

प्रहासितकुधीबद्धश्वभ्रायुःस्थितिरेकया ।
१ दृग्विशुद्ध्यापि भविता श्रेणिकः किल तीर्थकृत् ॥७४॥

[प्रहसिता—त्रयस्त्रिंशत्सागरोपम] परिमाणादपकृष्य चतुरशीतिवर्षशतप्रमाणा कृता ॥७४॥

विशेषार्थ—आन्ध्रदेशमें वेण्यातटपुर नगरके राजाका मन्त्री संघश्री बौद्धधर्मका पक्षपाती था। एक दिन राजा मन्त्रीके साथ अपने महलके ऊपर बैठा था। उधरसे दो चारण ऋद्धिधारी मुनि आकाशमार्गसे जाते थे। राजाकी प्रार्थनापर मुनिराज महलके ऊपर उतरे और उन्होंने धर्मोपदेश दिया। मुनिवरके उपदेशसे प्रभावित होकर मन्त्रीने भी जैनधर्म स्वीकार किया। किन्तु बौद्धगुरुके प्रभाववश पुनः बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया। एक दिन राजाने सभामें आकाशमार्गसे गमन करनेवाले मुनियोंकी चर्चा की और साक्षीके रूपमें मन्त्रीका नाम लिया। किन्तु मन्त्रीने राजाके कथनको असत्य बतलाया। तत्काल उसकी दोनों आँखें फूट गयीं। यह कथा हरिषेण कथाकोशमें असत्य भाषणके फलके रूपमें आयी है। अतः मिथ्यात्वके समान कोई अन्य शत्रु नहीं है। इसलिए सबसे प्रथम मिथ्यात्वका त्याग आवश्यक है ॥७२॥

दो श्लोकोंसे सम्यक्त्वका उपकारकपना बतलाते हैं—

सच्चे बन्धु सम्यक्त्वके द्वारा जो सुख दिया जाता है वह सुख अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकमें न भूतकालमें हुआ, न वर्तमानमें है और न भविष्यमें होगा ॥७३॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्वको जीवका परम शत्रु कहा है, क्योंकि उसके होते हुए ही बाह्य और अभ्यन्तर शत्रु अपकार करनेमें समर्थ होते हैं। और सम्यक्त्वको सुबन्धु कहा है क्योंकि वह सर्वत्र सर्वदा सबका उपकारक है और समस्त प्रकारके अनिष्टोंको रोकता है। आचार्य समन्तभद्रने भी कहा है कि तीनों कालों और तीनों लोकोंमें सम्यक्त्वके समान कोई कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्वके समान कोई अकल्याणकारी नहीं है ॥७३॥

आगममें ऐसा सुना जाता है कि मगधका सम्राट् राजा श्रेणिक, जिन्होंने तीव्र मिथ्यात्व परिणामसे सातवें नरककी आयुका बन्ध किया था, और सम्यक्त्वके माहात्म्यसे सप्तम नरककी तैंतीस सागर प्रमाण आयु घटकर रत्नप्रभा नामक प्रथम पृथ्वीमें चौरासी हजार वर्ष परिमाण शेष रही थी, तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके सोलह कारणोंमें-से मात्र एक दर्शन-विशुद्धिसे आगामी उत्सर्पिणीकालमें प्रथम तीर्थंकर होगा ॥७४॥

विशेषार्थ—राजा श्रेणिकने एक मुनिके गलेमें मरा सर्प डाला था। तभी उसने तीव्र मिथ्यात्व परिणामसे सातवें नरककी आयुका बन्ध किया था। पीछे अपनी रानी चेलनाके समझानेसे उसे पश्चात्ताप हुआ और वह भगवान् महावीरकी समवशरण सभामें प्रधान श्रोता हुआ। तभी उसने तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया ॥७४॥

१. 'न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि । श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥'
—र. श्रा., ३४ श्लो. ।

अथार्हद्भक्तेर्माहात्म्यं द्वाभ्यामाह—

> एकैवास्तु जिने भक्तिः किमन्यैः स्वेष्टसाधनैः ।
> या दोग्धि कामानुच्छिद्य सद्योऽपायानशेषतः ॥७५॥

स्पष्टम् ॥७५॥

> वासुपूज्याय नमः इत्युक्त्वा तत्संसदं गतः ।
> द्विर्देवारब्धविघ्नोऽभूत् पद्मः शक्रार्चितो गणी ॥७६॥

द्विर्देवं—[धन्वन्तरि-विश्वानुलोमचरामरद्वयम् । पद्मः—पद्मरथो नाम मिथिलाना-] थः । शक्रार्चितः—इन्द्रकृतप्रातिहार्यः ॥७६॥

अथ भावनमस्कारमाहात्म्यं द्वाभ्यामाह—

> एकोऽप्यर्हन्नमस्कारश्चेद्विशेन्मरणे मनः ।
> संपाद्याभ्युदयं मुक्तिश्रियमुत्कयति द्रुतम् ॥७७॥

स्पष्टम् ॥७७॥

दो श्लोकोंसे जिनभक्तिका माहात्म्य कहते हैं—

भगवान् जिनदेवमें अकेली ही भक्ति रही, जिनभक्तिसे अतिरिक्त अपनी इष्टसिद्धिके अन्य उपायोंसे क्या प्रयोजन है। जो जिनभक्ति तत्काल समस्त विघ्न-बाधाओंको नष्ट करके मनोरथोंको पूरा करती है ॥७५॥

विशेषार्थ—विशुद्ध भावपूर्वक आन्तरिक अनुरागको भक्ति कहते हैं। काम निकालनेके लिए चापलूसी करनेका नाम भक्ति नहीं है। सच्ची भक्ति किसी स्वार्थसे नहीं होती। वह तो गुणानुरागसे होती है। जिनदेवके गुणोंमें सच्चा अनुराग ही जिनभक्ति है। उसके बिना समस्त पुरुषार्थोंके साधन व्यर्थ हैं ॥७५॥

दो देवोंके द्वारा विघ्न उपस्थित किये जानेपर मिथिलाका स्वामी पद्मरथ 'वासुपूज्य स्वामीको नमस्कार हो' ऐसा कहकर वासुपूज्य स्वामीके समवसरणमें गया। और उनका गणधर होकर इन्द्रसे पूजित हुआ ॥७६॥

विशेषार्थ—मिथिलापुरीका राजा पद्मरथ वासुपूज्य स्वामीके दर्शनोंके लिए चला। मार्गमें उसकी परीक्षा लेनेके लिए दो देवोंने उसपर विघ्न करना शुरू किया। किन्तु हवाके साथ घोर वर्षा, उल्कापात, सिंहोंका उपद्रव आदि करनेपर भी पद्मरथ विचलित नहीं हुआ। तब उन्होंने मायामयी कीचड़ रचकर राजा सहित हाथीको उसमें डुबा दिया। डूबते हुए राजाके मुखसे निकला—'वासुपूज्य स्वामीको नमस्कार हो।' प्रसन्न होकर देवोंने अपनी माया हटा ली और राजाका सम्मान किया। राजा वासुपूज्य स्वामीके समवसरणमें आकर दीक्षा लेकर भगवान्‌का गणधर बना और मुक्त हो गया ॥७६॥

दो श्लोकों से भावनमस्कार का माहात्म्य कहते हैं—

मरते समय मनमें यदि अकेला 'अर्हन्त भगवान्‌को नमस्कार हो' यह भावरूपसे व्याप्त रहे तो महान् ऋद्धिको प्राप्त कराकर शीघ्र मोक्षलक्ष्मीको उत्कण्ठित करता है। अर्थात् अनन्तर भवमें अथवा दो-तीन भवोंमें परम पदको प्राप्त कराता है ॥७७॥

स णमो अरहंताणमित्युच्चारणतत्परः ।
गोपः सुदर्शनीभूय सुभगाख्यः शिवं गतः ॥७८॥

१ सुदर्शनीभूय—[वृषभदासश्रेष्ठिपुत्रसुदर्शनाख्यः सुरूपः सुसम्यक्त्वश्च भूत्वा] ॥७८॥

अथ ज्ञानोपयोगमाहात्म्यं त्रिभिराह—

स्वाध्यायादि यथाशक्ति भक्तिपीतमनाश्चरन् ।
१ तात्कालिकाद्भुतफलादुदर्के तर्कमस्यति ॥७९॥

उदर्के—उत्तरफले । तर्कं—विकल्पं संशयरूपं विमर्शमित्यर्थः ॥७९॥

शूले प्रोतो महामन्त्रं धनदत्तार्पितं स्मरन् ।
१ दृढसूर्यो मृतोऽभ्येत्य सौधर्मात्तमुपाकरोत् ॥८०॥

महामन्त्रं—पञ्चनमस्कारम् । तदनुचिन्तनस्योत्कृष्टस्वाध्यायत्वात् ।

'णमो अरहंताणं' इस अर्हन्त नमस्कारके उच्चारणमें लीन हुआ सुभग नामक वह आगम-प्रसिद्ध ग्वाला सुदर्शन श्रेष्ठी होकर तथा सुरूप और सम्यक्त्वसे सम्पन्न होकर परम मुक्तिको प्राप्त हुआ ॥७८॥

विशेषार्थ—सुदर्शन सेठकी कथा आगममें प्रसिद्ध है। पूर्वजन्ममें वह एक ग्वाला था और एक श्रेष्ठीकी गायें चराता था। श्रेष्ठी णमोकार मन्त्रका जप किया करता था। सुनते-सुनते उसे भी उसका पहला पद याद हो गया। एक दिन वह जंगलमें गायोंको चरता छोड़कर सो गया। जब जागा तो गायें एक नालेको पार करके दूर चली गयी थीं। उन्हें पकड़नेके लिए जैसे ही वह नालेमें कूदा एक लकड़ी उसके पेट में घुस गयी। उसने 'णमो अरहंताणं' उच्चारण करते हुए प्राण त्यागे और मरकर सुदर्शन सेठ हुआ। वह इतना सुरूप था कि उस नगरके राजाकी रानी उसके रूपपर मुग्ध हो गयी। किन्तु सुदर्शन तो अणुव्रतधारी श्रावक था। प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशीको उपवासपूर्वक रात्रिके समय श्मशानमें जाकर ध्यान लगाता था। जब वह किसी तरह रानीकी बातोंमें न आ सका तो एक दिन रानीने कुट्टनीके द्वारा उसे श्मशानसे उठवा मँगाया। किन्तु फिर भी सुदर्शन विचलित नहीं हुआ। तब रानीने उसपर शीलभंगका आरोप लगाया। राजाने सूलीपर चढ़ानेकी सजा दी। किन्तु वनदेवताके साहाय्यसे प्राण बचे। तब जिनदीक्षा लेकर पटनासे मुक्ति प्राप्त की ॥७८॥

तीन श्लोकोंसे ज्ञानोपयोगका माहात्म्य कहते हैं—

मनको भक्तिसे अनुरंजित करके अपनी शक्तिके अनुसार स्वाध्याय, वन्दना, प्रतिक्रमण आदि षट्कर्म करनेवाला स्वाध्याय करते समय होनेवाले अद्भुत फलसे उत्तरकालीन फलके विषयमें संशयको छोड़ देता है। अर्थात् स्वाध्याय करनेके समयमें उसे ऐसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है जिससे वह असम्भव अदृष्टका भी निश्चय करनेमें समर्थ होता है। तब उसे उत्तर फलके सम्बन्धमें इस प्रकारका सन्देह नहीं होता कि स्वाध्यायका आगममें जो अद्भुत फल कहा है वह मुझे प्राप्त होगा या नहीं? ॥७९॥

सूलीपर चढ़ाया गया और धनदत्त श्रेष्ठीके द्वारा दिये गये पंचनमस्कार मन्त्रका चिन्तन करता हुआ दृढ़सूर्य नामक चोर मरा और सौधर्म स्वर्गसे आकर उसने धनदत्त सेठका उपकार किया ॥८०॥

यदाह—

'स्वाध्यायः परमस्तावज्जपः पञ्चनमस्कृतेः ।' इति ।

अभ्येत्य सौधर्मात्—सौधर्मे महर्द्धिकदेवत्वं प्राप्त इत्यर्थादापन्नम बोध्यम् ॥८०॥

खण्डश्लोकैस्त्रिभिः कुर्वन् स्वाध्यायादि स्वयं कृतैः ।
मुनिनिन्दाप्तमौग्ध्योऽपि यमः सप्तर्द्धिभूरभूत् ॥८१॥

त्रिभिः—'कट्टसि पुण णिक्खेवसि रे गदहा जवं पत्थेसि खादिदुं ।'
'अण्णत्थ किं फलोवइ तुम्हे इत्थं णिबुद्धिया छिद्दे ।'

अच्छईणिया
'अम्हादो णत्थि भयं दिहादो दीसए भयं तुम्ह ।' ॥८१॥

अहिंसाहिंसयोर्माहात्म्यं द्वाभ्यामाह—

अहिंसाप्रत्यपि दृढं भजन्नोजायते रुजि ।
यस्त्वप्यहिंसासर्वस्वे स सर्वाः क्षिपते रुजः ॥८२॥

अहिंसा प्रत्यपि—स्तोकामप्यहिंसाम् । 'स्तोके प्रतिना' इत्यव्ययीभावः । ओजायते—ओजस्वीवाचरति । दुःखेन नाभिभूयत इत्यर्थः । रुजि—उपसर्गादिपीडायामुपस्थितायाम् । अप्यहिंसासर्वस्वे—सकलाहिंसाया ईश्वर इत्यर्थः । 'ईश्वरेऽधि' इत्यनेन सप्तमी ॥८२॥

विशेषार्थ—जब दृढसूर्य चोरको सूली दी गयी तो धनदत्त सेठ उधरसे निकले । चोरने उनसे पीनेके लिए पानी माँगा । दयालु धर्मात्मा सेठको उसपर दया आयी । सेठने कहा—मुझे गुरुने एक मन्त्र दिया है और कहा है कि भूलना नहीं । मैं पानी लेने गया तो मन्त्र भूल जाऊँगा तुम मेरा मन्त्र स्मरण रखो तो मैं तुम्हारे लिये पानी लाऊँ। इस बहानेसे सेठने चोरको नमस्कार मन्त्र दिया और वह उसी का स्मरण करते हुए मर गया । इधर राजाको सूचना मिली कि धनदत्त सेठने चोरसे वार्तालाप किया है तो चोरका साथी जानकर राजसेवकोंने सेठका घर घेर लिया । उधर चोर मरकर नमस्कार मन्त्रके प्रभावसे सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ । प्रबुद्ध होते ही वह यह जाननेके लिए उत्सुक हुआ कि यह सब क्या है और मैं कहाँ हूँ । तत्काल अवधिज्ञानसे उसे अपने पूर्वजन्मका वृत्त ज्ञात हुआ तो वह कृतज्ञतावश सेठके पास आया तो उसने देखा कि सेठका घर घिरा है और सेठको पकड़नेकी तैयारी है तब उसने सेठका उपसर्ग दूर किया और उसका बहुत आदर-सत्कार किया । यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि स्वाध्यायके प्रभावके प्रकरणमें पंचनमस्कार मन्त्रका प्रभाव दिखलानेसे क्या प्रयोजन है । इसका उत्तर यह है कि पंचनमस्कारका चिन्तन उत्कृष्ट स्वाध्याय है ॥८०॥

अपने द्वारा रचे गये तीन श्लोक खण्डोंसे स्वाध्याय आदि करनेवाले यम नामके मुनि, जिन्हें मुनिनिन्दाके कारण मूढ़ता प्राप्त हुई थी, सात ऋद्धियोंके स्वामी हुए ॥८१॥

विशेषार्थ—राजा यम मुनिनिन्दाके पापसे बुद्धिहीन हो गये तो उन्होंने जिनदीक्षा धारण कर ली । किन्तु बहुत प्रयत्न करनेपर भी उन्हें ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई । तब खेदखिन्न होकर वे अकेले विहार करने लगे । उन्होंने मार्गकी तीन घटनाओंको लक्ष्य करके तीन खण्ड श्लोक रच लिये और उन्हींका स्वाध्याय करते-करते वे ऋद्धिधारी मुनि हो गये । इनकी रोचक कथा भी हरिषेणके कथाकोशमें पढ़ने योग्य है । अतः स्वाध्यायका बड़ा महत्त्व है ॥८१॥

दो श्लोकोंसे अहिंसा और हिंसाका महत्त्व बतलाते हैं—

थोड़ी-सी भी अहिंसाको दृढ़तापूर्वक पालन करनेवाला उपसर्ग आदिकी पीड़ा उपस्थित

यमपालो ह्रदेऽहिंसन्नेकाहं पूजितोऽप्सुरैः ।
धर्मस्तत्रैव मेण्ढघ्नः शिशुमारैस्तु भक्षितः ॥८३॥

यमपालः—वाराणस्यां मातङ्गः । ह्रदे—शिशुमारह्रदे । अहिंसन्नेकाहं—चतुर्दशीदिने हिंसामकुर्वन् । अप्सरैः—जलदेवताभिः । धर्मः—श्रेष्ठिपुत्रः । मेण्ढघ्नः—राजमेण्ढकं हतवान् ॥८३॥

अथासत्यकृतापायं द्वाभ्यामाह —

मा गां कामदुघां मिथ्यावादव्याघ्रोन्मुखीं कृथाः ।
अल्पोऽपि हि मृषावादः श्वभ्रदुःखाय कल्पते ॥८४॥

गां—वाचं धेनुं च ॥८४॥

अजैर्यष्टव्यमित्यत्र धान्यैस्त्रैवार्षिकैरिति ।
व्याख्यां छागैरिति परावर्त्यागान्नरकं वसुः ॥८५॥

अजैरित्यादि—न जायन्ते इत्यजा वर्षत्रयवृत्तयो व्रीहयस्तैर्यष्टव्यं शान्तिकपौष्टिकार्था क्रिया कार्येति क्षीरकदम्बाचार्यव्याख्यानं परावृत्य । अजैः—अजासमवैर्यष्टव्यं हव्यकव्यार्थो विधिर्विधातव्यः इत्यन्यथा कृत्वा ॥८५॥

होनेपर दुःखसे अभिभूत नहीं होता। जो समस्त अहिंसाका स्वामी होता है वह तो समस्त दुःखोंसे दूर रहता है ॥८२॥

केवल एक चतुर्दशीके दिन हिंसा न करनेवाला यमपाल चाण्डालके तालाबमें जलदेवतासे पूजित हुआ। किन्तु राजाके मेढ़ेको मारनेवाला राजपुत्र धर्म उसी तालाबमें मगरमच्छोंके द्वारा खाया गया ॥८३॥

विशेषार्थ—वाराणसी नगरीके राजाने अष्टाह्निकामें जीवहत्यापर प्रतिबन्ध लगा दिया था। फिर भी राजपुत्र धर्मने राजाके मेढ़ेका वध किया। राजाने उसे मृत्युदण्ड दिया और यमपाल चाण्डालको बुलवाया। अपराधियोंको प्राणदण्ड देनेका कार्य वही करता था। किन्तु उसने मुनिराजसे व्रत लिया था कि मैं चतुर्दशीके दिन किसीका प्राणघात नहीं करूँगा। और उस दिन चतुर्दशी थी। यमपालने राजाज्ञा पालन करना स्वीकार नहीं किया तो उसे धर्मके साथ मगरमच्छोंसे भरे तालाबमें फेंक दिया। यमपालको तो जलदेवताने बचा लिया और पूजित किया किन्तु धर्मको मगरमच्छ खा गये यह अहिंसा और हिंसाका माहात्म्य है। आचार्य समन्तभद्रने यमपालको अहिंसाणुव्रतके पालन करनेवालोंमें प्रसिद्ध कहा है ॥८३॥

दो श्लोकोंसे असत्य भाषणके दोष कहते हैं—

हे क्षपक! कामधेनु स्वरूप वाणीको असत्य भाषणरूपी व्याघ्रके सामने मत ले जाओ। थोड़ा-सा भी झूठ बोलना नरकका दुःख देता है ॥८४॥

'अजैर्यष्टव्यम्' इस वेद वाक्यमें 'अज' की तीन वर्ष पुराना धान्य इस व्याख्याको बकरेमें बदल देनेसे राजा वसु नरकमें गया ॥८५॥

विशेषार्थ—क्षीरकदम्बक उपाध्यायके पास राजपुत्र वसु, उपाध्यायका पुत्र पर्वत तथा एक नारद नामक छात्र पढ़ते थे। एक बार गुरुका मरण सुनकर नारद मिलने आया तो पर्वत शिष्योंको पढ़ा रहा था। उसने 'अजैर्यष्टव्यम्'का अर्थ बकरेसे हवन करना चाहिए—किया तो नारदने टोका कि गुरुजीने 'अज' शब्दका अर्थ—जो बोनेपर उग न सके ऐसे तीन वर्ष पुराने जौ पढ़ाया था। इसपर दोनोंमें विवाद हुआ तो अपने तीसरे साथी वसुको जो अब राजा था निर्णायक माना। गुरुपत्नी भी इस विवादको सुन रही थी।

अथ स्तेयानुभावं द्वाभ्यामाह—

आस्तां स्तेयमभिध्यापि विध्याप्याग्निरिव त्वया ।
हरन् परस्वं तदसून् जिहीर्षन् स्वं हिनस्ति हि ॥८६॥ ३

अभिध्या—परस्वविषये स्पृहा ॥८६॥

रात्रौ मुषित्वा कौशाम्बीं दिवा पञ्चतपश्चरन् ।
शिक्यस्थस्तापसोऽधोऽगात् तलारकृतदुर्मृतिः ॥८७॥ १

पञ्चतपश्चरन्—पञ्चाग्निसाधनं कुर्वन् । शिक्यस्थः—परभूमिं न स्पृशामीति लम्बमाने शिक्ये तिष्ठन् ॥८७॥

उन्हें स्मरण आया कि उनके पति 'अज' शब्दका वही अर्थ करते थे जो नारद कहता है। अतः नारदका कहना ठीक है पर्वतका कथन गलत है। किन्तु अब तो दोनोंने वसुको निर्णायक माना था। इसलिए गुरुपत्नी अपने पुत्रके मोहवश वसुके पास पहुँची और उससे बोली—तुम्हें स्मरण है कि जब तुम गुरुके पास पढ़ते थे, तुम्हें मैंने गुरुके कोपसे बचाया था और तुमने मुझे वचन दिया था? वसुने स्वीकार किया तो बोली—कल तुम्हारे सम्मुख नारद और पर्वतका विवाद आयेगा। तुम्हें पर्वतका पक्ष करना होगा। वसुने गुरुपत्नीके आग्रहसे स्वीकार किया। दूसरे दिन विवाद उपस्थित होनेपर वचनबद्ध वसुने पर्वतका पक्ष ग्रहण किया और नरकका पात्र बना। अतः शास्त्रोंके अर्थमें विपरीतता करना भी असत्यभाषण ही है। इसलिए शास्त्रोंका अर्थ करते समय भी असत्यभाषणसे बचना चाहिए ॥८५॥

दो श्लोकोंसे चोरीका प्रभाव कहते हैं—

हे समाधिमरणके इच्छुक! चोरीकी तो बात ही क्या, उसकी इच्छाको भी तुम्हें आगकी तरह तत्काल शान्त कर देना चाहिए। अर्थात् जैसे आग सन्तापका कारण है वैसे ही परधनकी इच्छा भी सन्तापका कारण है। क्योंकि परद्रव्यको हरनेवाला उसके प्राणोंको हरना चाहता है अतः वह अपना ही घात करता है ॥८६॥

विशेषार्थ—उक्त कथनका अभिप्राय यह है कि जो पराये धनको चुराता है उसमें दूसरेके प्राणोंका घात करनेकी इच्छा अवश्य होती है क्योंकि धन प्राणके समान प्रिय होता है। और परके प्राणोंका घात करनेकी इच्छा अपने आत्माकी हिंसा है क्योंकि परमार्थसे तो उसे ही हिंसा कहते हैं। भावहिंसाके होनेपर ही द्रव्यहिंसा दुरन्त संसार दुःखरूप अपना फल देती है ॥८६॥

रात्रिमें कौशाम्बी नगरीमें चोरी करके दिनमें छींके पर बैठकर पंचाग्नि तप करनेवाला तापस कोतवालके द्वारा रौद्रध्यान पूर्वक मारा जाकर नरकमें गया ॥८७॥

विशेषार्थ—कौशाम्बी नगरीमें साधुके वेशमें एक चोर वृक्षकी डालमें छींका डालकर उसपर बैठकर तपस्या किया करता था। पूछने पर वह कहता था कि मैं परायी वस्तुका स्पर्श नहीं करता इसीसे पृथ्वीसे ऊपर छींके पर बैठता हूँ। किन्तु रात होते ही वह नगरमें चोरी करता था। जब चोरियोंकी बहुत शिकायतें राजा तक पहुँची और कोतवाल पर डाँट पड़ी। तब एक अनुभवी ब्राह्मणने कहा कि इस नगरमें जो सबसे निर्लिप्त अपनेको दिखाता है वही चोर हो सकता है। और इस तरह वह तापसवेशी चोर पकड़ा गया तथा मार डाला गया ॥८७॥

अथ ब्रह्मचर्यदाढर्यमाह—

पूर्वेऽपि बहवो यत्र स्खलित्वा नोद्गताः पुनः ।
तत्परं ब्रह्म चरितुं ब्रह्मचर्यं परं चरेत् ॥८८॥

पूर्वे—रुद्रादयः ॥८८॥

अथ नैर्ग्रन्थ्यव्रतं दृढयितुमाह—

मिथ्येष्टस्य स्मरन् श्मश्रुनवनीतस्य दुर्मृतेः ।
मोपेक्षिष्ठाः क्वचिद् ग्रन्थे मनोमूर्छन्मनागपि ॥८९॥

[श्मश्रुनव-] नीतस्य—लुब्धदत्ताख्यस्य श्रेष्ठिपुत्रस्य ॥८९॥

अथ निश्चयेन नैर्ग्रन्थ्यप्रतिपत्त्यर्थमाह—

बाह्यो ग्रन्थोऽङ्गमक्षाणामान्तरो विषयैषिता ।
निर्मोहस्तत्र निर्ग्रन्थः पान्थः शिवपुरेऽर्थतः ॥९०॥

बाह्य इत्यादि । उक्तं च—

जिस ब्रह्मचर्य व्रतमें आजकलके मुनियोंकी तो बात ही क्या, पूर्वकालीन रुद्र आदि बहुतसे महान् पुरुष स्खलित होकर पुनः नहीं उठ सके, गिरते ही चले गये, उस उत्कृष्ट निर्विकल्प आत्मज्ञानका अनुभव करनेके लिए अर्थात् शुद्ध स्वात्माका स्वात्माके द्वारा संवेदन करनेके लिए निरतिचार ब्रह्मचर्यव्रतको धारण करो ॥८८॥

परिग्रह त्यागव्रतको दृढ़ करनेके लिए कहते हैं—

मिथ्या मनोरथ करनेवाले श्मश्रुनवनीत नामक एक श्रेष्ठिपुत्रके रौद्रध्यान पूर्वक मरणका स्मरण करके हे क्षपक ! किसी परिग्रहमें किंचित् भी ममत्वभाव करनेवाले मनकी उपेक्षा मत करो । अर्थात् समस्त परिग्रहमें अपने मनको निरासक्त रखो ॥८९॥

विशेषार्थ—एक श्रेष्ठिपुत्र व्यापारके लिए समुद्र यात्रा पर गया । लौटते समय उसका जहाज डूब गया । जिस किसी तरह एक तख्तेके सहारे वह किनारे लगा और पासके गाँव में फूँसकी झोपड़ी डालकर रहने लगा । गाँवके लोग उसे पीनेके लिए छाछ देते थे । छाछ पीते समय कुछ घी उसकी मूँछोंमें लग जाता था । उसे वह एक हाँड़ीमें एकत्र करता जाता था । इसीसे उसका नाम श्मश्रु नवनीत अर्थात् मूछोंके मक्खन वाला पड़ गया था । धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों हाँड़ीमें घी एकत्र होता गया उसके मिथ्या मनोरथ बढ़ते गये । एक दिन शीत ऋतु में नीचे आग जलती थी । उसीके ऊपर हाँड़ी टँगी थी और पैर फैलाये श्मश्रुनवनीत अपने मिथ्या विकल्पोंमें उलझा था कि घी बेचकर गाय लूँगा, फिर विवाह करूँगा, बच्चे पैदा होंगे, वे मुझे भोजनको बुलाने आयेंगे तो उन्हें लात मारकर भगा दूँगा । इस कल्पनामें सचमुच ही वह लात चला बैठा । उसका पैर ऊपर टँगी हाँड़ीमें लगा । घी की हाँड़ी आगमें गिरी और आग भड़क उठी । उसीमें जलकर वह मर गया । उसकी घटनाको स्मरण कर किसी भी परिग्रहमें मन किंचित् भी उलझता हो तो सावधान हो जाओ । उसकी उपेक्षा मत करो ॥८९॥

शरीर बाह्य परिग्रह है । स्पर्शन आदि इन्द्रियोंकी स्पर्श आदि विषयोंमें अभिलाषा अन्तरंग परिग्रह है । जो इन दोनों ही प्रकारके ग्रन्थोंमें निर्मोह है वही साधु परमार्थसे

'देहो बाहिरगंथो अण्णो अक्खाण विसय अहिलासो ।
ताणुवरि हयमोहो परमत्थे हवइ णिग्गंथो ॥' [आरा. सार. ३३] ॥९०॥

अथ कषायेन्द्रियकृतापायाननुस्मारयन्नाह—

कषायेन्द्रियतन्त्राणां तत्तादृग्दुःखभागिताम् ।
परामृशन्मा स्म भवः शंसितव्रत तद्वशः ॥९१॥

स्पष्टम् ॥९१॥

अथैवं व्यवहाराराधनानिष्ठतां विधाप्येदानीं निश्चयाराधनापरत्वविधानार्थं श्लोकद्वयमाह—

श्रुतस्कन्धस्य वाक्यं वा पदं वाक्षरमेव वा ।
यत्किंचिद्रोचते तत्रालम्ब्य चित्तलयं नय ॥९२॥

वाक्यं—णमो अरहंताणमित्यादि । पदं—अर्हमित्यादि । अक्षरं—अ सि. आ उ सा इत्यादीनामेकतमम् । तत्र इष्टे वाक्यादीनामन्यतमे ।

उक्तं च—

'मृतिकाले श्रुतस्कन्धः सर्वो द्वादशभेदकः ।
न जातु शक्यते स्मर्तुं चलिताशक्तचेतसा ॥
एकत्रापि पदे यत्रानुरागं भजते नरः ।
जिनमार्गे न तत्त्याज्यमायुरन्त उपस्थिते ॥
इत एकमपि श्लोकं मृतिकाले विचिन्तयन् ।
रत्नत्रयसमाधानो भवत्याराधको यतिः ॥' [ ] ॥९२॥

निर्ग्रन्थ अर्थात् अपरिग्रही है और निर्वाणनगरका स्थायी पथिक है। क्योंकि निर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्गमें सतत गमन करनेमें समर्थ होता है ॥९०॥

आगे कषाय और इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले अपायोंका स्मरण कराते हैं—

हे प्रशस्त रीतिसे व्रतोंको धारण करनेवाले! कषाय और इन्द्रियोंके अधीन हुए प्राणियोंके पीछे कहे हुए असाधारण कष्ट भोगनेका विचार करके उनके वशमें मत होओ ॥९१॥

इस प्रकार व्यवहार आराधनाको कहकर निश्चय आराधनाका उपदेश देते हैं—

हे व्यवहार आराधना करनेवाले आराधक श्रेष्ठ! श्रुतस्कन्धका कोई वाक्य अथवा कोई पद अथवा अक्षर, जो कोई भी तुम्हें रुचे, उसीका आलम्बन लेकर उसमें मनको लीन करो ॥९२॥

विशेषार्थ—आचारांग आदि बारह अंगोंको अंगप्रविष्ट कहते हैं। सामायिक आदि प्रकीर्णकोंको अंगबाह्य कहते हैं। तथा इन सबके समूहको श्रुतस्कन्ध कहते हैं। उनके वाक्य बाह्य शब्दरूप भी हो सकते हैं और विचाररूप आभ्यन्तर भी हो सकते हैं। जैसे पंचनमस्कार मन्त्र उसीका वाक्य है। 'णमो अरहंताणं' यह पद है। अर्हं या अ सि आ उ सा ये अक्षर हैं। इनमें-से जो रुचता हो उसका आलम्बन लेकर मनको उसमें लय करना निश्चय आराधना है। यह पदस्थध्यान है जो धर्मध्यानका ही भेद है। पदादिक मनको एकाग्र करनेके आलम्बन हो सकते हैं। ध्यानका मुख्य केन्द्र तो आत्मा होता है। कहा है—'मरते

---

१. 'तेसिं' आरा सबओ पर—आ. सा. ।

शुद्धं श्रुतेन स्वात्मानं गृहीत्वार्य स्वसंविदा।
भावयंस्तल्लयापास्तचिन्तो मृत्वैहि निर्वृतिम् ॥९३॥

एहि—गच्छ त्वम्। 'मृत्वैहि' इत्यत्र 'ओमोङ्क्वोः'[1] इत्यनेन पररूपम्।

उक्तं च—

'आराधनोपयुक्तः सन् सम्यक्कालं विधाय च।
उत्कर्षात्त्रीन् भवान् गत्वा प्रयाति परिनिर्वृतिम् ॥' [ ] ॥९३॥

संन्यासो निश्चयेनोक्तः स हि निश्चयवादिभिः।
यः स्वस्वभावे विन्यासो निर्विकल्पस्य योगिनः ॥९४॥

अथ परीषहादिना विक्षिप्यमाणचित्तस्य क्षपकस्य निर्यापकः किं कुर्यादित्याह—

परीषहोऽथवा कश्चिदुपसर्गो यदा मनः।
क्षपकस्य क्षिपेज्ज्ञानसारैः प्रत्याहरेत्तदा ॥९५॥

प्रत्याहरेत्—व्यावर्तयेत् शुद्धस्वात्मोन्मुखं कुर्यादित्यर्थः ॥९५॥

समय चित्तके अशक्त होनेसे समस्त द्वादशांगरूप श्रुतस्कन्धका स्मरण करना शक्य नहीं है। अतः आयुका अन्त उपस्थित होनेपर मनुष्यका जिस किसी एक वाक्यमें भी अनुराग हो जिनमार्गमें वह त्याज्य नहीं है। अतः मरते समय एक भी श्लोकका चिन्तन करनेवाला यति रत्नत्रयका आराधक होता है' ॥९२॥

हे आर्य! श्रुतज्ञानके द्वारा राग, द्वेष, मोहसे रहित शुद्ध निज चिद्रूपका निश्चय करके, स्वसंवेदनके द्वारा अनुभवन करके और उसीमें लय होनेसे समस्त विकल्पोंको दूर करके अर्थात् निर्विकल्प ध्यानपूर्वक मरण करके मोक्षको प्राप्त करो ॥९३॥

विशेषार्थ—सबसे प्रथम अध्यात्म शास्त्रके द्वारा आत्माके शुद्ध स्वरूपका निर्णय करना चाहिए कि आत्मा समस्त भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्मसे रहित अनन्त ज्ञानादि स्वरूप एक स्वतन्त्र वस्तु तत्त्व है। ऐसा निश्चय करनेके बाद स्वसंवेदनके द्वारा आत्माकी अनुभूति होनी चाहिए। यह आत्मानुभूति ही वास्तवमें सम्यक्त्व है। शुद्धात्माकी अनुभूतिसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है। वह होती है उसीमें निर्विकल्प रूपसे लीन होनेसे। इस तरह मरण हो तो उत्कृष्टसे तीन भवमें मुक्ति प्राप्त हो सकती है। ऐसा कहा है ॥९३॥

आगे निश्चय संन्यासके उपदेश द्वारा उक्त कथनका समर्थन करते हैं—

निर्विकल्पक योगीका शुद्ध चिदानन्दमय स्वात्मामें जो विधिपूर्वक आत्माको स्थित करना है, व्यवहारसापेक्ष निश्चयनयके प्रयोगमें चतुर आचार्योंने उसे ही परमार्थसे संन्यास कहा है ॥९४॥

यदि क्षपकका चित्त परीषह आदिसे चंचल हो तो निर्यापकाचार्यको क्या करना चाहिए, यह कहते हैं—

जब कोई भूख-प्यास आदिकी परीषह अथवा उपसर्ग आराधकके मनको चंचल करे तब आचार्य श्रुतज्ञानके रहस्यपूर्ण उपदेशोंके द्वारा उसे दूर करें अर्थात् उसका उपयोग शुद्ध स्वात्माकी ओर लगावें ॥९५॥

---

१. 'ओमाङोः'—भ. कु. च.।

अथ ज्ञानसारैरित्येतत्प्रपञ्चयितुमुत्तरप्रबन्धमाह—

दुःखाग्निकीलैराभीलैर्नरकादिषु सञ्ज्वलितस्त्वमहो ।
तमस्त्वमङ्गसंयोगात् ज्ञानामृतसरोऽविशन् ॥९६॥

कीला:—ज्वाला: । आभीलै:—कष्टै: ॥९६॥

इदानीमुपलब्धात्मदेहभेदाय साधुभिः ।
सदानुगृह्यमाणाय दुःखं ते प्रभवेत्कथम् ॥९७॥

स्पष्टम् ॥९७॥

दुःखं संकल्पयन्ते स्वे समारोप्य वपुर्जडाः ।
स्वतो वपुः पृथक्कृत्य भेदज्ञाः सुखमासते ॥९८॥

स्वे—आत्मनि ॥९८॥

परायत्तेन दुःखानि बाढं सोढानि संसृतौ ।
त्वयाद्य स्ववशः किंचित् सहेच्छन्निर्जरां पराम् ॥९९॥

परां—उत्कृष्टामन्यां वा अलब्धपूर्वां संवरसहभाविनीम् ॥९९॥

आगे उसीका विस्तारसे कथन करते हैं—

हे आराधक श्रेष्ठ ! 'शरीर भिन्न है मैं भिन्न हूँ' इत्यादि भेदज्ञानरूप अमृतके सरोवरमें अवगाहन न करनेसे शरीरमें आत्मबुद्धि करनेके कारण नरकगति आदिमें अत्यन्त कष्टकारक शारीरिक और मानसिक अशान्ति रूपी आगकी लपटोंसे तुम सन्तप्त हुए ॥९६॥

इस समय साधुगण नित्य तुम्हारा उपकार करनेमें संलग्न हैं तथा तुम्हें आत्मा और शरीरके भेदका भी निश्चय है। ऐसी स्थितिमें तुम्हें दुःख कैसे हो सकता है ॥९७॥

अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि आत्मामें शरीरको आरोपित करके अर्थात् अपने शरीरको ही आत्मा मानकर मैं दुःखी हूँ, ऐसा संकल्प करते हैं। और आत्मा तथा शरीरके भेदको जाननेवाले भेदज्ञानी 'शरीर आत्मासे भिन्न है' ऐसा निश्चय करके सुखपूर्वक रहते हैं। अर्थात् अपनी आत्माके दर्शनसे उत्पन्न हुए आनन्दका अनुभव करते हैं ॥९८॥

विशेषार्थ—आगममें भेदभावनाका विचार सुन्दर रीतिसे किया गया है। कहा है—'मेरी मृत्यु नहीं है तब किससे भय। मुझे रोग नहीं तब पीड़ा कहाँ? न मैं बालक हूँ, न वृद्ध हूँ, न युवा हूँ। ये सब तो पुद्गल शरीरमें हैं।'[1] ऐसा विचार करनेसे शारीरिक वेदनामें व्याकुलता नहीं होती और चित्त स्वस्थ रहता है ॥९८॥

अनादि संसारमें परवश होकर तुमने अत्यन्त दुःख सहे। अब इस निकट मृत्युके समय उत्कृष्ट निर्जराकी इच्छासे थोड़ा-सा दुःख अपने अधीन होकर सहो ॥९९॥

विशेषार्थ—जो निर्जरा संवरपूर्वक होती है उसे उत्कृष्ट निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा ऐसी ही अवस्थाओंमें होती है। पूर्वबद्ध कर्मोंकी स्थिति पूरी होनेपर तो निर्जरा प्रतिसमय प्रत्येक संसारी जीवके होती है। उससे संसार नहीं कटता ॥९९॥

---

१. 'न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले' ॥—इष्टोप. श्लो. २९ ।

यावद् गृहीतसंन्यासः स्वं ध्यायन् संस्तरे वसेः ।
तावन्निहन्याः कर्माणि प्रचुराणि क्षणे क्षणे ॥१००॥

स्पष्टम् ॥१००॥

पुरुप्रायान् बुभुक्षादि परीषहजये स्मर ।
घोरोपसर्गसहने शिवभूतिपुरःसरान् ॥१०१॥

पुरुप्रायान्—वृषभदेवादीन् ॥१०१॥

तृणपूलबृहत्पुञ्जे संक्षोभ्योपरि पातिते ।
वायुभिः शिवभूतिः स्वं ध्यात्वाभूदाशु केवली ॥१०२॥

स्पष्टम् ॥१०२॥

न्यस्य भूषाधियाङ्गेषु संतप्ताः लोहशृंखलाः ।
द्विट्पक्ष्यैः कीलितपदाः सिद्धा ध्यानेन पाण्डवाः ॥१०३॥

द्विट्पक्ष्यैः—कौरवपक्षभवैः । पाण्डवाः—साक्षाद्युधिष्ठिरभीमसेनार्जुनास्त्रयः सिद्धाः । नकुलसहदेवयोः सर्वार्थसिद्धयाविजन्मनो व्यवधानात् ॥१०३॥

भक्तप्रत्याख्यान संन्यासको स्वीकार करके आत्माका ध्यान करते हुए तुम जबतक संथरे पर विराजमान हो तबतक प्रतिसमय प्रचुर कर्मोंका अवश्य क्षय करो ॥१००॥

भूख-प्यास आदिकी परीषहको जीतनेमें भगवान् ऋषभदेव आदिका स्मरण करो जिन्हें छह मास तक योगसाधनके पश्चात् भी आहार नहीं मिला था। और घोर उपसर्ग सहन करनेमें शिवभूति आदिको स्मरण करो ॥१०१॥

अचेतनकृत उपसर्ग सहनेमें दृष्टान्त देते हैं—

वायुके द्वारा सब ओरसे चलायमान करके तृणके पूलोंका बहुत भारी ढेर ऊपर गिरा देनेपर शिवभूति मुनि आत्माका ध्यान करके शीघ्र ही केवलज्ञानी हो गये ॥१०२॥

विशेषार्थ—शिवभूति मुनि ध्यानमग्न थे। पासमें ही तृणके पूलोंका बड़ा भारी ढेर था। जोरकी आँधीसे वह ढेर मुनिके ऊपर आ गिरा। किन्तु मुनि इस अचेतनकृत उपसर्गसे विचलित नहीं हुए और आत्मध्यानमें लीन रहे। उन्हें तत्काल केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गयी ॥१०२॥

मनुष्यकृत उपसर्ग सहनमें दृष्टान्त देते हैं—

कौरव पक्षके सम्बन्धियोंके द्वारा पैरोंको भूमिके साथ कीलों द्वारा जड़ित करके पाण्डवोंके कण्ठ आदि अंगोंमें अग्निमें तपाकर लाल की हुई लोहेकी साँकलोंको भूषणोंके रूपमें पहनानेपर पाण्डव ध्यानके द्वारा मुक्त हो गये ॥१०३॥

विशेषार्थ—महाभारतके युद्धमें विजय प्राप्त करनेके बाद बन्धु-बान्धवोंके विनाशसे विरक्त होकर पाँचों पाण्डवोंने जिनदीक्षा धारण कर ली और आत्मध्यानमें लीन हो गये। कौरव पक्षके उनके शत्रुओंने बैर चुकानेका यह अच्छा अवसर माना। पहले तो उन्होंने पाण्डवोंके पैरोंको कीलोंके द्वारा जमीनमें कीलित कर दिया कि भाग न सके। फिर हम तुम्हें आभूषणोंसे सम्मानित करते हैं यह कहकर आगसे सन्तप्त लोहेकी साँकलें भूषणकी तरह हाथ, पैर, कण्ठ आदिमें पहना दी। पाण्डव जरा भी विचलित नहीं हुए और आत्मध्यानमें लीन रहे। युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम तो मुक्त हुए और नकुल तथा सहदेव सर्वार्थसिद्धिमें गये ॥१०३॥

शिरीषसुकुमाराङ्गः खाद्यमानोऽतिनिर्दयम् ।
शृगाल्या सुकुमारोऽसून् विससर्ज न सत्पथम् ॥१०४॥

सत्पथं—शुद्धस्वात्मध्यानरूपम् ॥१०४॥

तीव्रदुःखैरतिक्रुद्धभूतारब्धैरितस्ततः ।
भग्नेषु मुनिषु प्राणानौज्झद्विद्युच्चरः स्वयुक् ॥१०५॥

स्वयुक्—स्वात्मानं समादधानः सन् ॥१०५॥

तिर्यंचकृत उपसर्ग सहनेमें उदाहरण देते हैं—

शिरीषके फूलके समान कोमल शरीरवाले सुकुमार मुनिने सियारनीके द्वारा अत्यन्त निर्दयतापूर्वक खाये जानेपर प्राण छोड़ दिये, किन्तु शुद्ध स्वात्माके ध्यानरूप मोक्षमार्गको नहीं छोड़ा ॥१०४॥

विशेषार्थ—सुकुमाल मुनिकी कथा अति प्रसिद्ध है। ये इतने सुकुमार थे कि दीपकका प्रकाश सहन नहीं कर सकते थे। कमलके फूलोंमें सुवासित किये गये सुगन्धित महीन चावलोंका भात खाते थे। जब राजा श्रेणिक इनकी सुकुमारताकी ख्याति सुनकर इन्हें देखने आया तो इनकी माताने राजा श्रेणिककी आरती उतारी। दीपककी लौ देखकर इनकी आँखोंमें जल भर आया। सदा रत्नोंके प्रकाशमें रहनेसे इन्होंने कभी दीपक नहीं देखा था। किसी ज्ञानी मुनिने कहा था कि तुम्हारा पुत्र साधु होगा। इसी भयसे सुकुमारकी माता सुकुमारको बहुत यत्नसे रखती थीं। उसने सुकुमारके लिए सुन्दर सुरूप बत्तीस पत्नियाँ चुनी थीं। फिर भी सुकुमार एक दिन कमन्दके द्वारा महलसे बाहर हो गये और साधु बनकर तपस्यामें लीन हो गये। उनके पूर्वभवकी भ्रातृपत्नी जो मरकर सियारनी हुई थी और जिसने निदान किया था कि जिस पैरसे तुमने मुझे मारा है उसीको खाऊँगी, अपने बच्चोंके साथ सुकुमारके कोमल पैरोंसे झरते रक्तके चिह्नोंको चाटती हुई ध्यानस्थ सुकुमार तक पहुँच गयी और उनको खाने लगी। धीरवीर सुकुमार फूलसे भी सुकुमार होते हुए विचलित नहीं हुए। और प्राण त्यागकर सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न हुए ॥१०४॥

देवकृत उपसर्ग सहनमें दृष्टान्त देते हैं—

अत्यन्त क्रुद्ध भूतोंके द्वारा आरम्भ किये तीव्र दुःखोंसे मुनियोंके इधर-उधर भाग जानेपर आत्मलीन विद्युच्चरने प्राण त्यागे ॥१०५॥

विशेषार्थ—विद्युच्चर राजपुत्र था। कुसंगतिमें पड़कर चोरीकी आदत पड़ गयी थी। इसी अपराधमें पिताने देशनिकालेका दण्ड दिया। तब पाँच सौ चोरोंके गिरोहके साथ राजगृही पहुँचा। उस समय राजगृही नगरीका वैभव अपार था। वहाँ वह नगरश्रेष्ठीके पुत्र जम्बूकुमारके महलपर चोरी करने गया और कमन्दके द्वारा महलपर चढ़कर एक झरोखेसे अन्दर झाँका। एक सुन्दर युवा आठ सुन्दरियोंसे घिरा हुआ बैठा था। वार्तालापसे ज्ञात हुआ ये आठों उसकी पत्नियाँ हैं, जिन्हें वह आज ही ब्याहकर लाया है और कह रहा है कि हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध कुछ घण्टोंका ही शेष है। प्रातःकाल होते ही मैं वनमें जाकर जिनदीक्षा ग्रहण करूँगा। यह सब सुनकर विद्युच्चर चोरी करना तो भूल गया और उनकी बातोंमें उलझ गया। उसे विश्वास ही नहीं होता था कि कोई युवा एकसे एक सुन्दर नारियों और प्रचुर धन-सम्पदाका त्याग कर सकता है। प्रातःकाल होते ही जम्बूकुमार वनको चले तो पीछे-पीछे विद्युच्चर भी चला। जब जम्बूकुमारने वस्त्राभरण त्यागकर

अचेतनृतिर्यग्देवोपसृष्टासंक्लिष्टमानसाः ।
सुसत्त्वा बहवोऽन्येऽपि किल स्वार्थमसाधयन् ॥१०६॥

किल—आगमे ह्येवं श्रूयते ॥१०६॥

तत्त्वमप्यङ्ग सङ्गत्य निःसङ्गेन निजात्मना ।
त्यजाङ्गमन्यथा भूरि भवक्लेशांल्लंविष्यसे ॥१०७॥

अन्यथा । यदाह—

'विराद्धे मरणे देव दुर्गतिर्दूरबोधिता ।
अनन्तश्चापि संसारः पुनरप्यागमिष्यति ॥' [ ] ॥१०७॥

श्रद्धा स्वात्मैव शुद्धः प्रमदवपुरुपादेय इत्याञ्जसी दृक्,
तस्यैव स्वानुभूत्या पृथगनुभवनं विग्रहादेश्च संवित् ।
तत्रैवात्यन्ततृप्त्या मनसि लयमितेऽवस्थितिः स्वस्य चर्या,
स्वात्मानं भेदरत्नत्रयपर परमं तन्मयं विद्धि शुद्धम् ॥१०८॥

तन्मयं—निश्चयरत्नत्रयात्मकम् ॥१०८॥

जिनदीक्षा ले ली तब विद्युच्चरने भी अपने साथियोंके साथ जिनदीक्षा ले ली। भ्रमण करते हुए यह संघ मथुराके बाहर एक उद्यानमें ठहरा। लोगोंने समझाया कि यहाँ रातको ठहरनेवाला जीवित नहीं रहता। किन्तु संघने सन्ध्या हो जानेसे वहीं ध्यान लगा लिया। जम्बूचरितमें तो लिखा है कि भूतोंके उपद्रवसे सभीका प्राणान्त हो गया और वहाँ उनकी स्मृतिमें पाँच सौ स्तूप बने, जिनका जीर्णोद्धार अकबरके समयमें साहु टोडरने कराया था ॥१०५॥

अचेतन, मनुष्य, तिर्यंच और देवोंके द्वारा किये गये उपसर्गसे जिनका चित्त राग-द्वेष-मोहसे आविष्ट नहीं हुआ और जो शुद्ध स्वात्माके ध्यानमें लीन रहे, ऐसे अन्य भी बहुतसे महासात्त्विक पुरुष मोक्ष रूप पुरुषार्थको साधन करते हुए; ऐसा आगममें सुना जाता है ॥१०६॥

यतः इस प्रकार भगवान् शिवभूति आदि मुमुक्षु महानुभावोंने अत्यन्त उपसर्ग आनेपर भी मोक्षकी साधना की, इसलिए हे महात्मन्! तुम भी द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित अपने चिद्रूपके साथ एकत्वको प्राप्त होकर शरीरको त्यागो। संक्लेशके आवेश आदि अन्य प्रकारसे शरीरको त्यागनेपर प्रचुर सांसारिक दुःखोंसे पीड़ित होना पड़ेगा ॥१०७॥

द्रव्यकर्म और भावकर्मसे रहित आनन्दरूप स्वात्मा ही उपादेय है इस प्रकारकी श्रद्धा निश्चय सम्यग्दर्शन है। उसी शुद्ध और आनन्दरूपसे उपादेय स्वात्माका ही स्वसंवेदनके द्वारा मन, वचन, कायसे भिन्न अनुभव करना निश्चय सम्यग्ज्ञान है। और उक्तरूपसे अनुभूयमान निज आत्मामें ही मनके लीन होनेपर आत्माकी अवस्थितिको निश्चय चारित्र कहते हैं। हे व्यवहार रत्नत्रय प्रधान आराधक श्रेष्ठ! परम प्रकर्षशुद्धिको प्राप्त स्वात्माको निश्चय रत्नत्रयमय जान ॥१०८॥

विशेषार्थ—आगममें निश्चयनय और व्यवहारनयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका स्वरूप कहा है। स्वाश्रित कथनको निश्चय और पराश्रित कथनको व्यवहार

मुहुरिच्छामणुशोऽपि प्रणिहत्य श्रुतपरः परद्रव्ये ।
स्वात्मनि यदि निर्विघ्नं प्रतपसि तदसि स्फुटं तपसि ॥१०९॥

स्पष्टम् ॥१०९॥

नैराश्यारब्धनैःसंग्यसिद्धसाम्यपरिग्रहः ।
निरुपाधिसमाधिस्थः पिबानन्दसुधारसम् ॥११०॥

स्पष्टम् ॥११०॥

कहते हैं। अतः शुद्ध आत्माका श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन, उसीका अनुभवन निश्चय सम्यक्ज्ञान और उसीमें स्थिति निश्चय सम्यक्चारित्र है। ऐसा ही आचार्य अमृतचन्द्रने पुरुषार्थ सिद्धयुपायमें कहा है—'आत्माका विनिश्चय सम्यग्दर्शन, आत्माका परिज्ञान सम्यग्ज्ञान और आत्मामें स्थिति सम्यक्चारित्र है।' रत्नत्रयकी आराधनाका साधक भेदरूपसे आराधना करता है। वह यद्यपि यह जानता है कि आत्मा सम्यग्दर्शनादिरूप ही है। सम्यग्दर्शनादि आत्मासे भिन्न नहीं है। तथापि उनकी आराधना भेदरूपसे करता है क्योंकि अभी उसमें उस प्रकारकी तल्लीनता नहीं आयी है। इसीसे साधकको भेदरत्नत्रयपर कहा है। भेदरत्नत्रयको व्यवहाररत्नत्रय भी कहते हैं क्योंकि रत्नत्रयमय आत्मामें भेद करना व्यवहारनय है। अतः साधककी भेदपरक दृष्टिको अभेदकी ओर ले जाकर उसे एकमात्र आत्माकी आराधनामें विमग्न करनेका प्रयत्न आचार्य करते हैं ॥१०८॥

पुद्गल आदि परद्रव्यमें थोड़ी-सी भी इच्छाको अत्यन्त नष्ट करके बार-बार श्रुतज्ञान भावनारूप परिणत होकर यदि स्वात्मामें निर्विघ्न रूपसे प्रकाशमान हो तो निश्चित रूपसे तुम साक्षात् मोक्षके उपायभूत तपमें रत हो ॥१०९॥

विशेषार्थ—उक्त कथनसे यह जानना चाहिए कि निश्चय आराधनाके चार प्रकार इष्ट हैं – दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना और तपाराधना। तीन निश्चय आराधनाओंका स्वरूप ऊपर कहा है। और चौथी निश्चय आराधनाका स्वरूप यहाँ कहा है ॥१०९॥

अब व्यवहार और निश्चय आराधनाके द्वारा साध्य जो परम आनन्दका लाभ है, वह प्रकट हो इस प्रकार आशीर्वादके द्वारा निर्यापकाचार्य क्षपकका उल्लास बढ़ाते हैं—

हे आराधक! जीवन, धन आदिकी आकांक्षाका निग्रह करके प्रारम्भ किये गये बहिरंग अन्तरंग परिग्रहके त्यागरूप नैसंग्यसे जिसने परमसामायिककी स्वीकृतिको निष्पन्न किया है ऐसे तुम ध्याता, ध्यान और ध्येयके विकल्पसे शून्य निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर आनन्दरूप अमृतका पान करो ॥११०॥

विशेषार्थ—परमसामयिक चारित्र स्वीकार करनेके लिए अन्तरंग परिग्रहका त्यागरूप निःसंगभाव आवश्यक है और उससे भी पहले सब तरहकी सांसारिक कामनाएँ त्यागना आवश्यक है। इस तरह परमसामायिकमें सिद्ध हो जानेपर निर्विकल्प समाधिका द्वार खुलता है और उससे ही मनुष्य आत्मानन्दका पान करनेमें समर्थ होता है। हे आराधक! तुम्हें वह प्राप्त हो यही आशीर्वाद है ॥११०॥

अथाध्यायार्थमशेषमुपसंगृह्णन्नाराधकस्याराधनासहितमरणफलविशेषमुपदिशति—

संलिख्येति वपुः कषायवदलङ्कर्मीणनिर्यापक-
न्यस्तात्मा श्रमणस्तदेव कलयंल्लिङ्गं तदीयं परः।
सद्रत्नत्रयभावनापरिणतः प्राणान् शिवाशाधर-
स्त्यक्त्वा पञ्चनमस्क्रियास्मृति शिवी स्यादष्टजन्मान्तरे ॥१११॥

अलंकर्मीणः—कर्मसमर्थः निर्यापकः। व्यवहारेण सुस्थिताचार्यो निश्चयेन च शुद्धस्वात्मानुभूति-परिणामोन्मुख आत्मा, तस्यैव दुःखाद्दुःखहेतोर्वा आत्मनो निष्काशकत्वोपपत्तेः। यदाह—

'स्वस्मिन्सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥' [इष्टोप. ३४]

तदेव—पूर्वगृहीतमौत्सर्गिकमेव लिङ्गम्। तदुक्तं—

'औत्सर्गिकलिङ्गभृतस्तदेव चोत्सर्गिकं भवेल्लिङ्गम्।
अपवादलिङ्गसङ्गतवपुषोऽप्यौत्सर्गिकं शस्तम् ॥' [ ]

परः—श्रावकोऽन्यो वा सद्दृष्ट्यादिः। सदित्यादि। अयमुत्कृष्टपक्षः। पञ्चेत्यादि क्रियाविशेषणम्। पुनरशक्त्यपेक्षया। प्रायेणैदंयुगीनानां बहिर्जल्पपरत्वेनाराधकोपलम्भात्। स्मृतिरत्र मनस्यारोपणमुच्चारणं च। यत्स्वामी—

अब इस अध्यायमें वर्णित कथनका उपसंहार करते हुए आराधकके आराधनाके साथ मरणका विशेष फल कहते हैं—

[समाधिमरण मुनि भी करते हैं और श्रावक भी करते हैं। आराधक मुनियोंकी तीन कोटियाँ हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। इस तरह चारों आराधकोंका इसमें कथन है जो इस प्रकार है—]

उक्त प्रकारसे कषायकी तरह शरीरको कृश करके अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर तपके द्वार कषाया और शरीरको कृश करके संसाररूपी समुद्रसे पार करनेमें समर्थ निर्यापकके ऊपर आत्माको समर्पित करके पूर्वमें गृहीत औत्सर्गिक लिंग अर्थात् जिनरूपताको धारण करनेवाला मुमुक्षु श्रमण गुणस्थानोंके अनुसार निश्चय रत्नत्रयका अभ्यास करता हुआ चतुर्दश गुणस्थानवर्ती अयोगी होकर अन्तिम समयमें समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यानपर आरूढ होकर परम मुक्त हो जाता है। (यह उत्कृष्ट आराधनाके पक्षमें व्याख्या है। अब मध्यम आराधनाके पक्षमें व्याख्या करते हैं—) मोक्षकी आशा रखनेवाला मुमुक्षु श्रमण आचेलक्य आदि चार प्रकारके लिंगको धारण करता हुआ सत् अर्थात् संवरके साथ होनेवाली निर्जरामें समर्थ समीचीन रत्नत्रय भावनामें उपयुक्त हो प्राणोंको छोड़कर शिवी अर्थात् इन्द्रादि पदकी प्राप्तिरूप अभ्युदयोंको प्राप्त होता है। (जघन्य आराधनाके पक्षमें व्याख्या इस प्रकार है—) पूर्व व्याख्यात विशेषणोंसे विशिष्ट श्रमण पंचनमस्कार मन्त्रके स्मरणपूर्वकके धारक प्राणोंको त्यागकर यथायोग्य आठ भवोंके भीतर मोक्षको प्राप्त करता है। यहाँ तक श्रमणधर्म मुनियोंके प्रति फल कहा। शेषके लिए आगे कहते हैं—श्रावक या अन्य सम्यग्दृष्टि श्रमण सम्बन्धी लिंगकी भावनापूर्वक पंचनमस्कार मन्त्रका स्मरण करते हुए प्राणोंको त्यागकर यथायोग्य आठ भवोंमें शिवी होता है ॥१११॥

विशेषार्थ—पं. आशाधरजीने इस श्लोककी अपनी टीकामें चार प्रकारके आराधकोंको लक्ष्यमें रखकर व्याख्यान किया है। मुनि और श्रावकके भेदसे आराधकके दो भेद हैं।

'खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥' [र. श्रा. १२८]

अत्रैवं संबन्धः कर्तव्यः—सद्रत्नत्रयभावनापरिणतः सन् प्राणांस्त्यक्त्वा शिवी स्यात्। अथवा पञ्चनमस्कारस्मृतिर्यथा भवत्येवं प्राणांस्त्यक्त्वा शिवी स्यादेतच्च वा शब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात्। शिवी स्यात्—अशिवः शिवः संपद्येत। अष्टजन्मान्तरे—अष्टानां भवानां मध्ये। उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्याराधनानुभागादत्र विभागः। तथा ह्यागमः—

'कालाई लहिऊणं छित्तूणं अट्ठकम्म संखलयं।
केवलणाणपहाणा केई सिज्झंति तम्हि भवे ॥
आराहिऊण केई चउव्विहाराहणाइ जं सारं।
उव्वरियसेसपुण्णो सव्वट्ठणिवासिणो हुंति ॥
जेसिं होज्ज जहण्णा चउव्विहाराहणा हु खवयाणं।
सत्तट्ठ भवे गंतु ते चिय पावंति णिव्वाणं ॥ [आरा. सार. १०७-१०९]

अपि च—

'येऽपि जघन्यां तेजोलेश्यामाराधनामुपनयन्ति।
तेऽपि च सौधर्मादिषु भवन्ति देवाः सुकल्पस्थाः ॥'

अथवा—

'ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण त्रुट्यन्मोहस्य योगिनः।
चरमाङ्गस्य मुक्तिः स्यात्तदैवान्यस्य च क्रमात् ॥' [ ]

उनमें भी मुनिके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तीन भेद हैं। उत्कृष्ट आराधक हैं चौदहवें गुणस्थानमें समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाति नामक चतुर्थ शुक्लध्यानमें आरूढ़ अयोगकेवली जिन। वे तो नियमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं। साधकका एक विशेषण दिया है—'अलङ्कर्मीणनिर्यापकन्यस्तात्मा'। उत्कृष्ट साधकके पक्षमें उसका अर्थ होता है—संसार समुद्रसे पार उतारनेरूप कार्यमें समर्थ निर्यापकपर जिसने आत्माको अर्पित कर दिया है। व्यवहार नयसे यह निर्यापक समाधिमरण करानेवाले आचार्य होते हैं। किन्तु निश्चयसे तो शुद्ध स्वात्मानुभूतिरूप परिणामके उन्मुख आत्मा ही सच्चा निर्यापक है क्योंकि वही अपनेको दुःख और उसके कारणोंसे छुड़ाता है। कहा भी है—'आत्मा ही अपनेमें समीचीन अभिलाषा करता है, वही इष्टका ज्ञापक और अपनेको हितमें लगाता है अतः आत्माका गुरु आत्मा ही है'। अतः मुमुक्षु आत्मा अपना सब भार अपनेपर ही लिये होता है। तभी तो मोक्ष प्राप्त करता है। मध्यम आराधक मुमुक्षु मुनि संवरके साथ होनेवाली निर्जरामें समर्थ रत्नत्रयकी भावनामें लीन होकर अहमिन्द्र आदि पद प्राप्त करता है। और जघन्य आराधक मुनि पंचनमस्कारका चिन्तन करते हुए मरकर आठवें भवमें मोक्ष प्राप्त करता है। आगममें कहा है—'निकट भव्य कालादि सामग्रीको प्राप्त करके आठ कर्मोंकी शृंखलाको तोड़कर केवलज्ञानको प्राप्त करके उसी भवमें मुक्ति प्राप्त करते हैं। कोई चारों प्रकारको आराधनाके द्वारा सारभूत आत्माकी आराधना करके पुण्य प्रकृतियोंके शेष रहनेसे सर्वार्थसिद्धिमें जन्म लेते हैं।' जिन क्षपकोंके चारों आराधना जघन्य होती हैं वे भी सात-आठ भवमें निर्वाणको प्राप्त करते हैं। और भी कहा है—'जो तेजोलेश्यासे युक्त जघन्य आराधनाको करते हैं वे सौधर्मादि कल्पोंमें देव होते हैं। ध्यानके प्रकर्ष अभ्याससे जिनका मोह नष्ट हो जाता है उन चरम शरीरी योगियों-

इति भद्रम् ।

इत्याशाधरदृब्धायां धर्मामृतपञ्जिकायां (ज्ञानदीपिकापरसंज्ञायां)
सप्तदशोऽध्यायः समाप्तः ।

इमामष्टाध्यायीं प्रथितसकलश्रावकवृषां
निबन्धप्रव्यक्तां सुमतिरनिशं यो विमृशति ।
स चेद्धर्माभ्यासो दुषितविषयाशाधरपदः
समाधित्यक्तासुर्भवति हि शिवान्ताभ्युदयभाक् ॥

इत्याशाधरविरचितायां स्वोपज्ञधर्मामृतपञ्जिकायां द्वितीयः
श्रावकधर्मस्कन्धः समाप्तः ।

अत्र श्रावकाचारग्रन्थप्रमाणं समुदितमेकोनत्रिंशच्छतानि ।
समाप्ता चेयं धर्मामृतसागारधर्मपञ्जिका ।

'साधोर्मेंडलवालवंशसुमणेः सज्जैनचूडामणेः,
मल्लाख्यस्य सुतः प्रतीतमहिमा श्रीनागदेवोऽभवत् ।
शुल्कादेषु पदेषु मालवपतिश्रीदेवपालेन यः
संप्रीत्याधिकृतः स्वमाश्रितवतः कान्प्रापयन्न श्रियम् ॥
साधर्मिकोपकारार्थं तेनैषा ज्ञानदीपिका ।
लेखयित्वा सरस्वत्या भाण्डागारे न्यधीयत ॥

श्रीवीतरागाय नमः । मंगलमहाश्री.... .... ।

की उसी भवमें मुक्ति हो जाती है। दूसरोंकी क्रमसे मुक्ति होती है। जो चरमशरीरी नहीं होते और सदा ध्यानाभ्यास करते हैं उनके समस्त अशुभ कर्मोंका संवर और निर्जरा होती है। तथा प्रतिसमय प्रचुर पुण्य कर्मका आस्रव होता है जिसके प्रभावसे वे कल्पवासी देव होते हैं। वहाँ वह चिरकाल तक देवोंसे सेवित होकर समस्त इन्द्रियोंके लिए आह्लादकारी और मनको प्रसन्न करनेवाले सुखामृतका पान करते हैं। वहाँसे चयकर मनुष्य लोकमें भी चिरकाल तक चक्रवर्ती आदिकी विभूतिको भोगकर पीछे उसको त्यागकर दिगम्बरी दीक्षा लेते हैं। तथा उत्तम संहननपूर्वक चार प्रकारके शुक्लध्यानके द्वारा आठों कर्मोंको नष्ट करके मुक्तिको प्राप्त करते हैं।' इस प्रकार जो मुनि होकर आराधना करते हैं उनका यह कथन है। जो श्रावक या सम्यग्दृष्टि अन्तिम समयमें मुनिलिंगको धारण करके पंचनमस्कारके स्मरणपूर्वक शरीर छोड़ता है वह भी आठ भवोंमें मुक्त होता है। उसके सम्बन्धमें स्वामी समन्तभद्रने कहा है—'गर्म जलको भी त्यागकर और शक्ति अनुसार उपवास भी करके मनमें पंचनमस्कारका ध्यान करते हुए शरीर छोड़ना चाहिए' ॥१११॥

इस प्रकार पं. आशाधररचित धर्मामृतके अन्तर्गत सागारधर्मामृतकी स्वोपज्ञटीकानुसारिणी
हिन्दी टीकामें प्रारम्भसे १७वाँ और सागारधर्मकी अपेक्षा आठवाँ
अध्याय समाप्त हुआ।

□

श्लोकानुक्रमणी

□

पद्यानुक्रमणी

[अ]

[य]

[र]

[ल]

[व]

[श]

[ष]

[स]

□